★ ग्रन्थराज :
अध्यात्मदर्शन

★ विषय :
चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति के माध्यम से अध्यात्म-ज्ञान

★ स्तुतिकार :
योगीश्वर संत श्रीआनन्दघनजी

★ भाष्यकार :
पं० मुनिश्री नेमिचन्द्रजी

★ भाष्य-निर्देशक :
श्रमणसंघीय आचार्यप्रवर
श्री आनन्दऋषिजी महाराज

★ भाष्यप्रेरक :
तपस्वीरत्न श्रीमगनमुनिजी म०

★ भाष्य-उपप्रेरक :
सेवानिष्ठ श्रीकुन्दनऋषिजी म०

★ संयोजक :
प्रवचन-प्रभाकर पं० सुमेर-मुनिजी म०, कर्मठ सेवानिष्ठ श्रीविनोदमुनिजी

★ प्रस्तावना-लेखक
विद्वद्वर्य श्री चन्दनमुनिजी म०

★ आशीर्वचन :
राष्ट्रसंत उपाध्याय कविरत्न
श्री अमरमुनिजी म०

★ संस्करण :
प्रथम, सितम्बर १९७६

★ प्रकाशक :
विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामंडी, आगरा-२ (उ०प्र०)

★ मुद्रक :
कल्याण प्रिंटिंग प्रेस
राजामण्डी, आगरा-२

★ मूल्य : अजिल्द १५/-
तेरह रुपये

प्राप्ति-स्थान

१. विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामंडी, आगरा-२ (उ०प्र०)
२. मंगल किरण स्टोर्स
गुजरगल्ली, अ. नगर (महाराष्ट्र)

तपस्वी श्रीमगनमुनिजी : एक परिचय

—मुनि हस्तीमल, मेवाड़ी

तपस्वीरत्न मुनि श्रीमगनलालजी महाराज का वीरभूमि राजस्थान के निम्बाहडा के निकट 'राणीखेड़ा' गाँव में वि० सं० १९६३ फाल्गुन कृष्णा २ गुरुवार को जन्म हुआ। आप ओसवालकुल के अन्तर्गत चौपड़ागोत्रीय श्रीनथमलजी एवं मातुश्री हगामबाई के आत्मज हैं। आपके ज्येष्ठ भ्राता का नाम श्रीरतनलालजी चौपड़ा है। पिता का लाड़ला एवं माता की आँखों का तारा, जन-मन का दुलारा बालक 'मगन' माता की ममतालु गोद में खेलता-कूदता बढ़ता रहा। दो वर्ष की उम्र में ही आपके पिताश्री का स्वर्गवास हो गया। दोनों भाईयों के जीवनविकास का पूरा दायित्व माता पर आ गया। माँ ने साहस के साथ अपने दायित्व को निभाया। दोनों पुत्रों को पढ़ा-लिखा कर योग्य बना दिया



और बड़ होने पर दोनों को व्यवसाय में लगा दिया। समय पर अपने ज्येष्ठ पुत्र रतनलाल की योग्य कन्या के साथ शादी कर दी। आपको भी विवाह के बन्धन में आबद्ध करने का प्रयत्न किया, परन्तु आपने विवाह करने से ही स्पष्ट इन्कार कर दिया।

माता-पिता के धार्मिक संस्कारों से आपका जीवन संस्कारित था। बचपन से ही आप में अद्‌भुत साहस, निर्भयता, सेवा, कष्टसहिष्णुता और साधु-साध्वियों के प्रति श्रद्धा-भक्ति थी। साधु-साध्वियों की सेवा में रहने के कारण आपको शास्त्र-श्रवण, धर्म के स्वरूप तथा जीवन के स्वरूप को समझने का सहज ही अवसर मिल जाता था। आप सन्तों के मुख से वीतरागवाणी मात्र सुन क

ही नहीं रह गए, उसे जीवन में उतारने का भी प्रयत्न करते रहे। इसी का परिणाम है, कि आपको सांसारिक भोगों एवं भोगजन्य साधनों से विरक्ति हो गई। आपने अपनी भावना को अपनी ममतालु माँ एवं ज्येष्ठ भाई तथा परिजनों के सामने रखी। माता एवं बड़े भाई ने आपको विभिन्न प्रकार से समझाया, परिजनों ने भी आपको गृहस्थजीवन में रोक रखने के लिए सब तरह से प्रयत्न किए। परन्तु वे सफल नहीं हो सके। जिसके जीवन में सच्चा वैराग्य उद्‌बुद्ध हो जाता है, आत्मा में त्याग की ज्योति प्रज्वलित हो उठती है, उसे कोई भी शक्ति संसार में रोक कर नहीं रख सकती।

सौभाग्य से आपको योग्यतम गुरु मिल गए। स्थानकवासी समाज में आचार्यप्रवर श्रीहुकमीचन्दजी महाराज के षष्ठम पट्टधर युग-पुरुष, युग-द्रष्टा, क्रान्तिकारी विचारक, ज्योतिर्धर आचार्य श्रीजवाहरलालजी महाराज के सुयोग्य उत्तराधिकारी सरलस्वभावी, पण्डितप्रवर तत्कालीन युवाचार्य गणेशीलालजी महाराज के सान्निध्य में वि० सं० १६६६ माघ शुक्ला एकादशी के दिन जावद शहर में बोराजी की बगीची में आपने भागवती जैनदीक्षा स्वीकार की। दीक्षा के १५ दिन पहले अजमेरनिवासी एक ज्योतिषी ने इस दिन दीक्षा को विघ्नकारक बताया था, परन्तु दीक्षार्थी मगनलालजी ने इसकी परवाह न करके उसी दिन दीक्षा ग्रहण की। चबूतरे के कठड़े पर लगी शिलाएँ टूट कर गिर पड़ीं, किन्तु शासनदेव की कृपा से किसी के जरा भी चोट न आई। यह अद्‌भुत चमत्कार था। आपने पूज्य गुरुदेव की सेवा में में रह कर आगमों का अध्ययन किया; और अहर्निश सन्तों की सेवा-शुश्रूषा में संलग्न रहे। अस्वस्थ साधु की परिचर्या करने का आपको अच्छा अनुभव है। आपको नाड़ी का ज्ञान बहुत अच्छा है। इसलिए रोगों का निदान करने और उसके अनुरूप आयुर्वेदिक औषध बताने में आप बहुत निपुण हैं। भीनासर (बीकानेर) मे जब ज्योतिर्धर आचार्यप्रवर श्रीजवाहरलालजी महाराज अस्वस्थ थे, तब आपने अस्वस्थ-अवस्था से ले कर अन्तिम सांस तक बड़ी लगन, श्रद्धा एवं भक्ति से सेवा की। उनके अन्तिम समय से कुछ घंटे पहले उनकी वाणी बंद हो गई थी, तब आप उन्हें दवा दे कर होश में लाए। उन्होंने आपके द्वारा प्रेरणा करने पर संथारा ग्रहण किया, जो ५ घंटे तक का आया। रुग्ण, ग्लान, वृद्ध एवं बाल साधुओं की सेवा-वैयावृत्य करने में आप सिद्धहस्त हैं और सेवा के

कार्य में आपको आनन्द भी आता है। वर्तमान आचार्यप्रवर श्रीआनन्दऋषिजी महाराज की सेवा का भी आपको लाभ मिला है।

आप दीर्घ-तपस्वी भी हैं। आपने अब तक ५१ और ४१ दिन के उपवास किए हैं। ३३ और ३१ दिन की तपः-साधना दो बार की है, १५, ११, ९, १०, ९ एक-एक बार और अट्ठाई, सात, छह, पाँच, तेले एवं बेले तो अनेक बार किए हैं। आप तपः-साधना में केवल गर्मी पानी लेते हैं। तप और त्याग से तपा हुआ आपका संयम-निष्ठ जीवन प्रत्येक साधु के लिए प्रेरणा-दायक है।

आपका विहार (पैदल भ्रमण) क्षेत्र मेवाड़, मारवाड़, बीकानेर, मालवा गुजरात, महाराष्ट्र, बम्बई एवं आन्ध्र-प्रदेश रहा है। कई वर्षों से आप आचार्य सम्राट् श्रीआनन्दऋषिजी महाराज की सेवा में हैं और आचार्यश्री आपकी सेवा से सन्तुष्ट हैं। मैंने यह अनुभव किया है, कि आप सन्तों की धायमाता के समान हैं।

आध्यात्मिक साहित्य के प्रति आपको विशेष अभिरुचि है। आपके हृदय में आनन्दघन चौबीसी पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में विस्तृत एवं सुन्दर भाष्य लिखा कर समाज में आध्यात्मिक विचारों का प्रचार करने की भावना जागृत हुई। आपने अपने गुरुभ्राता सिद्धहस्तलेखक पण्डितप्रवर मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज को इस ग्रन्थ पर भाष्य लिखने का अनुरोध किया, जिसका फल पाठकों के समक्ष है। तपस्वीरत्नश्री के ही प्रबल पुरुषार्थ की देन है, कि अध्यात्म-दर्शन' के रूप में यह 'पदमग्न-भाष्य' उपलब्ध हो सका है।

प्रकाशकीय

अध्यात्म योगी संत आनन्दघनजी द्वारा रचित चौवीसी (चतुर्विंशति-स्तुति) आध्यात्मिक जगत् में अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसमें दर्शन, धर्म, पूजा, भक्ति, धर्म-क्रिया, आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना, आत्मिक वीरता, परमात्म-पथ का दर्शन, मन आदि की साधना इत्यादि आध्यात्मिक विषयों पर चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति के माध्यम से सरस, सरल, भक्तिरस-प्रधान गेय पदों की संरचना है। इस पर अनेक विचारकों एवं साधकों ने अर्थ, भावार्थ, विवेचन आदि प्रस्तुत किये हैं, किन्तु विस्तृत ढंग से पदों में निहित तात्पर्यों को विविध पहलुओं से खोल सके, ऐसी व्याख्या से परिपूर्ण भाष्य हिन्दी भाषा में अब तक प्रकाशित नहीं हुआ था। हमें प्रसन्नता है कि हमारी प्रकाशन समिति से हिंदी भाषा में अध्यात्मदर्शन के नाम से पदमग्न-भाष्य प्रकाशित हुआ है। इसके भाष्यकार हैं—प्रबुद्धविचारक विद्वद्वर्य प० मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी महाराज! इसके मार्गनिर्देशक तो राष्टसंत आचार्यश्रीआनन्दऋषिजी म० रहे, किन्तु सर्वाधिक सम्प्रेरक रहे हैं—तपस्वीरत्न श्रीमगनमुनिजी महाराज, जिनकी सतत प्रेरणा व श्रीकुन्दनऋषिजी म० की सहप्रेरणा और सर्वाधिक सहयोग से यह विशालकाय ग्रन्थराज प्रकाशित हो सका है। इसी प्रकार हम राष्टसत उपाध्याय श्रीअमरमुनिजी म. के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हैं, जिन्होंने अपना आशीर्वचन लिख कर हमें उपकृत किया है, साथ ही विद्वद्वर्य श्रीचन्दनमुनिजी म. (साहित्यनिकाय) के भी हम अत्यन्त आभारी हैं कि उन्होंने इस ग्रन्थराज पर अत्यन्त भाववाही सुन्दर प्रस्तावना लिख कर इसका समुचित मूल्यांकन किया है। पं. श्रीसुमेरमुनिजी एवं विनोदमुनिजी ने इस भाष्य को आद्योपान्त अनेक बार पढ़ा, और इसमें उचित सुझाव, संशोधन एव परिवर्द्धन सूचित करने की महती कृपा की है। पण्डितरत्न विजयमुनिजी शास्त्री एव कलम-कलाधर मुनि समदर्शीजी का भी इसमें अपूर्व सहयोग मिला है, एतदर्थ हम इनके प्रति भी कृतज्ञ हैं।

अन्त में, जिन-जिन महानुभावों का प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से इस ग्रन्थराज में सहयोग मिला है, तथा जिन-जिन महानुभावों ने उदारतापूर्वक इस ग्रन्थराज के प्रकाशन में अर्थसहयोग दिया है, उन सबके प्रति हम हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। सुज्ञ सुधीजन इसे पढ़ कर आध्यात्मिक लाभ उठाएँगे तो हम अपना प्रयास सार्थक समझेंगे। —मंत्री, विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति, आगरा।

आशीर्वचन

भारत की सन्त-परम्परा में समग्र भारत के प्रत्येक प्रान्त में अध्यात्मवादी, भक्तिवादी, तथा तत्त्ववादी सन्त हुए हैं। उत्तरप्रदेश की सन्तपरम्परा में सूरदास तथा तुलसीदास का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। ये दोनों सन्त वैष्णव-सम्प्रदाय के थे। परन्तु सन्त कबीर किसी भी सम्प्रदाय में आबद्ध न हो कर उन्मुक्त विचारक कहे जा सकते हैं, महाराष्ट्र में सन्त रामदास, सन्त तुकाराम तथा एकनाथ आदि जनप्रिय तथा लोक-प्रसिद्ध सन्त हो चुके हैं। राजस्थान में मीरा, रैदास और दादू राजस्थानी जनता के मन के कण-कण में रम चुके हैं। मीरा जैसा पद-माधुर्य तथा भावगाम्भीर्य अन्यत्र मिलना बड़ा ही दुर्लभ है। यही कारण है, कि मीरा के संगीतमय पद काश्मीर से ले कर कन्याकुमारी तक आबाल-गोपाल प्रसिद्ध हैं। अतः मीरा का जीवन तथा उसके भाव-प्रवण पद भारतीय जन-जीवन की सार्वजनिक सम्पत्ति माने जाते हैं।

वीर-प्रसूता राजस्थानभूमि में एक अन्य अध्यात्मवादी सन्त हुआ था, जिसका नाम आनन्दघन था। सन्त आनन्दघन का जन्म जैनपरम्परा के शालीन परिवार में हुआ था। उसके मज्जागत संस्कार भी जैन-संस्कृति के ही रहे। परन्तु सन्त आनन्दघन के पदों को तथा अध्यात्म-प्रधान स्तुतियों को पढ़ कर यह निर्णय नहीं किया जा सकता, कि वह जैन-परम्परा में आबद्ध था। सन्त आनन्दघन ने अपने पदों में अन्धपरम्परा, रूढ़ि और जड़ता का खुल कर विरोध किया है। परम्पराप्रेमियों ने उसे परम्परा के जाल में जकड़ने का एकाधिक बार प्रयास किया था, पर स्वतन्त्रविचारक तथा युगस्पर्शी चिन्तन के धनी सुधारवादी सन्त आनन्दघन ने परम्पराप्रेमियों की किसी भी शर्त को मानने से स्पष्ट इन्कार कर दिया था। इसी कारण परम्परा-वादियों द्वारा उन्हें कई बार तिरस्कृत भी होना पड़ा, पर उस मस्त योगी को आदर-निरादर की कोई परवाह नहीं थी। धर्मध्वजी जड़वादी लोगों से जीवनभर वे संघर्ष करते रहे, उनके साथ समझौते के समस्त प्रयास असफल रहे। सन्त आनन्दघन जैनपरम्परा के थे, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। परन्तु उनके

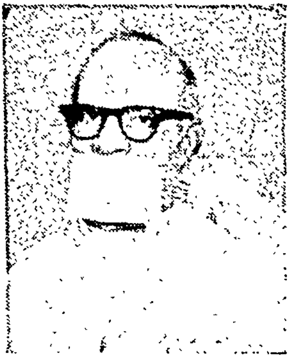
अध्यात्मिक काव्य में सूर जैसा गाम्भीर्य, तुलसी जैसी व्यापकता, कबीर जैसी स्पष्टता एवं प्रखरता तथा मीरा जैसा माधुर्य और तुकाराम जैसी मृदुता सर्वत्र छलकती दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि उनके विहारक्षेत्र मुख्यतया राजस्थान और गुजरात रहे, तथापि उनकी कीर्ति और प्रसिद्धि भारत के प्रान्त-प्रान्त में परिव्याप्त हो चुकी थी।

सन्त आनन्दघन ने जैन-परम्परा-प्रसिद्ध समस्त तीर्थंकरों की अध्यात्म-प्रधान स्तुति-संरचना की है। एक-एक तीर्थंकर की एक-एक स्तुति में गायक और श्रोता आत्म-विभोर हो उठते हैं। सन्त आनन्दघन कल्पनाप्रधान नहीं, अपितु सहज भाव-प्रधान कवि था। उसकी स्तुति और पदों में सर्वत्र शान्तरस छलकता रहता है। उनके पदों का स्थायीभाव निर्वेद है। काव्य की कसौटी पर कस कर देखा जाए तो माधुर्य तथा प्रसाद गुण प्रतिपद में प्रतिबिम्बित दिखाई देते हैं। अलंकार-योजना भी यत्र-तत्र उपलब्ध होती है, परन्तु वह गौण है, मुखर नहीं हो पाई। कवि का उधर ध्यान ही नहीं था, उसका मुख्य लक्ष्य था—एक-मात्र शान्त-रस के परिपाक की ओर। शान्तरस के परिपाक में तथा उसकी अभिव्यक्ति में आनन्दघन को पूर्णतः सफलता मिली है। शान्त-रस के विभाव, अनुभाव, स्थायीभाव तथा संचारी-भाव बड़ी खूबी के साथ रस की अभिव्यक्ति कर देते हैं। शान्त-रस वाच्य नहीं रहा, वह सर्वत्र अभिव्यञ्जित हुआ है। यही कारण है, कि आनन्दघन के अध्यात्मप्रधान काव्य में सर्वत्र भावों की मधुरिमा, शैली की प्रांजलता तथा भाषा की गरिमा अपनी अभिव्यक्ति पाती रही।

मेरे प्रेमी सर्वोदयविचारक मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी ने सन्त आनन्दघन की चतुर्विशति-स्तुतियों पर 'अध्यात्म-दर्शन' नाम से एक भाष्य लिखा है, जिसमें एक-एक स्तुति को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। अभी तक आनन्दघन पर इतना विशद, इतना स्पष्ट तथा इतना मर्मस्पर्शी भाष्य किसी भी लेखक ने प्रस्तुत नहीं किया है। इसका समग्र श्रेय प्रबुद्ध विचारक गांधीवाद के व्याख्याता, अध्यात्मयोगी मुनिवर नेमिचन्द्रजी को है, जिन्होंने अथक परिश्रम करके अध्यात्मप्रेमी जनता के कर-कमलों में एक अध्यात्मकमल समर्पित कर दिया है। जिसे पा कर प्रत्येक पाठक तथा श्रोता को अमित आनन्द की भावानुभूति तथा रसानुभूति होगी।

—उपाध्याय अमरमुनि

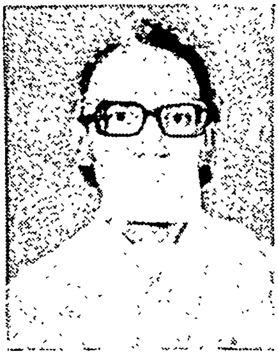
वीरायतन, राजगृह (नालंदा)



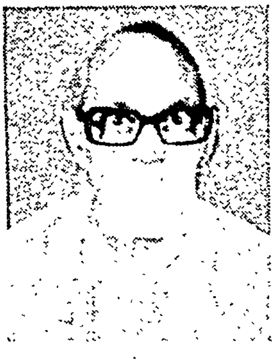
सरलस्वभावी मुनिश्री
सुन्दरलालजी महाराज



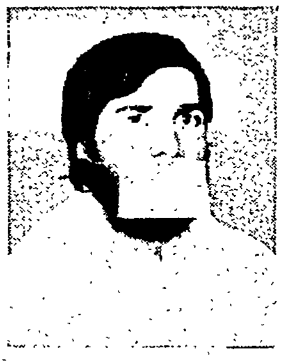
प्रवचनप्रभाकर पं० मुनिश्री
सुमेरचन्द्रजी महाराज
(संयोजक)



कर्मठ सेवानिष्ठ श्री विनोदमुनिजी
(संयोजक)



कलमकलाधर मुनिश्री
समदर्शीजी



मुनि सन्मतिशीलजी

प्रस्तावना

अध्यात्म एक ऐसी भूमिका है, जिसका आनन्द शब्दगम्य नहीं अनुभवगम्य है। वह किसी से पाई नहीं जाती, अपनाई जाती है। वह एक ऐसा सरस रस है, जिसका आंशिक स्वाद भी जीवन में आमूलचूल परिवर्तन ला देता है। मत-सम्प्रदाय की जड़ धारणाएँ, संकुचित वाड़ाबन्दी और अहं की भेदरेखाएँ वहाँ स्वतः तिरोहित होने लग जाती हैं। एकात्मभाव की अनुपम अनुभूति सर्वत्र मैत्री की गाथा को मुखरित कर देती है और 'एक एव भगवानयमात्मा' की ध्वनि स्वतः गूंजने लग जाती है। अहा ! यह एक निराली ही मस्ती है, अनूठा ही फक्कड़पन है, विचित्र आत्मदशा है। अध्यात्मयोगी की कल्याणी वाणी कुछ भव्य भावभंगिमा को धारण कर लेती है। उसकी दृष्टि कुछ अन्यादृशी सृष्टि के लिये ही अमृतवृष्टि करती रहती है। उसके रोम-रोम में से अजस्र कल्याण का स्रोत बहता रहता है।

स्वनाम-धन्य अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी को जैनजगत् का कौन विज्ञ नहीं जानता ? उनकी अद्भुत अध्यात्मरस से ओतप्रोत कुछ कृतियाँ ही उनका यथार्थ परिचय है। मत-सम्प्रदाय की सीमाओं को तोड़ कर उन्होंने उन्मुक्त मुनिव्रत को स्वीकारा था। दिगम्बर-श्वेताम्बर की सारी उपाधियों को उन्होंने दूर रख दी थी। उसी का ही परिणाम है कि आज सारा जैनसमाज उनकी तात्त्विक कृतियों को ससम्मान आत्मसात् कर रहा है, अपना रहा है और उन्हें गौरव प्रदान कर रहा है। आश्चर्य ही क्या ? गंगा का पानी तो सभी के लिये गंगा का पानी ही है, उसके नैर्मल्य-माधुर्य आदि गुण सभी को एकरूपता प्रदान करते हैं। जैन हो, चाहे अजैन, हिन्दू हो चाहे मुस्लिम, स्वदेशी हो या विदेशी, गंगा का पानी सभी की प्यास बुझाता है, शान्ति प्रदान करता है।

आनन्दघन-चौबीसी

सही कहा है—

> "जयन्तु ते सुकृतिनः, रससिद्धा कवीश्वराः,
> नास्ति येषां यशःकाये जराभरणजं भयम्।"

कृतिकार अतीत के गाढ़ अन्धकार में विलीन हो जाते हैं, पर उनकी अमर कृतियों पर काल का क्रूर कटाक्ष प्रभावी नहीं बन पाता। युग-युगान्तर तक वे कृतियाँ अखण्ड ज्योति बिखेरती रहती हैं, पथ प्रशस्त बनाती रहती हैं और गुमराहों को सही राह दिखलाती रहती हैं।

अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी की चौवीसी एक ऐसी ही अनुपम कृति है, अद्भुत देन है या सहज आत्मिक उद्गार है; जिन्हें पढ़ने वाला साधक मस्त हुए विना नहीं रह सकता, झूमे विना नहीं रह सकता और कुछ अपने हृदय को छू रहा है—ऐसा अनुभव किये विना नहीं रह सकता। उनके एक-एक पद कुछ अनूठी तात्विकता लिये हुए प्रस्फुटित हुए हैं। भाषा की सज्जा का वहाँ कोई ध्यान नहीं है। वहाँ तो भावना ही साकार बन कर निखरी है। अपनी अकृत्रिम निराली मस्ती में ही सरस्वती ने पवित्र पदन्यास किया है। सहज सरल शब्द भी अनेक अर्थों के अभिव्यंजक बने दिखाई देते हैं। अभिधा लक्षणा के पीछे मानो ध्वनियाँ कुछ अनिभव प्रकाश बिखेर रही हैं। रूपकों की तो वहाँ भरमार है। प्रथम पद ही अखण्ड अनन्त प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। ऋषभ जिनेश्वर को प्रियतम पद पर प्रतिष्ठित करती हुई शुद्ध-चेतनारूप सन्नारी अपने प्राणेश्वर के प्रेम का वर्णन करती है। देखिये—

> "ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूं रे कन्त।
> रीझ्यो साहेब संग न परिहरे, भांगे सादि अनन्त॥"

उन्होंने सादि अनन्त के भंग से अपने देव की प्रीति को पुकारा है, अर्थात् जिस प्रेम की आदि है—प्रारम्भ है, पर अन्त नहीं है—अनन्त है। अहा! कैसी अद्भुत एवं निराली प्रीति है। जगत् का प्रेम सोपाधिक है, किन्तु यह प्रेम तो निरुपाधिक है। उपाधिजन्य प्रेम तो, यह हो तो प्रेम हो—इस प्रकार कुछ मांग रहा है, चाह कर रहा है, वह असली प्रेम कहाँ? मांग की पूर्त्ति होने न होने पर प्रेम का सद्भाव एवं तिरोभाव जहाँ हो, वहाँ वास्तविकता कहाँ? प्रेम की सच्चाई कहाँ?

श्रीआनन्दघनजी इसी स्तवना में एक बड़ी क्रान्ति की बात कह डालते हैं—

"कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन मैं नवि चित्त धर्यु रे, रंजन धातु-मेलाप ॥ऋषभ० ॥४॥

रूढ़िगत तपश्चर्या की सभी साधकों में बड़ी लम्बी परम्परा रही है। उस पर यह व्यंग्योक्ति है कि पति को खुश करने के लिये कुछ अतिघोर तप करते हैं और शरीर को तपाना ही पतिमिलन का हेतु मानते हैं, किन्तु मेरे चित्त में वह नहीं रुचा है, मुझे वह उचित नहीं लगा है। पतिरंजन तो धातु-मिलाप ही है, पति-पत्नी की एकरसता ही है, तन्मयता ही है। धातु-मिलाप के क्षण ही पतिरंजन के क्षण हैं। इस प्रकार परमात्म-प्रेम का अद्भुत विश्लेषण यहाँ पठनीय है।

श्रीआनन्दघनजी अजित-जिन के दर्शनोत्सुक बन कर उनके पथ को निहार रहे हैं, उनकी बाट जोह रहे हैं।

परन्तु किस पथ से प्रभु का मिलना होगा? वह पथ कौन-सा है? उसे कैसे पहचाना जाए? इसी समस्या में जगत् की उलझन का चित्रण करते हुए आप लिखते हैं—

"चरम नयणे करी मारग जोवताँ रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार ॥पंथड़ो॥२॥
पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अन्धो अन्ध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरणधरण नहीं ठाय ॥पं०॥३॥

अहा! उस पंथ को निहारने के लिये इन चर्मचक्षुओं का काम नहीं है, वहाँ तो दिव्यनयनों की आवश्यकता है।

कुछ लोग कहते हैं—"परम्परागत मार्ग सही है" ऐसी मान्यता वालों पर तीखा कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि 'अन्धे के पीछे अन्धे हो रहे हैं।' जो मार्ग दिखाने के लिए अगुआ बना है, वह स्वय अन्धा है—वह स्वय कभी उस मार्ग को देख नहीं पाया है, तो उसके पीछे चलने वाले—अन्धानुकरण करने वाले तो मार्ग पा ही कैसे सकते हैं? इसी पद के उत्तरार्ध में एक गहरी बात कह देते हैं। यदि वस्तुतया आगमकथनों पर विचार किया जाए तो पैर रखने का भी स्थान नहीं है। कहाँ आगमों की असिधारा—जैसी अत्यन्त तीक्ष्ण एवं अहिदृष्टि जैसी सतत जागरूकता की साधना और कहाँ आज के साधकों की सुविधा-परक वृत्ति! हा! कैसे मार्ग पाया जा सकता है?

कहीं-कहीं श्रीआनंदघनजी की अन्तश्चेतना प्रभु के प्रति अतीव उत्कण्ठित होती हुई अपनी सुमति नामक सखी से कैसे भावभरे शब्दों में कहती है—

"देखन दे रे, सखी मुने देखन दे, चन्द्रप्रभु-मुखचन्द, सखी।
उपशमरसनो कन्द, सखी, गतकलिमल-दुख द्वन्द्व,सखी ॥१॥

अहा ! कितनी गहरी भावाभिव्यक्ति है ! सखी मुझे देखने दे ! आतुरता के पीछे कारण है कि भवभ्रमण करते हुए अनन्तकाल में मुझे वह सुअवसर प्राप्त नहीं हुआ है। विविध योनियों के मार्मिक चित्रण का नमूना देखिये —

"सुहुम निगोदे न देखियो सखी, बादर अतिहि विशेष ॥सखी०॥
पुढवी आऊ न लेखियो सखी, तेऊ आऊ न लेश ॥सखी०॥
वनस्पति, अतिघणदीहा सखी, दीठो नहि दीदार ॥सखी०॥
बि-ति-चउरिंदिय जललीहा, सखी, गतसन्नीपण धार ॥सखी०॥

तात्पर्य यह है कि वहाँ कहीं मुझे दर्शन का मौका नहीं मिला। केवल इसी मनुष्यभव में यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है, अतः मुझे अब देखने दे। प्रस्तावना में कितना विवेचन दिया जाए, प्रत्येक कृति अद्भुत भावों को लिये हुए चली है।

सच्चा साधक कभी अपनी कमजोरी नहीं छिपाता। वह तो डंके की चोट सभी के आगे उसे व्यक्त कर देता है। मन की चंचलता के आगे हैरान श्री आनन्दघनजी सत्रहवें कुन्थुनाथस्वामी के स्तवन में गजब की व्याख्या करते हैं—

"कुन्थुजिन ! मनडुं किम ही न बाजे,
जिम-जिम जतन करी ने राखूं,तिम-तिम अलगूं भाजे।"

प्रभो ! मेरा मन किसी प्रकार बाज नहीं आता। इसे काबू करने के लिये ज्यों-ज्यों प्रयत्न करता हूँ, त्यों-त्यों वह दूर भागता है। मन का यह निश्चित स्वभाव है कि जहाँ जाने के लिये हम रोकना चाहेंगे, वहाँ वह जरूर जायेगा। इसी अनुभवगम्य स्थिति का यह प्रकट दिग्दर्शन है। मन के दौड़ने की निःस्सारता का चित्रण पढ़िये—

"रयणी-वासर, वसती-उज्जड, गयण-पायाले जाय।
सांप खाय ने मुखडुं थोथुं, एह ओखाणो न्याय, हो, कुन्थु ॥

रात-दिन, वसति-उजाड़, आकाश-पाताल में यह दौड़ता रहता है। इतना दौड़ते हुए भी इसे कुछ प्राप्त नहीं होता। फिर भी मालिक को तो यह भारी बना ही देता है। जैसे-सांप काटता है, तो उसका पेट तो नहीं भरता, पर जिसे डंक मारता है, उसे तो विष से व्याकुल बना ही देता है।

अहा ! कैसी विचित्र लोकोक्ति का प्रयोग किया है। इसी स्तवन के अन्तिम पद में तो वे एक असाधारण घोषणा कर देते हैं—'प्रभो ! अमुक ने मन को जीता, मन को मारा, मन को वश में किया—ये सब सुनी-सुनाई बातें हैं। मैं उन पर कैसे विश्वास करूँ ? यदि आप मेरे मन को वश में ला दें, तो मैं उपर्युक्त कथनों को सत्य मान लूंगा।'

"आनन्दघन प्रभु ! म्हारो आणो तो साचूं करी मानूं।"

वस्तुतः मन को मारना कठिन समस्या है। आनन्दघनजी मन को मारने से अधिक सुधारने में विश्वास करते हैं। इस भाँति सारा ही ग्रन्थ बहुमूल्य शिक्षामणियों से एवं आध्यात्मिक अनुभूतियों से भरा पड़ा है। बस, कण की परीक्षा से ही मनभर की परीक्षा हो जाती है।

मूलकृति एवं भाष्यकार

यद्यपि आनन्दघन चौबीसी पर आज तक अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं, अनेक व्याख्याएं की गई हैं, फिर भी वे बहुत संक्षिप्त एवं शब्दार्थ मात्र जैसी ही हैं। उनसे पाठकों की तत्त्वजिज्ञासा यथार्थतया समाहित नहीं हो पाती। श्रीमद्राजचन्द्र जैसे महान् तत्त्व-मनीषियों ने भी कुछ गीतिकाओं पर ही प्रकाश डाला है, सभी गीतिकाओं पर नहीं। अतः मुमुक्षुओं की मांग थी कि कोई अनुभवी साधक इसकी विस्तृत व्याख्या करे। समुद्र की अतल गहराइयों तक गोता लगाने वाला तैराक ही उसकी गहराई को माप सकता है। केवल तट पर घूमने वाले यात्री को उसका कैसे पता लग सकता है ? इस अभाव की पूर्ति भाष्य लिख कर **मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी** ने सचमुच में की है। भाष्यकार ने किस गहराई से तत्त्व को छूआ है और कैसी वास्तविक व्याख्या से समाधान किया है, यह विशिष्ट वाचकों से कदापि छुपा नहीं रहेगा। इधर-उधर की व्याख्या से व्यर्थ का कलेवर बढ़ाना और बात है और मूल का स्पर्श करना भिन्न बात है। यह मूलस्पर्शी व्याख्या बनी है। ग्रन्थकार के प्रत्येक शब्द के तात्पर्य को पकड़ने की इसमें विशेष चेष्टा की है।

यह निःसन्देह है कि मूल-मूल है, व्याख्या-व्याख्या है। सैकड़ों वर्षों का अन्तर चिन्तन के स्तर को बदल डालता है। शब्द भी अपने तात्पर्यों को बदल लेते हैं। वहाँ ऐदंयुगीन मानव अपनी बुद्धि से अवश्य कुछ जोड़ना एवं कुछ तोड़ना चाहता है—यह स्वीकरणीय तथ्य है, फिर भी टीका, वृत्ति, भाष्य के

बिना दूसरा कोई चारा नहीं है। मूल को कितनी यथार्थता से कौन पकड़ता है? यही देखना वहाँ अभीष्ट है।

वैसे ही चौवीसी के पदों में जहाँ-जहाँ कुछ शास्त्रोपजीवी भावनाएँ हैं, वहाँ-वहाँ उन-उन शास्त्रीय प्राचीन ग्रन्थों के श्लोक आदि टिप्पण में सप्रमाण दे दिये गये हैं। इससे प्रस्तुत भाष्य की मौलिकता पर और भी चार चाँद लग गये हैं।

व्याख्या की प्रामाणिकता

वही व्याख्याकार अपने और कृतिकार के साथ न्याय करता है, जो अपनी मान्यताओं को प्राधान्य न दे कर कृति के भावों को प्राधान्य देता है, क्योंकि वह वहाँ अपनी मान्यताओं की व्याख्या नहीं कर रहा है, बल्कि किसी अन्य व्याख्येय की व्याख्या कर रहा है। इस विषय में भी भाष्यकार बिलकुल खरे उतरे हैं। मेरी दृष्टि में यह उनकी व्याख्या की प्रामाणिकता है, जो विशेष श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है।

फूलों की बगिया महक रही है, सौरभ बिखेर रही है, कौन उससे प्रीणित होगा—उसे यह परवाह नहीं हैं। कलरव के साथ शीतल मधुर पानी का सोता बह रहा है, कौन उस पानी का उपभोक्ता होगा—उसे इसकी चिन्ता नहीं है। मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी भी उसी धुन के धनी हैं। वे स्वान्तःसुखाय सतत साहित्य-साधना में संलग्न रहते हैं। कौन कैसा उपभोग करेगा—वे इस चिन्ता से विरत हैं, फिर भी सौरभ व शीतल जल का उपभोग हर कोई करना ही चाहेगा। संस्कृत के एक सुभाषित में कहा है—

"गुणाः कुर्वन्ति दूतत्वं, दूरेऽपि वसतां सताम्।
केतकी-गन्धमाघ्राय, स्वयमायान्ति षट्पदाः॥"

—बस इन्हीं शब्दों के साथ—

वि० सं० २०३३, ज्येष्ठशुक्ला १०
बेलनगंज, आगरा। —चन्दनमुनि

अर्थ-सहायकों की सूची

५०१) श्रीमती कमलाबाई गेंदामलजी भलगट	नारायणगाँव
१५१) सौ० आनन्दीबाई माणकचन्दजी चोरड़िया,	बोरी
२५१) श्री सरदारमलजी पोपटलाल संचेती	जुन्नर
५१) श्री पन्नालाल धूलचंद लूणावत	जुन्नर
१००) बाबूलालजी चुन्नीलालजी धोका	अहमदनगर
१००) चम्पालाल रमणलाल चंगेड़िया	सोनई
१०५) सौ. कमलाबाई घेवरचन्द संचेती	श्रीरामपुर
१०५) श्री झुम्बरलालजी पुनमचन्दजी बाफना	श्रीरामपुर
५१) श्री सन्ताबाई मिश्रीलालजी भंडारी	श्रीरामपुर
१०५) श्री वसन्तीलालजी केशरचन्दजी बोरा	आश्वी
१०५) श्री रतनलालजी नवलमलजी भंडारी	आश्वी
१०५) श्रीमलजी शान्तिलालजी गाँधी	"
२२५) श्री शान्तिलालजी दुलीचन्द रातड़िया	"
३१) श्रीनथमलजी सूरजमलजी चोपड़ा	"
३०) श्रीझुमरलालजी कचरदासजी गाँधी	"
१०५) श्री रमणलालजी केसरचन्दजी बोरा	"
१६५) सौ. चम्पाबाई शंकरलाल गाँधी	"
३१) श्रीमूलचन्दजी कचरदासजी बोरा	"
३१) श्री हरकचन्दजी गुलाबचन्दजी पटवा	"
१०५) श्री नेमिचन्दजी भागचन्दजी कटारिया	श्रीरामपुर
१००) छल्लाणी ब्रदर्स, गंजबाजार	अहमदनगर
२५१) श्री केवलचन्दजी हरकचन्दजी लोढ़ा	सोनगाँव
५१) श्री मोहनलालजी शान्तिलालजी गाँधी	"
५१) डॉ. क्रान्तिलाल खुशालचन्दजी बोरा	"
५१) श्री चम्पालाल नैनसुखजी सिंघी	

५१)	श्री झुमरलालजी खुशालचन्दजी बोरा	सोनगांव
२५)	श्री वसन्तलाल पन्नालाल गुगले	"
१५)	श्री घेवरचन्द वदनलालजी मेहर	"
११)	श्री मोहनलालजी फिरोदिया	"
१००)	श्री मेघराज जैन, रेडीमेंट वाजार	अरसीकेरे (कर्णाटक)
७५)	श्री प्रकाशलाल चन्दनमल नाहर	मिरजगांव
१५१)	श्री चन्द्रकान्तजी शोभाचन्दजी बाफना	घोड़नदी
१०५)	श्री माणकचन्दजी धूलचन्दजी दुग्गड़	घोड़नदी
२०१)	श्री पुखराजजी हीरालालजी तातेड़	कटंगी
२१)	श्री मिश्रीलालजी दगडुलालजी सोनी	"
११)	श्री लखमीचन्दजी घीसालाल नाहर	"
२५)	श्री राजकुमार आसकरण चंडालिया	"
१५)	श्री गोकुलचन्द खेमराज मुथा	घोड़नदी
२०१)	श्री भँवरीलालजी जुगराजजी फूलफगर	घोड़नदी
१०५)	श्री धनराजजी मोतीलालजी बोरा, आडतबाजार	अ. नगर
१०५)	श्री भोजराजजी सुरेशकुमार खींवसरा	बीड़
१०१)	श्री माणकचन्दजी राजमलजी बाफना	बड़गांव
५१)	श्री मोहनलालजी भगवानदास कोठारी	अ. नगर
३०१)	श्री पन्नालालजी केशरीचन्दजी चंगेड़िया	"
१०५)	श्री उत्तमचन्दजी शान्तिलालजी नाहर	घोड़नदी
१०१)	श्री रतनबाई सुखलालजी विनायक	
५१)	श्री कन्हैयालालजी नेमिचन्दजी भटेवरा	घोड़नदी
१११)	श्री उत्तमचन्दजी रूपचन्दजी भंडारी (बडालावाला)	अ. नगर
१०५)	श्री रतनलाल चान्दमलजी पीपलावाला	
३१)	श्री मोहनलालजी ओस्तवाल,	उमराण
३१)	श्री धरमीचन्दजी नवीनकुमारजी	रायचूर (कर्णा.)
५१)	श्री शोभाचन्दजी झणकारमलजी चोपड़ा	म. गां. रोड, अहमदनगर
१०५)	श्री धनराजजी श्रीमलजी पीतलिया	सारडागली, अहमदनगर
१०५)	श्री फूलचन्दजी हरकचन्दजी बोथरा	आड़तबाजार, अहमदनगर
१५१)	श्री उत्तमचन्दजी राजमलजी गूगले	गंजबाजार, पाथर्डी (अ. न.)

१०१) श्री मानकचन्दजी फूलचन्दजी, लोढ़ा, दालमंडई, अहमदनगर

१०५) श्री दानमलजी कचरदासजी नाहर, विनय टेडिंग कं. तेलीखूंट (अ. नगर)

१०५) श्री कान्तिलाल घेवरचंद सिघवी दालमंडई (अ. नगर)

१०५) श्री नारायणदास मोहनलाल लोढ़ा ,, ,,

७५) श्री आसराज कन्हैयालाल कटारिया आड़तवाजार, अहमदनगर

३१) श्री चुन्नीलालजी लखमीचन्दजी वोरा खिस्तीगली, अ. नगर

६१) नाजुवाई हीरालालजी चौपड़ा काटेगली ,,

१०५) प्रेमलतावाई मुकनदासजी दुगड़ ,, ,,

३१) सौ. सरसवाई पोपटलालजी देसरड़ा (९ उपवास के उपलक्ष में) पनसरे गली, अहमदनगर

५००) कचरदासजी मोहनलालजी लोढ़ा घासगली, अहमदनगर

७५) मोहनलालजी जुगराजजी दालमंडई (अ. नगर)

१०५) अमोलकचन्दजी विरदीचन्दजी कटारिया भीकार वाजार, अहमदनगर

२५) सौ० सूरजवाई नेमीचन्दजी लोढ़ा बनजार गली, अहमदनगर

३५) बंशीलालजी सुवालालजी गुगले जामखेड़ (अ. नगर)

११) नेमीचन्दजी माणकचन्दजी मुथीयान परदेशी गल्ली, अहमदनगर

१०५) श्री प्रेमराज पन्नालालजी मुणोत सदाभवन नवीपेठ, अहमदनगर

१०००) श्रीनेमीचन्दजी भागचन्दजी कटारिया चाईस, अहमदनगर

१५१) श्री अमृतलालजी वंशीलालजी गाँधी नवीपेठ, अहमदनगर

६१) श्री मनसुखलालजी लूणकरणजी मुणोत वुरड़गली, अहमदनगर

५१) श्री लालचन्दजी अमरचन्दजी चंगेड़िया खिस्तीगली, अहमदनगर

६५) श्री सुवालालजी बंदुलालजी वोथरा आड़त वाजार, अहमदनगर

१०५) श्री चान्दमलजी पन्नालालजी डागा आड़त व जार, अहमदनगर

५१) श्री वंशीलालजी नन्दरामजी पटवा अम्बिकानगर, अहमदनगर

५१) श्री विजयकुमारजी बाजीरावजी गाँधी नवीपेठ, अहमदनगर

०१) श्री शान्तिलालजी मोहनलालजी कांठेड़ आड़तवाजार, अ. नगर

०५) श्री माणकचन्दजी वनेचंदजी खाविया चर्चरोड़, अ. नगर

०५) श्री कान्तिलालजी ताराचन्दजी मूथा खिस्तीगल्ली, अ. नगर

०५) श्री रतनचन्दजी रामचन्दजी वोरा पनसरे गल्ली, अ. नगर

१०५) श्रीमती रतनबाई चुन्नीलालजी कर्णावट
c/o इन्द्रभान चुन्नीलाल कर्णावट — आड़तबाजार, अ. नगर
३१) श्री शंकरलालजी भीमराजजी कटारिया — बनजारगली, अ. नगर
१५१) श्री मनसुखलाल चैनसुखलालजी कांठेड़ — सारडा लेन, अ. नगर
१०५) श्री शान्तिलालजी वशीलालजी भंडारी — आड़तबाजार, अ. नगर
३१) श्री हुरकचन्दजी किसनदासजी चत्तर — बुरुड़गल्ली, अ. नगर
३१) श्री सूर्यकान्तजी जुगराजजी रांका — दाल मंडई, अ. नगर
१५) श्री सुभापलालजी शंकरलालजी गुंदेचा — मालीवाड़ा, अ. नगर
५०१) श्री पुनमचन्दजी मोतीलालजी मुनोत — दालमंडई, अ. नगर
२१) श्री पोपटलालजी चांदमलजी गाँधी — शहाजीरोड, अ. नगर
१२०) श्री नवलमलजी शोभाचन्दजी गांधी — दालमंडई, अ. नगर
१०५) श्री केशरचन्दजी गुलाबचन्दजी मुणोत — दालमंडई, अ. नगर
१०५) श्री कान्तिलालजी व्रजलालजी लिंबाडीवाला
१५) श्री जवरीलालजी किसनदासजी हिरण मनमाड वाला
३०) श्री धनराजजी रमेशलालजी बोरा — गजबाजार, अ. नगर
७५) श्री इन्द्रभानजी घेवरचंदजी भंडारी — खिस्तगली, अ. नगर
१०५) श्री कान्तिलालजी भीकचंदजी लुणावत — तावीदास गली, अ. नगर
१५१) सौ. गुलाबबाई मगनलालजी आश्वीवाला — मोचीगली, अ. नगर
१०५) श्री मोतीलालजी मुलतानचंदजी बोरा ट्रस्ट — परदेशीगली, अ. नगर
१०१) नानीबाई रामचन्द गुगले — कोल्हार
१०१) श्री हीरालालजी चन्दनमलजी — कुकुमोड़ कोल्हार
५१) श्री सुखलालजी उत्तमचन्दजी रांका — ,,
३५) श्री शान्तिलालजी नथमलजी रांका — ,,
३१) श्री मनसुखलालजी नेमिचंदजी चोरड़िया — ,,
२१) श्री शान्तिलालजी नैनसुखजी सिंघवी — ,,
१५) श्री पन्नालालजी गूंदेचा — पानोली
५१) श्री स्वार्थीलाल जी नैनसुखलालजी भटेवरा — चाकण
५१) श्री चुन्नीलालजी नेमिचंदजी भटेवरा — उरलीकांचन
३१) श्री अमोलकचंदजी नवलमल गुगलिया — घुमरेगली कॉर्नर, अ. नगर
१०५) श्री पूनमचंदजी दगडरामजी भंडारी

७५) श्री झुंबरलाल छगनलाल कासवा	आढ़ते बाजार, अ. नगर
१५) श्री कहैयालाल गाँधी	अ. नगर
२१) श्री माणकचदजी गोकूलदास मुनोत	हिवड़ावाला, अ. नगर
२०१) श्री सुरजवाई दौलतरामजी वोरा	अ. नगर
५०१) श्री केशरचंदजी वंशीलालजी कटारिया	पाडलीकर अ. नगर
२५१) श्री शंकरलालजी मोहनलालजी पोखरणा	अ. नगर
१०५) श्री मनसुखलाल केशरचंदजी चगेडिया	सोनई, अ. नगर
१६५) श्री हरकचंदजी रतनचंदजी छल्लाणी	आड़ते बाजार, अ. नगर
६१) श्री भीकचंदजो रामचंदजी लूंकड़ वाकुडीवाला	अ. नगर
५१) श्रीमती रंभाबाई भगवानदासजी कोठारी	सर्जेपुर रोड़, अ. नगर
५५) श्री झुंबरलालजी भगवानदासजी कोठारी	सर्जेपुर रोड, अ. नगर
६१) श्री माणिकचंदजी भिकनदासजी कटारिया	सुन्दरनिवास, अ. नगर
१५) श्री खुशालचंद दीपचंद बम्ब	गंजबाजार, अ. नगर
१०५) श्री हेमराजजी श्रीमलजी गाँधी रस्तापुर वाला	अ. नगर
१५) श्री दलीचंद जीवराज गाँधी	आडते बाजार, अ. नगर
३१) श्री गेनमल चन्दनमल गुगले	तपकीर गली, अ. नगर
१५) श्री मोहनलालजो हम्मीरमलजी चोपड़ा	तेलीखूंट, अ. नगर
१०५) श्री सुखलालजी चुन्नीलालजी लोढा	गंजबाजार, अ. नगर
६१) श्री माणकचंद रतनचंद छल्लाणी	पारशाखूंट, अ. नगर
१५) श्री चंदनमलजी शिवलालजो पारख	अ. नगर
३१) श्री राजेन्द्रकुमार मोहनलालजी मुथा	खिस्ती गल्ली, अ. नगर
६१) श्री उत्तमचन्दजी छोगमलजी रातडिया	नवा कापड़ बाजार, अ. नगर
३१) श्री पोपटलाल भीकमदास भलगट	गणेश ट्रेडर्स मालीवाड़ा, अ. नगर
२१) श्री शेषमलजी अमरचन्दजी भंडारी	नवा बाजार, अ. नगर
१५) श्री फूलचंद चत्रभुज गाँधी	जूना बाजार, अ. नगर
५५) श्री समरथमलजी कुन्दनमलजो वोरा	कपड़ा बाजार, अ. नगर
६०) श्री शान्तिलालजी भगवानदासजी गुगले	तोपखाना, अ. नगर
३१) श्री संजयकुमार पोपटलाल पीपाड़ा	अ. नगर
७५) श्री शान्तिलालजी पन्नालाल चंगेड़िया	भिंगार, अ. नगर

१५) श्रीमती रम्भाबाईन हेमराजजी गाँधी, कापड़ बाजार, अ० नगर
१५) श्री आनन्दरामजी किशमदासजी छाजेड़, मु. म्हासा श्रीरामपुर
१०१) श्रीमती सूरजबाई मोहनलाल जी, शंकर रोड़, पूना-९

अर्थसहयोगी महानुभावों की यह सूची बहुत ही सावधानी के साथ छपवाई गई है, फिर भी किन्हीं महानुभावों के नाम इस सूची में रह गये हों तो वे हमें क्षमा करें। सम्भव है, हमारे पास घोड़नदी के अर्थ-सहायकों की सूची नहीं पहुंची हो। हम उनसे क्षमाप्रार्थी हैं। इस सूची की प्रतीक्षा में ही पुस्तक के छपने में काफी बिलम्ब हो गया है।

जिन-जिन महानुभावों ने इस विशालकाय ग्रन्थराज में अर्थसहयोग किया है, हम उन्हें धन्यवाद देते हैं। भविष्य में हम आशा करते हैं कि वे महानुभाव इस प्रकार के अद्वितीय ग्रन्थराज के प्रकाशन में अवश्य अपना सहयोग देते रहेंगे।

मंत्री

विश्ववात्सल्य प्रकाशन समिति
लोहामंडी, आगरा-२

पुस्तक-प्राप्तिस्थान (महाराष्ट्र में)

राजेन्द्रकुमार मोहनलाल मुथा
अर्बन कॉ-ऑपरेटिव बैंक, गांधी रोड़,
अहमदनगर (महाराष्ट्र)

१ : ऋषभदेव-स्तुति—

सच्ची परमात्म-प्रीति

(तर्ज— कर्मपरीक्षा करण कुमर चाल्यो ……राग-मारु)

ऋषभजिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि-अनन्त ॥ध्रुव०॥१॥

अर्थ

मेरे सच्चे प्रियतम (पतिदेव) तो रागद्वेष-विजेता ऋषभदेव परमात्मा हैं। मैं और किसी को अपने पति के रूप में नहीं चाहती; क्योंकि मेरे परमात्मदेव (पति) यदि एक बार प्रसन्न हो जायेंगे तो वे सादि-अनन्त भंग (विकल्प) की दृष्टि से कदापि मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

भाष्य

अन्तरात्मा की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्म-प्रीति है। परमात्म-प्रीति के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्प हैं। परन्तु स्तुतिकर्ता श्रीआनन्दघनजी जगत् के किसी भी तथाकथित महान् (धन, सौन्दर्य आदि की दृष्टि से) व्यक्ति को अपने प्रियतम के रूप में पसंद नहीं करते। इसीलिए अपनी श्रद्धा नाम की सखी से चेतना (अन्तरात्मा) द्वारा कहलाते हैं —मेरे प्रियतम तो रागद्वेष-विजयी ऋषभदेव परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) हैं। इन्हीं के चरणों में मैं अपने तन, मन, इन्द्रिय, हृदय, बुद्धि आदि सर्वस्व अर्पण करती हूँ। इन्हीं के पास रहने, इन्हीं की सेवा में अहर्निश संलग्न रहने की मेरी भावना है। मैं अपने इन्हीं पतिदेव को चाहती हूँ। इनके साथ रहने में मैं अपने जीवन की परम सफलता मानती हूँ।

अन्य के साथ क्यों नहीं ?

आर्यनारी जिसके साथ एक बार प्रीति जोड़ लेती है, उसे अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वही उसका आमरणान्त पति कहलाता है। उसके साथ

में उसे चाहे जितने कष्ट उठाने पड़ें, वह पतिपरायणा या पतिवत्सला ही रहती है, परन्तु उस प्रीति में तो प्रायः भंग होता देखा गया है। कई क्रूर पति अपनी पत्नी को अकारण ही छोड़ देते हैं, कई दूसरी सुन्दरी के प्रेम में पड़ कर अपनी पत्नी की उपेक्षा कर बैठते हैं, कई अकालमृत्यु के शिकार बन जाते हैं, इसलिए ऐसी लौकिक प्रीति तो अस्थायी और प्रायः विपत्तिकारिणी होती है, इसी कारण शुद्धचेतना सती ऐसे किसी लौकिक व रागद्वेषपरायण पति (प्रियतम) से प्रीति जोड़ना नहीं चाहती।

अखण्डप्रीति के धनी परमात्मा

शुद्धचेतना की अन्तरात्मा पुकार उठती है कि रागद्वेष से अत्यन्त दूर परमात्मा (ऋषभदेव) ही अखण्डप्रीति के धनी हैं, उनके साथ एक बार मेरी प्रीति जुड़ जाने पर वह कभी टूटेगी नहीं। वे एक बार मुझे प्रसन्नतापूर्वक अपना लेंगे तो फिर कदापि मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमात्मा के साथ ऐसी अखण्डप्रीति तभी अविच्छिन्न, स्थायी और अटूट रह सकती है, जब आत्मा (चेतना) भी सतत अपनी शुद्ध स्वभावदशा में रहे। आत्मा शुद्ध स्वभावदशा की प्रीति छोड़ कर यदि सांसारिक वस्तुओं, इन्द्रियविषयों या व्यक्तियों के प्रति मोह, आसक्ति, आकांक्षा या स्वार्थवश प्रीति करने जायेगी तो उसकी वह प्रीति परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी नहीं रहेगी। अतः वे कहते हैं-'परमात्मारूपी पति भी तभी प्रसन्न रहेंगे, जब उनके प्रति अनन्यभक्ति, अनन्यश्रद्धा और स्वभाव धारा में सततरमणता होगी और एक बार प्रसन्न (स्वभावनिष्ठ) होने पर वे मेरे हृदयसर्वस्व कभी मेरा परित्याग नहीं करेंगे।'

परमात्मा के प्रति प्रीति के स्थायित्व का कारण

एक बार परमात्मा के साथ प्रीति होजाने पर वह सदा के लिए स्थायी क्यों हो जाती है, इसके लिए आनन्दघनजी कहते हैं कि वह प्रीति सादि-अनन्त है। उसकी एक बार आदि (शुरूआत) तो होती है, परन्तु उस प्रीति का अन्त नहीं होता। जिस प्रीति का प्रारम्भ तो हो, पर अन्त हो जाय, वह प्रीति स्थायी नहीं होती, ज्यादा से ज्यादा वह एक जन्म तक टिकती है। शरीर छूटने के बाद वह भी छूट जाती है।

संग-परिहार बनाम स्वभावदशापरिहार

कोई कह सकता है, संग का एक अर्थ आसक्ति है, और वह तो त्याज्य मानी गई है, इसलिए परमात्मा के साथ यह कैसे संगत हो सकता है? परन्तु यहाँ वीतरागप्रीति का प्रसंग होने से संग का अर्थ आसक्ति नहीं, अपितु स्वभावदशा का साथ है, जिसे परमात्मदेव कभी छोड़ते नहीं।

प्रीत-सगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय॥
ऋषभ० ॥२॥

अर्थ

जगत् में प्रीति-सम्बन्ध तो सभी करते हैं। परन्तु ऐसे प्रीति-सम्बन्ध में कोई दम नहीं होता। यथार्थ प्रीति-सम्बन्ध तो सर्व उपाधियों से मुक्त होता है। उपाधियों से युक्त प्रीति-सम्बन्ध तो आत्मधन को खो बैठता है।

भाष्य

अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध ही आत्मस्वभावरूपी अखण्डधन का रक्षक होता है, जबकि खण्डित प्रीतिसम्बन्ध आत्मस्वभावरूपी अखण्ड धन को नष्ट कर देता है। इसका मूल कारण उपाधि बतलाया गया है। पूर्वोक्त प्रथम पंक्तियों में अखण्डप्रीति का लक्षण बताया गया है, जबकि इसमें अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताया है।

जगत् का प्रेम-सम्बन्ध

जगत् में अपनी सन्तान, परिवार, जाति, धर्मसंघ, राष्ट्र, प्रान्त आदि से अधिकांश लोग प्रेम-सम्बन्ध जोड़ते हैं। परन्तु यह सम्बन्ध प्रायः चिरस्थायी नहीं होता, मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी आदि समस्त प्रकार के जीव भी परस्पर प्रेम करते हैं, परन्तु दुनियादारी के इस प्रेम में प्रायः देहसम्बन्ध होता है। सांसारिक प्रीति-सम्बन्ध के पीछे शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुएँ—सौन्दर्य, स्वार्थलिप्सा, विविध कामनाएँ, भोगैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, इन्द्रिय-विषयाकांक्षा, अहंपोषण आदि पौद्गलिक उपाधियाँ रहती हैं। जैसे दूध में खटाई डालते ही वह फट जाता है; वैसे ही उस अखण्ड प्रीतिसम्बन्ध में उपाधि रूपी खटाई पड़ते ही वह टूट (फट) जाता है। उसमें बाह्य धन, साधन और बल का तो नाश होता ही है, आत्मगुणरूपी धन का सबसे ज्यादा

नाश होता है। क्योंकि सांसारिक पौद्गलिक वस्तु या व्यक्ति सभी नाशवान हैं, उन्हें अपने मानने पर, यानी उनमें अहंता-ममता की उपाधि का आरोपण करने पर भी वे अपनी नहीं होतीं। उन क्षणभंगुर वस्तुओं के साथ प्रीति का सम्बन्ध प्रारम्भ में, मध्य में, और अन्त में भी यथार्थरूप से संभव नहीं होता, क्योंकि वह विविध उपाधियों से घिरा होता है।

सच्चा प्रीतिसम्बन्ध

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सच्चे प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताते हुए कहते हैं—"सच्चा प्रीतिसम्बन्ध तो निरुपाधिक कहलाता है, जिसमें अखण्डता, अविच्छिन्नता और उपाधिमुक्तता होती है; उसमें प्रीतिसम्बन्ध, प्रीतिसम्बन्ध का पात्र एवं प्रीति-सम्बन्धकर्त्ता तीनों में निरुपाधिकता होती है। इस प्रीति-सम्बन्ध के पीछे भी कोई आसक्ति, फलाकांक्षा आदि उपाधि नहीं होती; ऐसा प्रीति-सम्बन्ध जिसके साथ जोड़ा जाता है, वह भी राग-द्वेष, मोह आदि उपाधियों से रहित समदर्शी, विश्ववत्सल एवं सर्वभूतात्मभूत होता है, तथा प्रीति-सम्बन्ध जोड़ने वाला व्यक्ति भी अपने को आराध्यदेव के अनुकूल पूर्वोक्त स्वार्थ, आकांक्षा आदि उपाधियों से रहित आत्मस्वभावनिष्ठ, आत्मपरायण बना लेता है, जिससे उसे आत्मधन खोने का कोई खतरा नहीं रहता; बल्कि वह अपनी आत्मशक्तियों को प्रगट कर लेता है, आत्मगुणों का विकास कर लेता है।

निरुपाधिक प्रीति का क्रम

प्रश्न होता है कि सर्वथा निरुपाधिक प्रीति तो क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान पर पहुँचे हुए व्यक्ति ही कर सकते हैं, उससे नीचे की भूमिका वाले साधक की प्रीति सर्वथा निरुपाधिक नहीं होती; तब फिर एक परिवार या संघ में रहते हुए देव, गुरु, धर्मसंघ, देश, किसी सार्वजनिक संस्था व विश्व के साथ या मैत्रीसाधक या वात्सल्यसाधक संगठन के प्रति जो समूहगत प्रीति होती है, उसमें निरुपाधिकता कैसे आ सकती है? इसका समाधान संक्षेप में श्रीआनन्दघनजी के दृष्टिकोण से इस प्रकार है "उपाधि का मूल अहंता और ममता है। जितनी-जितनी जिसकी अहंता-ममता अधिक तीव्र होगी, उतनी-उतनी उपाधि बढ़ती जायगी और जितनी-जितनी अहंता- ममता मन्द होगी, उतनी-उतनी उपाधि कम होती जायगी। इसलिए अहंता-ममता का

त्याग जितना संकीर्ण दायरे में होगा, उतना ही उपाधि का दायरा बढ़ता जायगा, और जितना व्यापक विशाल दायरे में होगा, उतना ही उपाधि का दायरा कम होता जायगा। इसीलिए एक आध्यात्मिक पुरुष ने साधक को परामर्श दिया है[1]—

'यदि अहंता-ममता का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते तो अहंता-ममता को व्यापक कर दो, सर्वत्र फैला दो।'

अर्थात्—शरीर, परिवार, जाति, प्रान्त, राष्ट्र आदि पर जो अहंता-ममता है, उसे इन सबसे ऊपर उठ कर सारे विश्व के प्राणियों तक पहुंचा दो। समस्त प्राणियों को आत्मतुल्यदृष्टि से देखो, सर्वभूतमैत्री और विश्ववात्सल्य की दृष्टि से व्यवहार करो। निष्कर्ष यह है एक शरीर में रहते हुए भी अपने शरीर आदि के प्रति ममत्वदृष्टि से न सोच कर सारी मानवजाति की दृष्टि से और यहाँ तक कि बढ़ते-बढ़ते सर्वप्राणिमात्र की दृष्टि से सोचो, विश्व की समस्त आत्माओं के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखो, विरोधी, दुर्गुणी अथवा पापी आत्माओं के प्रति भी घृणा, द्वेष ईर्ष्या या वैरभाव छोड़ कर उनमें भी विराजित निरावरण चेतना को देखो और उनके साथ भी समता का व्यवहार करो। अपनी व्यक्तिचेतना को विश्वचेतना में विलीन करने का प्रयत्न करो। इस प्रकार की विश्ववत्सलता सर्वभूतमैत्री या सर्वभूतात्मभूतदृष्टि रखते हुए जब धर्मसंघ, देश या जाति के प्रति विशिष्ट सामूहिक प्रीति-सम्बन्ध होगा तो उसमें उपाधि का अंश बहुत-ही कम हो जायगा।[2]

कदाचित् देहादि-संयोगवश निरुपाधिक प्रीतिसम्बन्ध में स्खलना आ भी जायगी तो भी वह बहुत सूक्ष्म होगी, उसका परिमार्जन या शुद्धीकरण भी प्रतिक्रमण, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि से हो सकेगा। परन्तु इसके साधक को तादाम्य-ताटस्थ्य का तथा अनायास-आयास का विवेक एवं अप्रमादयुक्त जागृति रखना बहुत ही आवश्यक है। इस दृष्टि से सच्चे

---

१. "अहंता-ममता-त्यागः यदि कर्तुं न शक्यते।
अहंता-ममता चैव सर्वत्रैव विधीयताम् ॥"

२. विश्वबन्धुत्व आदि प्रशस्त भावनाओं में यद्यपि प्रशस्तराग का अंश संभव है, तथापि अप्रशस्तराग (दृष्टि, स्नेह, और विषय के प्रति राग) की अपेक्षा वह बहुत ही क्षीण होगा।

प्रीतिसम्बन्ध में ध्येयानुकूल-अनुबन्ध जरूरी है। अन्यथा, बाह्यदृष्टि से घरबार कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि की उपाधि छोड़ने वाला साधक रक्त-सम्बन्ध को छोड़ कर भी शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, स्थान, प्रसिद्धि, आदि के मोहवश हो कर नई उपाधियों से घिर जायगा और सच्चे प्रीतिसम्बन्ध को विपाक्त बना लेगा।

कोई कंत-कारण काष्ठभक्षण करे रे, मलशुं कंतने धाय।
ए मेलो नवि कदीए संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय॥ ऋषभ०॥३॥

अर्थ

कई मोहान्ध विवेकविकल महिलाएँ पति के मिलने के लिए काष्ठभक्षण करती हैं (लकड़ियों की चिता पर पति के साथ जीवित जल मरती हैं); इस इस कारण से कि इस प्रकार करने से पति से जल्दी मिलन हो जायगा। परन्तु ऐसा मिलन किसी भी तरह सम्भव नहीं है, क्योंकि मिलने वाले के तथा जिससे मिलना है, उससे मिलने के, किसी स्थान का पता नहीं है, न दोनों का कोई एक स्थान ही निश्चित है।

भाष्य

उपर्युक्त पंक्तियों में श्री आनन्दघनजी प्रीतिसम्बन्ध को दृढ़ करने हेतु विवेकविकल व्यक्तियों के द्वारा अजमाए जाने वाले पति-मिलन के मिथ्या उपाय बतलाते हुए कहते हैं—"कई मोहान्ध एवं विवेकशून्य नारियाँ आतुर हो कर आवेशवश, सामाजिक कुप्रथावश अथवा मोहान्धतावश या दिखावे के लिए प्राचीनकाल में अपने मृत पति के साथ सती हो जाती थीं, 'मुझे अगले जन्म में यही पति मिले', इस लिहाज से वे मृत पति के साथ चिता में जल मरती थीं, परन्तु इस प्रकार का देहार्पण करके प्रीति का प्रदर्शन निरर्थक है। यह मान्यता सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि पति के साथ जल मरने वाली स्त्री को पति मिल ही जायगा, क्योंकि सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विविध योनियों और गतियों में जन्म लेते हैं, पति और उसके साथ जल मरने वाली पत्नी के कर्म भिन्न-भिन्न हैं; इसलिए उन्हें गति भी भिन्न-भिन्न मिलेगी। कदाचित् दोनों को एक ही गति मिल भी जाय, फिर भी दोनों का एक ही राष्ट्र, प्रान्त, नगर

---

१. किसी किसी प्रति में 'कहींए' है, उसका अर्थ होता है—'कहीं भी'।

या ग्राम में, तथा एक ही परिवार में अथवा समसंस्कारी कुल या जाति में जन्म पाना अत्यन्त कठिन है।

पतिमिलन के लिए स्वदाहक्रिया : भ्रान्तिपूर्ण

इसीलिए अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी का स्पष्ट कथन है कि ऐसी पतिमिलन की मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रकार की आत्म-हत्या है, इस प्रीतिसम्बन्ध की दृढ़ता का मूल वैषयिक आकांक्षा है, जो जैनदृष्टि से निदान (नियाणा) है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस स्वदाहक्रिया के पीछे आत्मदृष्टि की सर्वथा विस्मृति, गति-आगति के कारणों व कर्म के अचल सिद्धान्त का अज्ञान, विश्व-व्यवस्था की अल्पज्ञता तथा प्रायः आवेश और अभिमान के पोषण की दृष्टि से एक प्रकार का आत्महनन प्रतीत होता है। कई व्यक्ति अपनी या अपनी जाति की प्रसिद्धि के लिए भी बहुत धन खर्च करते हैं, कष्ट सहते हैं और प्राण तक अर्पण कर देते हैं। इसलिए ऐसे आत्मदाह के पीछे प्रसिद्धि की कामना भी हो सकती है।

लोकोत्तर दृष्टि से भी काष्ठभक्षणक्रिया से मिलन नहीं

काष्ठभक्षण का पहले जो अर्थ किया गया था, वह लौकिक पति-मिलन की दृष्टि से था, लोकोत्तरपति—परमात्मा से मिलन की दृष्टि से अर्थ होता है—परब्रह्म परमात्मा को पति मान कर कई लोग उसे प्राप्त करने हेतु प्रीति के आवेश में आ कर पंचाग्नि ताप तपते हैं; यानी अपने चारों ओर आग से तथा सिर को सूर्य के प्रचण्ड ताप से जला कर, अपने सारे शरीर को भस्म कर देते हैं। किन्तु इस प्रकार मूढ़तापूर्वक जल कर मरने से भी मुक्ति में विराजित परमात्मा से मिलन सम्भव नहीं है; क्योंकि ऐसा व्यक्ति पता नहीं मर कर किस गति और योनि में जायगा! अतः परमात्मा के स्थान (मोक्ष) में उसका मिलाप कदापि सम्भव नहीं है।

पतिमिलन के ये सब मूढ़तापूर्ण उपाय देहदमन के सिवाय और कुछ नहीं हैं। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रीति बताने हेतु यदि कोई व्यक्ति मूढ़तावश देहदमन करता है, तो उसे भी परमात्मारूपी पति प्राप्त नहीं होता; क्योंकि ऐसे अज्ञानकष्ट से शुभभावना हो तो कदाचित् स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु परमात्ममिलन या मुक्तिमिलन अथवा निश्चयनय की भाषा में कहें तो शुद्धात्मभाव-मिलन कदापि नहीं हो सकता। कारण स्पष्ट है कि इसके

पीछे केवल भ्रान्तिवश देहार्पण की क्रिया है, आत्मसंयमपूर्वक शुद्ध आत्म-स्वरूप में रमणता और कांक्षारहित त्याग नहीं है। बल्कि कई बार तो परमात्ममिलन के लिए भी इस प्रकार के अज्ञतापूर्वक आत्मदाह के समय तीव्र आर्त्त-रौद्र ध्यान होने से नरक और तिर्यंचगति भी प्राप्त होने की भी सम्भावना है।

इस प्रकार जन्ममरण के चक्कर में फंसाने वाली मूढ़तापूर्ण बाह्य प्रीति का दिग्दर्शन करा कर श्रीआनन्दघनजी इसके सम्बन्ध में विशेष स्पष्टीकरण करते हैं—

कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तन-ताप।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्यु रे रंजन धातुमेलाप ॥ऋषभ०॥४॥

अर्थ

कई व्यक्ति पति (परमात्मा=नाथ) को प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त कठोर तप करते हैं। इस प्रकार का पतिरंजन शरीर को तपाना—कष्ट देना है। मैंने अपने चित्त में इस प्रकार के पतिरंजन (परमात्मा को खुश करने के तरीके) को स्थान नहीं दिया। मैं एक धातु से दूसरी धातु के मलन (एकमेक हो जाने) से होने वाले रंजन को ही परमात्मारूपी पति का रंजन मानता हूँ।

भाष्य

पतिरंजन के लिए मूढ़तापूर्ण तप

परमात्मा की प्रीति-सम्पादन के इच्छुक व्यक्तियों द्वारा परमात्मारूपी पति को रंजन करने के नाना उपायों को बता कर श्रीआनन्दघनजी अपना निर्णय स्पष्टरूप से बताते हुए कहते हैं—जैसे सांसारिक जीवन में विविध प्रकार के काम-भोगों की अभिलाषिणी स्त्रियाँ अपने पति को खुश करने के लिए अनेक प्रकार के तप करती हैं; कई अपने सुहाग को अमर रखने के लिए महीने-महीने तक उपवास, एकाशन, या चन्द्रायण आदि अनेक कष्टदायक तप करती हैं, सौभाग्यसूचक चिह्न धारण करती हैं, कई बार रात्रि-जागरण करती हैं, भगवान् को मनाने हेतु रात-दिन नाम-जप करती हैं, पति के खाने-पीने से पहले स्वयं नहीं खाती-पीती; इत्यादि अनेक कष्ट सह कर वे देहदमन करती हैं। वैसे ही कई तथाकथित साधु-संन्यासी अथवा भक्त

परमात्मारूपी पति को रिझाने के लिए [1] जंगल में, गुफाओं में व एकान्त में रहते हैं, परमात्मा व आत्मा का स्वरूप समझे बिना ही कर्त्तव्यविमुख हो कर रात-रातभर जाग कर, जोर-जोर से धुन बोलते हैं, नाम रटते हैं, कंद-मूल, फल आदि खा कर निर्वाह करते हैं; कई पंचाग्नि-ताप सहते हैं, कई औंधे लटक कर शीर्षासन की तरह उलटे खड़े रहते हैं, कई शीत ऋतु में ठंडे पानी में घंटों खड़े रह कर परब्रह्म का जाप करते हैं, कई महीनों भूखे रहते हैं या किसी एक चीज पर रहते हैं, कई महीनों तक खड़े रहते हैं, कई एक टांग ऊँची करके खड़े रहते हैं, कोई विविध आसन करते हैं। इससे भी आगे बढ़कर देहदमन के अनेक उपाय परब्रह्म-पति को रंजन करने के लिए विवेक-विकल लोगों द्वारा अजमाये जाते हैं—जैसे कई लोग भैरवजप का आलंबन लेकर पहाड़ या ऊँचे स्थल से गिर कर झंपापात करते हैं, कोई हिमालय में जा कर वर्फ में गल जाते हैं, कोई काशी में करवत से अपने शरीर को चिरवा देते हैं, कोई जमीन में मिट्टी में शरीर को दवा कर जीवितसमाधि ले लेते हैं। ये और इस प्रकार के अन्य देहदमन के उपाय वाल (अज्ञान) तप हैं और इनके फलस्वरूप ये वालमरण के ही प्रकार हैं।

परमात्म-पति का वास्तविक रंजन

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे तपों को तप नहीं, तनताप (शरीर को तपाना = कष्ट देना) कहा है। और इस प्रकार पतिरंजन के तमाम उपायों को उन्होंने मन से भी नहीं चाहा, न स्वीकार किया। मतलब यह है कि देहदमन से होने वाले अज्ञानयुक्त निरुद्देश्य वाह्य तप में और आत्मा की शुद्ध दशा में रमण करने के हेतु होने वाले तप में बहुत अन्तर है। आत्मशुद्धि (निर्जरा) के हेतु सिवाय इस प्रकार का अज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कष्ट-सहनरूप तप लौकिक पति का रंजन कर सकता है, मगर लोकोत्तर पति (परमात्मदेव) का रंजन तो सोने और चांदी के मिलाप, या सोने के साथ सोने के मिलाप (धातुमिलाप) की तरह एकमेक हो जाने अर्थात् आत्मा के शुद्ध आत्मस्वभाव में तल्लीन हो जाने से हो सकता है। प्रेम करने वाला

---

१ इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए देखिये उववाई सूत्र में वाल-तपस्वियों का वर्णन।

और प्रेमपात्र दोनों में अभिन्नता, एकवाक्यता या तद्रूपता हो जाना ही वास्तविक लोकोतर पतिरंजन है।

लोकोत्तर पतिरंजन में सोद्देश्य तप

उपर्युक्त गाथा में शुद्धचेतना का परमात्मचेतना के साथ एक रूप हो जाने को ही वास्तविक पतिरंजन कहा है, जो शुद्धचेतना की उत्कटदशा की भावना है, परन्तु इसके दौरान जो भी वाह्य या आभ्यन्तर तप होगा, वह लक्ष्य की दिशा में ले जाने वाला होगा ; जैसे सोना, चांदी आदि दो धातुओं को एकमेक करने के लिए उसे कदाचित् ५०० डिग्री तक का ताप देना पड़ता है, वैसे ही परमात्मा के साथ आत्मा का मिलन करने के लिए मन, वचन, काया की इतनी उत्कट तीव्र दशा, स्वाभाविक रूप से भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि को समभाव से सहने के रूप में वाह्य तप, तथा अहिंसादि व्रतपालन के रूप में ध्यान, कायोत्सर्ग, वैयावृत्य, स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, विनय आदि आभ्यन्तर तप करने पड़ सकते हैं। लेकिन उस तप को हम केवल देहताप नहीं कहेंगे ; क्योंकि वह उत्कृष्ट रसायनपूर्वक आत्मा की परमविशुद्धदशा की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक रूप से होने वाला सोद्देश्य तप है।

सांसारिक प्रेम को पतिरंजन के विषय में निरर्थक वताने के वाद कई व्यक्ति किसी से प्रेम करना या प्रेम प्राप्त करना विलकुल नहीं चाहते, यह मान्यता भी भ्रान्तिमूलक है, इसे वताने के लिए आगे की गाथा में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

कोई कहे लीला रे अलख-अलख तणीरे, लख पूरे मन आस।
दोषरहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष-विलास ॥
ऋषभ० ॥५॥

अर्थ

कोई (वैदिक आदि सम्प्रदाय वाले) कहते हैं कि ईश्वर (परमात्मा) तो अलक्ष (जिसके स्वरूप की जानकारी या पहिचान न हो सके, ऐसा) है, इस सारे दृश्यमान जगत् की अदृश्यरूप रचना, उसी ईश्वर की लीला है। अतः इस लीला को जान लेने पर वह अलक्ष ईश्वर मन की सभी आशाएँ पूर्ण कर देता है। परन्तु योगीश्वर आनन्दघनजी कहते हैं कि परमात्मा (वाह्यचक्षुओं से

अलक्ष्य निरंजन निराकार जरूर है, मगर वह) तो समस्त पापदोषों से रहित होता है, उसके ऐसी लीला संगत नहीं होती ; क्योंकि जगत् की रचनारूपी लीला तो काम-क्रोधादि दोषरूप विलास है।

भाष्य

परमात्मप्रीति का अज्ञानजनित प्रकार

परमात्मा के साथ प्रीति करने का एक अन्य प्रकार सांसारिक लोगों द्वारा अपनाया जाता है, जिसका उल्लेख करते हुए आनन्दघनजी कहते हैं—कई लोगों की मान्यता है कि यों व्यर्थ ही तप करके देहदमन करने की या परमात्म-पति को रिझाने के लिए जल मरने की आवश्यकता नहीं ; क्योंकि परमात्मा तो अलक्ष्य (अज्ञेय-अदृश्य) है ; उस विदेह (देहरहित) के साथ हम सदेह का मिलन यों हो नहीं सकता ; इसलिए उस अलक्ष परमात्मा की जो लीला (संसार की रचना) है, उसे लक्ष्य में ले लो, यानी उस ईश्वर-लीला को साक्षात् देख लो, और उसकी महिमा का इस रूप में गुणगान करते रहो। निष्कर्ष यह है कि ईश्वर ही हमारे विचारों, भावों और कार्यों का नियंता है, उसकी इच्छा पर ही हमारे जीवन का सारा दारोमदार है, इस बात को मान कर उस पर ही सब कुछ छोड़ दो, हमें कुछ करने-धरने की जरूरत नहीं, न तप करना है, न कष्ट सहना है, न आत्मस्वरूप में रमण के लिए ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करना है, वही प्रसन्न हो कर सब कुछ कर देगा। उसकी इस लीला को देख कर उसी के गुणगान में मस्त रहने से वह प्रसन्न होगा, और हमारे मनोरथ पूर्ण कर देगा। परन्तु यह मान्यता भ्रान्तियुक्त है, आत्मा की स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाली और स्वपुरुषार्थविघातक है, स्वरूपरमणता में विघ्नकारक है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना से आत्मा को हटाने वाली है।

निर्दोष परमात्मा के लिये सदोष लीला संगत नहीं

उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए वे कहते हैं—"जो परमात्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, अन्याय, पक्षपात आदि दोषों से बिलकुल मुक्त है, वीतराग है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुखमय है, उसमें कामनाजनित इच्छा से सम्पृक्त दोषयुक्त संसार की रचनारूप लीला कैसे सम्भव हो सकती है ? संसार के विकारों एवं दोषों-कर्मों आदि से सर्वथा मुक्त निरंजन निराकार होने पर परमात्मा पुनः कामना आदि दोषों से युक्त हो कर इस राग-द्वेषयुक्त संसार की

रचना करके अपनी लीला क्यों दिखाएँगे ? क्योंकि लीला कुतूहलवृत्ति से होती है, जो ज्ञान एवं सुख की अपरिपूर्णता से ही संभव है। इसलिए ऐसी लीला प्रत्यक्ष दोषयुक्त ही है। परमात्मा जन्म-मरण के चक्र में डालने वाली ऐसी दोषयुक्त प्रवृत्ति में क्यों पड़ेंगे ?

अलक्ष्य परमात्मा के लक्ष्यरूप के साथ प्रीति

उक्त मान्यता वालों का कथन है—हम मानते हैं कि परमात्मा तो बिलकुल अलक्ष्य-अदृश्य, अव्यक्त हैं ; मनुष्य की बुद्धि से पर-अगम्य हैं। ऐसे परब्रह्म का ध्यान करने के लिए भी कई योगी, बाबा अलख (अलख की ध्वनि करके) जगाते हैं। अतः ऐसे अलक्ष्य में से लक्ष्यस्वरूप अवतरित होता है, पैदा होता है। भक्तिमार्गी लोगों ने ऐसे अलक्ष्य को ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनों लक्ष्यरूपों में कल्पित किया है, यानी उनका कहना है कि ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादन करता है, विष्णु उसका संरक्षण करता है और महेश (शिव) उसका संहार करता है। ये तीनों परब्रह्म परमात्मा के लक्ष्यरूप हैं। अलक्ष्यरूप परमात्मा के इन लक्ष्यरूपों की जब इच्छा होगी, तभी लक्ष्य के साथ हमारी सच्ची प्रीति होगी। उन्हीं की इच्छा बलवान है। परमात्मा के ये लक्ष्यरूप ही हमारी आशाओं को पूर्ण करेंगे। इसलिए कुछ करने की जरूरत नहीं। जब ये लक्ष्यरूप भगवान् तुष्ट होंगे, तभी परमात्मप्रीति प्राप्त होगी। यही कारण है कि भक्ति-मार्गीय लोगों ने इन लक्ष्यरूप भगवानों को परमात्मा के अवतार, पैगम्बर, या मसीहा (प्रभुपुत्र) मान कर उन्हें प्रसन्न करने करने के लिए कीर्तन, धुन, नामोच्चारण आदि विधियाँ प्रचलित कीं। उनको रिझाने के लिए नृत्य-गीत, वाद्य आदि का आयोजन किया ; परन्तु यह सब भ्रान्ति है ; क्योंकि इसके पीछे सबसे बड़ा अज्ञान तो कर्म-सिद्धान्त का है। प्राणी जैसा-जैसा कर्म करता है, वैसा-वैसा ही फल उसे स्वयं को मिलता है। खुद के सिवाय दूसरा कोई उसके शुभ या अशुभ कर्म को बदलने और अच्छा या बुरा फल देने में समर्थ नहीं है। दूसरी भूल यह है कि जीवन में हिंसा, असत्य आदि का त्याग या परभावों में रमणता का त्याग किये बिना तथा स्वभाव में तथा अहिंसा आदि आत्मिक गुणों में रमण किये बिना अथवा कर्तव्यकर्म छोड़ कर सिर्फ परमात्मा या उनके लक्ष्यरूप अवतारों के गुणगान करने आदि से परमात्मा की प्रीति या प्रसन्नता सम्पादन करने की बात व्यर्थ चेष्टा है, बालचेष्टा है। यथा

परमात्मा चाटुताप्रिय है कि उसकी चापलूसी करने से वह उनके पाप माफ कर देगा ? परमात्मा के प्रति प्रीति इतनी सस्ती नहीं है। उसमें तो दो धातुओं के एकरूप होने की तरह अपने अहं आदि विकारों को मिटा कर शुद्ध आत्म-दशा के प्रति सर्वस्व समर्पण करना पड़ता है। अगर ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ किये बिना केवल ऐसे थोथे गुणगानों से ही परमात्मा प्रसन्न हो जाता तब तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करने की जरूरत ही क्या रहती ? अथवा स्वभाव में रमणता की आवश्यकता भी क्यों होती ?

इसीलिए अगली गाथा में परमात्मप्रीति या परमात्मभक्ति का रहस्य बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

चित्तप्रसन्ने रे पूजनफल कह्यु रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम-अर्पणा रे, आनन्दघन-पद-रेह ॥
ऋषभ० ॥६॥

अर्थ

आत्मचेतना—अन्तरात्मा की प्रसन्नता को ही परमात्मपूजा का फल कहा है। यही वास्तव में अखण्डपूजा है। और ऐसी अखण्ड परमात्मपूजा निष्कपट या निःशल्य अथवा कषायरहित हो कर अपनी आत्मा को परमात्मा में अर्पण कर देने से होती है। यही स्वात्म-अर्पणता आनन्दघन (सच्चिदानन्दमय परमात्मा के) पद (स्थान) की रेखा या मर्यादा है, अथवा निशानी है।

भाष्य

परमात्मा की पूजा का फल : चित्तप्रसन्नता

पूर्वोक्त गाथाओं में परमात्मारूपी पति को प्रसन्न करने के विविध अज्ञानमूलक उपायों को श्रीआनन्दघनजी ने भ्रान्त ठहरा कर परमात्मा के साथ धातुमिलाप की तरह एकरूपता (तदात्मता) को उनकी प्रसन्नता का कारण बताया ; अब इस गाथा में उसकी विशेषता एवं फलप्राप्ति की निशानी बताते हुए वे कहते हैं कि आत्मचेतना की प्रसन्नता ही परमात्मपूजा का फल है। आत्मचेतना की प्रसन्नता द्वैत, कषाय, परभाव, विकल्प या शल्य आदि विकारों से रहित हो कर परमात्मा के साथ अन्तरात्मा की एकरूपता से होती है। एकरूपता निर्विकारता—स्वच्छता व निर्विकल्पता रखने से होती है। यही अविच्छिन्न-अखण्डपूजा है। जब अन्तरात्मा परभावों से विरत हो कर सतत

परमात्मतत्त्व या शुद्ध चैतन्यभाव में लीन हो जाती है; तभी अखण्ड शुद्धचेतना की धारा में बहती रहती है, वही परमात्मा की अविच्छिन्न पूजा है। प्रसन्न का अर्थ स्वच्छ या निर्मल भी होता है। चैतन्य (चित्त) तभी निर्मल रह सकता है, जब उस पर विकल्पों, परभावों, कषायों या माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप शल्यों की छाया न पड़े, या इनसे मलिन न हो।

निष्कपट अर्पणता : परमात्मा की वास्तविक पूजा

परमात्मा की भावपूजा ही वास्तविक पूजा है। क्योंकि उसी में पूज्य, पूजक और पूजा का अभेद या एकत्व अविच्छिन्नरूप से रह सकता है। तभी परमात्मा के साथ तन्मयता या तदात्मता हो सकती है। और ऐसी तन्मयता के लिए निष्कपट अर्पणता होनी अनिवार्य है। जहाँ कपट आया कि अर्पणता में द्वैतभाव, स्वार्थभाव या मायादि शल्य या मोहभाव आ गया, समझलो। जहाँ अर्पणता में दंभ, दिखावा, या छल-प्रपंच आ जाता है, वहाँ अर्पणता वास्तविक नहीं होती, और न वहाँ आत्मा में आनन्द उत्पन्न होता है।

कई बार बहुत-से लोग परमात्मा की भक्ति का दिखावा करते हैं। बड़े-बड़े समारोह करके वे परमात्मा की पूजा की अखंडितता बताने के लिए अखंड कीर्तन, अखण्ड जप आदि करते हैं, परन्तु उसके साथ सच्चे माने में अर्पणता नहीं होती, या तो प्रसिद्धि या नामना-कामना होती है या लोकरंजन करके परमात्मभक्ति, प्रभुपूजा या अखंड प्रभुनामकीर्तन की ओट में अपनी किसी स्वार्थसिद्धि कीभावना होती है। अतः किसी प्रकार के दंभ, छलप्रपंच, मायाजाल या दिखावे आदि से दूर रह कर निष्काम-निःस्वार्थभाव से शुद्ध चेतना का परमात्म-चेतना में अर्पित हो जाना – तल्लीन हो जाना ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। सच्चा समर्पण 'अप्पाणं वोसिरामि' – यानी अपने आत्मतत्त्व से भिन्न परभाव— जिनको अभी तक साधक अपने मानता आया है, उनका व्युसर्ग —अन्तःकरण से त्याग करने पर ही आता है। समर्पण मन को मनाने या लौकिक चातुर्य बताने का नाम नहीं है, क्योंकि ऐसा करने में सहजभाव नहीं रहता। इसमें तो परमात्मा (आदर्श शुद्धात्मदशा) के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने, अपने आपको भूल जाने और तद्रूप दृष्टि, तन्मयता, और तदात्मता प्राप्त करने की तड़फन चाहिए। ऐसे समर्पणकर्त्ता को बहिरात्मदशा से सदा-सर्वदा के लिए सर्वथा मुक्त हो कर

अन्तरात्मदशा में ही सतत विचरण करना पड़ता है। साथ ही बाह्यभाव का विसर्जन, वुद्धि-विलास पर अंकुश, परभाव के त्याग के साथ शुद्धचेतना के प्रति विशुद्ध परम आत्मा के साथ इतनी एकलयता हो जाय कि ध्याता, ध्येय और ध्यान एक हो जाय, ऐसा आत्मार्पण हो जाना ही वास्तविक परमात्म-प्रीति है। और अध्यात्मयोगी का लक्ष्य सदा इसी प्रीति का साक्षात्कार करना होता है।

आनन्दघन-पद का अर्थ

आनन्दघन का अर्थ है—सच्चिदानन्दमय। सच्चा और ठोस आनन्द आत्मा को तभी प्राप्त होता है ; जब वह विकल्पों, वितर्कों, विकारों, पौद्गलिक भावों या कषायादि परभावों से शून्य हो। आनन्दघनशब्द का शब्दशः अर्थ भी (सिद्ध=शुद्ध, वुद्ध, मुक्त) आत्मा के आनन्द का समूह भी होता है। गणितशास्त्र में लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई, इन तीनों के समूह को घन कहते हैं। यहाँ भी आनन्द यानी आत्मा की निर्विकारी दशा और घन यानी उसकी विपुलता, ठोसपन ; दोनों मिलकर आनन्दघनपद होता है।

रेह शब्द की विभिन्न अर्थों के साथ संगति

रेह शब्द का अर्थ 'रहना' भी होता है। जिसका अर्थ होता है—'आनन्दघनमय परमात्मा के स्थान में रहना।' अधिकांश विचारकों ने इसका अर्थ 'रेखा' किया है। रेखा का अर्थ वह चामत्कारिक मर्यादा है, जिसका उल्लंघन नहीं किया जा सकता। कपटरहित हो कर आत्मसमर्पण करना ही आनन्दघनपद की मर्यादा (रेखा) है। रेखा का अर्थ कई लोग निशानी (चिह्न) भी करते हैं। वे यों अर्थसंगति विठाते हैं कि निष्कपट आत्मार्पणा ही आनन्द घन-पद-प्राप्ति की निशानी है।

कई प्रतियों में रेह के वदले 'लेह' शब्द भी मिलता है। जिसका अर्थ किया जाता है—ऐसा निर्व्याज आत्मार्पण ही आनन्दघनपद को उपलब्ध करता है।

सारांश

श्री आनन्दघनजी ने प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव परमात्मा की स्तुति करते हुए परमात्म-प्रीति का समस्त तत्वज्ञान इसमें वता दिया है। प्रीति के

लिए यथार्थ प्रीति-पात्र की पहिचान, निरुपाधिक प्रीति का तत्त्व और सोपाधिक प्रीति, लौकिक प्रीति में पतिरंजन के लिए आत्मदाह, अज्ञानपूर्वक विविध कष्ट-सहन आदि को नश्वर बता कर लोकोत्तर पतिरंजन के लिए अखण्डप्रीति का रहस्य, तत्पश्चात् अदृश्य प्रभु की प्रीति से विरक्त हो कर दृश्यमान की प्रीति सिद्ध करने वालों की अज्ञता बता कर सच्ची प्रीति के लिए चेतना की प्रसन्नता और निष्कपट आत्मार्पणता की अनिवार्यता बताई है। सचमुच, परमात्म-प्रीति का रहस्योद्घाटन करने में योगी श्रीआनन्दघनजी ने कमाल कर दिखाया है।

२ : श्री अजितनाथ-स्तुति—

परमात्मपथ का दर्शन

(तर्ज-पूर्ववत्)

परमात्मा से प्रीति के सम्बन्ध में पूर्व स्तुति में बहुत ही स्पष्टरूप में योगी श्रीआनन्दघनजी ने कह दिया कि निष्कपट हो कर आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मप्रीति हो सकती है ; परन्तु उक्त परमात्मप्रीति या परमात्म-प्राप्ति का मार्ग जब तक वास्तविक रूप से जान लिया न जाय, तब तक परमात्मभक्ति अंधभक्ति रहेगी ; इसलिए अब इस स्तुति में परमात्मप्राप्ति के मार्ग का दर्शन (निर्णय) करने की दृष्टि से वे कहते हैं—

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित-गुणधाम ।
जे तें जीत्या रे, तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किस्युं मुझ नाम ।।
।।पंथड़ो० ।।१।।

अर्थ

मैं द्वितीय वीतराग परमात्मा श्रीअजितनाथ भगवान् का (उनके पास पहुँचने का) मार्ग अत्यन्त बारीकी से देख रहा हूँ । अजितनाथ परमात्मा मुझ सरीखे व्यक्तियों द्वारा नहीं जीते (साधे) गए सद्गुणों के धाम हैं । उन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं को जीत कर जिस मार्ग से कार्य सिद्ध किया था, उस मार्ग को देखते हुए मैं उन्हें कहता हूँ—मेरे परमात्मदेव ! जिनको आपने जीत लिया था, उन्होंने आपसे पराजित हो कर अब मुझे जीत लिया है । दूसरों के द्वारा विजित (पराजित) हो कर भी मेरा नाम पुरुष (पौरुषवान आत्मा) कैसे ठीक हो सकता है ? अतः फिलहाल तो आप जिस मार्ग से गये हैं, उस समस्त पथ का अवलोकन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ ।

भाष्य

परमात्मपथ का निरीक्षण क्यों, कैसे ?

परमात्मा (विशुद्ध आत्मा) के साथ प्रीति करने वाले अन्तरात्मा

के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि परमात्मा के धाम तक पहुँचने के लिए परमात्मा जिस मार्ग से गए हैं और अपने धाम तक पहुँचे हैं, उस मार्ग को पहले भलीभाँति देख ले, अन्तर में उस पथ को हृदयंगम कर ले। इसी दृष्टि से वीतरागभाव अथवा शुद्धात्मभाव का पथिक अन्तरात्मा पहले परमात्मपथ का दर्शन करने के लिए पूर्णतया उत्सुक है।

जगत् में भिन्न-भिन्न धर्मों और पंथों के, मत-मतान्तरों के ग्रन्थ या पुरुष परमात्म-प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग बताते हैं। कई बार जिज्ञासु साधक वास्तविक मार्ग को छोड़ कर ,एक या दूसरे मार्ग को पकड़ लेता है, आगे चल कर जब उद्देश्य के विरुद्ध उसके नतीजे सामने आते हैं या वीतरागप्राप्ति के बदले राग, द्वेष और मोह की भूलभुलैया नजर आती है या विपरीत अनुभव होता है तो साधक पश्चात्ताप या कई बार आर्त्तध्यान में पड़ जाता है। कई बार साधक राजसी बुद्धि की दौड़ लगा कर तर्क-वितर्क द्वारा अपना चातुर्य प्रगट करके उलटे मार्ग (उत्पथ) पर चढ़ जाता है, फिर घबराता है, उससे पिंड छुड़ाने के लिए छटपटाता है और मोहनीयकर्म की प्रबलता के कारण वीतराग परमात्मा द्वारा अभ्यस्त या प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप (मोक्ष) मार्ग को प्राप्त नहीं कर पाता। सात्त्विक बुद्धि और हृदय का समन्वय करके चलने के बजाय वह केवल बुद्धि पर भरोसा रख कर चलता है; इसलिए पतन के मार्ग पर चढ़ जाता है, या ठोकर खा जाता है।

तीसरी बात भक्तिरस की दृष्टि से यह है कि जैसे प्रेमी या विरहिणी स्त्री अपने पति के आने की बाट जोहती रहती है, इसी प्रकार परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति करने वाला परमात्मप्रेमी साधक भी परमात्मा से (उनके स्वधाम में पहुंच जाने के कारण) विरह हो जाने से अन्तरात्मा में उनके पधारने (शुद्ध आत्मभाव के आने) की बाट जोहता= प्रतीक्षा करता रहता है।

इन सब दृष्टियों से विशुद्ध आत्मभाव का पथिक साधक सर्वप्रथम परमात्मा के उस विशुद्ध और वास्तविक मार्ग को देखने-जानने और भलीभाँति हृदयंगम करने के लिए आतुर-उत्सुक है। वह परमात्म-पथ के दर्शन-बारीकी से अवलोकन, करने, बुद्धि और हृदय से निरीक्षण-परीक्षण करने के लिए सन्नद्ध हो कर खड़ा है। वह जागृत हो कर अन्तर्हृदय से पुकार उठता है—**'पंथडो निहालुं रे**

ीजा जिनतणो रे ......'' मैं दूसरे तीर्थंकर वीतराग परमात्मरूप श्रीअजित-ाथ भगवान् का मार्ग नीहार रहा हूँ। नीहारने का अर्थ सामान्यरूप से ही देखना नहीं है, अपितु जगत् में प्रचलित अनेकविध परमात्मपथों का विश्लेषण करते हुए अन्तर में डुबकी लगा कर यथार्थ परमात्मपथ को देख-जान-विचार-समझ कर दृढ़ता से निर्णय करके उसमें तन्मय हो जाना है। इसमें निरीक्षण करने के साथ-साथ उस पथ को अन्तर में उतारने और तदनुसार गति-प्रगति करने का मार्ग हृदय में निर्धारित करने की बात भी गतार्थ है।

परमात्मप्राप्ति का मार्ग कहें, शुद्ध आत्मभाव-प्राप्ति का मार्ग कहें या मोक्षप्राप्तिमार्ग कहें, बात एक ही है। इसलिए केवल जान लेना (ज्ञान) ही परमात्मप्राप्ति का मार्ग नहीं है, दर्शन (हृदय से श्रद्धापूर्वक धारण करना) और चारित्र (तदनुसार आचरण करना) भी मार्ग है। निष्कर्ष यह है कि भौतिकता की चकाचौंध में साधक की दृष्टि आध्यात्मिकता के मार्ग से हट जाती है, वह अपनी नजर भौतिकता में गड़ा लेता है, इसीलिए अध्यात्मयोगी साधक आध्यात्मिकता की मंजिल, अध्यात्म के चरमशिखररूप परमात्मा के समीप जाने के लिए आध्यात्मिकता के मार्ग में अपनी दृष्टि स्थिर करना चाहता है।

शत्रुविजेता परमात्मा के मार्ग में शत्रुओं से विजित साधक के अन्तर की पुकार

जब परमात्ममार्ग का पथिक साधक अन्तर में डुबकी लगा कर परमात्मा के मार्ग का अवलोकन करता है तो उसके अन्तर से पुकार उठती है—'हे अजितनाथ (रागद्वेषादि शत्रुओं से अविजित) परमात्मन् ! आपके पास पहुंचने के मार्ग में तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष आदि अनेक चोर, डाकू, लुटेरे, शत्रु के रूप में आत्मधन का हरण करने के लिए खड़े हैं, आपने तो उन सबको जीत लिया है, इसलिए आपका 'अजित' नाम तो सार्थक है, परन्तु वे कामादि शत्रु, जिन्हें आपने जीत लिया था, वे अब मुझे जीत रहे हैं, या पराजित कर देते हैं ; मैं जब आपके द्वारा प्ररूपित या अभ्यस्त मार्ग को देख कर चलने के लिए तत्पर होता हूँ तो अनेक शत्रु आ कर उस रास्ते में खड़े हो जाते हैं। मैं उन सबसे हार कर घबरा जाता हूँ। अपनी पुरुषार्थहीनता पर मुझे तरस आती है, मैं सोचने लगता हूँ, जब आप पुरुष हो कर वीतरागता

के मार्ग में बाधक उन [1] अठारह दूषणों पर विजय प्राप्त करके या उन दोषों द्वारा विजित (पराजित) न हो कर अनन्त गुणों तथा मुख्य अष्टगुणों के धाम बन कर अपने नाम को सार्थक कर चुके हैं, जबकि मैं उन दूषणों से पराजित हो कर उनके आगे घुटने टेक देता हूँ ; तब भला मेरा 'पुरुष' नाम कैसे सार्थक हो सकता है ? आगमों में तथा सांख्य-दर्शन में आत्मा को 'पुरुष' कहा गया है। आत्मा पौरुषयुक्त होने के कारण 'पुरुष'[2] कहलाता है। जब साधक आत्मा अपनी शक्तियों को न पहिचान कर विकारों के नचाये नाचने लगता है, रागादि दूषणों का गुलाम बन जाता है, पौरुषहीन व निराश बन कर कामादि शत्रुओं के आगे पराजित हो जाता है, तब वह परमात्मा के आगे पुकार उठता है—**'पुरुष किस्युं मुझ नाम ?'** मेरा पुरुष नाम कैसे यथार्थ है ? मैं पौरुषवान् हो कर जब विकारों से अपनी पराजय देखता हूँ; तब मुझे ऐसा लगता है कि मेरे लिए पुरुष शब्द शोभा नहीं देता !

यद्यपि पुरुष होते हुए भी मेरी दशा पुरुषार्थहीन हो रही है, फिर भी आपने जिस मार्ग का पुरुषार्थ किया, उस मार्ग के दर्शन तो कर लूँ ! रास्ता देखा होगा तो किसी दिन इस रास्ते से जाने का पुरुषार्थ भी हो सकेगा। इसलिए प्रभो ! मैं आपके पथ का अवलोकन करने को उद्यत हुआ, और प्राथमिक अवलोकन में मुझे जो कुछ मालूम हुआ, उसे मैं आपके सामने विनम्र भाव से प्रस्तुत करता हूँ ।

जैनदर्शन की दृष्टि से देखें तो काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पांचों कारणों का समवाय होने पर ही कोई कार्य बनता है। परन्तु इन पांचों कारणों में पुरुषार्थ को भी विकासमार्ग में स्थान दिया गया है। वास्तव में देखा जाय तो शुभ या अशुभ कर्मों का बन्धन भी आत्मा के वैभाविक

---

१. अठारह दोष ये हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम (वेदोदय) अज्ञान, मिथ्यात्व, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष ।

२. 'पुरिसा तुममेव तुमं मित्तं·······, पुरिसा अत्ताणमेव समभिजाणह·······' आचारांगसूत्र

पुरुषार्थ से होता है। आत्मा जब तीव्र स्वाभाविक पुरुषार्थ करता है, तब इन कर्मों पर विजय प्राप्त करके अपने लिए अजर-अमर-अक्षय स्थान भी प्राप्त कर लेता है। इसी कारण आत्मा पुरुष (पुरुषार्थ करने वाला) कहलाता है। वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) से चैतन्यसम्पन्न साधक कहता है—आप तो स्वाभाविक परम पुरुषार्थ करके कर्मों पर विजय पा कर परमपुरुष कहलाए ! लेकिन मेरी स्थिति देखते हुए मुझे लगता है कि मेरे लिए पुरुष नाम सार्थक नहीं है। चूंकि मैंने वीतराग परमात्मा के आदर्श को तथा उनको प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है, तब मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपका मार्ग देख कर आपके मार्ग पर आ जाऊँ। जो वीतराग परमात्मा के पैरों तले हैं, उन्हें मैंने सिर पर चढ़ा लिये हैं ; अतः आपके सदृश बनने का खरा मार्ग यही है कि वीतराग जिस मार्ग से चले हैं, उस रास्ते को देखूँ और उनके पथ का अनुसरण करूँ। इसी प्रकार करने पर मेरा 'पुरुष' नाम सार्थक होगा। इसी दृष्टि से अन्तरात्मा ने वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) के मार्ग के अवलोकन करने का निर्णय किया।

यहाँ अवलोकन में केवल जिज्ञासातृप्ति ही नहीं, अपने पुरुषार्थ को अवकाश देने की भी तीव्र इच्छा प्रतीत होती है। इसीलिए अन्तरात्मा वीतराग परमात्मा के आदर्शमार्ग के दर्शन के लिए सुसज्ज होता है ; वहाँ कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, वह स्वयं प्रकट करता है—

मार्ग-अवलोकन में पहली कठिनाई

चरमनयणे करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य-विचार ॥पंथड़ो॥२॥

अर्थ

चमड़े की आँखों से आपका (वीतराग परमात्मा का) मार्ग देखते हुए तो सारा संसार भ्रान्त हो गया है। अजितनाथ परमात्मा जिस मार्ग से 'अजित' (अजेय) बने हैं, उस मार्ग को जिस नेत्र से देखना चाहिए, वह दिव्यविचाररूपी नेत्र (ज्ञाननेत्र) है।

भाष्य

चर्मचक्षुओं से वीतरागमार्ग के दर्शन अशक्य हैं

स्थूल आँखों से परमात्मा के मार्ग को देखने वाले लोग उनके प्रतीक के

आगे नाचना, गाना, बजाना रागरंग करना, उनके चित्र पर फूलों की माल डालना, स्थूल द्रव्यों की भेंट चढ़ाना, उनका-सा स्वांग रचना और उसक प्रचार-प्रसार करना, या इन्द्र या देव-देवी का रूप बना कर उनकी बाह्य भक्ति करना, अथवा उनकी सिर्फ जय बोल कर, रात-रातभर जाग कर उनका केवल नाम-कीर्तन करके या उनके कोरे गुणगान करके इसके साथ अपने जीवन में सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषय में कोई खास पुरुषार्थ न करके एकमात्र बाह्य भक्ति को ही परमात्मा का सच्चा मार्ग समझ लेते हैं। ऐसे लोग भी बाह्य रागरंग की भूलभुलैया में ही अटक कर रह जाते हैं। परमात्मा के मार्ग का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाते।

दूसरी दृष्टि से देखें तो वर्त्तमानकाल में प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय मत, पंथ या दर्शन परमात्मा के मार्ग को सिर्फ चमड़े की इन स्थूल आँखों से देखने का प्रयत्न करते हैं। वे प्रायः स्थूलदृष्टि से ही भगवान् की बाह्य क्रियाओं या प्रवृत्तियों अथवा बाह्य व्यवहार व आचरण को देख कर उनके मार्ग का निर्णय करते हैं। वे इन स्थूल आँखों से प्रायः यही देखा करते हैं कि हमारे पूजनीय आराध्यदेव गृहस्थावस्था में कैसे स्नान करते थे? कैसी गाड़ी में बैठते थे? उन्होंने विवाह किया या नहीं किया? उनके माता-पिता, भाई-बहन थे या नहीं? वे कौन थे, क्या थे? वे कैसे वस्त्र पहिनते थे? दीक्षा ली, तब कैसे ठाठबाठ से ली थी? कहाँ-कहाँ विहार किया? कितनी बाह्य तपस्याएँ कीं? उनका शिष्य-शिष्यासमुदाय कितना था? कितने अनुयायी थे? केवलज्ञान होने के बाद वे आहार करते थे या नहीं? वे वस्त्र रखते थे या नग्न रहते थे? वे दिनभर उपदेश आदि बाह्य क्रियाएँ क्या-क्या करते थे? वे रत्नजटित स्वर्णमय सिंहासन या पट्ट पर बैठते थे या शिलापट्ट पर? उनके पास देवता, इन्द्र आदि आते थे या नहीं? आते थे तो उन पर छत्र करते; व चमर ढुलाते थे या नहीं? वे अतिशयों से युक्त थे या नहीं? ये और ऐसी ही बातें चर्मचक्षुओं से देखी जा सकती हैं। इस प्रकार चमड़े की आँखों से इस स्थूलदर्शन को ही परमात्ममार्ग समझ कर सारा संसार भूला हुआ है। वह परमात्ममार्ग के वास्तविक तत्त्व या हार्द को नहीं समझ पाता।

इसी प्रकार कई स्थूल दृष्टि वाले लोग गांजा, सुलफा, भांग या शराब आदि नशैली चीजों का सेवन करके परमात्मा के मार्ग को देखने की चेष्टा

करते हैं। उनका कहना है कि नशे की धुन में भगवान् में सूरत लग जायगी, व्यक्ति अन्य स्थूल सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त हो जाएगा। परन्तु ये भी भ्रांति से पूर्ण बेतुकी बातें हैं। नशे में चूर होने पर व्यक्ति अपने आपे में ही नहीं रहता, वह परमात्मपथ को कैसे जान पाएगा ?

वस्तुतः मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण व्यक्ति की दिव्यदृष्टि (स्वभावदृष्टि) पर जब पर्दा पड़ जाता है, तब वह स्थूल दृष्टि से आबद्ध होने के कारण परमात्मा के सच्चे मार्ग को देख नहीं पाता। वह भ्रान्तिवश विविध धर्मों, पंथों, मतों, सम्प्रदायों या दर्शनों की मृगमरीचिका में फंस जाता है।

परमात्मपथ के दर्शन दिव्यनेत्र द्वारा ही सम्भव

जिस प्रकार एक गाँव से दूसरे गाँव जाते समय भूतल पर सड़क या मार्ग स्थूल आँखों से साफ दिखाई देता है, उस प्रकार का वीतरागमार्ग नहीं है, जो चर्मचक्षुओं से दिखाई दे सके। वह स्थूलमार्ग नहीं, अतीन्द्रिय मार्ग है ; जो दिव्यविचाररूपी नेत्र से ही दिखाई दे सकता है।

अर्थात्-पारमार्थिक-विचारणारूपी दिव्यनयन के बिना मस्तक में स्थित चमड़े की आँखों से परमात्मा का यह अतीन्द्रिय मार्ग देखा नहीं जा सकता। परमात्ममार्ग का यथार्थ निर्णय करने में चर्मचक्षु सफल नहीं हो सकते और न ही विभिन्न मतों, पंथों को देख कर उनके विश्लेषणपूर्वक वीतराग के यथार्थ मार्ग को पृथक् करने में चर्मचक्षु समर्थ हो सकते हैं। स्थूलनेत्र आखिर कितनी दूर तक देख सकते हैं ? अन्त में उनकी भी सीमा है। स्थूलनेत्रों से प्रमाण-नय के भंगजाल का या अंशसत्यपू—र्णसत्य का अथवा आत्मा के स्वभाव-विभाव का दर्शन नहीं किया जा सकता। इसी कारण वीतराग परमात्मा के यथार्थ मार्ग का निर्णय दिव्यविचाररूपी नेत्र—अन्तश्चक्षु से ही हो सकता है। साथ ही परमात्ममार्ग और संसारमार्ग दोनों का सम्यक् विश्लेषण करना भी चर्मचक्षुओं के बूते से बाहर है। दिव्यविचारचक्षु का अर्थ है—शुद्ध आत्मा का ज्ञान, गहरा आन्तरिक ज्ञान ; वही आन्तरिक नेत्र है। वीतराग परमात्मा के पथ को जानने-समझने और निरखने-परखने में दीर्घदृष्टि या रहस्यज्ञ चक्षु होनी चाहिए। बाह्य प्रवृत्ति पर से बहुत-सी बातें समझ में नहीं आतीं। पर-

मात्ममार्ग को जानने-समझने से पहले शरीर और आत्मा का सम्बन्ध, स्व-परभाव, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध, वगैरह अनेक बातों का जानना जरूरी है। इनके लिए केवल चर्मचक्षु ही पर्याप्त नहीं है, और लोकोत्तर दीर्घदृष्टि के लिए गहरा अभ्यास जरूरी है, जो अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हुआ। यह मेरी पहली कठिनाई है।

'चरम' शब्द का अर्थ 'अन्तिम' भी होता है, यानी अन्तिम आँखें—विशिष्ट सम्पूर्ण ज्ञानी के नेत्र। इसकी अर्थसंगति इस प्रकार होती है—अगर केवल (पूर्ण) ज्ञानी की दृष्टि से इस संसार को देखें तो सारा संसार विविध अटपटी चक्करदार गलियों या पगडंडियों में भूला हुआ नजर आता है।

परमात्ममार्ग के दर्शन में दूसरी-तीसरी कठिनाई

परमात्मपथ के यथार्थ दर्शन के लिए स्थूलचक्षु पर्याप्त नहीं हैं और दिव्य विचारचक्षु (अलौकिक नेत्र) अभी तक मुझे प्राप्त नहीं हुए हैं। इस कठिनाई को देखते हुए अब मुझे परमात्मपथ के दर्शन के अन्य उपायों पर दृष्टिपात कर लेना जरूरी है ; यह सोच कर अगली गाथा में परमात्मपथ के दर्शन का पिपासु साधक कहता है—

पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अंधो अंध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरण धरण नहीं ठाय॥
॥पंथड़ो०॥३॥

अर्थ

परमात्ममार्ग से अनभिज्ञ किसी ख्यातिप्राप्त (प्रसिद्ध) पुरुष के अनुभव अथवा सम्प्रदाय-परम्परा से चले आते हुए (मार्ग-विषयक) रूढ़िग्रस्त ज्ञान या पञ्चेन्द्रियों की विषयासक्ति से उत्पन्न पराश्रित बोध की दृष्टि से परमात्म-मार्ग को देखने जाएँ तो वहाँ अंधों के दल की तरह एक के पीछे एक अन्धानुसरण ही प्रतीत होता है। निर्दोष आप्तपुरुषों के वचनसमूह-रूप आगम की दृष्टि से वस्तुतत्त्व (यथार्थ मार्ग) का विचार करें तो आगमोक्त परमात्ममार्ग और उपर्युक्त पुरुष-परम्परा आदि द्वारा बताये जाने वाले परमात्ममार्ग में आकाश-पाताल जितना अन्तर दिखाई देता है, अतः आचरण के अन्तर को देखते हुए कहीं पैर रखने को जगह नहीं रहती।

भाष्य

पुरुष-परम्परा-अनुभव से मार्गनिर्णय संभव नहीं

उपर्युक्त गाथा में पुरुष, परम्परा और अनुभव ये तीन पद हैं। तीनों का आशय भी अलग-अलग प्रतीत होता है। पुरुष-परम्परा से आशय है, वीतराग मार्ग से अनभिज्ञ किसी प्रसिद्ध पुरुष ने कोई परमात्ममार्ग वताया, उसके पीछे बिना सोचें-समझे अन्धश्रद्धावश चले आते हुए मार्ग के ज्ञान को परमात्ममार्ग मानना। दूसरे परम्परापद से आशय है—शास्त्रों में न लिखी गई वातों को एक के बाद एक गुरु-शिष्य-परम्परा या सम्प्रदाय-परम्परा द्वारा कुरुढ़िवश प्रचलित मार्ग को परमात्ममार्ग मानना। तथा अनुभव का आशय है—पंचेन्द्रियों में विषयासक्त पुरुष के अनुभव के द्वारा परमात्ममार्ग का निर्णय करना। यानी अपनी गलत समझ से उत्पन्न हुए अनुभव से परमात्म-मार्ग का निर्णय करना।

श्री आनन्दघनजी कहते हैं कि पूर्वोक्त तीनों उपाय अन्धों की टोली में एक अन्धे के पीछे दूसरे अन्धे के भागने की तरह हैं। इनसे वीतराग परमात्मा के असली मार्ग का पता नहीं लगता।

वीतरागमार्ग से अनभिज्ञ किसी प्रसिद्ध पुरुष ने वीतरागमार्ग के नाम से कोई बात चलाई। उसके पीछे आने वाली भीड़ उस पर कोई पूर्वापर विचार किये बिना अन्धश्रद्धावश उसे यथार्थ परमात्ममार्ग के नाम से पकड़ लेती है। अतः ऐसे प्रसिद्ध पुरुष की परम्परा से परमात्ममार्ग का निर्णय करना कोरा अन्धानुकरण हो जाता है।

इसी प्रकार शास्त्र में कई बातें लिखी नहीं होतीं; कई बातें पूर्वापर-विरुद्ध या वीतरागता के सिद्धान्त से असंगत भी मिलती हैं, परन्तु गुरुधारणा या सम्प्रदाय-परम्परा के नाम से वे परमात्म-मार्ग के रूप में चलाई जाती हैं, मगर ऐसी रूढ़ सम्प्रदायपरम्परा पर से भी परमात्ममार्ग का निर्णय करना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि ऐसा करना भी लकीर के फकीर बन कर अन्धाधुन्ध चलना है।

अपना या बहुत-से लोगों का पराश्रित अनुभव भी गलत हो सकता है, इसलिए उस पर से भी परमात्म-मार्ग का निर्णय करना गतानुगतिकता को बढ़ावा देना है।

अन्धो [1]'अंध पलाय' कहावत का तात्पर्य यह है कि अंधा आदमी स्वयं मार्ग देख नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह जिसे मार्ग वताता है, वह भी उसके वताए अनुसार स्वयं की आँख न होने से पीछे-पीछे चलता है। फलतः वह सारा का सारा टोला या तो उत्पथ पर चढ़ जाता है, अथवा दूसरे मार्ग का अनुसरण करता रहता है। अंधे मार्गदर्शक के मार्गदर्शन में अनुगामी पथिक भी अन्ध हो कर चलता है। इसी प्रकार पुरुष-परम्परा, सम्प्रदाय-परम्परा और पराश्रित अनुभव-परम्परा तीनों ही अन्धानुकरण मात्र हैं, इनसे वास्तविक परमात्ममार्ग का निर्णय नहीं हो सकता। प्रेरणा देने वाला अपने मत, पंथ या अभिप्राय का अत्याग्रही हो कर जब प्रेरणा लेने वाले को प्रेरणा देता है, तब प्रायः सत्यदृष्टि को छोड़ देता है, इसलिए परमात्ममार्ग के वारे में उसकी या उसकी परम्परा की वात भी प्रायः पूर्णतया यथार्थ नहीं मानी जा सकती।

आगम से भी मार्गनिर्णय कठिन है

परमात्मा के मार्ग का निर्णय करने में आगमों—धर्मशास्त्रों का आधार भी काफी वजनदार माना जाता है। आगमों से परमात्मपथ का निर्णय करने में पहली कठिनाई यह है कि यद्यपि आप्तपुरुषों के वचन [अर्हन्ता प्रभु द्वारा भाषित अर्थ एवं गणधरों द्वारा ग्रथित (सम्पादित) सूत्र] को आगम या शास्त्र कहा जाता है, परन्तु प्रायः आगम या शास्त्र के नाम से प्रचलित आगमों या शास्त्रों में वताई गई वातों का अर्थ करने वाले भिन्न-भिन्न दृष्टि के होते हैं, वे अपने सम्प्रदाय, मत, पंथ या गच्छ की परम्परा के अनुसार ही प्रायः अर्थ करते हैं; उसी अर्थ को यथार्थ और दूसरी परम्परा द्वारा कथित अर्थ

१—देखिये 'अन्धो अन्ध पलाय' का मूलसूत्र में निर्देश—

अंधो अंधं पहं नितो, दूरमद्धाण गच्छति।
आवज्जे उप्पहं जंतू अदुवा पंथाणुगामिए।—सूत्रकृतांगसूत्र श्रु. १. अ. १ उ. २

अंधा आदमी अन्धे को प्रेरित करके ले जाय तो वह विवक्षित मार्ग से पृथक् मार्ग पर ले जाता है अथवा अन्धा प्राणी उत्पथ पर जा चढ़ता है, या अन्य मार्ग का अनुसरण करता है।

को यथार्थ मान कर अपने माने हुए अर्थ को ही चाहे वह यथार्थ न हो; यथार्थ रूप में चलाते रहते हैं। द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग (चरितानुयोग), चरणानुयोग और गणितानुयोग इन चार भागों में आगमों में तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त चारित्र, क्रिया, सम्यक्त्व का स्वरूप, साधुश्रावक के चरित्र एवं आचार-विचार का वर्णन गुणस्थानक्रमारोह, जीवों के भेदाभेद, सात नय, निक्षेप, प्रमाण, नौ तत्व, गणित, विभिन्न धर्मकथाएँ, व्रत, तप आदि की विधियाँ बताई गई हैं। अतः इन सब तथाकथित आगमों में कथित बातों का अर्थ प्रत्येक सम्प्रदाय, मत, पंथ या गच्छ आदि अपनी परम्परा के अनुसार करता है और उसी को सच्ची बताता है। उसे ही वीतरागता का शुद्ध व यथार्थ मार्ग कहता है। श्रद्धालु व्यक्ति की बुद्धि परस्परविरोधी बातें देख कर चकरा जाती है। इसलिए आगमों से परमात्म के असली मार्ग को खोजना बड़ा दुष्कर कार्य है।

इसमें दूसरी कठिनाई यह है कि वीतरागप्रभु के मार्ग का आगमों में अन्वेषण करने वाले साधक प्रायः उनके साधु-धर्मपालन के समय आए हुए उपसर्ग और परिषह, उनके तप, त्याग, महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति तथा निर्दोष भिक्षाचर्या आदि का वर्णन या साधक के लिए विधिरूप में कथित मार्ग का वर्णन पढ़ते हैं तो उनके रोंगटे खड़े हो जाते हैं। फलतः प्रभु जिस बाह्यचारित्र के पथ से गए, जो कठोर क्रियाकाण्ड प्रभु ने किए, स्वपरकल्याण के लिए जो घोर कष्ट-सहन प्रभु ने किए, सर्दी,-गर्मी आदि सहन करके जो कठोर साधना उन्होंने की; उस कठोर क्रियाकाण्ड के मार्ग को ही परमात्मा का मार्ग समझ बैठते हैं। इस प्रकार बाह्य चारित्र में ही प्रायः उनकी बुद्धि उलझी रहती है। ऐसे साधक स्वयं भी उसी क्रियाकाण्ड-मार्ग का अनुसरण करके अपने को प्रभुमार्ग पर चलने वाले पथिक मानते हैं। इस कारण भी प्रभुपथ के रूप में प्रभु के द्वारा अन्तरंग रूप में आचरित स्वरूपरमणरूप चारित्र या स्वरूप का ज्ञान-दर्शन उनकी समझ में प्रायः आता नहीं। इसीलिए प्रभुपथ का निर्णय आगम से दुर्लभ लगता है।

और फिर आगम या शास्त्र का जो लक्षण आचार्यों ने किया है, तदनुसार तो कई आगम आगम या शास्त्र की कोटि में आने भी कठिन हो जाते हैं। क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार शास्त्र की परिभाषा की गई है—'जिसके

द्वारा[१] आत्मपरिबोध हो, आत्मा अहिंसा एवं संयम की साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, उस तत्वज्ञान को शास्त्र कहा जाता है।' व्युत्पत्ति के अनुसार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शास्त्र का अर्थ किया है—[२]जिसके द्वारा यथार्थ सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो, आत्मा को अनुशासित, शिक्षित किया जा सके वह शास्त्र है। आचार्य सिद्धसेन एवं समन्तभद्र भी शास्त्र की यह कसौटी निश्चित करते हैं—[३]जो वीतराग-आप्तपुरुषों द्वारा जाना-परखा गया हो, जो किसी अन्य वचनों के द्वारा उल्लंघित—हीन (अपदस्थ) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों (तर्क एवं प्रमाण) से खण्डित न हो सके, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त सार्वजनिक हितोपदेश हो, आध्यात्म-साधना के विरुद्ध जाने वाले पथों—विचारसरणियों का जो विरोध करता हो, वही सच्चा शास्त्र है।[४] आप्तवचन को आगम कहते हैं, लेकिन आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार[५]आप्तपुरुष उसका प्रतिपादन करने को उत्साहित नहीं होते, जो साक्षात् या परम्परा से मोक्ष का अंग न हो, क्योंकि ऐसा करने से उनकी आप्तता में दोष आता है। तत्व का यथार्थ उपदेशक आप्त है, जिसके वचन में पूर्वापरविरोध या असंगति-विसंगति न हो, जिसके वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणों से खण्डित न हों। अतः आगम, शास्त्र एवं आप्त के पूर्वोक्त लक्षणों के अनुसार वर्तमान में प्रचलित तथाकथित आगमों के अनुसार जब परमात्ममार्ग का निर्णय करने जाते हैं तो उनमें कौन-सी

---

१. 'जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिंसयं'—उत्तराध्ययन ६/८,

२. सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावतो सत्थं—विशेपावश्यक, भाष्य
शासु अनुशिष्टौ, शास्यते ज्ञेयनात्मा वाऽनेनाऽस्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्—टीका

३. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥—रत्नकरण्डक श्रावकाचार

४. 'आप्तवचनमागमः'—प्रमाणनयतत्त्वालोकः

५. नहि आप्तः साक्षात्पारम्पर्येण वा यन्न मोक्षांगं तत्प्रतिपादयितुमुत्सहते अनाप्तत्वप्रसंगात् ।—भगवतीसूत्रवृत्तिः

६. आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा तयादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा—न्यायदर्शन, वात्स्यायनभाष्य ।

बात किस नय की दृष्टि से कही गई है ? पूर्वापरविरोधी बातें किस अपेक्षा से कही गई हैं ? यह समझ में नहीं आता। इसलिए आगम के अथाह समुद्र में डुबकी लगा कर परमात्मा का मार्ग ढूंढना बड़ा दुष्कर कार्य है।

और फिर आगमों के द्वारा सिर्फ मार्ग का अवलोकन (निरीक्षण) करना हो तो वह प्रचलित आगमों व शास्त्रों के बारबार स्वाध्याय, अध्ययन एवं परिशीलन (अभ्यास) से बहुत कुछ सम्पन्न हो सकता है, मार्ग कैसा है ? क्या है ? इसका रहस्य क्या है ? आदि बातें समझ में आ सकती हैं, लेकिन यहाँ कोरे (वन्ध्य) अवलोकन को परमात्मपथ के नीहारने में स्थान नहीं है; ऐसा अवलोकन तो उत्तराध्ययनसूत्र की **'जं सोच्चा पडिवंज्जंति तवं खंतिमहिंसयं'** उक्ति के अनुसार थोथा व निष्फल है। त्यागभाव से रहित ज्ञान, आचरण से रहित ज्ञान वंन्ध्य है। परमात्मपथ का निश्चय करने के लिए शास्त्रज्ञान के अनुसार आचरण का कदम बढ़ाना आवश्यक है। इसलिए परमात्मपथ को निहारने का अर्थ—प्रभु मार्ग को देख-समझ-जान कर उस पर चलना है; प्रभुपथ पर चले बिना, उसका सम्यग्ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता।

'चरण धरण नहिं ठाय' का रहस्य

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वोक्त कारणों को ले कर स्पष्ट कर दिया कि आगम (शास्त्र) के द्वारा परमात्मा के पथ की असलियत का विचार करें तो उस पर चरण टिकाने को या चारित्र का आचरण करने को कोई स्थान ही नहीं रहता। वह अत्यधिक कठोर लगता है। इस दृष्टि से **'चरण धरण'** के तीन रहस्य प्रतीत होते हैं। प्रथम तो यह है कि आगमों में कथित प्रभु द्वारा आचरित व्यवहार (स्थूल) दृष्टि के चारित्र (क्रियाकाण्ड) को ही प्रभुपथ समझ लेने से स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र में स्थिर रहना साधक के लिए कठिन हो जाता है, इस कारण स्वरूपरमणरूप चरित्र पर कदम रखना दुष्कर है। दूसरा रहस्य यह है—शास्त्रों में कथित बातों में परस्परविरुद्ध तथा कई जगह असंगत बातों को देख कर बुद्धि के चकरा जाने से कौन-सा परमात्म-पथ है ? किसका अनुसरण किया जाय ? इस प्रकार बुद्धिभ्रम हो जाता है और साधक परमात्मा के असली मार्ग को पहिचान ही नहीं पाता। उस पर कदम रखना तो दूर की बात है।

तीसरा रहस्य यह है कि प्रचलित आगमों में भी जो बातें बताई हैं ; परमात्मा तक पहुँचने का जो सम्यक् मार्ग[१] बताया है, उसके अनुसार वर्तमान युग में पूरी तरह से आचरण करना टेढ़ी खीर है। क्योंकि प्रभुपथ का नीहारना कोरे शास्त्रावलोकन से नहीं हो जाता, उसके लिए प्रभु के चरण-शास्त्रप्रतिपादित चारित्र को जान-बूझ-समझ कर उस पर चलना अनिवार्य है, इसीलिए कहा गया: उस प्रभुपथ पर कदम रखना—चलना—असिधाराव्रत है, वहाँ पैर टिकाना अत्यन्त कठिन है।

'चरण धरण नहिं ठाय' का एक रहस्य यह भी हो सकता है कि शास्त्रों में कथित प्रभुमार्ग—चारित्रमार्ग—पर कदम रखते समय यह भी कहा गया है कि [२] 'इस लोक के किसी भी लौकिक स्वार्थ या प्रयोजन से आचरण (चारित्र पालन) न करे, पारलौकिक प्रयोजन से भी आचरण न करे कीर्ति, प्रशस्ति, प्रशंसा पद-प्रतिष्ठा की लालसा से प्रेरित हो कर चारित्र का आचरण करना ठीक नहीं, केवल आर्हत्पद (वीतरागता) प्राप्त करने के लिए चारित्र-पालन करे।' इस दृष्टि से वीतरागता के पथ पर चलना बड़े-बड़े साधकों के लिए कठिन हो जाता है, क्योंकि आचार्य हेमचन्द्र को भी कहना पड़ा—'दृष्टिराग इतना बलवान् और पापिष्ठ है कि बड़े-बड़े साधकों के लिए उसको नष्ट करना कठिन होता है।' [3] कांक्षामोहनीय भी इतना प्रबल होता है कि वह साधक की पवित्र दृष्टि पर मोह एवं अज्ञान का पर्दा डाल देता है, जिससे उसे परमात्मा का यथार्थ पथ ही दृष्टिगोचर नहीं होता; उस पथ पर चलने को तो अवकाश ही कहाँ ? इसीलिए आगम से पथ के वस्तुतत्व पर विचार कर लेने पर भी पूर्वोक्त कारणों से उस पर चरण (कदम) रखना कठिन हो जाता है या उनके स्वरूपरमणरूप चारित्र पर स्थिर रहने अथवा व्यवहार चारित्र के रूप में आचरित प्रभुपथ की कठोरता को देख कर उनका आचरण करने की कोई गुंजाइश नहीं।

---

१. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः'—तत्वार्थसूत्र १।१

२. 'न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।' —दशवै० ९/३६

३. दृष्टिरागो हि पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि—आचार्य हेमचन्द्र

प्रभुपथ के निर्णय में चौथी और पांचवीं कठिनाई

वीतरागमार्ग के निर्णय का पिपासु आशावान साधक अपनी अन्य कठिनाइयाँ पेश करता है—

तर्क-विचारे रे वाद-परम्परा रे, पार न पहुंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय॥
पंथड़ो०॥४॥

अर्थ

तर्क यानी अनुमानप्रमाण के द्वारा परमात्मपथ का विचार करें तो सिवाय शुष्क वाद-विवाद की लम्बी परम्परा के और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे विवादों की लम्बी कतार से कोई भी जिज्ञासु साधक किसी निर्णय के सिरे तक नहीं पहुंचता। हमारी अभीष्ट और जिज्ञासा के अनुकूल वस्तु का यथार्थरूप से लाभदायक और परिपूर्ण अंशों में कथन करने वाले पुरुष तो इस संसार में बहुत ही विरले दिखाई देते हैं।

भाष्य

तर्क द्वारा भी परमात्ममार्ग का निर्णय दुष्कर

न्यायशास्त्र में अनुमान-प्रमाण का बहुत बड़ा स्थान है। जो बातें सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या आगमप्रमाण से सिद्ध नहीं होती, वे अनुमान-प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाती हैं। सारा जैनतत्त्वज्ञान तर्क के अनुकूल है। जैनदर्शन का समग्र नयवाद, सप्तभंगी, स्याद्वाद, आत्मवाद, या तत्त्ववाद आदि अनेक बातें तर्क की कसौटी पर यथार्थरूप से कस कर निर्णीत की गई हैं। सन्मति-तर्क, स्याद्वाद-मंजरी, अनेकान्त-जयपताका, स्याद्वादरत्नाकर, खण्डनखाद्य, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थरत्नों पर विचार करते हैं, तो ऐसा मालूम होता है, जैनदर्शन ने तर्क द्वारा जबर्दस्त किला फतह किया है। परन्तु तर्क में वाद-विवाद का कहीं अन्त नहीं आता। एक प्रबल तर्क पूर्वोक्त निर्बल तर्क को काट देती है। चतुर नैयायिक तर्कों का ऐसा जाल बिछा देता है कि उसमें से प्रतिवादी का निकलना तो दूर रहा, उन सबको पूर्वपक्ष के रूप में समझना भी दुष्कर हो जाता है। इसीलिए कहा[1] है—

---

१. वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितानिव।
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ॥

वाद और प्रतिवाद करके मानो अपने-अपने मत की निश्चित और यथार्थ बात कहते हों, इस प्रकार के लोग तेल की घाणी के चारों ओर घूमने वाले बैल की तरह गोल-गोल चक्कर खाते रहते हैं, वे भी किसी तत्त्व का सिरा नहीं पाते।

इसीलिए कहा है—'**तर्कोऽप्रतिष्ठः**' तर्क विना पेंदे के लोटे की तरह एक जगह प्रतिष्ठित (स्थिर) नहीं हो पाता।

इसलिए परमात्ममार्ग का विचार भी केवल तर्क द्वारा करने पर सिवाय अनुभवहीन या भावहीन शुष्क वादविवाद के और कुछ पल्ले नहीं पड़ता। थोथी दलीलों, या शुष्क तर्कों से व्यक्ति किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँच पाते। यही कारण है, छहों दर्शन अपने-अपने मत को तर्क द्वारा प्रमाणित करते हैं, मिल कर समन्वय नहीं कर पाते। चर्चा करने वाले जब अपने-अपने हेतुओं द्वारा अपने मतागृहीत पक्ष को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, तब सत्यशोधन के वदले केवल विद्वत्ता का प्रदर्शन किया जाता है। तर्क-वितर्क करने वालों में जिज्ञासा के बदले प्रायः विजिगीषा पाई जाती है। क्रियामार्ग में भी तत्त्वज्ञान की तरह अपनी मानी हुई क्रियाओं को सत्य तथा वीतराग-मार्गानुकूल सिद्ध करने के लिए तर्कों का बहुत दुरुपयोग किया जाता है तथा, परस्पर आक्षेप करके जिज्ञासावुद्धि से भ्रष्ट हो कर दूसरों को नीचा दिखाने वदनाम करने या हराने की बुद्धि मुख्य बन जाती है। मतलब यह है कि सम्प्रदाय-मत-पंथ के भेद, खींचातान, दुराग्रह, सत्यान्वेषणवृत्ति के बदले अपने अभिमत को सत्य सिद्ध करने के लिए मानवसुलभ अहंवृत्ति-पोषण के कारण वर्त्तमान स्थिति में सत्यशोधन या वीतराग-परमात्ममार्ग का पर्यवलोकन या निर्णय कोरे तर्क द्वारा होना अतीव दुष्कर है।

वस्तु का यथार्थरूप में कथन करने वाले विरले हैं

इससे पहले पूर्वोक्त सभी उपायों द्वारा वीतरागमार्ग के निर्णय के सम्बन्ध में विचार किया गया, लेकिन ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं मालूम पड़ता, जिससे यथार्थ निश्चय किया जा सके।

अतः श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि अव तो यह इच्छा होती है कि वस्तु जैसी और जिस प्रकार की है, उसे वैसी और उसी प्रकार से जो यथार्थरूप में

कहें, उनके पास जा कर परमात्ममार्ग का निर्णय करूं; मगर ऐसे यथार्थवक्ता महापुरुष तो विरले ही हैं। जो हैं, वे झटपट पहचाने नहीं जा सकते। ऐसे महान् पुरुषों का समागम अशक्य नहीं तो दुर्लभ जरूर है; क्योंकि वस्तु के स्वरूप में किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता न करके कहना, अपने रागद्वेष, अपनी साम्प्रदायिक एवं परम्परागत मान्यताओं, धारणाओं या अपने निजी स्वार्थों, संस्कारों या अहं का कथन में लेशमात्र भी प्रवेश न होने देना; बहुत ही कठिन है। किसी वस्तु के बारे में जब हम सत्यता खोजने के लिए किसी महान से महान् कहलाने वाले महानुभाव के पास जाते हैं, तो वहाँ उनके तत्त्व-प्रतिपादन के समय व्यक्तिगत अहंभाव, साम्प्रदायिकता का पुट, परम्परागत धारणाओं, मान्यताओं या अपने संस्कारों का समावेश, तथा कई बार 'यह सत्य स्वयं को ही उपलब्ध हुआ है' इस प्रकार के दावे ही दृष्टिगोचर होंगे। इस प्रकार के प्रतिपादन से जिज्ञासु वीतराग परमात्मा के असली मार्ग के सत्यदर्शन के बदले उपर्युक्त भूलभुलैया या अधिक उलझन में पड़ जाता है। जगत् में ऐसे लोग इनेगिने हैं, जो किसी वस्तु में निहित वस्तुतत्व या यथार्थ धर्म का यथातथ्यरूप में कथन कर सकें। क्योंकि वस्तु का यथार्थ कथन करना इसलिए टेढ़ी खीर है कि ऐसा करने वाले प्रायः साम्प्रदायिकता, स्वत्व-मोह या कालमोह से ग्रस्त अपने कहे जाने वाले लोगों के कोपभाजन बन जाते हैं, प्रायः उन्हें नास्तिक, मिथ्यात्वी, कृतघ्न आदि नाना गालियों का शिकार बनना पड़ता है अथवा उनके पूर्वाग्रह, रूढ़ मिथ्यासंस्कार, अहंभाव से लिपटे हुए मत ही उन्हें किसी लागलपेट के बिना मध्यस्थभाव से सत्य प्रतिपादन करने में बाधक बन जाते हैं। इसलिए अपने पूर्वाग्रहों, रूढ़ संस्कारों, विवेक-विकल मान्यताओं या धारणाओं, या अन्धविश्वासों अथवा देव-गुरु-धर्म एवं आगम-सम्बन्धी मूढ़ताओं से ऊपर उठ कर वीतरागपथ के सम्बन्ध में निष्काम भाव से सत्य प्रगट करने वाले महापुरुष विरले हैं। शुद्ध सत्यभाषकों की विरलता के कारण परमात्ममार्ग का निश्चय दुर्लभ है।

वस्तु को यथार्थ व यथारूप में कहने वाले व इसमें जरा-सी भी अतिशयोक्ति खींचातान, मताग्रह या पूर्वाग्रह रखे बिना जिज्ञासु के आगे प्रगट करने वाले पुरुषों की विरलता देखनी हो तो किसी भी बड़े से बड़े तथाकथित तत्त्वज्ञानी या महान् कहलाने वाले व्यक्ति के सान्निध्य में कुछ दिन रह कर, उनकी दलीलें तर्क, साम्प्रदायिक झुकाव आदि पर से देखी-समझी जा सकती है।

परमात्मपथ के दर्शन में छठी कठिनाई

इस प्रकार परमात्मपथ के दर्शन में मुख्य-मुख्य कठिनाइयों का पूर्वोक्त गाथाओं में उल्लेख करके श्रीआनन्दघनजी अब परमात्मपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त दिव्यनयनरूपी आधार के विषय में दुर्लभता का प्रतिपादन करते हैं—

वस्तु विचारे रे दिव्यनयन तणो रे, विरह पड्यो निरधार।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार॥
॥पंथड़ो०॥५॥

अर्थ

पदार्थ के यथार्थ रूप का विचार करने में जो दिव्यनेत्र=प्रत्यक्षज्ञानी अतिशयज्ञानी या अतिशय प्रत्यक्ष ज्ञान हैं उनका तो इस (पंचम) काल में निश्चय ही वियोग हो गया है। इसलिये उनके विरह में वैसे तो वस्तुतत्त्व के यथार्थ ज्ञान का कोई आधार नहीं है। मन-वचन-काया के योगों की तरतमता वासनाओं (कषायों) की तरतमता के अनुसार होती है। इस दृष्टि से प्रबल वासनाओं (कषायों) से क्रमशः मुक्त होने के कारण कई महान् आत्माओं के कषायों के क्षयोपशम की अधिकता होगी, उतनी ही मन वचन-काया के योगों की स्थिरता अधिक होगी। अतः ऐसे महापुरुषों के ज्ञान के अधिकाधिक क्षयोपशम से भावित बोध ही इस काल में आधारभूत है।

भाष्य

दिव्यनयन क्या हैं ? उनका वियोग क्यों ?

योगी आनन्दघनजी ने परमात्म-पथ के दर्शन के लिए पहले दिव्यनयन की मुख्यता बताई थी। अन्य उपायों से प्रभुपथ-दर्शन की दुष्करता का प्रतिपादन के बाद यहाँ वे पुनः उसी दिव्यनयन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि अगर आज इस प्रकार के दिव्यनेत्रधारी या आत्मप्रत्यक्षज्ञान होते तो मुझे प्रभुपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त कठिनाइयों का सामना न करना पड़ता। मेरी परमात्म-मार्ग के दर्शन की समस्या बहुत ही आसानी से हल हो जाती। परन्तु अफसोस है कि आज वे दिव्यनेत्रधारी महापुरुष इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र)

होने से मुझे भी परमात्मा-पथ का निर्णय करना कठिन हो रहा है। उनका निश्चय ही वियोग हो गया है।

दिव्यनयन-पद से यहाँ इन्द्रियों से न होकर, जिन्हें सीधे आत्मा से होने वाला ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे प्रत्यक्षज्ञानी महापुरुष या आत्मप्रत्यक्षज्ञान विवक्षित है। क्योंकि वस्तुतत्व का यथार्थ पूर्ण निर्णय तो प्रत्यक्ष ज्ञानी या प्रत्यक्षज्ञान ही कर सकते हैं। परोक्षज्ञानियों के ज्ञान में कुछ न कुछ कमी रह ही जाती है।

मुख्यतया ज्ञान दो प्रकार के हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रियों और मन की उपस्थिति में जो ज्ञान होते हैं, वे परोक्षज्ञान कहलाते हैं। जैनदर्शन की दृष्टि से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनों परोक्षज्ञान हैं। चूँकि अन्य दर्शन इन्द्रियों और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान मानते हैं, इसी कारण जैन दार्शनिक इसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष और इन्द्रियों और मन के निमित्त के बिना सीधे ही आत्मा से होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहने लगे। पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इसी को ही श्रीआनन्दघनजी दिव्यनयन = आत्मप्रत्यक्ष-ज्ञान कहते हैं।

ऐसे आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान से ही वस्तुतत्व का यथार्थ रहस्य समझा जा सकता है। तभी परमात्मा के मार्ग का सच्चा निर्णय हो सकता है, परन्तु इस पंचम काल में इस (भरत) क्षेत्र में तो ऐसे आत्मप्रत्यक्षज्ञानी या आत्मप्रत्यक्षज्ञान का संयोग नहीं है, उनका इस समय वियोग है।

विभिन्न दृष्टियों से तरतमयोग और तरतम वासना के अर्थ तथा तद्युक्त बोध

वासना का अर्थ है—कषाय, राग-द्वेष, या मोह आदि और योगों का अर्थ है—मन-वचन-काया के व्यापार। ज्यों-ज्यों वासनाओं की तरतमता = न्यूनाधिकता होती जाती है, त्यों-त्यों मन-वचन-काया के योगों की तरतमता होती है। अर्थात् जिसमें वासनाओं (कषायों, अभिमान, नामना-कामना, पूजा-सत्कार-लिप्सा, एवं विविध एषणाओं,) की जितनी और जिस अनुपात में तीव्रता या मन्दता होगी, उतनी और उसी अनुपात में उसमें मन-वचन-काया के योगों की चपलता (अस्थिरता) या अचपलता (स्थिरता) होगी और उस-

उस व्यक्ति का बोध भी योगों की चपलता या अचपलता के अनुसार उतना-उतना अशुद्ध (अनिर्मल) या शुद्ध (निर्मल) होगा।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति का बोध जितना-जितना तीव्र कषायों आदि से रहित होगा, उतना-उतना वह निर्मल, निर्मलतर होता जायगा। इस दृष्टि से प्रबलतर या प्रबल कषायों से मुक्त होने के कारण जिन महानुभावों के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विशुद्ध व निर्मल हैं, ऐसे आगमज्ञ, बहुश्रुत, स्थितप्रज्ञ या गीतार्थ महापुरुषों का शुद्धात्मभावना से वासित (भावित) बोध ही वर्तमानयुग में परमात्मपथ दर्शन के लिए आधारभूत है।

अथवा निश्चयनय की दृष्टि से कहें तो अपनी आत्मा प्रबलतर या प्रबल कषायों से मुक्त होगी, तभी उसका क्षयोपशम तीव्र होगा और उक्त तीव्र क्षयोपशमभाव से वासित (युक्त) बोध में ज्ञान की विशुद्धता होगी; बुद्धि पर अज्ञान, मोह, अभिमान, लालसा, स्पृहा, स्वार्थ आदि का आवरण कम होगा और तभी मैं स्वयं परमात्मपथ=शुद्धात्मदशा के पथ का निर्णय कर सकूँगा। अर्थात्—प्रबलकषायों से रहित मेरी आत्मा शुद्धात्मभावरमणरूप परमात्मपथ के प्रत्यक्षदर्शन में अग्रसर होगी।

साधारण प्राणी सांसारिक वासनाओं या परभावों की ओर इतना आसक्त होता है कि सहसा उसमें आत्मविकास या स्वभावरमणता की भावना जागृत नहीं होती और उसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशमभाव उतना नहीं मिलता और न ही तदनुरूप योग=(संयोग) मिलते हैं। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति की जितनी-जितनी शुद्धात्मज्ञान की क्षयोपशमभाव से होती है, उतने-उतने प्रबल व प्रबलतर संयोग (योग) भी उसे सहज में मिलते जाते हैं। यानी क्षयोपशमभावों की न्यूनाधिकता के अनुसार अनुकूल संयोगों की न्यूनाधिकता होती है।

उदाहरणार्थ—कई साधकों का क्षयोपशमभाव तीव्र होता है तो उन्हें प्रौढ़ और अनुभवी गुरुओं, तदनुकूल साधनों, अनुकूल स्थान-सहकार-सत्संग आदि का संयोग मिलता है, उनकी ग्रहण-धारणा-शक्ति भी तीव्रतर होती है, जबकि कई साधकों को तीव्र और कतिपय साधकों को मन्द या मन्दतर मिलती है। इस दृष्टि से जिन साधकों की क्षयोपशमभावना तीव्रतम होगी, उन्हें तदनुकूल तीव्रतम संयोग और तीव्रतम ग्रहण-धारणाशक्ति मिलेंगे और तदनुसार उनका बोध भी तीव्रतम क्षयोपशमभावना से भावित होगा। ऐसे व्यक्तियों का

बोध ही वर्तमानकाल में तो परमात्मपथ के निर्णय का आधार हो सकता है।

वर्तमानकाल में परमात्मपथ निर्णय में आधारभूत बोध

हम बहुत-सी बार यह अनुभव करते हैं कि साधकों के बोध में अनेक प्रकार की न्यूनाधिकता होती है। किसी-किसी साधक का क्षयोपशम इतना प्रबल होता है कि चाहे जैसा नया प्रश्न उसके सामने प्रस्तुत किया जाय, वह अपने विशाल वाचन और व्यापक बोध के आधार पर उसका यथार्थ उत्तर दे सकता है। शास्त्र में ऐसे-ऐसे श्रुतज्ञानियों का उल्लेख है कि वे अपने मतिज्ञान से उसका ठीक उपयोग लगाएँ और उनका बोध स्थिर विशाल और सुदृढ़ हो तो चाहे जैसे सूक्ष्मभावों के विषय में केवलज्ञानियों के बराबर यथातथ्य निर्णय दे सकते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी आत्म-प्रत्यक्षज्ञानियों (दिव्यनेत्रों) के अभाव में पूर्वोक्त प्रबलतम क्षयोपशमभावना से भावित बोध को इस युग में परमात्मपथ-निर्णय का आधार मानते हैं।

निश्चयनय की भाषा में कहें तो अपने में आत्मप्रत्यक्षज्ञान (दिव्यनेत्र) के अभाव में अपने उपादान=क्षयोपशमभाव के प्राबल्य से होने वाला (वासित) बोध ही वर्तमानकाल में परमात्ममार्ग के निर्णय का आधार बन सकता है।

इस बात को न मान कर यदि यही आग्रह रखा जाय कि जब कभी दिव्य-ज्ञानी या दिव्यज्ञान का योग मिलेगा, तभी परमात्मपथ का बोध किया जायगा; तो उस साधक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, अनेक विघ्न उसके विकासमार्ग में रोड़ा अटकाएँगे, अब तक उसने जो भी प्रगति की है, वह भी ठप्प हो जायगी और आत्मा कर्मों से भारी हो कर जन्ममरण के चक्र में भटकती रहेगी। अतः अपने क्षयोपशम के अनुसार जो भी अनुकूल साधन या संयोग प्राप्त हों, उनका अवलम्बन ले कर परमात्मपथ पर प्रगति करते रहना चाहिए। इसी आशय से श्रीआनन्दघनजी ने वर्तमानकाल में मति-श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट क्षयोपशमभाव से भावित बोध से युक्त ज्ञानी या ज्ञान के आधार को योग्य माना है।

परमात्मपथदर्शन के लिये श्रेष्ठ आधार : समय की परपक्वता

पूर्वोक्त गाथा में दिव्यज्ञान के अभाव में वर्तमान युग में उत्कृष्ट क्षयो-

पशमयुक्त मति-श्रुतज्ञानी या मति-श्रुतज्ञान के निर्मल बोध को आधारभूत बताया; परन्तु श्रीआनन्दघनजी उस दिन के लिए उत्सुक हैं। उनका मनोरथ है कि मैं स्वयं वैसा दिव्यज्ञान या दिव्यज्ञानियों का योग प्राप्त करूँ, परन्तु इस समय उसकी उपलब्धि न होने पर भी कौन-सा श्रेष्ठ आधार है—परमात्मपथ के दर्शन के लिए; इसका उल्लेख वे अन्तिम गाथा में करते हैं—

काललब्धि लही पंथ निहालशु रे, ए आशा अवलम्ब।
ए जन जीवे रे जिनजो ! जाणजो रे, आनन्दघन-मत-अम्ब
पंथड़ो०॥६॥

अर्थ

यथार्थ (स्वभावरमणतारूप) पुरुषार्थ करते-करते काल परिपक्व (समय पक जाने) होने पर तथारूप आत्मलब्धि (आत्मशक्ति) प्राप्त करके आपका (परमात्मा का) पथ देख सकूंगा; यह आशा (प्रतीक्षा) ही मेरे लिए श्रेष्ठ अवलम्बन है। हे वीतरागप्रभो ! इसी आशा के आधार पर मेरे सरीखा व्यक्ति जी रहा है। इसे ही आप आनन्दघन (सच्चिदानन्दरूप) के पथ का आम्रवृक्ष या सार समझना।

भाष्य

काललब्धि की प्रतीक्षा : जीने का श्रेष्ठ आधार

श्रीआनन्दघनजी आशावादी (Optimist) हैं, वे जैनदर्शन की रगों को छूते हुए कहते हैं, जिसके तन-मन-प्राण में परमात्मपथ—मोक्षपथ पाने की तीव्रता है, जो अहर्निश स्वभावरमणस्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ करता है, उसे एक न एक दिन परमात्मपथ के दर्शन हो कर रहते हैं; उसका वह पुरुषार्थ, वह तीव्र तमन्ना खाली नहीं जाती; पर साधक को उस समय की प्रतीक्षा करना, उस अवसर के आने तक धैर्य रखना जरूरी है।

खेत में बीज बोते ही किसान को उसका फल नहीं मिल जाता; उसे काफी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, धैर्य के साथ फसल पकने तक इन्तजार करना पड़ती है, तब तक उसे उत्साहपूर्वक गोड़ाई, सिंचाई, और सुरक्षा करनी होती है। तभी उसे उसका सुन्दर फल मिलता है। इसी प्रकार परमात्मपथ के दर्शन के लिए भी स्वभावरमणरूप पुरुषार्थ द्वारा आत्मशक्ति प्राप्त होने तक प्रतीक्षा

करनी आवश्यक है। इसी दृष्टि से योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते हैं—

"वीतरागप्रभो ! समय परिपक्व होते ही आत्मशक्ति (काललब्धि) प्राप्त होने पर मैं अवश्य आपके पथ का दर्शन करूँगा, इसी आशा—प्रतीक्षा का अवलम्बन ले कर मैं जी रहा हूँ। वास्तव में, मेरी आत्मा तो उसी दिन को देखने के लिए उत्सुक है, जिस दिन मुझे परमात्मपथ के दर्शन होंगे; उसी दिन मेरी यह आत्मसाधना सफल होगी।

काललब्धि का अवलम्बन क्या और कैसे ?

जैनदर्शन में प्रत्येक कार्य के लिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, पाँच कारणसमवाय को अनिवार्य बता कर उपयुक्त स्थान दिया गया है, यही बात आत्मविकास के लिए है। इस दृष्टि से आत्मविकास के लिए दूसरे चार कारणों की तरह काल का परिपाक भी होना चाहिए। समय पकने पर ही अमुक कार्य होता है। आम अमुक समय आने पर ही पकता है। गर्भ नौ महीने का होने पर ही बालक का प्रसव होता है; फसल अमुक समय पर ही पकती है। इसी तरह दिव्यज्ञान के लिए अमुक काल का लाभ या प्राप्ति काललब्धि कहलाती है। स्वभावरमण में पुरुषार्थ करते-करते जिस समय आत्मशक्ति इतनी बढ़ जायगी कि दिव्यज्ञान—आत्मप्रत्यक्षज्ञान होते देर नहीं लगेगी, उसी समय को काललब्धि[1] (समय का परिपाक) कहना चाहिये।

शास्त्र में ५ प्रकार की लब्धियाँ बताई गई हैं—(१) काललब्धि, (२) भावलब्धि, (३) करणलब्धि, (४) उपशमलब्धि और (५) क्षायिकलब्धि। काललब्धि भी आत्मशक्ति-विशेष से ही प्राप्त होने वाला एक सामर्थ्य है, एक प्रकार की योग्यता है, जिसके प्राप्त होने पर परमात्मपथ का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने काललब्धि को ही परमात्मपथ-दर्शन की आशा का अन्तिम आधार मान कर उसी के सहारे जीने व तब तक प्रतीक्षारत रहने की बात अभिव्यक्ति की है।

१—'पाइयसद्दमहण्णवो' में लब्धि के क्षयोपशम, सामर्थ्यविशेष, अहिंसा, लाभ, प्राप्ति और योग्यता आदि अर्थ किये गये हैं।

दूसरों की आशा और पथदर्शन की आशा में अन्तर

'यों तो **'आशा औरन की क्या कीजै'** पद में श्रीआनन्दघनजी ने आशा के प्रति उपेक्षा व्यक्त की है, लेकिन यहाँ आशा को बड़ा आधार माना है, परन्तु इस आशा और उस आशा में रात-दिन का अन्तर है। वह आशा पराई है, जिसमें पौद्गलिक वस्तुओं, स्थूल या भौतिक पदार्थों या विषयों की प्राप्ति की आशा है, उसमें आशा करने वाले को पूँछ हिलाने वाले कुत्ते की उपमा दी गई है। वह आशा परपदार्थों की गुलामी है, परन्तु यहाँ आशा है—काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथ के दर्शन की आशा; इसमें किसी से माँग, गुलामी या याचना नहीं की गई है, न परपदार्थों को प्राप्त करने की यह आशा है; यह तो आत्मा का अपने आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ करके काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथदर्शन की आशा है। उसमें आशादासी के दास बनने की बात है, जबकि इसमें आशादासी पर विजय प्राप्त करने की बात है। चेतनराज (आत्मा) को इस प्रकार की आशा के अवलम्बन के सिवाय और कोई चारा ही नहीं है।

जीवन का आधार : भौतिक या आत्मिक ?

श्रीआनन्दघनजी आगे कहते हैं—इसी आशा के आधार पर मुझ सरीखा साधकजन जीवन जी रहा है। साधक-जीवन के लिए संसारी जीवों की तरह धन-सम्पत्ति, संतति, सुख-सामग्री आदि जीने के आधार नहीं होते, उसके जीने का आधार आध्यात्मिक होता है। क्योंकि साधक को जब तक पूर्णशुद्ध आत्म-दशा की प्राप्ति नहीं हो जाती, जब तक का जितना काल है, उस काल को वह आत्मशक्ति उपलब्ध करने में बिताता है, वह स्वभावरमण में पुरुषार्थ करते करते ही अपना जीवन पूर्ण करता है, उसके जीवन जीने का आधार आत्मिक होता है। आत्मसाधना करना, आत्मस्वरूप जानना आत्मशक्ति प्राप्त करना आत्मशक्ति प्राप्त करने के लिए साधन-सामग्री जुटाना व उसका समुचित उप-योग करना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी के अन्तर का स्वर गूँज उठता है—

"ए जन जीवेरे जिनजी ! जाणजो रे........"

आनन्दघन-मत-अम्ब के सम्बन्ध में

योगी श्रीआनन्दघनजी ने अपना कोई मत, पंथ, सम्प्रदाय या गच्छ नहीं

बनाया और न वे किसी सम्प्रदाय को चलाना चाहते थे; बल्कि उन्होंने इसी चौबीसी में आगे गच्छ सम्प्रदाय, पंथ आदि के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, इसलिए आनन्दघन-मत का अर्थ किसी मत, पंथ या सम्प्रदाय का सूचक नहीं हो सकता। चूँकि योगी आनन्दघनजी जिंदगीभर आत्म-शोधन, आत्म-चिन्तन-मनन और आत्मविकास के अवलोकन में रहे हैं, इसलिए आनन्दघनमत का अर्थ यहाँ आनन्दघनरूप=शुद्धात्मभावमय मत=विचाररूपी आम्रफल अथवा शुद्धात्मभावमय विचार का सार है।

श्रीआनन्दघनजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जब मैंने अपने शुद्ध चित्त-क्षेत्र में परमात्म-पथ-दर्शन के प्रति तीव्र आत्मनिष्ठा-रूपी आम की गुठली बो दी है, तब तो एक दिन में उसके स्वभावरमणता में आनन्द देने वाले आनन्दघनरूप परमात्मा के विचार की शीतल शुद्धात्मदशारूपी छाया वाला आम्रवृक्ष=परमात्मा (वीतराग) अथवा परमात्मपथदर्शनरूपी आम्रफल अवश्य प्राप्त करूँगा। ऐसा मेरा अखण्ड मत=निश्चय है।

सारांश

अजितनाथ भगवान् की स्तुति के बहाने इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-मार्ग के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा बताई है। साथ ही दिव्यज्ञानचक्षु को उसका सर्वोत्तम उपाय बता कर उन्होंने परमात्मपथ के दर्शन करने में चर्म-चक्षु, पुरुष-परम्परा, शास्त्र-परम्परा तथा पराश्रित अनुभव, आगम, तर्क, यथार्थ-वक्ता एवं दिव्यज्ञान का वियोग आदि मुख्य कठिनाइयाँ बताई हैं; लेकिन अन्त में स्वीकार किया है कि उच्चश्रेणी के क्षयोपशम वाले निर्मल श्रुतज्ञानी पुरुष के श्रुतज्ञान का बोध वर्तमानयुग में आधाररूप हो सकता है। लेकिन अन्तिम गाथा में कालपरिपक्व होने तक परमात्मपथदर्शन की प्रतीक्षा में रत रहने की आशा का अवलम्बन मान कर उसी के सहारे जीवन जीने का निश्चय किया है। मतलब यह है कि रागद्वेषादि विकारों से रहित शुद्ध आत्मदशा प्राप्त होने पर ही पूर्णरूप से परमात्मपथ का साक्षात्कार हो सकता है, यही सब गाथाओं का निचोड़ है।

३ : सम्भवनाथ-स्तुति—

परमात्मा की सेवा

(तर्ज—रातली रमी ने किहांथी आविया रे, राग-रामगिरि)

परमात्मा के साथ अखण्ड प्रीति के बाद परमात्मा के मार्ग का दर्शन व निर्णय करना आत्मसाधक के लिए अनिवार्य होता है, मार्ग का निर्णय हो जाने पर ही परमात्मा की सेवा भलीभाँति हो सकती है। इसलिए अब तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथभगवान् की स्तुति के माध्यम से परमात्म सेवा का रहस्योद्घाटन करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

'संभवदेव' ते धुर सेवो सवे रे, लही प्रभुसेवन-भेद।
सेवन-कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद ॥
सम्भव० ॥१॥

अर्थ

परमात्मा (परमशुद्ध आत्मा) की सेवा का गहरा रहस्य समझ कर सभी आत्मसाधक सर्वप्रथम सम्भवनाथदेव (वीतराग परमात्मा) या वीतराग-परमात्मा के देवत्व की सेवा करें। परमात्मसेवा में कारणभुत पहली भूमिका-अवस्था के योग्य अभय, अद्वेष और अखेद ये तीन बातें हैं।

भाष्य

परमात्म-सेवा क्यों ?

पूर्वोक्त दो स्तुतियों में जिस प्रकार प्रथम और द्वितीय तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मप्रीति और परमात्ममार्ग के दर्शन का रहस्य खोल कर रख दिया है, वैसे ही इस स्तुति में तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथदेव की स्तुति के माध्यम से परमात्मा की या परमात्मत्त्व की सेवा सर्वप्रथम क्यों करनी चाहिए ? परमात्म-सेवा क्या है और कैसे करनी चाहिए ? इन सबका विश्लेषणपूर्वक रहस्योद्घाटन किया है।

सवाल यह होता है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति में दूसरे सब कार्य छोड़ कर सभी साधकों को सर्वप्रथम परमात्मा की सेवा करने की प्रेरणा क्यों दी ? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि दूसरी स्तुति की अन्तिम गाथा में उन्होंने यह बता दिया कि मैं परमात्मपथ के दर्शन के बिना हर्गिज हटने वाला नहीं, चाहे कितना ही काल क्यों न व्यतीत हो जाय; मैं तब तक धैर्य या प्रतीक्षा करूंगा, जब मेरी आत्मशक्ति इतनी बढ़ जायगी, मेरा क्षयोपशमभाव इतना तीव्रतम हो जायगा कि काल का परिपाक भी हो जायगा और एक दिन वह अवसर भी आ जायगा, जब मैं परमात्मपथ का साक्षात्कार करके ही दम लूंगा ; इसी आशा और विश्वास के साथ मैं बैठा हूं। अतः जब साधक की परमात्मपथदर्शन की इतनी तत्परता हो जाती है, तब उसे अपने आपको परमात्मपथदर्शन के योग्य, समर्थ और कार्यक्षम बनाने के लिए सर्वप्रथम उत्साहपूर्वक परमात्मसेवा करना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी सभी मुमुक्षुओं, किन्तु परमात्मपथदर्शन से निराश साधकों का व अपने को परमात्मपथदर्शन के योग्य बनाने हेतु पहले परमात्मसेवा करने का आह्वान करते हैं ।

परमात्म-सेवा क्या है ?

परन्तु साथ ही वे कुछ साधकों तथा स्वयं के चेतनराज से चेतावनी के तौर पर कहते हैं—परमात्मा की सेवा करने से पहले सेवा का स्वरूप तथा उसका रहस्य समझ लो। परमात्मसेवा का स्वरूप एवं रहस्य समझे बिना ही दुनियादार लोगों की तरह अगर परमात्मसेवा के नाम से किसी और कार्य को करने लग जाओगे, या सेवा के साथ किसी प्रकार का राग, द्वेष, मोह, नामना-कामना, भय, लोभ, या किसी स्वार्थ को जोड़ दोगे अथवा सेव्य पुरुष का स्वरूप न समझ कर, जैसे-तैसे रागी-द्वेषी, कामी, क्रोधी देव को ही देवाधिदेव परमात्मा मान कर उसकी सेवा को परमात्मसेवा मान कर करने लगोगे, या परमात्मा (निरंजन-निराकार शुद्ध अनन्तज्ञानदर्शनचारित्रमय आत्मा) के वीतरागत्व या शुद्ध आत्मत्व की उपासना के बदले उनके बाह्यरूप, स्थूलप्रतीक या उनके द्वारा विहित क्रिया कलापों या उनके बाह्य अतिशय, शारीरिक वैभव की ही सेवा करने में जुट कर उनके थोथे गुणगान या कोरे कीर्तन करके ही उसे परमात्मसेवा समझ लोगे ; अथवा परमात्मा के नाम से किसी व्यक्ति-

विशेष (भले ही वह महान् हो) के प्रति राग और मोह करके उसकी बाह्य-सेवा-स्थूलसेवा (अपनी आत्मा को रागद्वेष, मोह या परभावों से न हटा कर) करने लग जाओगे तो परमात्मसेवा के वास्तविक लाभ से वञ्चित हो जाओगे। परमात्मसेवा का वास्तविक और चरम लाभ कषायों, राग-द्वेष-मोह या कर्मों से मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होने की अवधि तक वीच में परमात्मसेवा की साधना के दौरान उसी सिलसिले में जो जो यथार्थ (कार्यक्षम से सम्बन्धित) सम्भव हैं, उनका उल्लेख आगे की गाथाओं में वे स्वयं करते हैं। बिना ज्ञान के (सोचे-समझे) सेवा करने से कर्ममुक्ति के वदले कर्मवन्धन ही अधिक सम्भव है।

साथ ही यह विचारणीय है कि यहाँ सम्भवदेव (परमात्मदेव) की ही सेवा करने का कहा है। यानी आत्मसाधक का आदर्श सेव्य पुरुष परमात्म-देव है। परमात्मदेव को मामूली या न्यूनाधिक गुणों से देवत्व प्राप्त नहीं होता। ऐसे देवत्व की प्राप्ति के लिए अनन्त गुणों की परिपूर्णता होनी आवश्यक है। परिपूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए आत्मा को ही परमात्मदेव कहा जा सकता है। वही साधक द्वारा सेवा के योग्य आदर्श हो सकता है। यही कारण है कि किसी किसी प्रति में 'सम्भवदेवत' पाठ मिलता है, उसका अर्थ सम्भव (परमात्म) देव की सेवा के वदले परमात्मा के देवत्व की सेवा होता है, निश्चयनय की दृष्टि से यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मदेव अपनी किसी प्रकार की सेवा नहीं चाहते, वर्तमान में वे स्वयं प्रत्यक्ष नहीं हैं, इसलिए उनके शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं की सेवा करना भी सम्भव नहीं है; और परोक्ष होने के कारण उनकी आत्मा को हमारी सेवा की अपेक्षा नहीं है। बल्कि वे अपनी आत्मा को परमात्मदेव बनाने के लिए किसी की सेवा या सहयोग की अपेक्षा रखे बिना स्वयं के शुद्धात्मभावरमण में पुरुषार्थ करते हैं। वे प्रत्यक्ष हों या परोक्ष हमारे द्वारा उनके गुणगान या स्तुति करने से उनको कोई भी लाभ नहीं है। वीतराग होने के कारण हमारे द्वारा सेवा करने या न करने से वे कोई खुश या नाराज नहीं होते, न वरदान या श्राप देते हैं। अतः निश्चय दृष्टि से परमात्मसेवा का रहस्य है—शुद्ध आत्मसेवा। वीतराग-परमात्मदेव को आदर्श मान कर अपनी आत्मा को राग, द्वेष, कषाय आदि परभावों से हटा कर शुद्ध स्वभाव में लगाना, अपनी आत्मा को परमात्मा की तरह आत्मगुणों

से पूर्ण, व योग्य बनाने का सतत पुरुषार्थ करना—परमात्मदेवरूप आदर्श को न भूलना ही प्रकारान्तर से परमात्म-सेवा है। वस्तुतः परमात्मसेवा शुद्ध आत्म-भाव का एक आदर्श है। अतः साधक के द्वारा परमात्मा के साथ स्वभाव-स्वरूपरमणता के रूप में अभिन्नता स्थापित करना ही परमात्म-सेवा है।

यही कारण है कि जैनदर्शन परमात्मदेव-शब्द से राग, द्वेष, अहंकार आदि परभावों में पड़ने वाले, जगत् के नियन्ता=कर्त्ता-धर्ता-हर्ता, अच्छे-बुरे कर्म के फल प्रदान में समर्थ किसी तथाकथित देव को आदर्श या सेव्य नहीं मानता। परमात्मदेव इन सब मोहमायादि परभावों से रहित निरंजन, निराकार, अनन्त-ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण परमशुद्ध आत्मा होते हैं।

परमात्मसेवा कैसे ?

पूर्वोक्तस्वरूपयुक्त परमात्मदेव की सेवा कैसे की जाय ? उन्हें क्या भेंट चढ़ाई जाय ? उनकी सेवा के लिए क्या ले कर पहुँचा जाय ? ये और ऐसे प्रश्न सेवक के सामने उपस्थित होते हैं। यह तो सर्वविदित है कि वीतराग परमात्मा किसी प्रकार की बाह्य भेंट या संसार का कोई भी पदार्थ दूसरों से नहीं चाहते। परन्तु आत्मार्थी साधक जब वीतरागदेव को आदर्श मान कर उनकी सेवा करने के लिए तत्पर होता है तो परमात्मसेवा के लिए उसे अपनी आत्मा में वैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। बिना भूमिका प्राप्त किये ही कोई व्यक्ति बाह्य नाचगान, रंगराग या कीर्तन-भजन आदि को ही परमात्मसेवा मान बैठेगा तो वह धोखा खाएगा। परमात्मसेवा केवल नाचने, गाने, या रिझाने से नहीं हो जाती ; उसके लिए अपनी आत्मा में वैसी योग्यता प्राप्त करनी जरूरी है। कोई व्यक्ति दशवीं कक्षा की योग्यता प्राप्त किये बिना ही प्राइमरी से सीधा दशवीं कक्षा में बैठ जाय तो वह सफल नहीं हो सकता; वैसे ही परमात्मसेवा की भूमिका या योग्यता प्राप्त किये बिना या सेवा का क. ख. ग. सीख कर बीच की भूमिका पार किये बिना सीधा ही परमात्मसेवा की उच्चकक्षा पर पहुँचना चाहे तो वह सफल नहीं हो सकता। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए सर्वप्रथम अपना उपादान तदनुरूप शुद्ध होना जरूरी है। उपादान शुद्ध हुए बिना सेव्यपुरुष-परमात्मा के प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क में रहने पर भी व्यक्ति उनसे कुछ लाभ नहीं उठा सकता, वास्तविक सेवा करना तो बहुत दूर है। और न ही उससे परोक्ष सेवा हो सकती है। इसीलिए यहाँ सेवा के लिए

प्रथम भूमिका प्राप्त करने का अर्थ होता है—सेव्यपुरुष के अनुरूप अपने उपादान की शुद्धि। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' इस न्याय के अनुसार वीतराग परमात्मदेव की सेवा के लिए अपनी आत्मा (उपादान) के तदनुरूप होने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

यहाँ 'सेवनकारण' शब्द है, उसका अर्थ 'सेवा के लिए' अधिक संगत प्रतीत होता है। यदि 'सेवनकारण' शब्द में कारण शब्द को निमित्तकारण माना जाय तो भूमिका का अर्थ करना होगा—'चित्तभूमिका' (अवस्था) अथवा 'चित्तभूमि' (मनोभूमि)। क्योंकि परमात्मसेवा में चित्त की अमुक भूमिका या अमुक प्रकार की चित्तभूमि ही निमित्त कारण बन सकती है।

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के रूप में तीन बातें जरूरी

परमात्मसेवा की निष्ठा रखने वाले साधक के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में तीन बातें प्राप्त करनी जरूरी है—'अभय, अद्वेष, अखेद। इन तीनों की पहली भूमिका में अनिवार्यता इसलिए बताई कि साधारण व्यक्ति या राजा अथवा धनाढ्य की सेवा के लिए भी व्यवहार में तदनूकूल योग्यता और भूमिका प्राप्त करनी पड़ती है, तब लोकोत्तर वीतराग परमात्मा की सेवा के लिए तो काफी ऊँची आत्मभूमिका अथवा चित्तभूमिका का होना आवश्यक है। परमात्मा की सेवा को बहुत-से अज्ञलोग बहुत आसान समझते हैं अथवा बहुत-से नशेबाज या धूर्त लोग साधु-सन्त के वेष में कुछ भी त्याग करने की बात अथवा आत्म-भावों में रमण करने की बात को तिलांजलि दे कर सिर्फ नशा करके सूरत लगाने या परमात्मा के कोरे गुणगान, कीर्तन-भजन करने मात्र से उनकी सेवा होना मानते हैं। परन्तु यह इतना सस्ता सौदा नहीं है। इसीलिए श्रीआनन्दघन-जी इसी स्तुति की अन्तिम गाथा में कहते हैं—"**मुग्ध सुगमकरी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप**" इसी कारण परमात्मदेव की सेवा की पात्रता के लिए ये तीन बातें सर्वप्रथम आवश्यक बताई हैं। यदि साधक को परमात्मस्वरूप का

१—योगसाधना में चित्त की पाँच भूमिकाएँ बताई गई हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

सेवन (स्पर्श या मिलन) करना हो तो उसके लिए प्राथमिक योग्यता के रूप में उसमें भयरहितता, द्वेषरहितता और खेदरहितता होनी आवश्यक है। इन तीनों के बिना आत्मा में परमात्मदेव की सेवा की योग्यता नहीं आती।

किसान खेत में बीज बोने से पहले भूमि को साफ व समतल करता है, उसमें कांटे, कंकड़, झाड़झंखाड़ आदि हो तो उन्हें उखाड़ फेंकता है, जमीन ऊबड़खाबड़ हो तो उसे फोड़ कर दंताली से सम बनाता है। इसी प्रकार आत्म-रूपी भूमि में सेवारूपी बीज बोने से पहले आत्मभूमि में रहे हुए भय, द्वेष, खेद आदि कांटे-कंकड़ों को साफ करके आत्मभूमि को समताभाव से समतल बनाना आवश्यक है। तभी परमात्मसेवा का यथार्थ फल मिल सकता है। भय, द्वेष, खेद से कंकरीली, कंटीली या पथरीली बनी हुई ऊबड़-खाबड़ (विषम) मनोभूमि या आत्मभूमि में यदि परमात्मसेवारूपी बीज बो दिया जायगा तो बीज तो निष्फल होगा ही, परिश्रम भी व्यर्थ जायगा। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए तत्पर साधक को पहली भूमिका के रूप में ये तीन बातें अपनानी जरूरी हैं। आगे की भूमिका के लिए तो इससे भी बढ़कर उच्च योग्यता की अपेक्षा है; यह बात भी 'पहली' शब्द से ध्वनित होती है।

अब आगे की गाथा में श्रीआनन्दघनजी स्वयं इन तीनों के अर्थ बताते हैं—

'भय' चंचलता (हो) जे परिणामनी रे, 'द्वेष' अरोचकभाव।
'खेद' प्रवृत्ति हो करतां थाकिए रे, दोष अबोध=लखाव ॥संभव० २॥

अर्थ

परिणामों (मनोभावों) अथवा विचारों की चंचलता (अस्थिरता) ही भय है, परमात्मसेवा के प्रति अरुचि, अथवा मन के प्रतिकूल पदार्थ के प्रति या मुक्ति, मुक्तिमार्ग या मुक्तिमार्ग के आराधक के प्रति घृणा=अप्रीति द्वेष है, इसी प्रकार परमात्मसेवा की या संयमादि धर्म की प्रवृत्ति=क्रिया करते हुए ऊब जाना, घबरा जाना, थक जाना या रुक जाना खेद है। परमात्मसेवा में बाधक ये तीनों दोष अबोध (नासमझी, अज्ञान या मिथ्यात्व) की निशानी हैं।

भाष्य

परमात्मसेवा में प्रथम विघ्न : भय

परमात्मसेवा अन्ततोगत्वा शुद्ध आत्मसेवा में फलित होती है। अतः

साधक के मन के किसी भी कोने में यदि नरकादि का भय छाया रहता है, या नरकादिभय-निवारण की दृष्टि से ही वह परमात्मसेवा का पुरुषार्थ करता है, अथवा परमात्मसेवा का लक्ष्य नरकादि भय या इहलोक के किसी भय के निवारण का है; अथवा किसी अपयश, अकस्मात् दुर्घटना, सुरक्षा, या त्राण अथवा आजीविका चले जाने के डर से परमात्मसेवा की जाती है या अन्य किसी स्वार्थ में भंग पड़ जाने के डर से की जाती है तो वह भय-प्रेरित होने के कारण दोषयुक्त है। क्योंकि भय का अर्थ परिणामों में चंचलता आ जाना है। जब मनुष्य के मन में भय की आग लगती है तो वह चंचलता की लपटें उछालता है और मन शुद्धात्मभावरमणतारूप परमात्मसेवा से हट कर अमुक भय के चिन्तन में चला जाता है, चित्त एकाग्र न रह कर व्यग्र हो जाता है। कई दफा मनुष्य परिवार, समाज, जाति, कौम, सम्प्रदाय, राष्ट्र या किसी तथाकथित महान् व्यक्ति के डर से परमात्मसेवा में लगता है अथवा इनके दबाव से या निन्दा के डर से शुद्ध परमात्मसेवा के मार्ग को छोड़ बैठता है। वास्तव में ये सब, परमात्मसेवा से भ्रष्ट करने वाले तथा मनोयोग को चंचल बनाने वाले होने से विघ्नकारक हैं। शास्त्रों में भय के मुख्यतया ७ कारण बताये हैं—इहलोकभय, परलोकभय, आदान (छीन लेने का) अथवा अत्राण (असुरक्षा का) भय, अकस्मात् (दुर्घटना हो जाने का) भय, आजीविका का भय, अपयशभय और मरणभय। साधक में इन ७ भयों में से कोई भी भय होगा तो वह रजोगुणी बन जायगा, अस्थिर हो जायगा, उसकी आत्मा शुद्धात्मभावरमणतारूपी परमात्मसेवा से विमुख हो जाएगी। भययुक्त प्राणी कोई भी सत्कार्य साहसपूर्वक नहीं कर सकता, वह सत्कार्य करने में दूसरों से दबता है, सच्ची बात नहीं कह सकता, उसका जीवन सदा शंकाग्रस्त बना रहता है, ऐसी स्थिति में परमात्मसेवा के बारे में भी उसकी समझ स्पष्ट नहीं होती, उसका ज्ञान-दर्शन सम्यक् नहीं होता।

परमात्मसेवा में द्वितीय विघ्न : द्वेष

परमात्मा की सेवा का तात्पर्य शुद्ध आत्मा की सेवा है। जब आत्मभाव से भिन्न भावों—शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं के प्रति रुचि, प्रीति और उसका उत्कटरूप मोह या लालसा होती है और जब अनात्मभावों के प्रति रुचि प्रबल होती है तो आत्मभावों की सेवा (परमात्मसेवा) के प्रति

अरुचि या घृणा हो जाती है। मतलब यह है कि जब आत्मभाव-रमणता के प्रति अरुचि होती है तो साधक के जीवन में शरीर से सम्बन्धित पदार्थों—धन, मकान, जमीन जायदाद, सन्तान, जाति अथवा सम्प्रदाय आदि के प्रति आकर्षण, राग या मोह बढ़ जाता है। क्योंकि यह स्वाभाविक है कि जब एक पदार्थ के प्रति राग या मोह होगा तो दूसरे पदार्थ के प्रति अरुचि या घृणा होगी। वही वास्तव में द्वेष है। शुद्धात्मभाव के प्रति या आध्यात्मिक प्रगति के प्रति ऐसा अरोचकभाव परमात्मसेवा में बाधक है।

दूसरी दृष्टि से सोचें तो शुद्धात्मभाव की दृष्टि से स्वरूप में रमण करने वाला साधक जब किसी जाति, धर्मसम्प्रदाय, वेष, रंग, वर्ण, प्रान्त, या राष्ट्र के व्यक्ति या प्राणी के इन बाह्यरूपों—परभावों को देख कर अरुचि या घृणा प्रगट करता है, उसके प्रति अप्रीति पैदा होती है; तब वह उसके अन्दर विराजमान शुद्धात्मतत्त्व को नहीं देखता; किन्तु उसके बाह्य (शारीरिक) रूप, वेषभूषा व रहनसहन को ही देख कर उससे घृणा या अरुचि करने लगता है; यह भी परमात्मसेवा में विघ्न है।

अथवा दूसरी दृष्टि से कहें तो शुद्धात्मदशा में रमणता यानी परमात्मसेवा करने वाले साधक को जीवन में शरीर और मन के प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति या प्रतिकूल (अनिष्ट) वस्तु या व्यक्ति के प्राप्त होने पर यानी निश्चयनय की भाषा में कहें तो प्रतिकूल परभावों का संयोग उपस्थित होने पर अरुचि, अप्रीति या घृणा होना भी परमात्मसेवा में बाधक है।

अथवा यों भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति परमात्मसेवा (शुद्ध आत्मसेवा) के लिए तत्पर है, उसको अगर सर्वकर्मक्षयकरी मुक्ति के प्रति या मुक्तिमार्ग के प्रति अरुचि है; जो भवाभिनन्दी साधक इन्द्रियों के भोग-विलास, नाचगान, खानपान आदि में मस्त है, और यह सोचता है कि मुक्ति में तो ये सब चीजें हैं नहीं; अतः उस रूखीसूखी मुक्ति से क्या लाभ ? इस तरह जो व्यक्ति मुक्ति या मुक्तिपथ का नाम सुनते ही मुँह मचकोड़ कर उसके प्रति घृणा और अप्रीति प्रगट करता है, तो उसका यह अरोचकभाव भी द्वेष है, जो परमात्मसेवा में बाधक है।

परमात्मसेवा में तीसरा विघ्न : खेद

आत्मा की शुद्धदशा में रमण करने की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करते

समय थक जाना, रुक जाना, ऊब जाना, झुँझलाहट पैदा होना खेद है, और वह भी परमात्मसेवा में विघ्न है।

बहुत-सी बार हम देखते हैं कि साधक परमात्मसेवा की साधना करता-करता ऊब जाता है और कह उठता है—अब कहाँ तक इस प्रवृत्ति को करें! इतने वर्ष तो करते-करते हो गये! तब या तो वह शुद्धात्मभावरमणता की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बेगार समझ कर जैसे-तैसे बिना मन के करता है, अथवा झुँझला कर उसे बिलकुल छोड़ देता है। अथवा किसी आत्मसाधक को वर्षों तक परमात्मसेवा की साधना करते हो जाते हैं और उसे अपने अनुकूल अभीष्ट फल नहीं नजर आता अथवा प्रतिकूल फल नजर आता है, या उसकी उक्त साधना के साथ संजोयी हुई लौकिक फलाकांक्षा पूर्ण नहीं होती, तब या तो वह उस साधना के प्रति अश्रद्धा प्रगट करता है, या उसे कोस कर वहीं स्थगित कर देता है। अथवा आत्मसाधना या मोक्षसाधना की प्रवृत्ति करते-करते फल के लिए उतावला हो कर फल के शीघ्र दृष्टिगोचर न होने पर शंकाशील हो कर बिना किसी प्रकार का समाधान अथवा आत्मनिरीक्षण-अवलोकन या अपनी भूल का पर्यालोचन-परिमार्जन किये बिना सहसा उक्त प्रवृत्ति करने से रुक जाता है। ये सब खेद के ही प्रकार हैं, जो परमात्मसेवा के मार्ग में बहुत बड़े विघ्न हैं।

ये तीनों दोष अबोध के परिचायक हैं

परमात्मसेवा के मार्ग में बाधक या विघ्नकारक, भय, द्वेष और खेद नामक ये त्रिदोष वात-पित्त-कफ नामक त्रिदोष के समान साधक के अबोध के चिह्न हैं। ये तीनों दोष आत्मसाधक में हों तो समझना चाहिए कि उसमें परमात्मसेवा के बारे में नासमझी है, अज्ञान है, अथवा अल्पज्ञान है। उसे पता ही नहीं कि ये तीनों दोष मिल कर उसकी परमात्मसेवा-साधना की जड़ कैसे काट रहे हैं! परमात्मसेवा के साधक को अपनी साधना के दौरान जहाँ परिणामों में किसी भी प्रकार की चंचलता (अस्थिरता) दिखाई दे, अथवा स्वभावरमणरूप परमात्मसेवा या मुक्तिमार्ग की प्रवृत्ति करते समय किसी व्यक्ति, परिस्थिति, शरीर या शरीर से सम्बद्ध वस्तु या प्राणी के प्रति अरुचि या घृणा पैदा होने लगे, अथवा आत्मसाधना-रूप परमात्मसेवा (मुक्तिमार्ग)

की प्रवृत्ति करते समय थकान, अधीरता या झुंझलाहट होती प्रतीत हो तो समझ लेना चाहिए कि यह मेरी किसी नादानी का परिणाम है। मुझे इनसे बच कर तुरंत किनाराकसी करनी चाहिए; अन्यथा मेरी परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका परिपक्व नहीं होगी; कच्ची रह जाएगी।

इन तीनों दोषों से रहित हो कर परमात्मसेवा की भूमिका तैयार करें

निष्कर्ष यह निकला कि किसी के लिहाज, दवाव, या किसी प्रकार की भीति के शिकंजे में न आ कर निर्भयता से—अभय बन कर सेवासाधना करे; साथ ही सभी प्राणियों—खासकर मानवों में निहित प्रतिकूल वेष, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, रंग, प्रान्त आदि के प्रति, या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा वस्तु के प्राप्त होने पर उनके प्रति घृणा, अरुचि या अप्रीति छोड़ कर प्राणियों में निहित शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रति रुचि या प्रीति करे, अनिष्ट वस्तु या स्थिति के प्राप्त होने पर शुद्ध आत्मभाव की ओर अपनी लीनता-तन्मयता रखे। इसी प्रकार परमात्म-सेवासाधना की किसी भी प्रवृत्ति को रुचिपूर्वक, श्रद्धापूर्वक, धैर्य के साथ विना, थके विना, ऊबे फलाकांक्षा पूरी न होने पर भी उत्साहपूर्वक सतत करता रहे।

परमात्मसेवा के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में अभय, अद्वेष और अखेद इन तीनों को साधक अपना ले, यही श्रीआनन्दघनजी का आशय है।

भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा के वास्तविक अवान्तर फल

पूर्वगाथाद्वय में परमात्मसेवा का स्वरूप, रहस्य और उसके लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में भय, द्वेष और खेद इन तीनों दोषों का त्याग बताया; परन्तु साधक के अन्तर में सहज ही प्रश्न होता है कि आखिर परमात्मसेवा की पूर्वोक्त भूमिका और स्थिति कब और कैसे तैयार होती है? उसे उक्त साधना के दौरान क्या क्या यथार्थ लाभ कर्मक्षय या क्षयोपशम की दृष्टि से मिलते हैं? इसी जिज्ञासा को शान्त करने हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

चरमावर्त्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति-परिपाक।
दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचन-वाक् ॥सम्भव०॥३॥

अर्थ

जब चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त चल रहा हो, यानी भवभ्रमण का अन्तिम चक्र हो ; तथा उसमें भी चरमकरण (तीनों करणों में से अन्तिम करण) हो और जब भवपरिणति (जन्ममरण की स्थिति=परम्परा) का परिपाक=अन्तिम सिरा आ पहुँचा हो, तब कर्ममलरूप दोषों का निवारण हो जाता है, तथा उसकी दृष्टि सम्यक् हो कर खुल जाती है, आत्मसम्मुख होती जाती है और उसे वीतराग-प्रवचन की वाणी का लाभ प्राप्त होता है।

भाष्य

पूर्वोक्त गाथाद्वय में बताये हुए भय, द्वेष और खेद इन तीनों दोषों के चले जाने पर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होती है ; और तब साधक की दृष्टि में से भवाभिनन्दिता (संसार में जन्म-मरण के चक्र में डालने वाली बातों में रुचि=प्रसन्नता) मिट जाती है और उसमें मोक्षाभिनन्दिता उत्पन्न हो जाती है। यानी साधक का मुख संसार की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाता है।

पहली उपलब्धि : चरमपुद्गलपरावर्त

कर्मक्षयरूप मुक्ति की दशा में साधक अपारजन्ममरणरूप संसारसागर में मिथ्यात्वाश्रित अनन्तदुःखरूप अनन्त पुद्गलपरावर्तों का अनुभव करता हुआ सागर के किनारे लगने की तरह पुद्गलपरावर्त के किनारे लग जाता है। अर्थात् उसका पुद्गलपरावर्त—जन्ममरण का चक्र अन्तिम रह जाता है। परमात्मसेवा के लाभ के रूप में साधक की संसारयात्रा कितनी कम हो जाती है ! मोक्ष की दौड़ में वह कितना सफल हो जाता है ! चरमपुद्गलपरावर्त कोई कम उपलब्धि नहीं है। पुद्गलपरावर्त जैन पारिभाषिक शब्द है। द्रव्य से सामान्यतया सर्वपुद्गलों का जिसमें ग्रहण और त्याग हो ,वह पुद्गलपरावर्त कहलाता है। चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त यानी पर्यन्तवर्ती पुद्गलावर्त—द्रव्यतः सामान्यतया सभी पुद्गलों के ग्रहण और त्यागरूप से प्रवृत्त होने पर होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—चौदह रज्जूप्रमाण लोक में औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन इन सातों की वर्गणाओं के रूप में सभी पुद्गल भरे हुए हैं। उनका परिणमन करना अर्थात् उक्त प्रत्येक वर्गणा के रूप में प्रत्येक पुद्गल का परिणमन किया जाय, तब द्रव्य से बादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी तरह एक-एक पुद्गलपरमाणु

को पहले औदारिक वर्गणा के रूप में भोगे, तत्पश्चात् क्रमशः वैक्रियादि छहों वर्गणाओं के रूप में दूसरी वर्गणा के व्यवधानरहित भोगे, इस प्रकार क्रमशः सातों वर्गणाओं के रूप में सर्वपुद्गल भोगे जांय, तव द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल-परावर्त होता है। इसमें एक परमाणु औदारिकवर्गणा के रूप में भोगने पर यदि वीच में वैक्रियादिवर्गणा के रूप में उसे चाहे जितनी वार भोगा जाय, वह सूक्ष्म पु० प० में नहीं माना जाता। लोकाकाश के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश का मरण से स्पर्शन किया जाय, तव क्षेत्र से वादर पुद्गलपरावर्त होता है, इसी तरह लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश का क्रमशः एक के वाद एक मरण से स्पर्शन किया जाय, तव क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त में एक प्रदेश में मरण होने के वाद उसके अनन्तर (उससे विलकुल संलग्न) प्रदेश में मरण हो, वही माना जाता है, वीच के काल में अन्य प्रदेशों में चाहे जितने मरण हों, वे नहीं गिने जाते। कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनों के सभी समयों का व्युत्क्रम से (आगे-पीछे) मरण से स्पर्शन करे, तव काल से वादर पुद्गलपरावर्त होता है, तथा इसी प्रकार कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरों के समय का मरण से क्रमशः स्पर्शन हो, तव कालसे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। उदाहरणार्थ—इससे पीछे की उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मृत्यु होने पर उसके वाद की दूसरी किसी भी उत्सर्पिणी में दूसरे समय में मृत्यु हो, वही काल से सूक्ष्म पु० प० माना जाता है। वाकी के वीच के मरणसमय की गणना इसमें नहीं की जाती। कपाय से अध्यवसाय पैदा होते हैं, और उनसे कर्मवन्ध होते हैं। चूंकि कपायजनित अध्यवसाय तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि होने से कर्मवन्ध में वहुत तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होता है। कपाय-जनित अध्यवसायों की तीव्रतामन्दता के असंख्य स्थान (डिग्रियाँ) होते हैं, इसीलिए अनुवन्ध-स्थान भी असंख्य हैं। चूंकि वासना अनेक प्रकार की होती हैं, अतः अनुवंधस्थान भी असंख्य (उतने ही) प्रकार के होते हैं। इन सभी अनुवंध-स्थानकों को पहले-पीछे मृत्यु द्वारा स्पर्श करके पूर्ण करे, तव भाव से वादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी प्रकार पहले अल्पकपायोदय के अध्यवसाय से मृत्यु पा कर, तत्पश्चात् उसके अनन्तर रहे हुए (लगते) अध्यवसाय-स्थान में मरण प्राप्त करके क्रमशः सर्व अध्यवसायस्थानों का उक्त मरण से स्पर्श

करे, तब भाव से सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त होता है। यदि बीच में दूसरे अध्यवसाय स्थानों का मरण से स्पर्श करे तो उसे सूक्ष्म पु० प० नहीं माना जाता।

प्राणी ने ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये हैं। इस प्रकार के अनन्त अगणित पुद्गलपरावर्तनों के प्रवाह में वह अब तक थपेड़े खाता आया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से, जो पुद्गलपरावर्तन ऊपर बताए हैं, वे तो वादर (स्थूल) परावर्तन बताए हैं, सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन तो अनन्त वार किये होंगे। तात्पर्य यह है सूक्ष्म पुद्गल-परावर्तन का विचार करें तो दस कोटाकोटी सागरोपमकाल की एक उत्सर्पिणी होती है, उसके प्रथम समय में मरण हो, उसके वाद दूसरी उत्सर्पिणी के ठीक दूसरे समय में मरण हो, वही गिना जाता है। वीच में व्युत्क्रम से जितनी वार मरण हुए, वे व्यर्थ गए। वे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त की गणना में नहीं आते। इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्त हो चुकने के वाद जब संसार में भटकते-भटकते प्राणी का अन्तिम पुद्गलपरावर्त आए, तब उसे ओघदृष्टि हट कर योगदृष्टि प्राप्त होने लगती है। परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका (योग्यता) हो जाने पर साधक को इस 'चरमपुद्गलावर्त' का लाभ मिलता है। यह भी एक प्रकार की 'काललब्धि' है।

दूसरी उपलब्धि : चरमकरण

इस संसार में उपर्युक्त कथनानुसार अनन्त पुद्गलपरावर्तनकाल तक प्राणी अवोधदशा में भटकता रहता है। वह रागद्वेष में गाढ़ ग्रस्त, संसाररसिक हो कर अनेक प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म यातनाएँ सहता है। एक गड्ढे में से निकल कर दूसरे में गिरता है। कई दफा देवगति में जन्म ले कर स्थूल सुखों का अनुभव करता है, तथा अनेक वार नरकगति में पैदा हो कर महायातनाएँ सहता है। कई वार तो एक वार आंख मूंद कर खोलें, उतने समय में १६-१६ वार जन्ममरण होता है। परन्तु जहाँ तक सम्यग्दृष्टि प्राप्त नहीं होती, वहाँ तक पौद्गलिक पदार्थों—परभावों में ही वह आनन्द मानता है; परभावों में रमण का वह आदी हो जाता है। परन्तु जब किसी जिज्ञासु को यथार्थ मार्ग पर आना होता है तो उसकी ओघदृष्टि नष्ट हो कर योगदृष्टि खुल जाती है। वह चरम पुद्गलपरावर्त तक आ पहुँचता है।

और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले वह धर्ममार्गानुसारी सुनीति; उचित नियंत्रण और उचित व्यवहारमार्ग पर चल कर गुणप्राप्ति में धीरे धीरे प्रगति करता है और व्यवहारकुशल बनता है। जैनदर्शन में सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले उक्त मार्गानुसारी व्यक्ति को तीन करण प्राप्त होने का विधान है। करण का अर्थ यहाँ एक विशेष परिणाम या अध्यवसाय है। वे तीन करण ये हैं—यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। ये तीनों करण सम्यक्त्व-प्राप्ति में कारणभूत हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण में प्राणी की पूर्वकाल में जैसी प्रवृत्ति थी, वैसी ही बनी रहती है, उसमें जरा भी परिवर्तन नहीं होता। कई लोग इसे अधः-प्रवृत्तिकरण भी कहते हैं। जिस प्रकार पहाड़ी नदी का पत्थर नदी में बारबार इधर-उधर लुढ़कते-टकराते गोल, चमकदार व चिकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी संसारसागर में अनेक दुःख सहते-सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। उसका परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि उसके बल पर उसके आयुष्यकर्म के सिवाय बाकी के ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की (मिला कर) उत्कृष्ट स्थिति [1] घटते-घटते पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून (जरा-सी कम) एक कोटाकोटी सागरोपमकाल की रह जाती है। इसी परिणाम को शास्त्र में यथाप्रवृत्तिकरण कहा है। यथाप्रवृत्तिकरण से जीव रागद्वेष की एक मजबूत, कर्कश, गूढ़ बाँस के समान दुर्भेद्य दृढ़ ग्रन्थी (गांठ) तक आता है, इसी को ग्रन्थीदेश की प्राप्ति कहते हैं। यों तो यथाप्रवृत्तिकरण से अभव्यजीव भी इस ग्रन्थीदेश की प्राप्ति अनन्तबार कर सकते हैं, यानी कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति घटा कर अन्तःकोटाकोटी सागरोपमप्रमाण कर सकते हैं, परन्तु वे रागद्वेष की इस दुर्भेद्य निविड़ ग्रन्थी को तोड़ नहीं सकते। अतः इस ग्रन्थी का भेदन किये बिना ही प्राणी वापस पूर्वप्रवृत्ति में

---

१ कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति ६० कोटाकोटी सागरोपम की है, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की है, नाम-गोत्र कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटी सागरोपम की है; आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति ३३ सागरोपम की है।

लौट जाय तो यथाप्रवृत्तिकरण का कोई अर्थ नहीं रहता। ऐसा निष्फ यथाप्रवृत्तिकरण तो प्राणी ने अनेक वार किया है। किन्तु ऐसे अनन्त यथा प्रवृत्तिकरण किया हुआ भव्यजीव अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के वाद वाप नहीं लौटता ; ज्यों-ज्यों वह आगे बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों उसके परिणाम में यथाप्रवृत्तिकरण से भी अधिकाधिक निर्मलता (शुद्धता) होती जाती है और एक दिन वह उस विशुद्धतर परिणाम के द्वारा रागद्वेप की दृढ़तम औ कठोर ग्रन्थी को—अर्थात् रागद्वेप के अतिदृढ़संस्कारों को छिन्न-भि कर सकता है।

अपूर्वकरण—भव्यजीव पूर्वोक्त जिस परिणाम से रागद्वेप की दुर्भेद्य ग्रन्थ को लांघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र में **अपूर्वकरण** कहा है। अपूर्वकरा नाम रखने का मतलव यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होत है, वारवार नहीं होता। इस कारण से तथा प्राणी ने अपनी संसारयात्रा म इससे पहले कभी इस प्रकार का ग्रन्थीभेद नहीं किया होने से तथा रागद्वे की पक्की गांठ को तोड़ डालने का यह पहला ही अवसर होने के कारण आत्मशक्ति के इस अभूतपूर्व उज्ज्वल और साहसिक कार्य को 'अपूर्वकरण कहा जाता है। इस प्रखर वक्रग्रन्थी के टूटने से चेतन रागद्वेप पर कुठार क तरह तीक्ष्णपरिणामरूपी धारा से प्रहार करके उक्त ग्रन्थी को शिथिल क देता है और अपनी अपूर्व आत्मशक्ति के चमत्कार को आगे वढ़ाता है, अपन प्रगति के नये आयाम और नूतन द्वार खोलता है। परन्तु अपूर्वकरण वह कर सकता है, जिसने यथाप्रवृत्तिकरण किया हो। मगर यथाप्रवृत्तिकरण वाला अपूर्वकरण करे ही, ऐसा एकान्त नियम नहीं है। पर अपूर्वकरण करने के लिए पहले यथाप्रवृत्तिकरण करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से यथाप्रवृत्तिकरण की अपूर्वकरण के पूर्वकरण के रूप में वहुत ही उपयोगिता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि अपूर्वकरण में निविड़ रागद्वेप की गांठ टूटने से रागद्वेप का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, रागद्वेप की जो पक्की गांठ थी, वह खुल जाती है, उसकी पकड़ ढीली हो जाती है और उसका सर्वथा नाश करने का मार्ग खुल जाता है।

अनिवृत्तिकरण=चरमकरण=अन्तरकरण—अपूर्व (करण) वीर्योल्लास के परिणाम से प्राणी ग्रन्थिभेद करने के वाद अन्तर्मुहूर्तकाल में अनिवृत्ति

करण में आ जाता है। अपूर्वकरण करते समय प्राणी के परिणामों में जो निर्मलता (कर्मक्षय के कारण) हुई थी, उसकी अपेक्षा अनिवृत्तिकरण में और भी अधिक निर्मलता होती है। इसे अनिवृत्तिकरण या चरमकरण इसलिए कहा जाता है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना वह निवृत्त नहीं होता, वापिस नहीं लौटता। इन तीनों करणों का क्रम इस प्रकार है—जब तक पूर्वोक्त ग्रन्थी-देश है, तब तक प्रथमकरण है, ग्रन्थीभेद हो जाने पर द्वितीय करण हो जाता है, और जब जीव सम्यक्त्व को आसन्न (निकट) कर लेता है, या पुरस्कृत (सामने) कर लेता है, तब अनिवृत्तिकरण होता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है; उस स्थिति में से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं और सिर्फ एक भाग शेष रह जाता है, तब अन्तरकरण की क्रिया शुरू होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही होती है। चूंकि अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद हैं। अन्तरकरण करने पर उस मिथ्यात्वकर्म के एकत्रित कर्मदलों की दो स्थितियां हो जाती है। अन्तरकरण से अधस्तनी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्त-पर्यन्त रहती है, उतने काल में जितने भोगे जा सकें, उतने उसके कर्मदल होते हैं। और दूसरी स्थिति इसी अन्तरकरण से शेष उपरितनी होती है। प्रथम स्थिति में जीव अन्तिम अन्तर्मुहूर्तकाल में मिथ्यात्व-कर्मदलिकों को भोग लेता है; तब तक वह इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहता है। परन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रथम स्थिति, के हटते ही अन्तरकरण की द्वितीय स्थिति के प्रथम समय में ही औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उस समय में मिथ्यात्वमोहनीय कर्मदलिकों का विपाक और (प्रदेशोदय = वेदन) नहीं रहता। परन्तु यह औप-शमिक सम्यक्त्व उतने काल (अन्तर्मुहूर्त) तक ही रहता है, जितने काल तक के उदययोग्य दलिक आगे-पीछे कर लिये जाते हैं। इसके प्राप्त होते ही जीव को पदार्थों की स्पष्ट या असंदिग्ध प्रतीति होती है। जैसे वन में लगी हुई दावाग्नि पहले जले हुए इन्धन या ऊपरप्रदेश को पा कर दब जाती है, वैसे ही मिथ्यात्ववेदनरूप दावानल भी अन्तरकरण को पा कर दब जाता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरण में प्राणी दो कार्य करता है—मिथ्यात्वस्थिति के दो

विभाग करके अन्तरकरण करता है। [1]अन्तमुहूर्त काल तक का मिथ्यात्व-कर्मदलिक वाला छोटा पुंज जो उदय में आता है, उसका क्षय कर देता है, और इसके अनन्तर क्षण में ही बाकी के जो कर्मदलिक उदयाभिमुख न हुए हों उस पुंज को उपशान्त कर देता है, जिससे उसे [2] उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनिवृत्तिकरण को ही **चरमकरण** समझना चाहिए।

मिथ्यात्वकर्मदलिकों का इस प्रकार अन्तर करना (भेद डालना) ही अन्तरकरण कहलाता है। मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिकों में जिस समय इस प्रकार का अन्तर (भेद) किया जाता है, उस समय प्राणी को जो आनन्द आता है, उसकी तुलना ग्रीष्मऋतु में रेगिस्तान में दोपहर को चलती हुई लू और कड़ी धूप से व्याकुल प्राणी के शरीर पर बावना चन्दन छिड़काने में अथवा रेगिस्तान में किसी हरे-भरे जमीन के टुकड़े को पा कर जो आनन्द और सुखशान्ति प्राप्त होती है या जो अपूर्व आनन्दमयी परिस्थिति बन जाती है, उससे की गई है। ठीक इसी प्रकार का आनन्द अनिवृत्तिकरण के अन्त में और अन्तरकरण के प्रथम समय में प्राणी को होता है। उस समय उसके गाढ़ मिथ्यात्वतिमिर की तीव्रता कम हो जाती है, कठोर अनन्तानुबन्धी कषाय हट जाता है, मिथ्यात्व ने उस व्यक्ति को जो परिताप दिया था, वह भी मिट जाता है। जिस मिथ्यात्व के जोर से प्राणी संसार में भटकता था, अनादिकाल से उसके जाल में फंसा हुआ था, उसकी समाप्ति होती देख कर उसे बहुत आनन्द का अनुभव होता है, फिर उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती जाती है। सचमुच अनिवृत्तिकरण मुमुक्षु के लिए वरदानरूप है, सम्यग्दर्शन का द्वार खोलने वाला है!

परन्तु यह आनन्दानुभूति, यह अद्भुत उपलब्धि उसी को होती है, जो रागद्वेष की पक्की वज्रमयी गांठ को तोड़ कर आगे बढ़ जाता है। जो रागद्वेष की गांठ या चट्टान को देख कर घबरा कर वापिस लौट जाता है या वहीं

---

१ अन्तमुहूर्त काल का मतलब है—४८ मिनट से जरा-सा कम काल।

२ जिसका तत्काल उदय न हो तथा सर्वथा नाश भी न हो, जो अन्दर दबा हुआ पड़ा रहे, उसे उपशमन या उपशम कहते हैं।

ठिठक जाता है; वह इस आनन्दानुभूति या उपलब्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध में तीन चींटियों का उदाहरण दिया जाता है—कुछ चींटियाँ ऐसी होती हैं, जो चलते-चलते कील, चट्टान या दीवार जैसी कोई रुकावट आ जाय तो घबरा कर वहीं से वापस लौट जाती हैं। कुछ ऐसी होती हैं, जो साहस करके रुकावट डालने वाली कील, चट्टान या दीवार पर चढ़ तो जाती हैं, किन्तु वहीं ठिठक जाती हैं, आगे नहीं बढ़ पातीं। किन्तु तीसरे प्रकार की कुछ चींटियाँ ऐसी भी होती हैं, जो कील आदि को छोड़ कर आगे बढ़ जाती हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति दर्शनमोहनीयकर्म के भारी-भरकम पुँज को देखते ही घबरा कर वापस लौट जाते हैं, वे यथाप्रवृत्तिकरणी की कोटि में आते हैं। जो उस दर्शनमोहनीयकर्मपुँज से साहस करके भिड़ जाते हैं, उसमें निहित रागद्वेष की ठोस और कठोर गांठ को तोड़ डालते हैं, वे अपूर्व-करणी की कोटि में आते हैं, परन्तु रागद्वेप की निविड़ग्रंथी का भेदन करके वहाँ से जो आगे बढ़ते हैं, वे अनिवृत्तिकरण के अधिकारी बनते हैं। अर्धपुद्गल-परावर्तकाल तक संसार में स्थिति बाकी रहती है, तब जीव अपूर्वकरण करता है। जबकि चरमकरण में चरमपुद्गलपरावर्त काल तक का संसार-भ्रमण रहता है। इसमें मोक्षयात्रा की ओर जीव की दौड़ शुरू हो जाती है।

तीसरी उपलब्धि : भवपरिणतिपरिपाक

साधक को परमात्मसेवा की प्रथमभूमिका प्राप्त होने के बाद जब चरम-पुद्गलपरावर्त और चरमकरण की उपलब्धि हो जाती है तो यह स्वाभाविक है कि उसकी परिणति यानी रुचि या आदत परभावों में रमण के कारण संसार में-जन्ममरणरूप परिभ्रमण में, या परभावों—पौद्गलिक पदार्थों को अपने मान कर उनमें आसक्त होने, व आनन्द मानने आदि भव यानी सांसारिक बातों की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाय। क्योंकि आत्मा का मूल स्वभाव तो अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है। रागद्वेष की परिणति (भवपरिणति) के कारण उसका मूल स्वभाव, दब गया है या वह अपने असली स्वभाव से भटक गया है। परभावरमणता या परपरिणति में दिलचस्पी जीव की संसार-यात्रा का दिग्दर्शन है; मगर जब उसे परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त

हो जाती है। यह बात स्पष्ट है कि प्रवचनवाणी की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है, मिथ्यादृष्टि को नहीं। मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति के हृदय में प्रवचन सम्यक्रूप में परिणत न हो कर मिथ्यारूप में ही प्रायः परिणत होते हैं। मिथ्यादृष्टि प्रवचनवाणी का श्रवण कर सकता है, कर्णकुहरों में प्रवचनवाणी के शब्द डाल सकता है, किन्तु प्रवचनवाणी की प्राप्ति वह नहीं कर पाता क्योंकि उसे प्रवचनवाणी हृदयंगम नहीं होती, उसकी दृष्टि सम्यक् खुली न होने से वह दिमाग में जचती नहीं, गले उतरती नहीं। इसलिए जो बात गले न उतरे, अनेकान्त के आइने में भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओं से समझ में न आए, हृदय और बुद्धि को जचे नहीं, उसे उसकी प्राप्ति नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि अनिवृत्तिकरण की सम्प्राप्ति से पहले मिथ्यादृष्टि की भूमिका में व्यक्ति को प्रवचनवाणी की प्राप्ति नहीं होती, जबकि उक्त चरम करण की प्राप्ति के साथ ही सम्यग्दृष्टि खुल जाने से व्यक्ति प्रवचनवाणी की प्राप्ति भलीभाँति कर लेता है।

प्रवचनवाणी की प्राप्ति का अर्थ है—वीतराग-प्ररूपित सिद्धान्त की वाणी की प्राप्ति अथवा सुविहित जिनागमों की वाणी की उपलब्धि। वास्तव में महामूल्य सिद्धान्तों के महान् सत्यों को जान लेना, उन्हें व्यवस्थित रूप से यथायोग्य स्थान पर संयोजन करना प्रवचनवाणी की प्राप्ति है।

प्रवचन का अर्थ—जिनदेवप्रणीत सिद्धान्त या वीतराग आप्तपुरुष द्वारा प्ररूपित प्रवचनरूप द्वादशांगी (बारह अंगों) होता है। प्रवचन का अर्थ संघ या चतुर्विध तीर्थ-यहाँ संगत नहीं है।

ऐसे उत्तम और वीतराग-विज्ञानपारंगत आप्त-प्रवचनों की प्राप्ति बहुत बड़ी उपलब्धि है, साधक के जीवन में। ऐसे प्रवचनलाभ से साधक संसार और मोक्ष का स्वरूप, हेय-ज्ञेय-उपादेय का तत्त्व, स्वपरविवेक, आदि भलीभाँति जान जाता है। शुद्धात्मभाव में रमण या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में प्रयाण को अधिक स्थिर, परिपक्व और निश्चित कर लेता है। उसके हृदय में ऐसे प्रवचनोक्त वचनों के प्रति श्रद्धा, प्रतीति और रुचि अधिकाधिक बढ़ती जाती है। प्रवचनप्राप्ति से वह शान्त, धीर, निष्पक्ष और समतावान् हो जाता है, साथ ही इससे उसमें सहिष्णुता, रहस्यज्ञता, समझाने की चातुरी, प्रत्येक समस्या को आत्मबुद्धि से सुलझाने की शक्ति, उपकारबुद्धि

जिज्ञासा और समता बढ़ती जाती है और आक्षेपबुद्धि, कदाग्रही वृत्ति, ईर्ष्या प्रत्येक बात को देहबुद्धि से सोचने की स्वार्थवृत्ति घट जाती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त छहों उपलब्धियाँ परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होने पर साधक को हस्तगत हो जाती हैं।

प्रथम-भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा में प्रेरकनिमित्त

पूर्वोक्त गाथा में कर्मक्षय एवं मोक्षप्राप्ति अथवा स्वभावरमणता से क्रमशः मुक्ति की दिशा में प्रस्थान से सम्बन्धित ६ फलों का उल्लेख श्रीआनन्दघनजी ने किया। अब उन फलों की प्राप्ति में प्रेरक निमित्तकारण के सम्बन्ध में वे अगली गाथा में कहते हैं—

परिचय पातक-घातक साधुशुं रे, अकुशल-अपचय चेत।
ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे, परिशीलन नय हेत॥
॥ संभव० ॥ ४ ॥

अर्थ

ऐसा होने पर साधक को पापों के नाश करने वाले साधुओं का परिचय होता जाता है। उसके चित्त में अकल्याणकारी अशुभसंकल्पों की कमी होती जाती है और उसे आत्मा के सम्बन्धों में विचार करने वाले आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण एवं मनन द्वारा नैगम आदि समस्त नयों, हेतुओं या उपादानादि कारणों का अनाग्रहबुद्धिपूर्वक परिशीलन (बार-बार अभ्यास) करने का योग मिलता जाता है।

भाष्य

प्रेरक निमित्तों की प्राप्ति

जब साधक चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोष-निवारण, सम्यग्दृष्टि और प्रवचनवाणी की प्राप्ति, इन उपलब्धियों का अनायास लाभ पा लेता है; तब उसकी आध्यात्मिक प्रगति बढ़ती जाती है, किन्तु सामान्य जनता उसकी आध्यात्मिक प्रगति की परख नहीं कर पाती। वह ऐसे साधक को धुनी या पागल-सा कह देती है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे सम्यग्दृष्टिप्राप्त साधक की आध्यात्मिकप्रगतिसूचक कुछ बातों का निर्देश किया है, जो प्रेरक निमित्त के रूप में उसे अनायास ही मिलती जाती है।

जिन पर से उसे आध्यात्मिकविकासपथिक के रूप में पहिचाना जा सकता है।

प्रथम प्रेरक निमित्त : पापनाशक साधु से परिचय

ऐसा आध्यात्मविकासपथिक अतीन जिज्ञासु व नम्र होता है, वह अपने आंशिक ज्ञान के मद में आ कर अक्खड़ नहीं बनता। अतः उसे नये-नये ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अपने आचरण में आगे बढ़े हुए पापनाशक एवं धर्म (स्वभाव) में लीन स्वपरमुक्तिसाधक साधुओं से परिचय का योग मिल मिल जाता है, उनका सत्संग करके वह अपने स्वरूप के ज्ञान में, तथा तत्त्वों के अनुभव में वृद्धि करता जाता है। जो भी, जहाँ भी ऐसा स्वभावरमण-साधक या परमात्मभावलीन स्वपर-कल्याण-साधक पुरुष उसे मिल जाते हैं, उनकी संगति वह अवश्य करता है। वास्तव में, किसी भी व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड वाह्यवेष या वाह्य क्रियाएँ नहीं होती, वह होता है—ज्ञान का भण्डार भरने अथवा निश्चयदृष्टि से कहें तो अपने सुषुप्त ज्ञान को जागृत व प्रगट करने के उद्देश्य से, किसी प्रकार की स्वार्थ भावना या स्पृहा से दूर रह कर अध्यात्मज्ञान के अनुभवी, शुद्धात्मविज्ञान में पारंगत, अशुभकार्यों या अशुभभावों (पापों) को नष्ट करने वाले पुरुष का सत्संग, सम्पर्क या परिचय। किसी व्यक्ति की सोहबत से ही उससे असली जीवन का पता लगाया जा सकता है। **'समान-शील-व्यसनेषु सख्यम्'** इस नीतिसूत्र के अनुसार एक सरीखी आदत, समान शील, स्वभाव और तुल्य व्यसन वालों की ही परस्पर एक दूसरे के साथ पटरी बैठती है। दीर्घ परिचय, चिरकालस्थायी मैत्री, या स्थायी संगति समान भूमिका वाले लोगों की ही निभती है। उक्त सद्‌गुणी साधुपुरुष का परिचय (लम्बे अर्से तक सहवास या सम्पर्क-मेलजोल) साधक के आध्यात्मिक विकास का परिचायक होता है। वास्तव में ऐसे पापवृत्तिनाशक सन्तपुरुष के समागम का योग मिल जाने से उसकी पापवृत्ति स्वतः नष्ट हो जाती है, बुद्धि की जड़ता दूर हो जाती है, वाणी में सत्यता आ जाती है, ऐसे पुरुषों के सत्संग से साधक अपनी इज्जत में चार चाँद लगा देता है, जीवन में उन्नति की राह पा लेता है। चित्त में आर्तध्यान—रौद्रध्यान या चिन्ताएँ काफूर हो कर प्रसन्नता पैदा होती है, ऐसे व्यक्ति का जीवन सर्वांगीण बनता है। जिसके मन-वचन-

ाया में एकरूपता हो, जो सरलता और निश्छलता, निःस्पृहता और नम्रता ी मूर्ति हो, बड़े से बड़े पापियों के मन में स्थित पाप जिसके दर्शन से ही र भाग जाते हों, वही साधुमना पुरुष है। मतलब यह है कि परमात्म-सेवा ी प्रथमभूमिकाप्राप्त साधक को ऐसे महान् साधुपुरुष का सत्संगरूप नेमित्त प्राप्त हो ही जाता है। जो आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ना ाहता है, उसे वैसे निमित्त प्रायः मिल ही जाते हैं।

दूसरा निमित्त : चित्तवृत्ति में अकुशलता का त्याग

आत्मसाधना में प्रगति हो जाने की दूसरी परख यह है कि उक्त साधक की चित्तवृत्ति में अकल्याणकारी अथवा खराब परिणामों-अध्यवसायों (या संकल्पविकल्पों) का अपचय=क्षय या ह्रास हो जाता है अथवा अकुशल शब्द का अर्थ अशुभकर्म या पापकर्म भी होता है, इसके अनुसार **'चेत'** शब्द को छोड़ कर अर्थसंगति इस प्रकार बिठाई जा सकती है कि उसकी आत्मा में अशुभ=पापकर्म घट जाते हैं, कम हो जाते हैं अथवा क्षीण हो जाते हैं।

चित्तवृत्ति या चित्त की परिणाम (अध्यवसाय) धारा अकुशल (अविवेकी या विकृत) कैसे बन जाती है? और उसका ह्रास कैसे हो जाता है? कुशल चित्तवृत्ति कैसी होती है? वह साधक की साधना में कितनी उपयोगी उपलब्धि है? इस सम्बन्ध में विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि अकुशल चित्तवृत्ति के कारण स्पर्श, रस, घ्राण, कर्ण और नेत्र, इन पाँचों इन्द्रियों के अनुकूल विषयों को देख कर वह तुरन्त ललचा जाएगा, उनमें आसक्त हो कर उनके भोग में अनुकूल, किन्तु नतीजे में भयंकर दुःखदायी विषयों को भोगने के लिए तत्पर हो जाएगा, हितैषी व्यक्तियों के मना करने पर भी वह उनसे विरक्त नहीं होगा, उसका चित्त उक्त विषयों को पाने के लिए तैयार हो जाएगा, उनके वस्तुस्वरूप का सही मूल्यांकन वह नहीं कर पाएगा। मतलब यह है कि जहाँ तक व्यक्ति का चित्त इस प्रकार का अकुशल रहता है, वहाँ तक उसमें संसार की वासना कम नहीं होती, शरीर अथवा जड़वस्तुओं का और चेतन का परस्पर सम्बन्ध कितना, कैसा और कहाँ तक है? इसका ज्ञान न होने से सिर्फ सुनी-सुनाई बातों से वह थोड़ा बहुत जानता है; उसे इन्द्रियभोगों में जीवन की सार्थकता दृष्टिगोचर होती है। जहाँ तक

अकुशलता होती है, वहाँ तक क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारों को उनके असली रूप में वह पहिचान नहीं सकता; रागद्वेप के यथार्थरूप को न जानने के कारण प्रणय (दाम्पत्यप्रेम) साम्प्रदायिक व जातीय मोह तथा राष्ट्रान्धता आदि को उपादेय मान लेता है, अतत्त्वाभिनिवेश का शिकार वन कर संसार के गाडरिया प्रवाह में वह जाता है, ऐसी स्थिति में आत्माभिमुखता न हो कर संसाराभिमुखता ही अधिक रहती है।

किन्तु जव उक्त अकुशल चित्तवृत्ति का ह्रास हो जाता है, तो उसके मोह, कपाय आदि का ह्रास हो जाता है, वह शरीर, चित्त, इन्द्रियों आदि पर नियन्त्रण कर सकता है, शरीर, चित्त, इन्द्रियों आदि का स्वभावरमणरूप धर्म में सदुपयोग कर सकता है, वह कर्मक्षय करने में कारणभूत समताभाव को अपना लेता है; वस्तु के यथार्थस्वरूप को जान लेता है, क्रोधादि विकारों या रागद्वेपों के स्वरूप से भलीभाँति परिचित हो जाने के कारण, उनसे होने वाली भारी हानि को देख कर वह अपने स्वरूप में रमण करने लगता है। उसे आध्यात्मिक विकास में जीवन की सार्थकता प्रतीत होने लगती है। पापकर्म से वह सहसा लिपटता नहीं;।वल्कि पापकर्म का ह्रास कर देता है। अकुशल चित्त का ह्रास ऐसा प्रवल निमित्त है, जिसके कारण साधक की स्वतः आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है।

दूसरे अर्थ के अनुसार अकुशल-अपचय यानी, चेतना (आत्मा) में से पापकर्मो या अशुभ कर्मों का ह्रास हो (घट) जाता है। अर्थात् जव तक बुरे या अशुभकर्म रहते हैं, तव तक आत्मा की परभावों में, विशेपतः अशुभ परभावों में रमण करने की वृत्ति वनी रहती है; वह पापकर्म करने में ही जीवन का सच्चा आनन्द मानता है। किन्तु आत्मा में कुशलता प्राप्त होने पर वह पापकर्मो को वहुत ही कम देता है, उसके अशुभकर्मों की जड़ें हिल जाती हैं। उसकी चेतना आत्माभिमुखी हो कर संसाराभिमुखता या स्वार्थान्धता के कारण होने वाले पापकर्मो को क्षीण कर देती है। यही उसकी आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड है।

तीसरा निमित्त : आध्यात्मग्रन्थों का श्रवण, मनन और परिशीलन

वास्तव में व्यक्ति के जीवन में जव आध्यामिक विकास होता है,

व उसकी जिज्ञासा आत्मा के अपने असली गुण=ज्ञान को; जो सोया हुआ है, जगाने की होती है। वह ज्ञानाभिव्यक्ति में महानिमित्त, ज्ञान के स्रोत आध्यात्मिक ग्रंथों को सुनने, उन पर मनन-चिन्तन करने और विविध नयों और हेतुओं या उपादानादि कारणों से उसका परिशीलन करके अधिकाधिक हृदयंगम करने की होती है। वह ज्ञान भी उसका वन्ध्य नहीं होता, वह आचरण के रूप में उसे क्रियान्वित करके आध्यात्मिक प्रगति के नये-नये द्वार खोलता रहता है।

आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवणमनन-पूर्वक परिशीलन पर से साधक की आध्यात्मिक प्रगति का पता लग जाता है। जिस साधक में आध्यात्मिक विकास अधिक होगा, उसकी रुचि स्वाभाविकरूप से आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण और मनन द्वारा उनकी गहराई में डूब जाने और उन ग्रन्थों में विहित वातों का अपनी आत्मा के साथ तालमेल विठाने की होगी। वह उन आध्यामिक ग्रन्थों की गहराई में डुबकी लगा कर ज्ञानरत्नों को खोज कर निकाल लेगा, आत्मा में सुपुप्त शक्तियोंरूपी मुक्ताओं को प्राप्त कर लेगा ; आत्मा में निहित अनन्त ज्ञानादिगुणों की निधि को हस्तगत कर लेगा। आध्यात्मिक ग्रन्थों के परिशीलन (वार-वार के अभ्यास) से उसमें हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक आ जायगा। कर्म, शरीर, आत्मा, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, निर्जरा, बंध, मोक्ष, स्वभाव-परभाव, रागद्वेष कपाय आदि परपरिणतियों का आत्मा पर प्रभाव-अप्रभाव, आत्मा का स्वरूप क्या है? वह स्वयं अपने कर्मों का कर्ता-हर्त्ता है या और कोई महासत्ता है? मन, वाणी, इन्द्रिय, काया आदि का आत्मा के साथ क्या सम्वन्ध है? ये आत्मा को कैसे गुलाम बना लेते हैं? इनकी दासता से कैसे मुक्ति हो सकती है? इत्यादि अनेक वातों के सम्वन्ध में उसका ज्ञान सिद्धान्त सम्मत, परिपक्व और सम्यक् हो जायगा। जीवन और जगत् की अटपटी गुत्थियों, मानसिक उलझनों, चिन्ताओं, भयों, पूर्वाग्रहों झूठे आग्रहों आदि से उसका मानस मुक्त हो कर शान्ति, समता, सहिष्णुता, निष्पक्षता, धीरता, एकाग्रता आदि से युक्त हो जायगा। निःसन्देह आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा से अनुप्राणित हो तो मानवजीवन का कायापलट हो सकता है, अपने खोये हुए

ज्ञान के खजाने को पा कर आत्मा में अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा अपने अभिन्न साथी ज्ञान को पा कर उसमें तन्मय हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान में ओत-प्रोत व्यक्ति खाना-पीना, सोना, तथा अन्य शारीरिक चिन्ताएँ सर्वथा भूल जाता है। आध्यात्मग्रन्थों के एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय से व्यक्ति को ज्ञान-समाधि लग जाती है; उसको प्रत्येक वस्तु सूर्य के प्रकाश की तरह हस्तामलकवत् मालूम हो जाती है। मैं कौन हूँ, परमात्मा कौन हैं? संसार के अन्य प्राणी कौन हैं? उनके साथ तथा शरीरादि जड़पदार्थों या परपदार्थों के साथ मेरा क्या और कितना सम्बन्ध है? कैसे आत्मा कर्मों के बन्धन से जकड़ जाता है? कैसे छूट सकता है? कर्मबन्धन के कितने प्रकार हैं? मुक्ति के क्या-क्या उपाय हैं? आत्मा की स्वरूपरमण में निष्ठा कैसे सुदृढ़ हो सकती है? आत्मा परभावों में आसक्त क्यों हो जाता है? आदि तमाम बातें उसके ज्ञाननेत्रों के सामने स्पष्ट हो जाती हैं।

किन्तु तोतारटन की तरह आध्यात्मिक ग्रन्थों की शब्दावली या पारिभाषिक शब्दों को केवल घोट लेने का नाम ही स्वाध्याय नहीं है। और न ही अर्थ समझे-बूझे बिना किसी ग्रन्थ को पढ़-सुन लेने को ही स्वाध्याय कहा जा सकता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी का स्वर गूंज उठता है—'**ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे परिशीलन नय हेत**', अर्थात् अध्यात्मग्रन्थों का केवल पढ़ना-सुनना ही नहीं, अपितु नयों और हेतुओं के साथ मननपूर्वक परिशीलन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है, और इस प्रकार के स्वाध्याय से साधक की आध्यात्मिक प्रगति की परख हो जाती है। केवल द्रव्य, गुण, पर्याय का रटन करने वाला या अध्यात्मग्रन्थों को सूने मन से या विद्वत्ता प्रदर्शित करने की दृष्टि से पढ़ने या सुनने-सुनाने वाला; अथवा आत्मा-परमात्मा की लम्बी-चौड़ी, व्यवहार से बिल्कुल असम्बद्ध चर्चा करने वाला, या आध्यात्मिकता से पहले नैतिकता या धार्मिकता की बूंद भी जीवन में न हो और कोरी आध्यात्मिक तर्क-वितर्क करने वाला व्यक्ति वास्तविक स्वाध्याय से कोसों दूर है। उसे आध्यात्मिक या आध्यात्मिक विकास की पगडंडी पर चलने वाला नहीं कहा जा सकता। कई दफा तो इस प्रकार के तथाकथित अध्यात्मवादी अध्यात्मशून्य जीवन बिताते हुए लम्बी चौड़ी आध्यात्मिकता, तत्त्वज्ञान और

ाध्याय की डींगें मार कर आत्मवंचना और समाजवंचना करते देखे
ाते हैं।

इसलिये आत्मा से सम्बन्धित उपर्युक्त बातें जिन ग्रन्थों में निश्चय और
ावहार दोनों दृष्टियों से अंकित हों, जो अध्यात्म को जीवन में रमाने और
चाने वाले अनुभवी मनीषियों, चारित्रशील महान् आत्माओं द्वारा लिखे गए
ों, जिन ग्रन्थों में उल्लिखित बातें सर्वज्ञ आप्तवचनों से सम्मत हों, सिद्धान्त,
ुक्ति, तर्क, प्रमाणों, और नयों से सिद्ध हों, जो अपने पूर्वाग्रह, परम्पराग्रह,
ाम्प्रदायिक पक्षपात आदि से दूर हों, जो जीवन के उच्च आदर्शों और ध्येय
ो स्पष्टतः प्रतिपादन करते हों, ऐसे ग्रन्थ आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। ऐसे ग्रन्थों
ा एकाग्रतापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और युक्ति, प्रमाण, नय, हेतु,
ारण आदि के विचारपूर्वक परिशीलन करने, और अपनी आत्मा के साथ
न बातों का ताल-मेल बिठाने का अभ्यास करना सच्चे माने में 'स्वाध्याय'
। ऐसे साधक को अनायास ही इस प्रकार के स्वाध्याय का वातावरण एवं
ावलनिमित्त मिल जाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थों की जिज्ञासा और मीमांसा-पूर्वक
ाप्त हुआ स्वाध्याय साधक की आध्यात्मिक प्रगति का परिचायक है।

दूसरे शब्दों में कहें तो परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने
ा फल बता कर श्रीआनन्दघनजी ने वैसी भूमिका प्राप्त करने में निमित्त-
ारणरूप ये सब वस्तुएँ बता दी हैं। क्योंकि अभय, अद्वेष और अखेद-अवस्था
े परिपक्व बनाने के लिए पापघातक साधुपुरुष का सत्संग, चित्त में
अकुशलता का ह्रास, एवं अध्यात्मग्रन्थों का श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक
अभ्यास बहुत आवश्यक है। इसलिए ये तीनों बातें, पूर्वोक्त तीनों गुणों की
प्राप्ति में प्रेरक निमित्तकारण बन जाती हैं। इस कार्यकारणभाव सम्बन्ध को
न मान कर, जो व्यक्ति परमात्म-सेवारूप कार्य के लिए आध्यात्मिक विकास
और उसके कारणों को उड़ाने का प्रयास करते हैं, उन्हें फटकारते हुए
श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

कारणजोगे हो कारज नीपजे रे, एहमां कोई न वाद।
कारण विण पण कारज साधीए रे, ए निजमत उन्माद॥
सम्भव०॥५॥

अर्थ

कारणों के योग से ही कार्य निष्पन्न होता है, ऐसा न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त है, इसमें विवाद को कोई अवकाश नहीं है। परन्तु जो लोग यह कहते हैं कि हम अनुकूल कारणों के बिना ही कार्य सिद्ध कर (वना) लेंगे ; यह उनका मनमाना वकवास है, अपने मत का मतवालापन है।

भाष्य

कारण और कार्य का अविनाभावी सम्बन्ध

यह केवल न्यायशास्त्र की ही वात नहीं, विश्व के प्रत्येक मानव की अनुभवसिद्ध वात है कि कारण होने पर ही कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए यह निर्विवाद है। परन्तु कौन-से कारणों का किन-किन कार्यों के होने में हाथ है, यह निश्चितरूप से नहीं वताया जा सकता। इसलिए कई ईश्वरवादी, देववादी या अव्यक्तशक्तिपूजक लोग अथवा प्रकृतिवादी आलसी मनुष्य ऐसा कह देते हैं कि हमें किसी भी कार्य के लिए कारणों को जुटाने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर चाहेगा, अमुक देव की कृपा होगी या फलां देवी या अदृश्यशक्ति हम पर प्रसन्न होगी, या प्रकृति हमारे अनुकूल होगी तो कार्य अपने आप ही हो जायगा। हमें कुछ करने-धरने की जरूरत नहीं। परन्तु उनकी यह वातें वेसिरपैर की हैं। वे स्वयं रोटी वनाने का और रोटी मुँह में डालने का क्यों प्रयास करते हैं ? वहाँ उन्हें अपने आराध्यदेव या मान्यशक्ति के सहारे को छोड़ कर समय आने पर, उक्त वस्तु का स्वभाव तद्रूप परिणत होने का हो, अपना कर्म भी अनुकूल हो, वैसा कार्य करना नियत भी हो, तो भी स्वयं पुरुषार्थ करना होता है।

प्रत्येक कार्य में कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव में कोई भी कार्य नहीं हो सकता। मूल में कारण के दो रूप होते हैं—उपादानरूप और निमित्तरूप। जो कारण अन्ततः स्वयं स्वयं कार्य-रूप में परिणत होता है, उसे उपादानकारण कहा जाता है। जो कारण कार्य की सम्पन्नता में अनुकूल (सहयोगी) रहता है और कार्य हो जाने के वाद अलग हो जाता है, वह निमित्तकारण कहलाता है। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए, घड़ा एक कार्य है। मिट्टी उसमें उपादान कारण है ; क्योंकि मिट्टी स्वयं अन्त में घटरूप

में परिणत होती है ; किन्तु घड़े के वनने में कुम्हार, डंडा, चाक और डोरी वगैरह निमित्त कारण हैं। निमित्त तीन प्रकार का होता है—सहकारीनिमित्त प्रेरकनिमित्त। और तटस्थनिमित्त। घड़े के वनने में घड़ा वनाने वाला कुम्हार प्रेरकनिमित्त है। और चाक, डंडा, डोरी आदि जो अन्य साधन हैं, वे सहकारीनिमित्त हैं। तथा काल, स्वभाव, नियति (भवितव्यता), कर्म और पुरुषार्थ, तथा आकाश आदि सब तटस्थनिमित्त हैं। जैनदर्शन में विहित काल, स्वभाव आदि पंच-कारणसमवाय भी प्रत्येक कार्य के होने में अनिवार्य वताये हैं। कोई व्यक्ति उपर्युक्त पंच-कारण-समवाय में से पाँचों को कारण न मान कर एकान्तरूप से किसी एक या अनेक को कारण माने तो वह यथार्थ नहीं है।

कारण का लक्षण भी न्यायशास्त्रियों ने यही किया है कि जो कार्य होने के अव्यवहित पूर्वक्षण में अवश्य हाजर हो। जो कार्य में साधक हो, जिसके न होने पर कार्य हो ही न सके ; उसे कारण कहते हैं।'

कारण के इस लक्षण की दृष्टि से कार्य की सम्पन्नता के लिए दोनों ही कारण आवश्यक हैं, परन्तु मुख्यता उपादान की है। उपादान के होने पर निमित्त तो कोई न कोई अवश्य रहेगा ही। हाँ, निमित्तकारण एक के वदले दूसरा हो सकता है, परन्तु तद्रूप उपादान का होना तो अनिवार्य है। इसीलिए अध्यात्मशास्त्र में उपादान की मुख्यता मानी गई है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि ६ द्रव्यों में से जीव और पुद्गल गतिमान और क्रियावान द्रव्य हैं। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया में उपादानकारण स्वयं होता है। जीव और पुद्गल में जो क्रिया और गति होती है, उसका उपादान वह स्वयं ही है। उपादान तो एक ही होता है, जब कि निमित्त अनेक हो सकते हैं, उनके सम्बन्ध में निश्चितरूप से कुछ नहीं जा सकता। यदि उपादान का कार्यरूप में परिणत होने का निश्चित कालक्षण आ चुका है, तो निमित्त भी उसी क्षण आ मिलेंगे। किन्तु यदि उपादान ही शुद्ध नहीं है, तो निमित्त कितना ही शुद्ध क्यों न रहे, उससे किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होगा। परिवर्तन निमित्त में नहीं, उपादान में होना चाहिए। निमित्त वलवान नहीं, वलवान तो उपादान है।

आकाश में जब सूर्य उदित होता है तो उसका, प्रकाश धीरे-धीरे फैलता

प्रारम्भ होता है, तब कमल स्वतः ही खिलने लगते हैं। सूर्य ने न तो कमल-पुष्प को खिलाया और न उन मुर्झाए हुए फूलों के अंदर उसने कोई साक्षात् सीधा परिवर्तन ही किया। फूल का खिलना फूल की अपनी क्रिया है। यहाँ सूर्य प्रेरकनिमित्त नहीं, तटस्थनिमित्त है। किन्तु एक कुम्भकार जिस समय घड़ा बनाता है, तब वह इच्छापूर्वक ही बनाता है। अतः वह तटस्थनिमित्त नहीं, प्रेरक निमित्त है। मछली जब जल में तैरती है, तो तैरने का काम मछली स्वयं ही करती है। अतः तैरने की क्रिया का उपादान स्वयं मछली ही है, क्योंकि उसी में क्रिया हुई। किन्तु मत्स्य की तरणक्रिया में निश्चय में धर्मास्तिकाय और व्यवहार में जल निमित्त होता है।

उपादान और निमित्त की समस्या इतनी गहन है कि उसे समझना इतना आसान नहीं है। फिर भी यदि उपादान को पकड़ लिया जाय तो समस्या हल होते देर नहीं लगती। सम्यग्दृष्टि आत्मा की मूल दृष्टि उपादान पर केन्द्रित रहती है। यद्यपि वह निमित्त का तिरस्कार नहीं करता, तथापि वह निमित्त में उलझ कर नहीं बैठ जाता। निमित्त तो सदा उपस्थित रहता ही है, देर उपादान की ही होती है।

शक्ति बाहर में नहीं, अपने अन्तर में रहती है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को जागृत कर लेता है, वह जगत् में असाधारण समझे जाने वाले कार्य कर लेता है। अन्दर की शक्ति को जागृत करने का अर्थ है—उपादान को जागृत करना। जिस आत्मा ने उपादान को समझ लिया, उस आत्मा के लिए कोई भी साधना कठिन नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में परमात्मसेवारूप कार्य है। उसके लिए उपादानकारण आत्मा है। अभय, अद्वेष और अखेद ये आत्मा के सहभावी गुण होने से सहकारी उपादानकारण हैं। किन्तु प्रकारान्तर से इन्हें परमात्मसेवारूप कार्य के अन्तरंग निमित्तकारण कहा जा सकता है। और पूर्वगाथा में बताए हुए तीन कारणों में से अकुशलवृत्ति का ह्रास अन्तरंग-निमित्त व पाप घातक साधुओं से परिचय, तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों का श्रवण, मनन एवं नय-हेतु-पूर्वक परिशीलन ये दो परमात्मसेवारूप कार्य के प्रेरक निमित्तकारण हैं, जबकि काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ आदि इसके तटस्थ (उदासीन)

निमित्तकारण हैं। इसी प्रकार चरम आवर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोष-निवारण, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति आदि कार्य (फल) भी कारण की अपेक्षा रखते हैं।

दूसरी तरह से देखें तो अभय, अद्वेष और अखेद ये तीन परमात्म-सेवा रूप कार्य के लिए अनन्तरकारण हैं और पापनाशक साधु से परिचय, चित्तवृत्ति या चेतना में से अशुभ (पाप) कर्मों का ह्रास, तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक परिशीलन आदि परम्पराकारण हैं।

सौ बात की एक बात है—परमात्मसेवा के योग्य बने हुए आत्मारूप मुख्य उपादानकारण का तथा अभय, अद्वेष एवं अखेदरूप सहकारी उपादान कारणों का कार्य से ठीक पहले क्षण में होना अनिवार्य है। अगर उपादानरूप कारण जागृत होगा तो पूर्वोक्त निमित्त स्वतः उपस्थित हो जायेंगे।

शास्त्रों में वर्णन आता है कि राजा प्रदेशी एक घोर नास्तिक था। वह धर्म के प्रति अश्रद्धालु व धार्मिक पुरुषों के प्रति घृणा करता था! पर जब केशीकुमार श्रमण के सान्निध्य में आया तो उसकी दृष्टि में अचानक परिवर्तन कैसे हो गया? जो व्यक्ति अत्यन्त क्रूर और कठोर था, वह अत्यन्त कोमल कैसे बन गया? यह सब कुछ उपादान के परिवर्तन से हुआ। राजा प्रदेशी का उपादान प्रगुप्त पड़ा था, केशीकुमार श्रमण का निमित्त मिलते ही वह जागृत हो गया। इतना जागृत कि उसकी रानी ने धर्मसाधना में संलग्न राजा को विष दे दिया, तब भी वह शान्त बना रहा। ऐसा परिवर्तन उसकी निजशक्ति-उपादान का था। अर्जुनमालाकार प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने वाला महापापी बना हुआ था, कोई भी, यहाँ तक कि राजगृही का राजा भी उसे पकड़ने का साहस नहीं कर सका। उसी अर्जुनमाली को महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए राजगृही के निर्भीक श्रमणोपासक सुदर्शन का निमित्त मिला तो वह एकदम नम्र एवं दयालु बन गया। अतः सुदर्शन का निमित्त अवश्य है, लेकिन अर्जुन का उपादान शुद्ध न हुआ होता तो सुदर्शन (निमित्त) क्या कर सकता था? भगवान् महावीर का निमित्त गौतम को भी मिला और गोशालक को भी। लेकिन गोशालक छह वर्ष तक उनके

साथ रह कर भी श्रेष्ठत्व अर्जित करने में इसलिए निष्फल रहा कि उसका उपादान शुद्ध न था, जबकि गौतम महान् बनने में सफल हो गया था।

इसलिए अपनी योग्यता, निजशक्ति (उपादान) को परमात्मसेवा (शुद्ध-आत्म-रमणता) रूप कार्य के लिए जागृत करना आवश्यक है। उपादान जागृत होते ही निमित्त अपने आप उपस्थित हो जायेंगे। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि परमात्मसेवा-रूप कार्य के लिए उपादानकारण के साथ-साथ पूर्वोक्त निमित्तकारणों का होना अवश्यम्भावी है।

कार्य-कारण-सम्बन्ध को न मानने वालों का मत

प्रस्तुत परमात्मसेवा के सम्बन्ध में एकान्त भक्तिवादी, या एकान्त निश्चयदृष्टिवादी अथवा अव्यक्तशक्तिवादी या एकान्त नियति आदि पंच-कारणवादी अथवा एकान्त परमात्माश्रयवादी या इसी प्रकार की मान्यता वाले लोगों का कहना है कि परमात्मसेवारूप कार्य को हम पूर्वोक्त कारणों के विना ही सिद्ध कर लेंगे। हमें उक्त कारणों के झंझट में पड़ने या अपनी आत्मा को किसी कष्ट में डालने की जरूरत नहीं, अपने आप परमात्मसेवा का सब काम हो जायगा।

एकान्त-भक्तिमार्गियों का कहना है—न कोई भय, द्वेप या खेद छोड़ने की जरूरत है और न किसी प्रकार का त्याग, तप या स्वभावरमणरूप पुरुपार्थ (ज्ञान दर्शन-चारित्र में पुरुपार्थ) करने की ही आवश्यकता है। ये सब स्व-कर्तृत्ववाद के झंझट हैं। इन वातों के चक्करमें न पड़ कर मन में दृढ़ विश्वास कर लो कि परमात्मा जब चाहेंगे, तब अपने आप उनकी सेवा का कार्य हो जायगा।

एकान्त निश्चयाभासियों का कहना है,–किसी प्रकार का त्याग, तप या चारित्र में पुरुपार्थ आदि सब व्यवहार की बातें हैं, असद्भूत हैं, ये सब शरीर से सम्बन्धित बातें हैं, इनसे परमात्मा की सेवा में कोई सहायता नहीं मिल सकती। जब आत्मा से परमात्मसेवा होनी होगी, तब अपने आप हो जायगी आत्मा भी अपने आप तदनुरूप शुद्ध हो जायगी। उपादानरूप आत्मा शुद्ध होगी तो निमित्तकारणों की कोई जरूरत ही नहीं रहेगी। परन्तु व्यवहार का और निमित्तकारणों का यह अपलाप वस्तुतः निश्चयनयाभास ही सूचित करता है।

अव्यक्तशक्तिवादियों का मत भी लगभग भक्तिवादियों जैसा ही है। वे केवल देवी या अव्यक्तशक्ति अथवा प्रकृति को रिझाने, प्रसन्न करने और उससे वरदान माँगने का प्रयास करते हैं। अपनी आत्मा द्वारा कोई भयादि के त्याग, अहिंसादि के पालन या आत्मरमणरूप पुरुषार्थ की कतई जरूरत महसूस नहीं करते।

एकान्त नियतिवादी भी कालादि अन्य चार कारणों का अपलाप करते हुए या आत्मारूपी उपादानकारण के प्रति उपेक्षा करते हुए कहते हैं-'जो कुछ होना होगा, वह हो ही जायगा। परमात्मसेवा विधाता ने (या भाग्य में) लिखी होगी तो हो जायगी। हमारे त्याग, तप व्रत, नियम, संयम या स्वभाव-रमण में पुरुषार्थ आदि करने से क्या होगा? इन सब चक्करों में पड़ने की क्या जरूरत है? यही हाल एकान्तकालवादी, एकान्तस्वभाववादी, एकान्त नियतिवादी, एकान्तकर्मवादी, या एकान्तपुरुषार्थवादी (क्रियाकाण्डरत) लोगों का है। वे भी परमात्मासेवारूप कार्य के लिए अपने एक-एक कारण को ले कर उपादानकारणरूप आत्मा को शुद्ध बनाने या अन्य विभिन्न प्रकार के निमित्तकारणों की आवश्यकता नहीं समझते। एकान्तपरमात्माश्रयवादी तो लगभग आलस्यपोषक-से होते हैं। आलसियों का जीवनसूत्र तो यही है—

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम।"

स्पष्ट है कि वे भी परमात्मा को ही सब कार्यों का दारोमदार मानते हैं। परन्तु आखिर जब वे अपने ही इस मत के विरुद्ध चलते हैं तो उन्हें घूम फिर कर कार्यकारणवाद की मान्यता पर आना ही पड़ता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी का मुख्य स्वर यही गूँज रहा है कि जो लोग परमात्मसेवारूप कार्य को पूर्वोक्त उपादान या निमित्त कारणों के बिना ही कर लेने की झूठी जिद ठानते हैं, या इस मिथ्याग्रह के शिकार हैं, वे अपनी मान्यता की झूठी दुहाई देते हैं या उनका कथन महज बकवास है। अथवा 'वदतो व्याघात' न्याय के अनुसार अपने ही मुंह से अपनी बात का खण्डन है, या फिर साम्प्रदायिक मत के दुराग्रह का मतवालापन है।

कुछ लोग पूर्वोक्त मान्यता के दुरभिनिवेशवश यह कह बैठते हैं कि

परमात्मा की सेवा तो बहुत आसान है, तुम लोगों ने इसे बहुत कठोर और अगम्य बना दी है; इसमें त्याग के रूप में कुछ भी करना-धरना नहीं है; उन्हें श्रीआनन्दघनजी असलियत बताते हुए कहते हैं—

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप।
देजो कदाचित् सेवक-याचना रे, आनन्दघन-रस-रूप ।।
संभव०॥६॥

अर्थ

मुग्ध (अज्ञानी, भोले, बालजीव या अतत्त्वदर्शी, नासमझ) लोग परमात्म-सेवा को आसान मान कर उसे अपना लेते हैं। मगर परमात्मसेवा अगम्य (प्रत्येक व्यक्ति द्वारा आसानी से जानी न जा सकने योग्य) और अनुपम (बेजोड़) है। आनन्द के घनरसरूप प्रभो! मेरी आपसे प्रार्थना है कि भविष्य में कभी मुझे ऐसी अद्वितीय परमात्मसेवा देना।

भाष्य

मुग्ध लोगों की दृष्टि में परमात्मसेवा आसान

मुग्ध से यहाँ अभिप्राय है—उन अतत्त्वदर्शी लोगों से, जो कार्यकारणभाव का गहराई से कोई विचार नहीं करते, जो लकीर के फकीर बन कर अपनी बुद्धि से परमात्मसेवा के बारे में नहीं, सोचते; अथवा आडम्बरपरायण लोगों की चकाचौंध में पड़ कर भयादि के त्याग, तप या स्वभावरमणरूप ज्ञानदर्शनचारित्र में पुरुषार्थ करने की मुख्य बात को उड़ा कर, उपेक्षा करके केवल नाचने-गाने और कीर्तनजपादि करने की आसान बात पर मुग्ध हैं, या जो नासमझ और भोलेभाले लोग हैं, जिनमें लंबी समझ नहीं है, तथाकथित गुरु ने जो भी मार्ग पकड़ा दिया, उसे परमात्मा की सेवा-भक्ति मान कर चलने वाले बालजीव हैं।

ऐसे विवेकमूढ़ लोग परमात्मसेवा को बहुत ही आसान समझ कर अपना लेते हैं। वे यह नहीं सोचते कि परमात्मभक्ति केवल नाच-गा कर या उनका नाम जोर-जोर से रट कर उन्हें रिझाने का प्रदर्शन करने से या चढ़ावा चढ़ाने या प्रसाद बांटने या उनके प्रतीक के आगे कोरे हाथ जोड़ देने या उनका गुण-गान करने मात्र से अथवा उनकी नकल कर लेने से सिद्ध नहीं होती परमात्म-सेवा के लिए जो वास्तविक कारण हैं, उन्हें अपनाने पर ही वह सिद्ध

हो सकती है। केवल शब्दादि-विषयों में आसक्त, सांसारिक स्वार्थ में मग्न, स्वर्गादि ऋद्धिसिद्धि के लोभ में डूबे हुए अथवा अपनी नामवरी या प्रसिद्धि के लिए परमात्मा का प्रतीक बना कर उनके मुकुट या अन्य सांसारिक पदार्थ चढ़ा देने मात्र से परमात्मसेवा नहीं हो सकती। परन्तु मुग्ध लोग इस परमात्म-सेवा को, जो १ साधारण व्यक्ति की पहुँच से बाहर है, जो संसार में अनुपम वस्तु है, उसे बिलकुल आसान, सुगम और झटपट सिद्ध होने वाली चीज मानते हैं और उसी दृष्टि से परमात्मसेवा के वास्तविक कारणों को तिलांजलि दे कर सेवा के नाम पर सस्ता सौदा अपनाते हैं, जिससे **'हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय'** चाहते हैं। परन्तु परमात्मसेवा को वे जितनी सरल मानते हैं। उतनी सरल नहीं है, इसमें तो बाह्य (पर) भावों को छोड़ कर आन्तरिक भावों की गहराई में जाना पड़ता है। सन्त कबीरजी भी यही बात कहते हैं। २

परमात्मसेवा की प्रार्थना : साधक की भक्तिमय नम्रभाषा

इस स्तुति के अन्त में योगी श्रीआनन्दघनजी ऐसी कठोर परमात्मसेवा की सम्भवदेव प्रभु से याचना करते हैं। प्रश्न होता है— साधक को तो स्वयं पुरुषार्थ द्वारा परमात्मसेवा सिद्ध करनी चाहिए, उसे परमात्मा से मांगने की क्या जरूरत है? वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से तो परमात्मसेवा या किसी भी आध्यात्मिक अनुष्ठान के लिए परमात्मा या किसी भी अव्यक्त शक्ति से साधक को मांगने की जरूरत नहीं होती। और न ही वीतरागपरमात्मा किसी को कोई चीज देते-लेते हैं। मगर व्यावहारिक दृष्टि से आनन्दघनजी अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के लिए भक्ति की भाषा में परमात्मा के सामने इस प्रकार की प्रार्थना कर बैठते हैं तो कोई अनुचित भी नहीं है। और फिर श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से किसी सांसारिक वस्तु या प्रसिद्धि, पदवी, ऋद्धि, सिद्धि आदि की कोई मांग नहीं करते; वे तो अध्यात्मयोगी के लिए

---

१. नीतिकार कहते हैं—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः'। सेवाधर्म अत्यन्त गहन है, वह योगियों के लिए भी अगम्य है, साधारणजनों की तो बात ही क्या?

२. **भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है, शीश सौंपे बिना भक्ति नाहीं।**
नाचना, कूदना, ताल का पीटना, रांडिया खेल का काम नाहीं॥

परमात्मसेवा अनिवार्य होने से उसी की प्रार्थना करते हैं। वह भी **'देजो कदाचित्'** कह कर उतावलेपन से नहीं, किन्तु धीरता के साथ, जब कभी अपने चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम इतना तीव्र हो जाय, तभी परमात्मा की शुद्ध सेवा चाहते हैं।

चूंकि वे परमात्मसेवा को अगम्य और अनुपम वस्तु कह चुके हैं। इस प्रार्थना से वे वर्तमान में अपनी आत्मा का उक्त प्रकार की अगम्य या अतीन्द्रिय, अनुपम सेवा के योग्य न होना भी नम्रतापूर्वक ध्वनित कर देते हैं।

एक बात यह भी है कि वे परमात्मसेवा के इस आग्नेयपथ पर आने से पहले जो महापुरुष इस कठोरपथ पर प्रयाण करके इसे पार कर चुके हैं, उनकी प्रेरणा, मार्गदर्शन या दिशानिदशन चाहते हैं। क्योंकि परमात्मसेवा जैसे आध्यात्मिक मार्ग में पारंगत पुरुष के निर्देशन में चलने पर ऐसे गहन कार्य में कहीं स्खलना, आत्मवंचना, पतन या भ्रान्ति की संभावना नहीं रहती। इसलिए ऐसे सेवानिष्णात वीतराग परमात्मा के चरणों में विनय करके, उनकी आज्ञा ले कर उनके सामने सेवक वन कर नम्र प्रार्थना करके सेवा के आग्नेय पथ पर चलने में सहीसलामती या आत्मसुरक्षा अधिक है, खतरे की संभावना कम है। कई लोग गुरु या परमगुरु (परमात्मा) का निश्राय (शरण) न स्वीकार करके अध्यात्म के नाम से उलटे रास्ते चढ़ जाते हैं, फिर उन्हें उसी पथ का पूर्वाग्रह हो जाता है, वे गलत मार्ग को भी सही सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। इसलिए ये और ऐसे संभावित खतरों से वचने का उपाय शरणागत वन कर 'अप्पाणं वोसिरामि' कह कर प्रार्थना करना है।

'आनन्दघन-रसरूप' के सम्वन्ध में

आनन्दघनरसरूप-शव्द परमात्मा का सम्वोधन भी सम्भव है। जिसका अर्थ होता है—आनन्द से ओतप्रोत सेवारस आपमें लवालव भरा है, आप आनन्द-घनरसमय हैं। 'आनन्दघनरसरूप' सेवा का विशेषण भी वहुत कुछ सम्भव है ; क्योंकि परमात्मा की सेवा इतनी ठोस आनन्दरसदायिनी होती है कि उसका अनुभव वही कर सकता है। जिस भाग्यशाली को परमात्मसेवा यथार्थ रूप में उपलव्ध हो जाती है, उसको वह सेवा आनन्द से ओतप्रोत लगती है, वाणी से अगम्य होने के कारण वह वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकता।

अथवा 'मेरी याचना आनन्दघनरसरूप है ; यह अर्थ भी हो सकता है। ी मेरी परमात्मसेवा की याचना आनन्दमंगलदायिनी है। मुझे संसार की ई भी वस्तु परमात्मसेवा के समान आनन्ददायिनी नहीं लगती। यही ुपम आनन्ददायिनी है। इसी की याचना मैं करता हूँ। मुझे इसी याचना मे नन्द है।

सारांश

इसमें श्री संभवनाथ परमात्मा की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने रमात्मसेवा का रहस्य खोल दिया है। प्रारम्भ में अध्यात्मयोगी के लिए रमात्मसेवा सर्वप्रथम आवश्यक बता कर उसके लिए प्राथमिक भूमिका के प में अभय, अद्वेष और अखेद की साधना करना जरूरी बताया है। चूंकि ीतरागपरमात्मा स्वयं[1] अभय, वीतद्वेष, (वीतराग) और खेदरहितहैं,[2] इसलिए नकी सेवा के लिए उक्त तीनों गुण प्राथमिक भूमिका के रूप में शुद्धात्म ावरमणकर्ता साधक में होने आवश्यक हैं। इसके पश्चात् परमात्मासेवा- ल के रूप में चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणति परिपाक, मिथ्यात्वदोप नवारण, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति, प्रवचनवाणी की प्राप्ति आदि बताए हैं दनन्तर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त करने के तीन मुख्य उपाय कर परमात्मसेवारूप कार्य के लिए कारणों की अनिवार्यता बता कर कार्य- कारणभावसम्बन्ध को न मानने वाले तथा परमात्मसेवा को सुगम समझ कर अपनाने वाले मुग्ध लोगों को चुनौती दी है। और अन्त में, अगम्य, अनिर्वच- ीय, अनुपम परमात्मसेवा प्राप्त होने की प्रार्थना भक्ति की भाषा में करते हुए प्रस्तुत विषय का उपसंहार किया है। सचमुच, इस स्तुति में परमात्मसेवा का रहस्य अध्यात्मयोगी श्री ने खोल कर रख दिया है!

---

१. भयवेराओ उवरए।
२. 'खेयन्नए से कुसले महेसी'—(सूत्रकृतांग वीरस्तुति)

---

४ : श्रीअभिनन्दन-जिनस्तुति—

परमात्म-दर्शन की पिपासा

(तर्ज—आज निहेजो रे दीसे नाईलो रे, राग–धनाश्री, सिंधुड़ो)

अध्यात्म के क्रमिक विकास पथ पर आया हुआ साधक परमात्मसेवा के बाद परमात्मा के दर्शन का प्यासा बन कर, अनेक विघ्नबाधाओं और संकटों के बीच भी दर्शनोत्सुक होता है और पुकार उठता है—

अभिनन्दन जिन दरिसण तरसीए, दरिसण दुर्लभ देव।
मत-मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव ।।
अभि० ।।१।।

अर्थ

मैं अभिनन्दन नामक चतुर्थ जिनेन्द्र (वीतराग परमात्मा) के दर्शन के लिए तरस रहा हूँ ; परन्तु हे परमात्मदेव ! आपका दर्शन बहुत ही दुर्लभ हो रहा है। प्रत्येक मत, पंथ, सम्प्रदाय और दर्शन के अग्रगण्यों के पास जा कर पूछते हैं कि परमात्मदर्शन कैसे होगा ? तब उत्तर में सभी मत-पंथ-सम्प्रदाय वाले अलग-अलग मत (अभिप्राय) से अपनी-अपनी मान्यता की स्थापना करते हुए कहते हैं—"हमारा मार्ग ही प्रभुदर्शन का सच्चा मार्ग है , हम ही परमात्मा का दर्शन करा देंगे।" अथवा प्रत्येक मत-पंथ वाले कहते हैं–"यहीं आ जाओ। मैं ही परमात्मा हूँ।"

भाष्य

परमात्मदर्शन क्यों, क्या और कैसे ?

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रथम सोपान पर चढ़ा हुआ साधक ठेठ मंजिल तक पहुँचना चाहता है, उसे केवल इतने से ही सन्तोष नहीं होता। वह सम्यग्दर्शन के अन्तिम छोर तक पहुँच कर परमात्मा के भलीभाँति दर्शन करना चाहता है। और सम्यग्दर्शन के पथ पर

प्रयाण प्रारम्भ होते ही उसका यह प्रश्न उठाना उचित भी है कि "परमात्मा के के दर्शन क्योंकर होंगे ? मैं उनके दर्शन पाने के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ। जब मैं वीतराग परमात्मा के दर्शन के सम्बन्ध में विचार करने लगता हूँ तो मुझे उनके दर्शन बहुत ही दुर्लभ, दुष्प्राप्य और कठिन प्रतीत होते हैं। यदि अब भी—इतनी उच्चभूमिका पर आने के बाद भी परमात्मा का दर्शन नहीं प्राप्त कर सका तो मेरा जीवन व्यर्थ चला जायगा। परमात्मा का दर्शन प्राप्त किये बिना मेरे लिए जगत् में सब कुछ मिथ्या है, सारा विश्व अन्धकारमय एवं दुःखमय है।" इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—**'दरसण तरसीए'** आपके देवदुर्लभ दर्शन के लिए तरस रहा हूँ। आपके सम्यक् दर्शन के बिना मैंने संसार की अनेक परिक्रमाएँ कर लीं, अनेक जगह भटका, देवलोक में भी गया, नरक, तिर्यंच और मनुष्यलोक में पहुँचा ; मगर किसी भी जगह सुख नहीं मिला। आपके सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा सुख प्राप्त होता भी कैसे ? क्योंकि वहाँ मैं क्षणभंगुर वैषयिक सुखों के चक्कर में फंस रहा ; आपका सद्दर्शन पा कर शुद्धात्मतन्मयतारूपी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं किया। अतः मैं पूर्ण तत्परता के साथ सन्नद्ध हूँ।

चूंकि गाथा में जिन-दर्शन पद है, इसलिए उसका सही अर्थ—वीतराग परमात्मा को आँखों से देखना नहीं होता, अपितु परमात्मा को अन्तरात्मा से देखना होता है। अथवा दर्शनशब्द दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होने वाली तत्त्वरुचि या तत्त्वार्थश्रद्धा के अर्थ में है। अथवा वीतराग-परमात्मा का जो दर्शन है, उसे प्राप्त करना है—यानी साधक को प्राप्त हुए क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यग्दर्शन से ही सन्तुष्ट हो कर बैठ जाना नहीं है, अपितु अनन्त क्षायिकसम्यग्दर्शन तक मुझे प्राप्त करना है, जो आज दुर्लभ हो रहा है ; अथवा परमात्मदर्शन का मतलब शुद्ध आत्मा का दर्शन है।

परमात्मदर्शन दुर्लभ क्यों ?

आज कर्मों व कषाय, राग-द्वेष, मोह आदि विकारों के कारण शुद्ध (परम) आत्मा पर नाना आवरण आए हुए हैं, इसलिए उसकी झांकी नहीं हो रही है, उसके दर्शन में अनेक विघ्नबाधाएँ अड़ी खड़ी हैं, इसलिए परमात्मदर्शन दुर्लभ हो रहा है।

कोई यह कह सकता है कि जगत् में इतने धर्मों, सम्प्रदायों, मतों, पंथों या दर्शनों के होते हुए भी परमात्मा के दर्शन क्यों दुर्लभ हो रहे हैं ? सभी धर्म, मत, पंथ आदि परमात्मा के दर्शन कराने, प्रभु-साक्षात्कार कराने का दावा करते हैं, फिर क्या कारण है कि परमात्मा के दर्शन इतने दुष्प्राप्य हो रहे हैं ? जहाँ इतने धर्म और धर्मों के संस्थापक हों, जहाँ विविध धर्मावतार, परमात्मा के पुत्र, पैगम्बर, मसीहा, या अवतार मौजूद हों, वहाँ भला परमात्मा का दर्शन इतना कठिन क्यों होना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वयं आनन्दघनजी इस गाथा के उत्तरार्ध द्वारा कहते हैं—'**मत मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव**' इसका तात्पर्य यह है कि चाहे जिस पंथ, मत, सम्प्रदाय या दर्शन के केन्द्र या धर्मस्थान में जा कर पूछा जाय, सर्वत्र प्रायः मिथ्या आग्रह, अपनी मान्यता की पकड़, अपने मत पर सच्चाई की छाप लगाने का अभिनिवेश दिखाई देगा। इसलिए एकान्तदृष्टिपरायण, मताग्रही प्रायः यही कहेंगे—'हम कहते हैं, वही प्रभुदर्शन का सत्यमार्ग है, हमारे मत, पंथ या सम्प्रदाय आदि के सिवाय किसी पंथ, मत आदि को सत्य के दर्शन नहीं हुए, न हमारे सिवाय किसी ने आज तक प्रभुदर्शन का रहस्य (या सत्य) प्रगट किया है।' अथवा वे कहेंगे—"हमारे धर्म-सम्प्रदाय या मत-पंथ में बताये गए ईश्वर या भगवान् ही परब्रह्म परमात्मा हैं, उनके दर्शन हमारे मत, पंथ या सम्प्रदाय में शामिल होने पर ही होंगे। हमें गुरु स्वीकार कर लो, बस, तुम्हें परमात्मा के दर्शन बहुत जल्दी करा देंगे।" इस प्रकार एक या दूसरी तरह से सभी अपनी-अपनी मान्यताओं को सत्य बता कर जिज्ञासु व्यक्ति के कान, नेत्र, और मुंह बंद कर देते हैं, वे न दूसरे की बात सुनने देते हैं, न दूसरों की सत्य बात देखने-समझने देते हैं, न किसी विषय में तर्क करने देते हैं। इस प्रकार जिज्ञासु एवं भद्र परमात्मदर्शनपिपासु व्यक्ति इन सम्प्रदायों या मतपंथों के भंवरजाल में फंस जाते हैं। एकान्त आग्रही लोग कोई शंका या तर्क भी प्रायः नहीं करने देते, बल्कि शंका या तर्क करने वाले को या तो वे अधर्मी, नास्तिक बताते हैं, या फिर वे अधर्मी, मिथ्यादृष्टि या नास्तिक हो जाने का डर दिखा कर चुप कर देते हैं। अनेकान्तवाद के उपासक भी प्रायः मताग्रह या मतान्धता के शिकार बन जाते हैं, और अपने ही मत को सत्य सिद्ध करने में एड़ी से चोटी तक पसीना बहा देते हैं। विविध दर्शन भी

एकान्त आग्रही बन कर अपनी मानी हुई बात को सच्ची और दूसरे की बात को बिलकुल मिथ्या सिद्ध करने में तनिक भी नहीं संकुचाते। यहाँ तक कि अपनी बात को भगवान् के द्वारा बताई हुई सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अतः इन वादों, मतों, पंथों या सम्प्रदायों के झंझावातों में साधक सहसा निर्णय नहीं कर पाता कि कौन-सा पंथ, मत, या धर्मसम्प्रदाय मुझे परमात्मदर्शन करायेगा ? कौन-सा दर्शन सत्य है ? और कभी-कभी तो बाह्य आडम्बरों या वाक्पटु लोगों के मोहक शब्द जाल में साधक फंस जाता है, परमात्मदर्शन की धुन में एकान्त और मिथ्या दर्शन के चक्कर में पड़ जाता है, अथवा भोग-विलास, रागरंग या इन्द्रियविषयपोषक वातावरण की चकाचौंध में परमात्म-दर्शन भूल जाता है, किसी दूसरे बनावट, दिखावट व सजावट से ओतप्रोत अमुक व्यक्ति के दर्शन को ही परमात्मा का दर्शन समझ लेता है, अथवा अनेक मान्यताओं एवं मतों के अन्धड़ में व्यक्ति भ्रान्तिवश कहीं का कहीं भटक जाता है। इसी कारण परमात्मा के दर्शन या परमात्मा का दर्शन बहुत दुर्लभ है।

विश्व में प्रचलित विविध दर्शनों को देखते हैं तो वे भी अपनी,अपनी मान्यताओं के एकान्त आग्रह में फंसे हुए हैं। वे दूसरे दर्शनों के दृष्टिकोणों को समझ कर समन्वय करने या अपने मताग्रह को छोड़ने के लिए जरा भी तैयार नहीं है। यहाँ प्रसंगवश आत्मा के सम्बन्ध में कुछ दर्शनों के एकान्त-दृष्टिपरक मत देखिए—सांख्य, योग और वेदान्तदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। वे कहते हैं कि जैसे ऐरन पर हथौड़े की चाहे जितनी चोटें पड़ें, वह स्थिर रहता है, वैसे ही देश, काल आदि के कितने ही थपेड़े खाने पर भी आत्मा में जरा भी परिवर्तन नहीं होता, वह बिलकुल स्थिर रहती है। इस मान्यता में उपर्युक्त तीनों दर्शन बिलकुल भी परिवर्तन नहीं करने और न ही अपनी ज्ञानदृष्टि खोल कर सत्य के दूसरे पहलू को देखने-परखने का प्रयास करते हैं। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक सुख-दुःख, ज्ञान आदि को आत्मा के गुण मानते अवश्य हैं, लेकिन आत्मा को एकान्त नित्य और अपरिवर्तनशील (अपरिणामी) मानते हैं।

बौद्धदर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक, परिणामी और निरन्वय परिणामों का प्रवाहमात्र मानते हैं।

इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल के, चेतना और भौतिक वस्तु के अथवा एक आत्मा का दूसरी आत्माओं के साथ सम्बन्ध के विषय में तथा वस्तु और आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के वाद आत्मा की होने वाली स्थिति के सम्बन्ध में प्रत्येक दर्शनकार की मान्यता भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक दर्शन प्रायः अपनी ही वात को सत्य मान कर आग्रहपूर्वक पकड़े रखता है। परिणामस्वरूप वे परमात्मा (आत्मा) के यथार्थ दर्शन के अन्वेषण की उदात्त भावना के वदले आत्मा (परमात्मा) के सम्वन्ध में अपनी वात को सच्ची स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इसलिए इन दर्शनों के शव्दजालरूप महारण्य में फंस कर प्राणी यथार्थ (सम्यग्) दर्शन नहीं कर पाता। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने यथार्थदर्शन को दुर्लभ वताया है।

अथवा उपर्युक्त पंथों, वादों, मतों या दर्शनों का एकान्त आग्रह, सापेक्षतारहित दृष्टि, पूर्वापरविरोध न हो, तभी सापेक्षदृष्टियुक्त, एकान्त-आग्रहरहित, पूर्वापरसंगत, विशुद्ध, पक्षपातरहित और अनेकान्तवाद-विशुद्ध परमात्मदर्शन (तत्त्वज्ञान का शुद्ध श्रद्धान) हो सकता है। परन्तु पूर्वोक्त मतों, पंथों या दर्शनों में ये लक्षण न होने से साधक के लिए परमात्मदर्शन या तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन अथवा शुद्ध आत्मदर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा आत्मा के द्वारा वार-वार परभावों में पड़ जाने के कारण या छही द्रव्यों के यथार्थ वस्तुतत्त्व (स्वरूप) पर स्वत्वमोह-कालमोह व पूर्वाग्रह आदिवश न टिक सकने के कारण परमात्मा (सत्य) के दर्शन दूरातिदूर होते जाते हैं। इसलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर [१] के अन्तर से स्वर फूट पड़ा—"प्रभो ! मोह के अन्धकार से मेरे नेत्र आवृत हो गए। इसी कारण मैंने आज तक कभी एक वार भी आपका दर्शन नहीं किया। मैं सोच रहा था कि इस समय मर्मस्थान को वींधने वाले अनेक अनर्थ (अनिष्ट कष्ट) मुझे पीड़ित कर रहे हैं, अगर आपका दर्शन हो गया होता तो ये मुझे कष्ट देने को उद्यत क्यों

---

१. नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन, पूर्वं विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः, प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते ॥

—कल्याणमंदिर स्तोत्र

ाते ?" सचमुच परमात्मदर्शन के विना वार-वार संसार में जन्ममरण की नर्थ-परम्पराएँ खड़ी होती हैं, अगर एक वार भी सच्चे माने में सम्यक्त्वमोह ा आवरण हट कर मुझे आपका सम्यग्दर्शन हो जाय तो यह अनर्थपरम्परा ो मिट जाय या इसकी सीमा आ जाय। परन्तु मोहादि विकारों से आत्मा ारी होने के कारण शुद्धात्मदर्शन नहीं कर पाती, जो परमात्मा का सच्चा र्शन है, उसे नहीं प्राप्त कर पाती और न ही उन परमात्मा के वताये हुए द्दर्शन (सत्य) पर अविचल, गाढ़ और निर्दोषरूप से श्रद्धा ही टिक ाती है।

चूंकि सम्यग्दर्शनरहित प्राणी की सिद्धि (कर्ममुक्ति) नहीं हो सकती, न ांसार का अन्त आ सकता है, इसलिए दर्शन देवदुर्लभ है, और उसी की ार्दिक तमन्ना है।

इस गाथा में वताई हुई योगी श्रीआनन्दघनजी की वात की साक्षी के रूप में उत्तराध्ययनसूत्र में स्वयं श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के गौतमगणधर के समक्ष निकाले हुए उद्‌गार हैं—

न हु जिणे अज्ज दीसई, वहुमए दीसई मग्गदेसिए।

'हे गौतम ! तुम्हें आज जिन (वीतराग परमात्मा) का दर्शन नहीं हो रहा है। अनेकों मत (मान्यता) वाले मार्गदेशक दिखाई दे रहे हैं।' वहुत से मार्गदेशक लोग परमात्मदर्शन (शुद्ध आत्मदर्शन) इसलिए नहीं करा पाते, उसका कारण श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में स्पष्ट दिया है। इसीलिए वर्तमानकाल में परमात्मदर्शन अतीव दुर्लभ है, जिसको पाने के लिए वे उत्सुक हैं।

इसीलिए अगली गाथा में दर्शन की दुर्लभता का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं—

सामान्ये करी दर्शन दोहिलु, निर्णय सकल विशेष।
मद में घेर्यो रे अंधो केम करे, रवि-शशिरूप-विलेख ?॥
अभिनन्दन० ॥२॥

अर्थ

सामान्यरूप से ही जब आपका दर्शन दुर्लभ है तो समस्त नयों, प्रमाणों,

निक्षेपों आदि द्वारा सर्वप्रकार से निर्णयरूप आपका विशेष दर्शन तो और ह दुर्लभ है। क्योंकि जैसे कोई अन्धा हो और फिर शराब आदि के नशे से घिरा हो तो पहले तो वह सूर्य और चन्द्रमा के रूप को ही देख नहीं सकता, तो फि इन दोनों के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण कैसे कर सकता है? वैसे ही विवेकनेत्र से रहित और उनमें भी मत, सम्प्रदाय, पंथ और दर्शन आदि के आग्रहरूप मद से मत्त बने हुए मतपंथवादी सामान्यतया आपका दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते तो विभिन्न नयप्रमाणादि द्वारा आपके (शुद्धात्मा के) विश्लेषण-पूर्वक विशेष दर्शन तो प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं?

भाष्य

सामान्य और विशेषरूप से दर्शन की दुर्लभता

पूर्वोक्त गाथा में परमात्मदर्शन की दुर्लभता का एक कारण बताया था— मतपंथवादियों का मताग्रह। इस गाथा में उसी का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है कि उसका नतीजा क्या आता है?, परमात्मदर्शन की दुर्लभता को इसमें सामान्य और विशेष दो दृष्टियों से श्रीआनन्दघनजी ने तोला है यहाँ परमात्मा के दर्शन के दो प्रकार बताए हैं—सामान्य और विशेष। सामान्यरूप से परमात्मा (अभिनन्दन) के दर्शन हैं, वे ही आत्मा के (मेरे) दर्शन हैं। जो मेरी आत्मा के दर्शन हैं, वे ही परमात्मा के हैं। 'मेरी और इनकी आत्मा (द्रव्य) के स्थूल पर्याय में भले ही भिन्नता हो, सामान्यरूप से स्वरूपदर्शन में कोई भिन्नता नहीं है।

आत्मा और परमात्मा दोनों के आत्मगुणों— ज्ञाताद्रष्टा या चैतन्यस्वरूप में कोई अन्तर नहीं। यह सामान्य दर्शन है।

इसी दृष्टि से कहा है कि सामान्यरूप से समस्त संसारी आत्माओं को परमात्मदर्शन या शुद्धात्मदर्शन दुर्लभ है। बहुत-से प्राणी तो आत्मदर्शन का विचार भी नहीं करते; वे संसार के व्यवसाय या अपने सांसारिक क्रियाकलापों या शरीर, परिवार व सन्तान आदि के भरण-पोषण आदि सांसारिक प्रवृत्तियों में इतने रचेपचे रहते हैं, अथवा विविध व्यसन, निद्रा, गपशप या आलस्य में इतने ग्रस्त रहते हैं कि उन्हें दर्शन के सम्बन्ध में सोचने-विचारने तक की फुरसत ही नहीं मिलती, दर्शन प्राप्त करना तो दूर की बात है।

अथवा कई लोग ऐसे होते हैं, जो मतमतान्तर के झगड़े में पड़ कर अपने पांथिक या साम्प्रदायिक कदाग्रहों, पूर्वाग्रहों, या मिथ्या मान्यताओं, या मिथ्याज्ञान के चक्कर में ऐसे फंस जाते हैं कि उससे छूटना कठिन हो जाता है। ऐसे दुराग्रही और आँख खोल कर न देखने वालों के लिए दर्शनप्राप्ति सामान्यरूप से कठिन है।

इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध में ६ स्थान (बातें) बताए गए हैं, जिन्हें मानना या जिन पर सोचना दर्शनप्राप्ति के लिए अनिवार्य है—(१) आत्मा अवश्य है, (२) आत्मा शाश्वत है, अविनाशी है, (३) जीव पुण्य और पाप का कर्ता है। (४) जीव कृतकर्मों का भोक्ता है, (५) योग्य पुरुषार्थ होने पर जीव की मुक्ति होती है, (६) जीव की मुक्ति के लिए उपाय भी हैं। इन ६ स्थानकों का विचार, स्वीकार और स्पष्ट जानकारी न हो तो दर्शनप्राप्ति नहीं होती, दर्शनप्राप्ति के अभाव में वह जीव संसार में भटकता रहता है; मगर वह उसका कारण नहीं जान पाता और चक्कर खाता रहता है। इसलिए विभावों या पौद्गलिक भावों में रमण करते रहने वाले जीवों को सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है।

व्यवहारनय की दृष्टि से दर्शनप्राप्ति के ३ लिंग (चिह्न) बताए हैं—(१) शुश्रूषा—जिसे दर्शन सम्बन्धी तथ्यों और तत्त्वों को सुनने-समझने की अहर्निश तमन्ना हो तथा जो दूसरे सब काम छोड़ कर दर्शन की विचार-चर्चा सुनने के लिए दौड़ पड़ता हो, उसमें उसे खूब आनन्द आता हो, वह शुश्रूषालिंगी है। (२) सेवा—जिसे धर्मकरणी या धर्माचरण में बहुत आनन्द आता हो, ऐसा व्यक्ति सेवा-लिंगी है। तथा (३) वैयावृत्य—जिसे देव अथवा गुरु की सेवा, परिचर्या, वैयावृत्य करने में आनन्द आता हो, रोगी, वृद्ध, तपस्वी, आदि की सेवा में जिसकी दिलचस्पी हो, वह वैयावृत्यलिंगी है।

इन तीन लिंगों को प्राप्ति वाला दर्शन प्राप्त होना बहुत कठिन है। क्योंकि इन तीनों के लिए अपना स्वार्थ, स्पृहाएँ, व इच्छाएँ छोड़ कर मानसिक एकाग्रता, अनुशासनशीलता एवं इन्द्रियसंयम को अपनाना पड़ता है। ये साधारण प्राणी में होते नहीं; इसलिए सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ बताई है।

वस्तुतत्त्व का बोध तथा पर सच्ची समझपूर्वक श्रद्धा को जब हम परमात्मा का सम्यग्दर्शन कहते हैं, तो इसे प्राप्त करने के लिए भी सामन्यतया व्यवहार-नय की दृष्टि से ४ अंगों की प्राप्ति आवश्यक बताई है - (१) तत्त्वज्ञान का सुदृढ़ परिचय (२) तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञानी की सेवा (३) व्यापन्नकुदर्शनी का वर्जन (दर्शनभ्रष्ट जीव का संग न करना) और (४) कुलिंगीसंगवर्जन (धर्म-विरोधी, धर्मान्ध अथवा अधर्मी व्यक्ति के संग का त्याग) सम्यक्त्व के लिए ये चारों शर्तें बहुत ही कठिन होने से सामान्यतया दर्शन को कठिन बताया गया है। अत; निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से सामन्य रूप से दर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन यथार्थ है।

दर्शनमोहनीय की तीव्रग्रन्थी का श्रुतज्ञानरूपी पैनी छैनी से जब भेदन हो जाता है, तब आत्मा के सर्वप्रथम दिव्यनयन खुलते हैं; उनसे सर्वप्रथम जो सामान्यज्ञान होता है कि मैं हूँ, वह है, वे हैं। इस प्रकार के ज्ञान को सामान्यदर्शन है कहा जाता है; जो कि अत्यन्त दुर्लभ है। शास्त्रीय परिभाषा में सामान्यदर्शन को उपशमसम्यक्त्व कहा है, जो अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्तिम दौर में होता है। और इसके आते ही सर्व-प्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का उपशमन होता है। जिसे ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थों का विभिन्न दृष्टियों, नयों एवं हेतुओं से समग्ररूप से विश्लेषण हो सके तथा सम्यक् निर्णय हो सके, उसे विशेष दर्शन कहते हैं।

विशेषदर्शन सामान्यदर्शन से भी दुर्लभतर इसलिए है कि इसमें वस्तु के तमाम पहलुओं का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार और निर्णय करना होता है। जो व्यक्ति साम्प्रदायिक, पांथिक या दार्शनिक कदाग्रह, पूर्वाग्रह या अपने माने हुए मत-पंथ या मान्यता को सत्य मानने के मद से ग्रस्त है, जो दूसरों के पास या अन्यत्र सत्य सम्भव है, इसे कतई देखना-सुनना भी नहीं चाहता; वह अहंकार, अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिक कट्टरता, हृदय में असत्य जानते हुए भी सत्य सिद्ध करने का हठ, विवेकचक्षु के प्रयोग से इन्कार इत्यादि अनेक उपाधियों से युक्त है, वह विभिन्न नयों (दृष्टिकोणों), पहलुओं और हेतुओं से वस्तुतत्त्व का या आत्मा का विचार या निर्णय नहीं कर सकता। इस कारण विशेष-दर्शन की प्राप्ति दुर्लभतर बताई है। कदाचित् विशेषदर्शन की प्राप्ति

हो भी जाय, तो भी आसपास के विरोधी वातावरण के कारण उसके दिल-दिमाग में यह बात जचनी मुश्किल है कि स्वयं के माने हुए मत-पंथ-दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र भी सत्य के अंशों की सम्भावना है, अथवा भिन्नभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से प्रत्येक वस्तुतत्त्व को देखा जा सकता है। इसलिए निर्णय करना या निश्चय करना दर्शन की प्राप्ति से भी बढ़कर मुश्किल है। इसी कारण सर्वांगसत्यदर्शन की झांकी होना कठिन है।

सामान्य और विशेष रूप से दर्शन की दुर्लभता को स्पष्ट करने के अभि-प्राय से श्रीआनन्दघनजी एक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—**"मद में घेर्यो रे अंधो केम करे, रविशशिरूपविलेख ?"** जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं अन्धा हो, फिर शराब आदि नशीली चीज का सेवन करने से वह नशे में चूर हो जाय तो सूर्य और चन्द्रमा के स्वरूप का विश्लेषण करना तो दूर रहा, उनके रूप का अवलोकन भी नहीं कर सकता। उसी प्रकार जो व्यक्ति पहले तो मिथ्यात्व-रूपी अन्धकार से ग्रस्त हो, मिथ्यात्व से अन्धा हो, फिर वह अपने मत, पंथ, सम्प्रदाय या दर्शन के मद ('मेरा ही सच्चा है' के अहंकार के नशे) में डूबा हो तो, वह नयों, हेतुओं आदि द्वारा विभिन्न पहलुओं या दृष्टिकोणों से विशेष प्रकार से परमात्मा के सत्य का दर्शन करना तो दूर रहा, सामान्यरूप से भी उक्त दर्शन को प्राप्त नहीं कर सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से सोचें तो जिसे दर्शनमोहनीय के कारण मिथ्यात्व-दशा से ग्रस्त होने से सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई, उसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा, मिथ्यादृष्टिसंस्तव; इन सम्यक्त्व के ५ अतिचारों (दूषणों) से रहित विशिष्ट परमात्मदर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है ?

बहुत-से तथाकथित पण्डित या विद्वान् विभिन्न प्रकार के नयों, हेतुओं, तर्कों या आगमों द्वारा भी परमात्मा का सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं, इस बात का खण्डन करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

हेतु-विवादे हो चित्त धरी जोइए, अतिदुर्गम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद ॥
अभिनन्दन० ॥३॥

अर्थ

हेतुओं (तर्कों) के विवादों (पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के झगड़ों में) चित्त को दृढ़ता से लगा कर उनके द्वारा परमात्मा का दर्शन करने जांय तो नयवाद (विभिन्न दृष्टिविन्दुओं) को समझना अत्यन्त पेचीदा है। शास्त्रप्रमाण की सहायता लेने जांय तो शास्त्र की जटिल एवं पूर्वापर-असंगत बातों से जहाँ बुद्धि चकरा जाती है; वहाँ कोई गुरुगम (निष्पक्ष गुरु की धारणा) न होने से परमात्म-दर्शन में यह सब व्यर्थ का विवाद है, बड़ा झगड़ा है, प्रपंच है या अत्यन्त खेदजनक है।

भाष्य

नयवाद से परमात्म-दर्शन दुर्लभ

श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन अब अन्य पहलुओं से करते हैं। बहुत से लोग परमात्मदर्शनप्राप्ति को बहुत ही आसान समझते हैं। वे सोचते हैं कि इतने बड़े-बड़े विद्वान् दुनियां में हैं, वे किसी भी वस्तु को समझने-समझाने के लिए सूक्ष्म से सूक्ष्म तर्क प्रस्तुत करते हैं, विविध दृष्टि-कोणों को समझते-समझाते हैं। परन्तु तर्कों या हेतुओं से परमात्मा का दर्शन इतना आसान नहीं है। क्योंकि नयवाद अत्यन्त दुर्गम्य है। विभिन्न नयों का वर्णन कर देना या विभिन्न दृष्टिकोणों को प्रस्तुत कर देना एक बात है, और अपना मताग्रह, पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह अथवा 'एकांशसत्य की प्राप्ति को सर्वांश सत्य समझने का अहंकार छोड़ कर विभिन्न नयों या दृष्टिकोणों में सापेक्षता—सामंजस्य—अविरोधिता अथवा संगति स्थापित करना और बात है। यह बात बुद्धि की अपेक्षा हृदय से ज्यादा सम्बन्ध रखती है। जब तक हृदय परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के सत्यदर्शन के लिए झुके नहीं, बुद्धि में से कदाग्रह, मताग्रह या स्वत्वमद का नशा न उतरे; तब तक हृदय नम्र और सरल नहीं हो सकता, और हृदय के नम्र व सरल हुए बिना सत्यदर्शन होने अतीव दुर्लभ हैं। जहाँ बौद्धिक पहलवानों द्वारा तर्कों के दावपेंच लगा कर दूसरे को हराने और स्वयं के जीतने अथवा अपने बुद्धिबल से भ्रान्त तर्क प्रस्तुत करके या तोड़-मरोड़ कर अर्थ करके अपनी मानी हुई बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयास होता है; वहाँ सत्यनिष्ठा नहीं होती। प्रभुदर्शन की प्राप्ति के लिए आन्तरिक निष्ठा के अभाव में कोई भी हेतु या नयवाद सहायक नहीं हो सकता।

आगमवाद से भी दर्शनप्राप्ति कठिन

अब रही आगम प्रमाणों द्वारा प्रभुदर्शन प्राप्त करने की बात, वह भी व्यर्थ श्रम है। क्योंकि आगमों के पाठों से परमात्मदर्शन का निर्णय करने में कठिनाई यह है कि आगमों में जहाँ भी पूर्वापरविरुद्ध, असंगत, अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सन्दर्भ में कही हुई बातें आएँगी, वहाँ साधक की बुद्धि की गाड़ी अटक जाएगी ; वहाँ निष्पक्ष गुरु की धारणा की जरूरत पड़ेगी और निष्पक्ष, सापेक्षवादपूर्वक वस्तुतत्व का यथातथ्य प्रतिपादन करने वाले गुरु बहुत ही विरले हैं। आगम का अर्थ है—वीतराग आप्तपुरुषों द्वारा भाषित और गणधरों द्वारा ग्रथित—संकलित मूलसूत्र, जिनमें जैनदर्शन के चारों अनुयोगों के सम्बन्ध में बातें कही गई हों। आगमों में बहुत-सी बातें प्रचलित और उपादेय होती हैं, बहुत-सी हेय और ज्ञेय होती हैं। कई स्थलों पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अमुक परिस्थितिवश उत्सर्गसूत्र के बदले अपवादसूत्र होते हैं, कई जगह विभिन्न आशयों से पृथक्-पृथक् विधान व्यवहारचारित्रपालन के हेतु किये गए हैं, ऐसी स्थिति में सामान्य साधक की बुद्धि गड़बड़ या शंका में पड़ जाती है और उस समय यथार्थ निर्णय करने के लिए निष्पक्ष, सच्चे गुरु का मिलना भी कठिन हो जाता है। क्योंकि आगमों में बहुत-से विवादास्पद स्थलों में परम्परागत अर्थ या सम्प्रदायगत धारणाएँ चलती हैं, किसी विवादास्पद विषय के बारे में किसी गुरु से पूछने पर प्रायः वह जिस सम्प्रदाय—परम्परा का होगा, उसे जैसी धारणा होगी, तदनुसार ही प्रायः अर्थ करेगा या धारणा बताएगा। ऐसी स्थिति में परमात्मा के यथार्थ दर्शन की प्राप्ति तो खटाई में पड़ जायगी ; व्यक्ति एक के बदले दूसरी परम्परागत बात को ही परमात्मा का दर्शन समझ कर अपना लेगा। इसलिए शास्त्रप्रमाण द्वारा भी परमात्म-दर्शन की प्राप्ति होना कठिन है।

अतः सापेक्षदृष्टि (अनेकान्तदृष्टि)—प्ररूपक जब वादविवाद के अखाड़े में उतर जाता है, तब उसे परमात्म—(सत्य) दर्शन तो होते नहीं, वह अपने अहंकार से ही संतुष्टि करता है, जो पहले से जाना-माना है, उसी को सत्य समझ कर परमात्मा के दर्शन के नाम से चलाता है।

वाद-विवादों में अक्सर विजिगीषाभाव होता है, जिज्ञासाभाव नहीं।

इस कारण 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोध :' के वदले वाद-विवाद झगड़े, वैर-विरोध और द्वेप का रूप ले लेता है। फिर चाहे वह हेतुवाद हो या आगमवाद वे यथार्थ परमात्मदर्शन की प्राप्ति में प्रायः वाधक वनते हैं।

गुरुगम का अर्थ होता है—निष्पक्ष गुरु की प्रेरणा या मार्गदर्शन। आगमों में वहुत-सी वातें गुरुगम के अभाव में उलटे रूप में परिणत या प्रचलित हो जाया करती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में गुरु होने की योग्यता नहीं होती। केवल संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का पण्डित होने से, शास्त्रों का अधिक वाचन होने मात्र से कोई गुरु नहीं हो सकता। शास्त्र में (धर्मोपदेशक) के सम्बन्ध में वहुत ही स्पष्ट वताया गया है[1]—

जो अपनी आत्मा को परभावों (दुर्गुणों) से सदा वचाता हो, इन्द्रियों और मन का दमन करता हो, जिसने चिन्ता-शोक आदि को नष्ट कर दिया हो, जो निश्चिन्त व निःस्पृह हो, आश्रवों से दूर हो, वही परिपूर्ण (सभी दृष्टियों से सर्वांगपूर्ण) एवं यथातथ्यरूप से शुद्ध धर्म का कथन कर सकता है।

जिसका गम्भीर अध्ययन हो, विचारों के अनुरूप आचार हो, भौतिक-दृष्टि के वदले आध्यात्मिक दृष्टि मुख्य हो, शुद्ध आत्मभाव में निष्ठा हो, जो श्रद्धापूर्वक अहिंसा सत्य-आदि धर्मों का पालन करता हो, जिसने धर्म को जीवन में रमाया हो, वही गुरु कहलाने और शास्त्रों के सम्वन्ध में मार्गदर्शन देने का अधिकारी है।

अतः इस काल में निष्पक्ष, निरभिमानी, स्वयंप्रेरित, दीर्घद्रष्टा, नवीन-प्राचीन युगद्रष्टा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञान में कुशल गुरु का संयोग मिलना वहुत ही कठिन है। यही कारण है कि हेतुवाद, नयवाद या आगमवाद के द्वारा परमात्मा के दर्शन की प्राप्ति होने के वदले विवाद, विरोध, झगड़ा, या विपमभाव या खेद वढ़ने की आशंका है; जिसका संकेत श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा के अन्त में कर दिया है।

---

१. "आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमाइक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं॥"

परमात्मदर्शन के विषय में और क्या-क्या विघ्न हैं, उनका निर्देश करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

घाती डूंगर आडा अतिघणा, तुझ दरिसण जगनाथ ।
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगू कोई न साथ ॥
अभिनन्दन० ॥४॥

अर्थ

हे जगत् के नाथ ! मेरे देव !, आपके यथार्थदर्शन में रास्ते में विघ्न-कारक घातीकर्मों के अनेक पहाड़ अड़े खड़े हैं। साहस करके कदाचित् आपके दर्शन पाने के मार्ग पर चल पड़ूं तो भी साथ में चलने वाला कोई रास्ते का जानकार पथप्रदर्शक भी तो नहीं है !

भाष्य

परमात्मदर्शन में बाधक : घातीकर्मपर्वत

परमात्मा के यथार्थदर्शन के लिए आत्मा का भी शुद्ध होना आवश्यक है। चेहरा चंचल या मलिन होता है तो दर्पण में ठीक दिखाई नहीं देता, वैसे ही आत्मा मन-वचन-काया के योगों से अस्थिर और कषायों व कर्मों से मलिन होता है तो परमात्मारूपी दर्पण में यथार्थरूप में उसके दर्शन नहीं हो सकते। यही कारण है कि परमात्मदर्शन के लिए सर्वप्रथम आत्मा के गुणों का सीधा घात करने वाले कर्मों (चार घातीकर्मों=ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को श्रीआनन्दघनजी ने पर्वत के समान बाधक बताए हैं। १. विभिन्न मतों वालों का स्वमत-स्थापना का आग्रह, २. सामान्य-रूप से दर्शनप्राप्ति की दुर्लभता, ३. किसी एक निश्चय पर आने की उससे भी अधिक कठिनता, ४. मत-मद के नशे में चूर मिथ्यात्वान्ध होने के कारण स्वरूप की अशक्यता, ५. तर्कवाद की जटिलता, ६. नयवाद की दुर्गम्यता, ७. आगम द्वारा दर्शनप्राप्ति में गुरुगम का अभाव, ८. सच्चे मार्गदर्शन के अभाव में झूठे विवाद ; इतने प्रभुदर्शनघाती पर्वतों की बात पूर्वोक्त गाथाओं में श्रीआनन्दघनजी ने की। परन्तु इनसे भी बढ़कर आत्मगुणघातक ४ मुख्य पर्वत हैं, जो परमात्मा के दर्शन में रोड़े अटकाते हैं। वे एक नहीं, चार नहीं, अनेक हैं और ठोस हैं। कर्मों के मुख्यतया दो विभाग किये हैं—घाती और अघाती। घातीकर्म आत्मा के चार मूल अनुजीवी गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र

और वीर्य का घात करते हैं, इनमें विघ्नबाधा पहुँचाते हैं। वे हैं—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। ज्ञानावरणीय ज्ञान का कम या ज्यादा घात करता रहता है। वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नहीं होने देता। दर्शनावरणीय वस्तु का सामान्य बोध होने में विघ्न डालता है। जो बुद्धि को चक्कर में डाल कर राग-द्वेष के आश्रित बना कर मनोविकारों, कषायों व वेदोदय द्वारा चारित्र पर प्रभाव डालता है, वह चारित्रमोहनीय तथा शुद्ध आत्मा-परमात्मा के दर्शन में बाधक बनता है, वह दर्शनमोहनीय कर्म है। जो आत्मा की अचिन्त्यशक्ति, अनन्त बल-वीर्य विकसित नहीं होते देता, वह अन्तरायकर्म है। इन चारों घातीकर्मों की सर्वगुणघाती प्रकृतियाँ २० हैं और देशघाती कर्मप्रकृतियाँ २७ हैं। बाकी के ४ (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) कर्म अघाती हैं। ये आत्मगुणों का सीधा घात नहीं करते। ये प्रायः शरीर से ही अधिक सम्बन्धित हैं।

श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से प्रार्थना करते हैं—"हे जगन्नाथ! ये आत्मगुणघाती कर्मपर्वत हैं, जो आपके दर्शन में अन्तरायरूप हैं। ये पहाड़ जब तक चूर-चूर नहीं हो जायेंगे, तब तक आपके दर्शन होने कठिन हैं।

निश्चयनय की दृष्टि से कहें तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन होने में ये परभावरूप घातीकर्म विघ्नकारक हैं। ये चारों मिल कर मेरे अनन्तज्ञानगुण, अनन्तदर्शनगुण, अनन्तचारित्रगुण और अनन्तबलवीर्य का ह्रास कर रहे हैं, अथवा मैंने इन परभावों को अपने मान कर अपनाए, ये मेरे ही असली स्वरूप के दर्शन में बाधक बन गए हैं। इन्हें कैसे दूर करूं?

दर्शन में विघ्न : साथी पथप्रदर्शक का अभाव

कोई कह सकता है कि साधक को तो अपनी आत्मा में ही रमण करने से मतलब है, कर्मों का आत्मा से सम्बन्ध ही क्या है? ये क्या कर सकते हैं? परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। साधक बाहर से शुष्क अध्यात्मवाद के घेरे में पड़ा-पड़ा यों कहता रहता है—'मैं ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, निर्मोही हूँ, अनन्तबली हूँ; परन्तु इस भ्रम में अपने आपका अधिक मूल्यांकन करके जब वह परमात्मदर्शन के मार्ग पर आगे बढ़ता है तो उसके पैर लड़खड़ाने लगते हैं, उसका हृदय कांपने लगता है, उसकी शक्ति सांसारिक मोहमाया में ही

अधिक लगती है, उसका मन रागद्वेष के द्वन्द्वों, मताग्रहों, पूर्वाग्रहों आदि की ओर ही अधिक दौड़ता है, बुद्धि अहंकार के पोषण में ही लगती है, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुणों की शिकार बन कर आत्मा निर्बल हो जाती है। फिर भी आनन्दघनजी इन घातीपर्वतों की परवाह न करके परमात्मदर्शन के लिए साहसपूर्वक कदम आगे बढ़ाते हैं, अपनी सारी शक्ति बटोर कर वे चल पड़ते हैं, या तो कार्य सिद्ध करके छोड़ूँगा या शरीर छोड़ दूँगा; इस प्रकार के दृढ़संकल्पपूर्वक जब वे दर्शनप्राप्ति के रास्ते पर चल देते हैं, तो आगे चल कर उन्हें अनुभव होता है कि "अरे ! मैं तो अकेला ही चल पड़ा ! मुझे न रास्ते का पता है और न परमात्मा के दर्शन की विधि की जानकारी है; कैसे पहुँच पाऊँगा, परमात्मा के निकट ?" अतः वह स्वयं ही इस कठिनाई को प्रगट करते हैं—**'सेंगू कोई न साथ'** सेंगू का अर्थ होता है—रास्ते का जानकार, रास्ता बताने वाला पथप्रदर्शक। जब अज्ञात देश में कोई व्यक्ति जाता है या अटवी (घोर जंगल) के रास्ते से जाता है तो किसी न किसी पथप्रदर्शक-मार्ग के जानकार आदमी को साथ ले लेता है। ताकि वह रास्ता भूले नहीं, सही सलामत अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाए और रास्ते में डाकुओं, लुटेरों आदि से भी रक्षा हो सके। परमात्मदर्शन का पथ भी बहुत कंटकाकीर्ण और अटपटा है। अनजाना आदमी इस पथ पर चलने का साहस करेगा, तो वह कहीं रास्ता भूल कर परमात्मा के बदले किसी चमत्कारी या प्राणिघातक या स्वार्थसाधक रागद्वेषपरायण देवी-देवों के चक्कर में फँस जाएगा अथवा परमात्म-दर्शन के नाम से किसी उटपटांग व्यक्ति के दर्शन को ही सच्चा दर्शन मानने लगेगा। उसे परमात्मदर्शन में सफलता नहीं मिलेगी। वास्तव में ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति को परमात्मदर्शन के लिए चलना तो स्वयं को ही है, उसके बदले दूसरा व्यक्ति चले तो उसे दर्शन नहीं हो सकेंगे। परन्तु कोई सच्चा मार्गदर्शक मिल जाता है, तो उसे रास्ता ढूंढने में कोई दिक्कत नहीं होती और न वह सीधा रास्ता छोड़ कर या भूल कर उत्पथगामी बनता है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी अपनी लाचारी प्रदर्शित करते हैं कि मैं चला तो था, ऐसे किसी मार्गदर्शक साथी की खोज में, पर मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिला, जो निःस्पृह, निष्पक्ष और निःस्वार्थ हो कर सही-सही मार्गदर्शन कर कर दे, या मुझे उत्पथ पर जाने से बचा ले, जहाँ मैं रास्ता भूल जाऊं,

वहाँ मुझे रास्ता बता दे। परन्तु अफसोस है कि ऐसा कोई योग्य मार्गदर्शक साथी नहीं मिला। अधकचरे, उत्पथगामी, संसारपोषक, वासनावर्द्धक या स्वार्थ मार्गदर्शक जरूर नजर आए, पर उनसे मेरा काम बनने के बदले ज्याद बिगड़ता; इसलिए मेरी कठिनाई यह है कि मैं अब बिना ही किसी मार्गदर्शक साथी के बैठा हूँ। मुझे परमात्मदर्शन की बहुत ही तमन्ना है, पता नहीं कब पूरी होगी?

इतनी सब कठिनाइयाँ बता कर अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन के अन्य उपायों को निष्फल बताते हुए कहते हैं—

'दर्शन- दर्शन' रटतो जो फिरूं, तो रणरोज-समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान?"
अभिनन्दन० ॥५॥

अर्थ

अगर मैं दर्शन-दर्शन की रट लगाता फिरूं तो यह मेरा रटन अरण्यरोदन के समान या मेरा वह भ्रमण जंगली रोज के भ्रमण के समान होगा! भला जिसे प्रभुदर्शनरूपी अमृत पीने की इच्छा हो, उसकी वह प्यास दर्शनशब्द के रटनरूपी जहर से कैसे मिट जायगी?

भाष्य

दर्शन के रटन से दर्शन की प्यास नहीं मिटती

श्रीआनन्दघनजी ने दर्शन की दुर्लभता पर विचार करते हुए पिछली गाथाओं में अपनी उलझन और खिन्नता प्रगट की है। उन्हें मताग्रहवादियों से परमात्मदर्शन -प्राप्ति दुर्लभ लगती है। इसी तरह तर्कवाद, नयवाद और आगमवाद से भी विवाद के सिवाय और कुछ पल्ले नहीं पड़ता नजर आता। स्वयं पुरुषार्थ करने जांय तो उन्हें घातीकर्मरूपी पर्वतों का लांघना दुष्कर लगता है और कदाचित् साहस करके परमात्मदर्शन के पथ पर चल भी पड़े तो भी रास्ते से अनभिज्ञ होने के कारण तथा कोई पथप्रदर्शक (Guide) न होने से कहीं भटक जाने का खतरा प्रतीत होता है। परन्तु अन्त में उन्हें एक उपाय सूझा कि मैं 'दर्शन-दर्शन' की रट लगा कर लोगों के सामने अपना विचार प्रगट करूं, शायद कोई राहबर मिल जाय और दर्शन की मेरी प्यास

मिटा दे।' परन्तु इस सम्बन्ध में भी वे अपनी निराशा प्रगट करते हैं कि अगर मैं जनता के सामने दर्शन-दर्शन चिल्लाता फिरूं तो मेरी यह पुकार अरण्यरोदन के समान होगी। मुझे ऐसी सम्भावना कम है कि कोई मेरी यह पुकार सुने। क्योंकि संसार में अधिकतर लोग शुष्क अध्यात्मवाद की रटन के द्वारा अपना आत्मसंतोष मान लेते हैं, अथवा सूखा अध्यात्मवाद बघार कर जनता में अध्यात्मयोगी या आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते हैं, वे अपने जीवन में प्रायः वास्तविक आत्मदर्शन या परमात्मदर्शन न तो स्वयं ही कर पाते हैं, और न दूसरों को करा सकते हैं।

अथवा मेरा दर्शन-दर्शन की रट लगाते घूमना भी उसी तरह होगा, जैसे जंगल में रोज (नील गाय) का होता है। बेचारा वह पशु गर्मी में प्यास लगने पर पानी की खोज में इधर-उधर दौड़ लगाता फिरता है, परन्तु पास जाने पर दूर से दिखाई देने वाले पानी के बदले सूखी रेत मिलती है। जैसे उससे उसकी प्यास नहीं मिटती; वैसे ही परमात्मदर्शन की प्यास बुझाने के लिए दर्शनशब्द की रट लगाता जगह-जगह भटकता फिरूं, तो उस आंशिक सत्य को ही सर्वांशसत्य मान लेने, चाहे जिस 'दर्शन' को परमात्मा का दर्शन मान लेने से मेरी भी दर्शन की प्यास नहीं मिट सकती। जिस तरह किसी व्यक्ति को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अगर अमृत के नाम पर विष पी ले तो उसकी अमृतपिपासा मिट नहीं सकती, उसी तरह जिसे परमात्मा (वीतराग) के सम्यग्दर्शन की पिपासा हो, उसे अगर सम्यग्दर्शन के नाम से प्रचलित कोई कुदर्शन या अव्यवस्थित एकान्त-दर्शन प्राप्त करा दे तो उसकी सम्यग्दर्शन-पिपासा कैसे मिट सकती है? बल्कि जैसे पानी के बदले मिट्टी का तेल पी लेने पर प्यास मिटने के बदले अधिक भड़क उठती है, वैसे ही परमात्मा वीतराग के सम्यग्दर्शनरूपी अमृत के बदले कोई कुदर्शनरूपी विष पिला दे तो उससे दर्शन की प्यास मिटने के बदले और अधिक भड़केगी; यानी ऐसे व्यक्ति को प्रत्येक सम्यग्दर्शन को देख कर भी उसमें मिथ्यादर्शन की बू आने लगेगी, वह सच्चे दर्शन को भी झूठा समझने लगेगा। जैसे दूध का जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है, वैसे ही सम्यग्दर्शनपिपासु भड़क जाने पर सम्यग्दर्शन को अपनाने में भी संदेह या वहम करने लगेगा।

यहाँ 'रणरोज' का अर्थ अरण्यरोदन अधिक संगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से अर्थ होगा—सुदूरयात्री की वन में होने वाली दशा के समान उक्त अध्यात्मयात्री की दशा संसाररूपी वन में हो जाती है। घोर अटवी पार करके जाने वाला यात्री अगर उस अटवी में पानी-पानी पुकारता है तो उसकी प्यास जब नहीं बुझती, तब आखिर वह हार-थक कर पानी के नाम से जो भी चीज मिल जाती है, उसे पी कर मन को मना लेता है, मगर उससे उस यात्री की प्यास बुझती नहीं; इसी प्रकार संसाररूपी घोर अटवी पार करके जाने वाला अध्यात्मयात्री भी परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्यास लगने पर दर्शन-दर्शन शब्द की रट लगाता है, और जब उसे सच्चा दर्शन नहीं मिलता, तब आखिरकार हार-थक कर वह जो भी 'दर्शन' मिल जाता है, उसे ही सच्चा मान कर मन को बहलाता है, लेकिन उसकी सद्दर्शन की जो प्यास थी, वह मिटती नहीं। फलतः प्यास बनी की बनी रहती है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे किसी को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अमृत के बदले अमृत के नाम से विषपान कर ले; अथवा गंगाजल में अवगाहन करने की इच्छा वाला व्यक्ति तलैया के गंदे व छिछले पानी में अवगाहन कर ले। या गुलाब के सुगन्धित फूल के बदले गुलाबी रंग के निर्गन्ध टेसू के फूल प्राप्त कर ले। कई बार अंशदर्शन (आंशिक सत्य) विषपान जैसा बन जाता है, उसी को सर्वांशदर्शन (सत्य) मान कर प्राणी वहीं फंस जाता है, उसका आगे का विकास या गुणस्थानक्रम रुक जाता है। असल में अमृत-दर्शन का अर्थ है—अमर होने का दर्शन। बाह्य क्रियाकाण्ड से अनुप्राणित या भौतिक दर्शन अथवा लौकिक सुखों की पूर्ति करने वाला दर्शन अमरता या अमृत का दर्शन नहीं है। उससे चाहे स्वर्गप्राप्ति हो जाती हो, या मनुष्यगति प्राप्त हो जाती हो, मगर है यह जन्ममरण का चक्र, संसार (मृत) की प्राप्ति ही। इसलिए जिसे जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो कर अमृतत्व के दर्शन पाने या उन परमात्मा के अमृतत्व के दर्शन पाने की इच्छा है, वह इस मृतत्व (जन्म-मरण के) चक्र में फँसाने वाले दर्शन को पकड़ ले तो उसके लिए यह विषपान तुल्य ही होगा। उसकी अमृतपिपासा उस विषपानतुल्य विपरीत दर्शन, संसारमार्ग में भटकाने वाले कुदर्शन या भौतिक दर्शन से कैसे मिट सकती है?

कई बार सामान्य साधक यह मान लेते हैं कि वीतराग देव, पंचमहाव्रती

गुरु और वीतरागकथित धर्म इन तीनों का पाठ गुरु के मुख से सुन लेने से और तथाकथित अमुक वेष व अमुक क्रिया वाले गुरु को गुरु बना लेने मात्र से वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इतनी सुलभ नहीं है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मा की शुद्धस्वरूप और तदनुसार शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त देव (फिर उनका नाम चाहे जो हो, वे किसी भी धर्मतीर्थ में हुए हों। अथवा शुद्धात्मदशा को प्राप्त करने के लिए परभावों के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा, मोह, आदि को छोड़ कर साधना करने वाले (वे चाहे जिस पंथ, धर्म-सम्प्रदाय या वेष के हों) गुरु या स्वर्गादि प्राप्ति के कराने वाले मोह [प्रेय] मार्ग—जन्ममरण के पथ—को छोड़ कर मोक्षमार्ग पर ले जाने वाले धर्म को धर्म मानना, विश्वास करना और अपनी आत्मा को इसी शुद्ध आत्मभाव रमण वाले पथ पर ले जाने के लिए अहर्निश प्रयत्न करना आवश्यक है। अन्यथा, वीतराग परमात्मा के सम्यग्दर्शन के बदले अन्धविश्वास, गुरुडमवाद, झूठा संतोष, सच्चे आत्मविकास में रुकावट आदि चीजें ही पल्ले पड़ेगी। फिर तो हर कोई पढ़ा-लिखा तथाकथित व्यक्ति वेष पहन कर भोलेभाले व्यक्तियों के कान में यह मन्त्र—"देव अर्हन्त, गुरु निर्ग्रन्थ (अथवा अमुकनाम वाला) और केवलीप्ररूपित धर्म, ये तीन करो स्वीकार, हो जायेगा बेड़ा पार" फूंक देगा और लाखों तथाकथित सम्यग्दर्शनी अनुयायी आसानी से बना लेगा। जैसा कि अनेक धर्म—सम्प्रदाय के लोगों में देखा जाता है।

श्रीआनन्दघनजी को इसीलिए कहना पड़ा—"**मत मत भेदे रे जो जई पूछिए सहु थापे अहमेव**"। सभी मतपंथवादी अपने-अपने मत-पंथ या अपने नाम की समकित [सम्यक्त्व] दे कर वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन के नाम से अपना सिक्का चलाने का प्रयास करते देखे जाते हैं और वह तथाकथित सम्यग्दर्शन अमृत के बदले जहर का काम करता है—परस्पर विभिन्न धर्म-सम्प्रदायों, पंथों, मतों के झगड़े बढ़ा कर वैरविरोध फैला कर; राग-द्वेष बढ़ा कर। ऐसे तथाकथित सम्यग्दर्शनियों में मेरे-तेरे की, अपने उपाश्रयों, मान्यताओं, परम्पराओं, व अनुयायियों के अहंत्व-ममत्व बढ़ाने और दूसरों को नीचा दिखाने उनके प्रभाव को फीका करने की होड़ लगती है। इन सारी प्रक्रियाओं

में तथाकथित सम्यग्-दर्शनी या सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के दावेदार आत्मदृष्टि को ताक में रख कर या परमात्मा या आत्मा के तत्वज्ञान की जोरशोर से रट लगा कर उसकी ओट में प्रायः शरीरदृष्टि बन जाते हैं। वे शरीर से सम्बन्धित बातों—बढ़िया खानपान, सम्मान, प्रतिष्ठा, अनुयायियों की वृद्धि, शरीरपोषण, अहंकारपोषण, या राग-द्वेषवर्धक प्रवृत्तियों में ही अधिक संलग्न नजर आते हैं।

इसीलिए आनन्दघनजी इस तथाकथित लेबल वाले सम्यग्दर्शन से संतुष्ट नहीं हैं, वे इसे अमृतपान के बदले विषपान समझते हैं। अतः वे इसे न अपना कर अगली गाथा में परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प हो कर पुकार उठते हैं—

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो सीझे जो दरसणकाज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज॥
अभिनन्दन०॥ ६॥

अर्थ

अगर आपके (परमात्मा) दर्शन का कार्य सिद्ध हो जाय, तो मुझे जीवन या मृत्यु के कष्ट की कोई परवाह नहीं है। अथवा यदि आपके दर्शन की प्राप्ति का मेरा काम बन जाय तो फिर मुझे जीवन (जन्म)-मरण के चक्र में भटकने का त्रास (कष्ट) नहीं रहेगा—सदा के लिए मिट जाएगा। सामान्यरूप से तो दर्शन दुर्लभ है, तथापि आनन्द के समूहरूप आप जिनराज (परमात्मदेव) की कृपा हो जाय तो यह सुलभ भी है।

भाष्य

दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाने को तैयार

आध्यात्मिक जीवन में मोक्षयात्री के लिए परमात्म-दर्शन या सम्यग्दर्शन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है; यों कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि सम्यग्दर्शन एक का अंक है, और ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग आदि बिंदियाँ हैं। जैसे एक के न होने पर बिंदियों का कोई मूल्य नहीं होता; वैसे ही सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान, चारित्र, तप, नियम, संयम, वीर्य, उपयोग

आदि की कोई कीमत नहीं है । सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र आदि सब भवभ्रमण में वृद्धि करने वाले हैं, भव से मुक्ति दिलाने वाले नहीं । सम्यग्दर्शन के अभाव में चाहे जितना तप कर ले, चाहे जितना शरीर को कष्ट दे ले, चाहे जितनी कठोर क्रिया कर ले, चाहे जितना आचार पालन कर ले, वे सब मुक्ति के कारण नहीं बनते; उनसे स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, वे जन्ममरण के बन्धन को काटने वाले नहीं बनते । उत्तरोत्तर आत्मविकास भी तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र हों । गुणस्थानश्रेणी पर भी जीव तभी चढ़ता है, जब उसमें सम्यग्दर्शन हो । कोरे वेष का, थोथी क्रियाओं का, विद्वत्ता, पाण्डित्य या शास्त्रों के गम्भीर अध्ययन का सम्यग्दर्शन के विना कोई मूल्य नहीं है । आत्मविकास में ये वस्तुएँ तभी मदद दे सकती हैं; जब सम्यग्दर्शन इनके मूल में हो । जिसका दर्शन (दृष्टि) सम्यक् हो जाता है, उसे शास्त्रों की, तत्त्वों की, हेय-ज्ञेय- उपादेय की, वस्तु-स्वरूप को समझने की, अध्यात्मदृष्टि से किस वस्तु का, कहाँ, कितना और कैसा उपयोग या सम्बन्ध है ? इन सब बातों की यथार्थ समझ आ जाती है, आत्मभाव पर ठोस श्रद्धान हो जाता है, समस्त जीवों को आत्मा की दृष्टि से देखने में वह अभ्यस्त हो जाता है, समस्त शास्त्रों, धर्मों, दर्शनों, मतों, पंथों धर्मग्रन्थों, धर्मधुरंधरों, महापुरुषों आदि तथा संसार के समस्त पदार्थों को वह आत्मा की कसौटी पर कस कर जाँचने-परखने लग जाता है । प्रत्येक वस्तु में निहित सत्यों व तथ्यों की छानबीन वह कर सकता है । यही सच्चा आत्म-दर्शन और यही सच्चा परमात्मदर्शन है । वीतराग का सम्यग्दर्शन भी यही है । इसे पा कर व्यक्ति निहाल हो जाता है, जन्म-मरण के अनेकानेक चक्करों को काट देता है, उसका संसार-परिभ्रमण सीमित हो जाता है । और प्राणी के जीवन में सबसे बड़ा कष्ट जन्ममरण का है, क्योंकि जन्म लेने के बाद मृत्यु-पर्यन्त प्राणी सम्यग्दर्शन के अभाव में अज्ञान व मोह के वशीभूत हो कर अनेक अनर्थकर व तीव्र अशुभकर्मबन्धक प्रवृत्तियाँ कर बैठता है, अपने लिए फिर जन्ममरण के चक्र बढ़ाता रहता है । यही दुःखों की परम्परा का मूल कारण है । अतएव श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि अगर दर्शन-प्राप्ति का मेरा कार्य सिद्ध होता हो तो मैं जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हूं । मुझे जिंदगी में चाहे जितने कष्ट सहने पड़ें, मेरी जिन्दगी चाहे आफतों के कगार

पर खड़ी हो, मुझे मारणान्तिक कष्ट भी क्यों न सहना पड़े, चाहे मेरी मृत्यु ही सामने खड़ी हो, अथवा चाहे मुझे कई जीवन क्यों न धारण करने पड़े, मुझे इसका कोई रंज नहीं, न मुझे जिंदगी या मौत की प्यास है, जिंदगी रहे या जाय, मौत भले ही आज ही आ जाय, मुझे इन पर कोई तरस नहीं आती ; न मुझे जिंदगी से मोह होगा, और न ही मृत्यु से नफरत। अगर प्रभु के सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती हो तो मैं हजार जिंदगियाँ न्यौछावर करने को तैयार हूँ। यह हुआ इस पंक्ति का एक अर्थ, जो अधिक संगत जचता है।

इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया गया है कि अगर वीतरागप्रभु के दर्शन का मेरा कार्य सिद्ध हो जाय तो मुझे फिर इतने जन्म-मरण के त्रास नही रहेंगे। यानी मेरे जन्म-मरण के कष्ट कम हो जायेंगे, क्योंकि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर (संसार=जन्ममरण का चक्र) परित्त (सीमित) हो जाता है।

पहले अर्थ में श्रीआनन्दघनजी की सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की तीव्र तमन्ना, अपूर्व उत्सर्गभावना प्रगट होती है, उसके लिए वे जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। जिस प्रकार धन या बहुमूल्य रत्न आदि की प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने को तैयार हो जाता है, इतना ही नहीं, अपनी जान हथेली पर रख कर, या गोताखोरों की तरह मरजीवा बन कर अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है, वैसे ही श्रीआनन्दघनजी भी मानो दर्शनपिपासु लोगों को दर्शनप्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते हैं—भव्य जीवो ! परमात्मदेव (शुद्ध आत्मदेव) के दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवन और मरण की परवाह मत करो, तन, मन, धन, साधन सभी वस्तुएँ इस पर फना कर दो, इसके लिए जो भी कष्ट आएँ, सहने को तैयार रहो।

दूसरे अर्थ के अनुसार श्रीआनन्दघनजी दर्शनकार्यकी सिद्धि का फल बताते हैं, कि अगर दर्शनकार्य सिद्ध हो जायगा तो जन्म-मरण का त्रास नहीं रहेगा, अपार जन्म-मरण का वह कष्ट मिट जायगा या कम हो जायगा।

दुर्लभ दर्शन—कृपा से सुलभ

पूर्वोक्त गाथाओं द्वारा श्रीआनन्दघनजी दर्शन की दुर्लभता का विभिन्न पहलुओं से प्रतिपादन कर चुके। दर्शनप्राप्ति के मार्ग में कितनी अड़चनें हैं ? दर्शनप्राप्ति के लिए व्यवहारिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से कौन-

कौन से उपाय हैं ? यह बात भी उन्होंने इस स्तुति में दिल खोल कर प्रभु के समक्ष रख दी। परन्तु अन्त में हार-थक कर वे परमात्मा के सामने घुटने टेक कर कहते हैं—'आपका दर्शन तो दुर्लभ है, परन्तु हे आनन्दमूर्ति देव ! आपकी कृपा से सुलभ भी है। मतलब यह है कि श्रीआनन्दघनजी मानो अपना बौनापन जाहिर करते हुए कहते हैं—दर्शनरूपी अमृतफल जो परमात्मारूपी तरु में लगे हुए हैं, पाने तो हैं, पर मैं तो अभी उन्हें पाने में अक्षम हूँ, बौना हूँ। मुझ पर परमात्मा की कृपा हो जाय तो दुर्लभ दर्शन भी सुलभ हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी से यह अमृतफल छोड़ा भी नहीं जाता, किन्तु साथ ही पाने की दुर्लभता भी है,। दर्शन की महत्ता के साथ-साथ उसकी दुर्लभता भी प्रतीत होती है। मगर वे इस दुर्लभता को सुलभता में परिणत करने के लिए कटिबद्ध हैं, परमात्म-कृपा द्वारा। देखना यह है कि वह परमात्मकृपा कैसे प्राप्त होती है ? यह बात आत्म-अर्पण के सम्बन्ध में की गई अगली (सुमतिनाथ प्रभु की) स्तुति में स्पष्ट की गई हैं।

आनन्दघन-परमात्मा की कृपा क्या व कैसे ?

प्रभुकृपा से दुर्लभ दर्शन सुलभ होने की बात पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि जिस धर्म या दर्शन में ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाता है, वहाँ ईश्वर-अनुग्रह या प्रभुकृपा से किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने की बात मानी जा सकती है, परन्तु सृष्टि को अनादि मानने वाले जैनदर्शन में परमात्मा की कृपा को क्या स्थान हो सकता है ? यह विचारणीय प्रश्न है। वीतराग परमात्मा तो पर कर्ता-हर्ता हैं नहीं, न कुछ लेते-देते हैं। फिर भी जैन दृष्टि से प्रत्येक कार्य के होने में निमित्तकारणों में जो ५ कारण-समवाय आवश्यक माने हैं, उनके अतिरिक्त भी अनेक निमित्तकारण हो सकते हैं, वैसे निमित्तकारणों में से एक कारण 'परमात्मा' हो सकते हैं। ऐसा मानने में सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई आपत्ति भी नहीं है। सभी प्राणी एक साथ तो मोक्ष में जाते ही नहीं हैं; परन्तु परमात्मा की कृपा तो सबको मोक्ष में ले जाने की है; और रही है। आवश्यकनिर्युक्ति में सिद्धों (परमात्मा) और आत्मा के गुणों का शाश्वतभाव वर्णित है। सिद्ध (परमात्मा) की उपकारकता शाश्वतभाव को ले कर है। इस तत्त्वदृष्टि से प्रभुकृपा को आगम में अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

मूल में तो स्वयं आत्मा, जो उपादानकारण है, इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह परमात्मदर्शन के योग्य बन सके। इसीलिए निश्चयदृष्टि से वे अपनी आनन्दघनरूप वीतराग शुद्धस्वरूप आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते हैं—हे अनन्त आनन्द के धाम आत्मा, तेरी कृपा हो जाय, यानी तू इतनी सशक्त, समर्थ और कार्यक्षम बन जाय तो तू आसानी से परमात्मदर्शन या शुद्धात्म-दर्शन कर सकती है। जब आत्मा शुद्धात्मभाव की ओर तीव्रता से बढ़ती है, तो अनायास ही सिद्ध-परमात्मा की कृपा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का शुद्धता की ओर बढ़ना ही परमात्मा का वास्तविक दर्शन है, अथवा सम्यग्दर्शन का लाभ है।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के दर्शन (सम्यग्दर्शन) की महत्ता और दुर्लभता के विभिन्न कारणों का उल्लेख करते हुए वर्णन किया है। मतपंथवादियों का अपने मत की स्थापना का आग्रह, हेतु (तर्क) वाद, नयवाद और आगमवाद, घातीकर्मपर्वत-निवारण, पथप्रदर्शक का साथ, दर्शन की रट, आदि सभी उपायों से परमात्मदर्शन की दुर्लभता सिद्ध की है। घातीकर्म-पर्वतों को हटाना तथा दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाना, ये दो दर्शनप्राप्ति के उपादानकारण हैं, जिनके प्रगट होने पर कार्य अवश्य होता है। बाकी के सब निमित्तकारण तो उपादानकारण के शुद्ध और योग्य होने पर प्रायः अपने-आप ही अनुकूल बन जाते हैं।

सचमुच, परमात्मा के सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में श्रीआनन्दघनजी ने विभिन्न पहलुओं से वर्णन करके कमाल कर दिखाया है।

वास्तव में सम्यग्दर्शन का स्वरूप, व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से विचारणीय है। साथ ही सम्यग्दर्शन के प्रकार, इसके गुणस्थान, इसे पुष्ट करने वाले ८ गुण, इसकी प्रगति व फल के सम्बन्ध में तीन (योग) शुद्धि, शुश्रूषादि तीन लिंग, शमादि ५ लक्षण, शंकादि ५ दूषण, ५ भूषण (स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थसेवा), प्रावचनी आदि ८ प्रभावक, रायाभियोगेणं आदि ६ आगार, तत्त्वज्ञान-परिचय आदि ४ सद्दहणा, ६ जयणा-

(कुदेव और कुगुरु के साथ वन्दन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, संलाप, इस तरह ६ प्रकार का व्यवहार न रखना) ६ भावना (आलंकारिक शब्द, मूल, द्वार, नींव, निधान, आधार, भाजन), ६ स्थान (अस्ति, नित्य, कर्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय), अरिहंत आदि १० विनय, इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ६७ बोल (अधिष्ठान) विशेष रूप से जानने योग्य हैं। दर्शन आत्मा का मूलगुण है, मोक्ष का द्वार है, धर्म का मूल है। इस पर जितना भी मनन किया जाय, थोड़ा है।



५ : सुमतिनाथ-जिन-स्तुति

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण

(तर्ज—राग वसंत, तथा केदारो)

सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जिम अविकार, सुज्ञानी ।
मतितर्पण बहुसम्मत जाणीए, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी ।।
।।सुमति० १।।

अर्थ

हे सुज्ञानी ! इस अवसर्पिणी काल के पंचम तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ परमात्मा के दर्पण की तरह निर्मल निर्विकार चरणकमल (अथवा कमलवत् निर्लेप चारित्र) में अपनी आत्मा को समर्पित (अर्पण) करना वास्तव में अपनी बुद्धि को तृप्त (संतुष्ट) करना है: और इस बात को बहुजन-सम्मत (मान्य) समझो । ऐसा करने से आत्मा में (या जगत् में) सद्‌विचारों का प्रचार-प्रसार होगा ।

भाष्य

आत्म-समर्पण क्यों ?

पूर्वस्तुति मे परमात्मा के दर्शन की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने अन्त में परमात्मा की कृपा से उसकी सुलभता बताई ; परन्तु परमात्मा की कृपा तभी प्राप्त हो सकती है, जब साधक अपनी आत्मा को परमात्मा के चरणों में 'अप्पाणं वोसिरामि' (मैं अपने आपका व्युत्सर्ग=न्यौछावर=बलिदान करता हूँ) कर दे ; अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर दे । इसलिए श्रीसुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति में आध्यात्मिक साधक के लिए परमात्मा के चरणों में अपनी आत्मा को समर्पित करने की बात पर जोर दिया है ।

कई बार साधक अपनी स्वच्छन्द वृत्ति-प्रवृत्तियों, स्वार्थों, स्पृहाओं या वासना-कामनाओं को छोड़े बिना ही आत्मविकास के पथ पर आगे बढ़ना

चाहता है। अथवा तथाकथित प्रभु के आगे नाच-गा कर, उनकी जय बोल कर, उनके गुणगान करके, उनकी चापलूसी करके, बिना कुछ त्याग व पुरुषार्थ किये सिर्फ उनको रिझा कर उनकी कृपा प्राप्त करना चाहता है, अथवा नाटकीय ढंग से औपचारिक रूप से शब्दों से कहना है—'यह सब प्रभु का है, परन्तु अन्तर में सभी चीजों पर अहंत्व-ममत्व का सर्प फन फैलाए बैठा रहता है; प्रभु की आज्ञा की ओट में सभी कार्य मनमाने ढंग से करता है, स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु ये सब आत्मा के निजी (अनुजीवी) गुणों के विकास में बाधक हैं; इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी को कहना पड़ा—आत्मसमर्पण, और वह भी निर्दोष, निःस्पृह, निर्विकारी परमात्मचरणों में किये बिना आत्मविकासेच्छुक साधक की कोई गति नहीं है। इसके बिना उसके संकल्प-विकल्प मिट नहीं सकते, उसकी बुद्धि को सन्तोष नहीं हो सकता, उसके तन-मन को शान्ति नहीं मिल सकती। और जब तक विकल्प और योगों का चापल्य कम नहीं होगा, तब तक आत्मविकास होना दुष्कर है; परमात्मभक्ति होनी कठिन है। इसीलिए परमात्मभक्ति १ के लिए आत्म-समर्पण व शीष-समर्पण संत कबीरजी ने अनिवार्य बताया है।

आत्म-समर्पण का स्वरूप

सर्वप्रथम सवाल यह है कि आत्मसमर्पण क्या है? इसका स्वरूप क्या है? जब तक इसे समझ न लिया जाय, तब तक आत्मसमर्पण की बात अधूरी और औपचारिक या शाब्दिक ही रहेगी।

जैनदर्शन में 'विनय' में उसका समावेश किया गया है, उसके लिए जैनशास्त्रों में 'अप्पाणं वोसिरामि' शब्द का प्रयोग जगह-जगह किया गया है उसका तात्पर्य हैं—अपनी अहंता-ममता, अपनी लालसा, अपनी इच्छा-कामना, वासना, अपनी स्वच्छन्दता, अपना स्वार्थ, अपनी समस्त उद्दाम एवं चंचल वृत्तियां, अपने गुप्त मनोभाव, अपने समस्त दुर्विचारों, दुष्कार्यों व

---

१. "भक्ति भगवंत की बहुत बारीक है।
शीश सौंप्यां बिना भक्ति नाहीं।"

अपनी तमाम सावद्य प्रवृत्तियों का सर्वतोभावेन उत्सर्ग (त्याग) करके परमात्मा के चरणों में अपनी बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन, वाणी आदि सबको समर्पण करना। मुनि बनने के बाद पादाघात के कारण संयम से विचलित होने पर मेघकुमार को जब श्रमण भगवान् महावीर ने विभिन्न युक्तियों द्वारा समझाया तो उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली और प्रायश्चित्त द्वारा आत्मशुद्धि करके प्रभु महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा कर ली कि "आज से जीवनपर्यन्त सिर्फ आँख के सिवाय, मेरे समस्त अँगोपांग, मन-बुद्धि-इन्द्रियादि सब आपको समर्पित हैं, ये सब आपकी आज्ञा से बाहर नहीं चलेंगे।"[1] आज्ञा में ही धर्म है, आज्ञा में तप है, इसका भी आशय आत्मसमर्पण से है।[2] चार शरणों का स्वीकार करना भी आत्मसर्पण के अन्तर्गत है।

वैष्णव-सम्प्रदाय में प्रभुभक्ति की दृष्टि से समर्पण करने की बात का उल्लेख भगवद्गीता[3] एवं भागवत आदि धर्मग्रन्थों में जगह-जगह किया है। वहाँ 'सर्वस्व अर्पण' का अर्थ यही किया गया है कि तूने [3] जो कुछ सत्कार्य, सद्विचार, सदाचार, सद्व्यवहार या सदनुष्ठान किये हैं, उन सबको प्रभु-समर्पण कर।[4] तेरे बुद्धि मन, इन्द्रियाँ, वाणी, आदि सब अवयव तथा तेरे पास जो कुछ भी अपने माने हुए तन, मन, धन, साधन, परिवार, सन्तान, प्रतिष्ठा, सम्प्रदाय आदि हैं, उन्हें प्रभु के चरणों में समर्पण कर दे, और कह दे 'इदं न मम' (यह मेरा नहीं है, प्रभु आपका ही है)। ईश्वर-कर्तृत्ववाद की दृष्टि से समस्त पदार्थ, शरीर, धन आदि भगवान् के दिये हुए माने जाते हैं, इसलिए समर्पण करते समय भक्ति की भाषा में भक्त यही कहता है—'प्रभो ! आपकी दी हुई वस्तु आपको ही समर्पित करता हूँ।'[5] सर्वस्व-समर्पण' में खाने-पीने-पहिनने से लेकर व्यापार, आजीविका, अध्ययन करना, भोजन बनाना, आदि जो भी सत्प्रवृत्तियाँ हैं, उन सबमें ममत्वबुद्धि का त्याग करना आवश्यक होता है। यदि समर्पण नाटकीय तौर पर न हो तो समर्पणकर्त्ता यही

---

१. 'आणाए धम्मो, आणाए तवो'।
२. अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि' आदि।
३. 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (मेरे में मन और बुद्धि को अर्पित कर)
४. तत् कुरुष्व मदर्पणं (तेरे समस्त कार्यों को मेरे अर्पण कर)
५. त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

मानता है कि मैंने जो भी सत्कार्य किये, वे किसी कामनावृत्ति से नहीं, केवल निष्कामभाव से अर्थात् प्रभुकृपा से या प्रभुप्रीत्यर्थ किये हैं, उनके शुभ फल का श्रेय भी प्रभु को हो। इस प्रकार के समर्पण में भक्त प्रत्येक शुभ कार्य निष्कामभाव से करता है तो अहंता-ममता या स्वच्छन्दता की, वृत्ति किसी प्रकार प्रकार के बदले या शुभफल की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रह सकती। इस प्रकार के समर्पण से अहंकर्तृत्व, ममकर्तृत्व का त्याग हो जाने से भक्त प्रभु में तन्मय, तल्लीन और तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार का तादात्म्य स्थापित करना और निःस्पृह वृत्ति रखना ही समर्पण का कार्य है।

आत्मसमर्पण किसको किया जाय ?

आध्यात्मिक साधक के लिए आत्म-समर्पण करने की बात तो समझ में आती है, परन्तु किसके समक्ष किया जाय ? क्योंकि जगत् में देखा जाता है कि साधारण व्यक्ति अपने से विशिष्ट सत्ता, प्रभुता, शक्ति, और वैभव वाले शासक, सम्राट्, पदाधिकारी, शक्तिशाली, या वैभवशाली के आगे समर्पण कर देता है, विजेता के सामने पराजित अपने हथियार डाल देता है, वह स्वयं को उन-उन विशिष्ट शक्तिशाली देवों या प्रभुओं के अधीन (Surrender) कर देता है। इसी प्रकार लौकिक व्यवहार में भी कई ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि विशिष्ट देवों या दुर्गा, काली, भवानी, चण्डी, चामुण्डा, सरस्वती. लक्ष्मी आदि विशिष्ट देवियों के आगे व्यक्ति नतमस्तक हो कर सर्वस्व-अर्पण करता है, नैवेद्य (चढ़ावा) चढ़ाता है।

अथवा परमात्मा के नाम से कई रागी, द्वेषी, भौतिक ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को सर्वस्व-समर्पण कर देता है।

इसी बात को दृष्टिगत रख कर श्रीआनन्दघनजी आध्यात्म:विकास-पथिक साधकों के लिए इसी गाथा में आत्मार्पण की बात स्पष्ट करते हैं—"सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी !"—"हे आत्मज्ञानी ! अध्यात्म-विकास-तत्पर ! दर्पण की तरह निर्मल (निर्विकार) श्रीसुमतिनाथ वीतराग (परमात्मा) के चरण में आत्म-समर्पण करो।" यहाँ प्रभुचरण को दर्पण के समान निर्विकार इसलिए बताया है कि जैसे दर्पण

पर अच्छी-बुरी सभी वस्तुओं का प्रतिबिम्ब पड़ता है, लेकिन दर्पण पर उनका कोई असर नहीं होता, वह स्वच्छ और निर्मल रहता है; वैसे ही प्रभु का चरण भी निर्मल निर्विकार रहता है, उस पर भी संसार के विकारों का कोई असर नहीं होता, उनके ज्ञान में सभी अच्छी बुरी वस्तुओं की झलक पड़ती है, लेकिन उन पर कोई असर नहीं होता। यहाँ सुमतिनाथ नामक पाँचवें तीर्थंकर की स्तुति का प्रसंग होने से 'सुमतिचरण' कहा है, परन्तु 'दोषरहित वीतराग परमात्मा का चरण' ही समझना चाहिए। चूँकि इस स्तुति में आत्मसमर्पण करने वाला व्यक्ति मुमुक्षु है, अध्यात्म-रसिक है, वीतरागपथ का राही है, इसीलिए 'सुज्ञानी' शब्द से उसे सम्बोधित किया गया है। इस कारण ऊपर बताए हुए किसी भौतिक शक्तिशाली, वैभवशाली, योद्धा या रागी-द्वेषी प्रभु के चरणों में आत्मसमर्पण करने का तो सवाल ही नहीं उठता। जो काम, क्रोध आदि अठारह दोषों से रहित, निर्विकारी, निःस्वार्थ, निःस्पृहा, समभावी वीतराग परमात्मा हैं; (उनका नाम चाहे जो हो) उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहिए। रागी, द्वेषी या लौकिक व्यक्ति या भौतिक शक्ति के आगे समर्पण करने से सुज्ञानी के आत्म-गुणों का विकास होने के बदले ह्रास ही होगा।

अध्यात्मविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि '**यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी**', जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही कार्यसिद्धि हो जाती है। जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है।[1] इसके अनुसार अगर कोई साधक भौतिक-शक्तिसम्पन्न देख कर कामी, क्रोधी, विकारी को अपना आदर्श मान कर उसके चरणों में समर्पण कर देता है, उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है, तो उसके भी वैसा ही बन जाने की सम्भावना है; उससे उसकी आत्मशक्तियाँ प्रगट नहीं हो सकेंगी, उसके आत्मगुणों का विकास नहीं हो सकेगा। इसलिए आदर्श को छोटा या नीचा कदापि नहीं बनाना चाहिए। यही कारण है कि इस स्तुति में निर्दोष एवं निर्विकारी-वीतराग परमात्मा के चरणों में साधक को आत्मसमर्पण करने का कहा गया है। यानी अध्यात्म-

---

१. यो यच्छ्रद्धः स एव सः—भगवद्गीता।

साधक को अपना आदर्श, श्रद्धेय या आराध्य निर्दोष, निर्विकारी परमात्मा को मानना है, उन्हीं के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करना है।

परन्तु यह सब कथन भक्ति की भाषा में व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से अर्थ होगा—आत्मा का दर्पण की तरह निर्विकारी (शुद्ध) परम आत्मा (परमात्मा) में समर्पण करना। अथवा चरण चारित्र को कहते हैं, इस दृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वीतराग-उपदिष्ट निर्लेप (कमलवत्) व निर्दोष चारित्र में अपनी आत्मा को तल्लीन—तन्मय कर देना या आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप में अपने आपको लीन कर देना। यही कारण है कि 'विनय' के चार भेदों में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विनय को अध्यात्म-साधना में अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है।

आत्मसमर्पण से लाभ और उसका महत्व

इस प्रकार के आत्मसमर्पण से अध्यात्मपथिक को भौतिक लाभ तो अनेकों हैं। सर्वस्व-समर्पण कर देने से सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि व्यक्ति निश्चिन्त हो जाता है; किसी भी शुभकार्य के हानि-लाभ के समय मन के पलड़े पर मानसिक चिन्ताओं का उतार-चढ़ाव नहीं होता, मानसिक सन्तुलन या समत्व बना रहता है; कार्य बिगड़ जाने पर मनुष्य मनःकल्पित या अकल्पित निमित्तों को कोसने या उन्हें भला-बुरा कहने की प्रवृत्ति से छूट जाता है, और कार्य भलीभाँति सिद्ध होने पर भी अपने या अपनों को निमित्त मान कर मनुष्य अहंकार में फूल जाता है, प्रतिष्ठा-प्राप्ति और श्रेय के लूटने की धुन में वह विविध मदों में झूम कर अपनी आत्मा को नीची गिरा लेता है, अपने विकास का अधिक मूल्यांकन करके आगे के विकास से अपने को वंचित कर देता है। परन्तु परमात्म-समर्पण करने के बाद दोनों ही अवस्थाओं में वह अपने समत्व पर, उपादान पर स्थिर रहेगा। इससे उसकी बुद्धि को बहुत संतोष मिलेगा।

भक्तिमार्गीय सर्वस्व-समर्पण की दृष्टि से देखें तो भी कई लाभ प्रतीत होते हैं। क्योंकि बहुत-सी बार साधक को फलाकांक्षा थका देती है, वर्षों तक साधना करते-करते वह ऊब जाता है और झटपट सफलता-प्राप्ति न होने पर वह तिलमिला उठता है और झुंझला कर सत्कार्य या सत्पथ को भी छोड़

बैठता है। ऐसी दशा में परमात्म-समर्पित व्यक्ति को फलाकांक्षा (कांक्षा) नहीं सताएगी। वह निष्कांक्ष, निःशंकित और निर्विचिकित्स हो कर साधना के पथ, पर अबाधगति से चलता जायगा। दूसरा लाभ सर्वस्वसमर्पित व्यक्ति को बदले की भावना से छुटकारे का मिलता है। यानी प्रायः साधक किसी की सेवा, परोपकार आदि सत्कार्य के बदले उस व्यक्ति से प्रतिष्ठा, नामबरी या कुछ भौतिक लाभ चाहता है, इस प्रकार की सौदेबाजी करके वह साधना को मिट्टी में मिला देता है। परन्तु परमात्मसमर्पित साधक निःस्पृह व निःस्वार्थभाव से सत्कार्य या सत्पुरुषार्थ करेगा। इससे कांक्षामोहनीय कर्म से बहुत अंशों में वह साधक बच जायगा।

ईष्ट के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग से उसे आर्तरौद्र-ध्यान नहीं होगा; क्योंकि वह तो सब कुछ भगवच्चरणों में समर्पित कर चुका है। किसी प्रकार का भय, क्षोभ, अस्थिरता या लोभ का ज्वार उसे नहीं दबा सकेगा। क्योंकि समर्पण करने पर उसे वैराग्यरूप अभय का वरदान मिल जाता है। सबसे बड़ा भौतिक लाभ सांसारिक लोगों को यह है कि वे सच्चे माने में परमात्मा के चरणों में सर्वकार्यों या इच्छाओं को समर्पित कर देते हैं तो फिर अकार्य या बुरे कार्य में वे प्रवृत्त नहीं हो सकते, दुर्व्यसनों और पापकार्यों से तो उन्हें फिर बचना ही होगा। जैनसाधकों के लिए तो 'अप्पाणं वोसिरामि' करने के बाद समस्त सावद्य (दोषयुक्त) कार्यों को छोड़ना होता है तथा अपने मन-वचन-काया को पापकार्यों से हटाना अनिवार्य होता है।

समर्पणकर्त्ता के जीवन में अहंकर्तृत्व और ममकर्तृत्व—जो कि समस्त राग-द्वेषों की जड़ें हैं, सभी सांसारिक झगड़ों के मूल हैं—से भी प्रायः पिण्ड छूट जाता है। इन और ऐसे ही दोषों के हट जाने या नष्ट हो जाने पर आत्मसमर्पणकर्त्ता को आध्यात्मिक लाभ भी अनेकों होते हैं—'(१) आत्मा मोहनीय आदि घातीकर्मों को आते हुए रोक (संवर कर) लेती है; (२) आर्त्त-रौद्र-ध्यान से बच कर धर्म-शुक्लध्यान में लग जाती है, (३) परभावों में रमण करने की वृत्ति छोड़ कर स्वभाव में रमण करने में प्रवृत्त होती है, (४) शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी दुर्भावों या भौतिक पदार्थों (परभावों-विभावों) के चिन्तन से हट कर आत्म-चिन्तन में अधिकाधिक जुटती है, (५) आत्मसमाधि प्राप्त कर लेती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में

इसके मुख्यतया दो लाभ बता दिये हैं—मतितर्पण और सुविचार-परिसर्पण। अहंत्व, ममत्व, चिन्ता, कांक्षा, स्वार्थ, दोषारोपण, स्वत्वमोह आदि सब बुद्धि की उछलकूद का परिणाम है। जब साधक आत्मसमर्पण कर देता है तो बुद्धि की यह सब उछलकूद बन्द हो जाती है, वह स्थिर, शान्त और सन्तुष्ट (तृप्त) हो जाती है कि जब मैंने सब कुछ परमात्मा पर छोड़ दिया है, सब कुछ उन्हें ही सौंप दिया है तो मुझे किसी बात की चिन्ता, फलाकांक्षा, निमित्त को श्रेय-अश्रेय देने, मनमाना करने, या अहंता-ममता करने की क्या जरूरत है? आत्मा में समर्पण से पहले जो दुर्विचारों के बादल उमड़-घूमड़ कर आ जाते थे, समर्पण के बाद वे सब फट जाते हैं और सद्विचारों का संचार आत्मा में होता रहता है। अथवा आत्मा परभावों में संचार करना छोड़ कर स्वभाव या स्वरूप में रमणता के सुविचारों में ही संचार करता है अथवा ऐसे सुविचारों में आगे बढ़ता है।

इस प्रकार के आत्मसमर्पण की बात केवल हम ही नहीं कह रहे हैं, इसका महत्व प्रत्येक धर्मसंस्थापक, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक मत-पंथ और दर्शन में आंका गया है। बड़े-बड़े धर्मधुरंधरों, आध्यात्म-पथप्रेरकों या अध्यात्म-मार्ग-दर्शकों एवं भक्तिमार्गियों ने आत्मसमर्पण को अध्यात्म-पथ पर प्रयाण करते समय आवश्यक माना है। इसलिए आत्मसमर्पण की बात बहुजनसम्मत, अनेक धर्मपुरुष-मान्य और सार्वजनिक है; केवल हमारी कपोलकल्पित या नई नहीं है।

परन्तु परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण करने के लिए किस प्रकार की आत्मा होनी चाहिए; इस सन्दर्भ में श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में आत्मा की तीन मुख्य अवस्थाएँ बताते हैं—

त्रिविध सकल तनुधरगत आतमा, बहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानी!
बीजो अन्तर आतम, तीसरो परमातम अविच्छेद, सुज्ञानी ॥

अर्थ

समस्त शरीरधारियों के आत्मा तीन प्रकार के होते हैं—सबसे पहला प्रकार बहिरात्मा का है, दूसरा प्रकार अन्तरात्मा का है और तीसरा प्रकार परमात्मा का है, जो अखण्ड, अविनाशी और नित्य है।

भाष्य

आत्मा की तीन अवस्थाओं के कारण तीन प्रकार

अध्यात्मसाधक जब संसार की समस्त आत्माओं के साथ मैत्री, अभिन्नता या सर्वभूतात्मभाव, या आत्मौपम्य अथवा समत्व स्थापित करने जाता है तो उसे संसार के समस्त देहधारियों या प्राणियों के ऊपरी चोलों, ढाँचों या विभिन्न देशों, वेषों, भाषाओं, प्रान्तों, धर्म-सम्प्रदायों, जातियों या दर्शनों के ऊपरी आवरणों को अपनी विवेकमयी प्रज्ञा से दूर हटा कर सब में विराजमान आत्मा को देखना चाहिए। उसे किसी भी प्राणी का मूल्यांकन इन ऊपरी भेदों या आवरणों से न करके आत्मा पर से करना चाहिए। वैसे तो निश्चय दृष्टि से संसार की सभी आत्माओं व परमात्मा की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मा को ले कर विश्लेषण करते हैं, तो ज्ञान की न्यूनाधिकता के कारण बाह्य भेद दिखाई देता है। अतः संसार के समस्त प्राणियों की आत्माओं को देखते हैं तो उसकी मुख्यतः तीन कोटियाँ नजर आती है—(१) बहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। ये तीनों आत्माएँ उत्तरोत्तर निर्मलतर हैं। आत्म-गुणों के विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर आगे बढ़ी हुई हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ अखण्ड, निर्मलतम, निर्विकारतम, एवं अविनाशी एवं सदा एकस्वरूप में रहने वाला प्रकार परमात्मा का है, इससे कम निर्मल व उत्तम प्रकार अन्तरात्मा का है और सबसे निकृष्टतम अधिक विकारी प्रकार बहिरात्मा का है। अथवा 'अविच्छेद' शब्द का अर्थ यों भी कर सकते हैं कि आत्मद्रव्य की दृष्टि से सर्वत्र अविच्छिन्न एक आत्मद्रव्य ही है। ये तीन भेद तो आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न बुद्धि को ले कर किये गये हैं।

आत्मा के ये तीन प्रकार किस कारण से किये हैं, तीनों के लक्षण क्या-क्या हैं ?, यह बात अगली दो गाथाओं में बताते है—

आतमबुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप, सुज्ञानी।
कायादिकनो साखीधर रह्यो, अन्तर आतमरूप, सुज्ञानी ॥३॥
ज्ञानानन्दे हो पूरण पावनो, वर्जित सकल उपाध, सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुणगणमणि-आगरू, इम परमातम साध, सुज्ञानी ॥४॥

अर्थ

जो शरीर, या शरीर से सम्बन्धित पदार्थों आदि को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करता—मानता है, उसे प्रथम पाप रूप बहिरात्मा का प्रकार समझना। शरीर तथा सर्वपदार्थों या समस्त प्रवृत्तियों में अपनेपन (ममत्व) की बुद्धि हटा कर सर्वत्र उन सबका साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) बन कर रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

जो ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण हो, जो परम पवित्र हो, कर्म, कषाय, रागद्वेष आदि सब उपाधियों से दूर हो, जो इन्द्रियों से अगम्य-अगोचर हो, जो अनन्तगुणरूपी-मणियों का भण्डार या खान हो, इस प्रकार के स्वरूप वाले को परमात्मा समझो अथवा इस प्रकार के परमात्मपद को सिद्ध करो—प्राप्त करो।

भाष्य

आत्मा का प्रथम प्रकार : बहिरात्मा

आत्मा के तीनों प्रकारों में बहिरात्मा सबसे निकृष्ट प्रकार है। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है। वह यही तर्क करता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि (तेज) और आकाश; इन पाँचभूतों के संयोग से एक चीज बन जाती है, अथवा गोबर (मिट्टी) के साथ गोमूत्र (पानी) वायु, सूर्य की धूप व आकाश के मिलने से गोबर में बिच्छू पैदा हो जाते हैं, वैसे ही उक्त पाँच भूतों के संयोग से ही यह शरीर बना है, यही आत्मा है। इस प्रकार वह आत्मा नाम की कोई चीज न मान कर शरीर को ही सब कुछ समझता है। शरीर की राख होने पर आत्मा की समाप्ति मानता है, उसका कथन इसी प्रकार का होता है कि[1] जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, खूब मौज उड़ाओ, शरीर के भस्म होते ही सब कुछ ही खत्म हो जाता है; आत्मा नाम की कोई अलग चीज नहीं है, न कोई शरीर के राख होने के बाद लौट कर आता है।

ऐसा शरीर व्यक्ति को अपना मान कर यह समझता है कि यह सदा शाश्वत

---

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥—चार्वाक

रहेगा, कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होगा, यह शरीर मेरा है, मैं इसका हूँ, इसी को पुष्ट करने और शरीर के लिए दुनियाभर के उखाड़-पछाड़ करने में वह लगा रहता है। शरीर के लिए ज़रा-सा भोजन चाहिए, वह बढ़िया से बढ़िया स्वादिष्ट पदार्थों को जुटायेगा और ममत्व करके रखेगा; शरीर को सुन्दर बनाने के लिए तेल-फुलेल, क्रीम, पाउडर आदि लगाएगा। शरीर को ढकने के लिए साधारण वस्त्र चाहिए; पर शरीरमोही दुनियाभर के बढ़िया और बारीक वस्त्रों को जुटायेगा, संग्रह करके रखेगा। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, कई मकान बनाएगा, आलीशान बंगले सजा-सँवार कर रखेगा। इन और ऐसे ही शरीर से सम्बन्धित तमाम पदार्थों पर उसकी मैं और मेरेपन की बुद्धि होगी, जिसके कारण राग-द्वेष, घृणा, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, वैरविरोध, कलह आदि अनेक उत्पात खड़े होंगे, जिनसे पाप कर्मों का बहुत बड़ा पुंज तैयार हो जायगा। मतलब यह है कि बहिरात्मा जीव अपनी समस्त प्रवृत्तियों में मैं और मेरेपन के कारण इतना तद्रूप हो जाता है कि उसे आत्मा के पृथक् अस्तित्व का भान ही नहीं रहता। शरीर ही मैं हूँ, ये सब चीजें या ये सब सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार मेरे हैं; यह सब धन, मकान, दूकान, जमीन, जायदाद सब मेरी है, ये सब सत्कार्य मेरे ही किये हुए हैं, मेरी इज्जत बढ़े, मुझे ही यश मिले, मेरा नाम रोशन हो, मैं ही सर्वेसर्वा बन जाऊँ, मेरी ही यह सब कमाई है; इस प्रकार रातदिन ममत्व के जाल में जो फँसा रहता है, आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, जो शरीरादि पर द्रव्यों को आत्मबुद्धि से पकड़ कर अनात्मभूत तत्वों को स्व-स्वरूप मानता है, उन्हीं में तदाकार हो जाता है, जिसे नाशवान शरीर के लिए दुनियाभर के प्रपंच, पापकर्म व उधेड़बुन करते हुए कोई संकोच या विचार ही नहीं होता, एक क्षणभर के लिए भी जो आत्मा के विषय में सोच नहीं सकता। आत्मा के लिए कुछ भी नहीं करता। उसकी समग्र चेतना मोह से आवृत होने के कारण उलटी और जड़ीभूत हो जाती है। वह अहर्निश पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा में रचा-पचा रहता है। इसी कारण बहिरात्मा को पापरूप, अनेक दोषों से युक्त और अनेक आधि-व्याधि-उपाधियों से युक्त कहा है।

आत्मा का दूसरा प्रकार : अन्तरात्मा

अन्तरात्मा वहिरात्मा से बिलकुल भिन्न होता है। वह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं (धन, दूकान,मकान,जमीन, जायदाद) तथा परिवार व सगे-सम्बन्धी आदि में, या शरीर से सम्बन्धित प्रवृत्तियों में ज्ञाता, द्रष्टा और मेरे-पन की बुद्धि नहीं रखता, जो शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं एवं प्रवृत्तियों का ज्ञाता- द्रष्टा-साक्षीरूप बन कर रहता है, उनके ममत्व में नहीं फँसता, उन्हें अपने नहीं मानता, यथोचित प्रवृत्तियाँ करते हुए भी वह उन्हें अपनी नहीं मानता, निर्लिप्त रहता है। परभावों को आत्मा के नहीं मानता जो शरीरादि बाह्यभावों में आत्मबुद्धि छोड़ कर शुद्ध ज्ञानरूप आत्मस्वरूप का निश्चय करता है, जो विषयादि में आत्मबुद्धि नहीं करता; विषयों और शरीर आत्मा को आत्मा से अलग मानता है। जो शरीर से आत्मा को भिन्न मान कर अपनी आत्मा को शरीर की क्रिया का साक्षी मानता है, उसे परद्रव्य मान कर उससे सम्बन्धित ममत्व में नहीं फँसता; इस कारण अहंकारवश अपने को उसका कर्त्ता नहीं मानता, पूर्वोपार्जित कर्मों को भोगते हुए अपने आपको तटस्थ साक्षीरूप मानता है; वह अन्तरात्मा है। रस्सी में साँप का भ्रम दूर हो जाने पर जैसे व्यक्ति भ्रममुक्त हो जाता है, वैसे ही अन्तरात्मा भ्रममुक्त हो जाता है। अन्तरात्मा यों विचार करता है कि आत्मस्वरूप से अलग हो कर मैंने इन्द्रियों के द्वारा विषयों में मग्न हो कर अहंभाव के कारण आत्मा को यथार्थरूप से जाना- समझा नहीं। जो जो रूप मैं जगत् में देख रहा हूँ, वह तो पराया है, अपना [आत्मा का] रूप तो ज्ञानमय है। वही मेरा असली रूप है, वह इन बाह्य रूपों से भिन्न है, वह इन्द्रियों से अगोचर है। संसार में सुनाई देने वाले विविध शब्द भी (चाहे वे निन्दा के हों या प्रशंसा के हों या और कोई हों) पराये हैं, आत्मा के नहीं हैं, आत्मा तो इन शब्दों से रहित है। इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श के विषय में वह समझता है कि ये सब पराये हैं, आत्मा के नहीं हैं। शरीर वगैरह में मैंने आत्मबुद्धि के भ्रम से पहले अनेक क्रियाएँ कर लीं; अब तो मुझे परभावरूप मन, वचन और काया से आत्मा को भिन्न करना है; ज्ञान से नहीं। ज्ञान से तो आत्मा का ही अभ्यास करना है। मुझे आत्मा ज्योतिर्मय ज्ञानरूप दिख रही है। मैंने भेदज्ञान होने से आत्मा का स्वरूप देख लिया है। शरीर वगैरह को परद्रव्य मान लिया, तब मेरे लिए अब न तो कोई स्त्री है, न पुरुष है, न नपुंसक है, न बालक, या वृद्ध है।

लिंग, संख्या, वर्ग आदि के विकल्पों से मैं मुक्त हूँ। अब न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र। सब प्रकार की शरीरचेष्टाएँ स्वप्न या इन्द्रजालवत् हैं। मैं अभी तक संसार में इसी कारण दुःख पाता रहा कि मैंने आत्मा-अनात्मा का स्वभाव-परभाव का भेद नहीं समझा। अज्ञानी पुरुष विषयों को अपने मान कर उनसे प्रीति करता है, मेरे लिए वह विषयप्रीति आपत्ति का स्थान है। काया पर अज्ञानी आदमी ही आसक्त होते हैं, वे अपने शरीर का सुन्दर रूप, बल, आयु आदि चाहते हैं, पर मुझे अपने को चिदानंद में लगाना है, काया की आसक्ति छोड़नी है। आत्मविज्ञान से रहित पुरुष अपना दुःख नहीं मिटा सकता। मैं अपने स्वरूप में रमण करने में ही आनन्द मानूंगा; अज्ञानी प्राणी अपनी अन्तर्ज्योति रुद्ध हो जाने के कारण अपनी आत्मा से भिन्न वस्तु पर मुग्ध- संतुष्ट हो जाते हैं, पर मुझे तो अपनी आत्मा में ही संतुष्ट व मुग्ध होना चाहिए।

इस प्रकार अन्तरात्मा यह मानता है कि वस्त्र के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ़, लम्बे या नष्ट हो जाने से शरीर लाल, जीर्ण, दृढ़, मोटा, लम्बा या नष्ट नहीं होता, वैसे ही शरीर के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ़ लम्बे या नष्ट होने से आत्मा लाल मोटी, लंबी, दृढ़ जीर्ण या नष्ट नहीं होती। इस प्रकार के भेदविज्ञान के सतत अभ्यास से अन्तरात्मा अपने भवभ्रमण को नाश कर देता है। जो आत्मा को नहीं जानता, वह पर्वत, गाँव, उपाश्रय आश्रम आदि को अपने रहने का स्थान मानता है, परन्तु जो अन्तरात्मा (ज्ञानी) है, वह सभी अवस्थाओं में अपनी आत्मा में ही अपना निवास-स्थान मानता है। अपनी आत्मा ही अपना आत्मीय, बन्धु, शत्रु, या मित्र है, शरीरादि दूसरे कोई अपने नहीं है, इस दृष्टि से आत्मा अपना संसार भी स्वयं बनाती है और मोक्ष भी स्वयं ही अपने लिए रचती है। अन्तरात्मा शरीर को आत्मा से अलग मानता है, इसलिए जीर्ण वस्त्र की तरह वह शरीर का भी बिना हिचकिचाहट के त्याग कर देता है। अन्ततोगत्वा वह ज्ञानी होता है, वह आत्मा को अन्तरंग रूप से और शरीर को बाह्यरूप से जान-देख कर दोनों के अन्तर का पक्का ज्ञाता-द्रष्टा बन कर आत्मा के निश्चय से डिगता नहीं। ऐसा व्यक्ति निरन्तर भेद-विज्ञान के अभ्यास से आत्मनिष्ठ बन जाता है, आत्मा द्वारा आत्मा में आत्मा का विचार करता है, और आत्मा शरीर से भिन्न है इस प्रकार के भेदाभ्यास

से पक्की निष्ठा हो जाने पर शरीर पर से उसका ममत्व छूट जाता है, देहा-ध्यास या देहासक्ति छूटने पर वही शरीर के बार-बार जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है। ऐसा आत्मनिष्ठ व्यक्ति स्वप्न में भी खुद शरीर में है, या शरीर खुद का है, इस प्रकार शरीर के प्रति आसक्ति या अध्यास नहीं करता। इसलिए स्वप्न में भी देह नष्ट हो जाय तो भी उसे रंज नहीं होता। ऐसे आत्मनिष्ठ को शरीर के आश्रित जाति, लिंग, वेष, वर्ण, प्रान्त, देश आदि का अभिमान (मद) नहीं होता। इसप्रकार का अन्तरात्मा जो कुछ भी प्रवृत्ति या क्रिया सोते या जागते करेगा, उसमें उसे पाप-कर्म का बन्ध नहीं होगा। शुभ और अशुभ दोनों भावों को वह कर्मबन्ध का कारण जान कर जहाँ तक हो सके, आत्मा शुद्ध भाव में ही रमण करेगा, जहाँ अशक्य होगा, वहाँ बिना मन से शुभ भाव को अपनाएगा, किन्तु अशुभभाव को तो हर्गिज नहीं अपनाएगा। इस प्रकार अन्तरात्मा आत्मा को सिद्धस्वरूप अनुभव करके आत्माराधन द्वारा परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा का तृतीय प्रकार : परमात्मा

जो आत्मा अनन्तज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण है, अठारह दोषों से रहित परम पवित्र है, शरीर के अध्यास के कारण होने वाली समस्त उपाधियों से से रहित है, जो इन्द्रियातीत ज्ञानादि अनन्तगुणों का भंडार है, वही परमात्मा है। उसका नाम चाहे जो कुछ हो। जैनदर्शन इतना उदार है कि वह किसी जाति, देश, वेष, वर्ण, लिंग आदि के साथ परमात्मपद को नहीं बांधता। किसी भी जाति, देश, वेष, वर्ण, संघ, या लिंग आदि का स्त्री-पुरुष आत्मा-राधन करके परमात्मा बन सकता है। ऐसा परमात्मा इन्द्रियातीत इसलिए है कि वह इन्द्रियों से परे है, इन्द्रियों का विषय नहीं है, जहाँ इन्द्रियाँ का विषय और बल काम नहीं कर सकते, जहाँ विकल्पात्मक बुद्धि कुंठित हो जाती है, वहाँ अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुणों की परिपूर्णता से ही परमात्मा परिलक्षित हो सकता है।

चूंकि पूर्वोक्त गाथा में समस्त देहधारी आत्माओं के ही ये तीन प्रकार बताए थे, इसलिए यहाँ समस्तकर्म, काया, आदि से मुक्त, सिद्ध निरंजन, अशरीरी परमात्मा का उल्लेख न कर देह में रहते हुए जो देहाध्यास से

सर्वथा मुक्त हो कर चार प्रकार के घातीकर्मों से भी मुक्त हो चुके हैं, ऐसा परमात्मा ही विवक्षित है। ऐसे परमात्मा वीतराग अतीतदोष हो कर स्वयं तरते हैं, और दूसरों को संसार-सागर से तरने का मार्ग बताते हैं।

ऐसा परमात्मभाव किसी के दे देने से नहीं मिलता, और न किसी की कृपा का फल है, यह तो अन्तरात्मा के स्वयं पुरुषार्थ से, स्वतःप्रेरित आत्म-साधना से प्राप्त होता है। इसी परमात्मभाव की सिद्धि प्राप्त करना अध्यात्मसाधक के जीवन का लक्ष्य है।

श्री आनन्दघनजी ने **'इम परमातम साध'** कह कर प्रत्येक आत्मनिष्ठ साधक के द्वारा वीतराग परमात्मा के चरणों में आत्म समर्पण एवं तदनुसार आत्म-साधना के स्वयं पुरुषार्थ से परमात्मत्व को सिद्ध करने का निर्देश किया है। साथ ही इससे अन्य दर्शनों की आत्मविज्ञान से विपरीत इस मान्यता का निराकरण भी द्योतित कर दिया है कि परब्रह्म परमात्मा कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, या परब्रह्म परमात्मा को आत्मसमर्पण करने के बाद सदा के लिए उसी की गुलामी, जी—हजूरी या उसके सामने स्वयं की लघुता प्रदर्शित करते रहना है और स्वयं में परमात्मपद प्राप्त करने की असमर्थता प्रगट करना है। वास्तव में निश्चयदृष्टि से तो परमशुद्ध आत्मा में सतत रमणता ही आत्मा की परमात्म-समर्पणता है, और उससे आत्मा स्वयमेव परमात्मा हो जाता है।

सारांश यह है कि इन तीनों गाथाओं में बताए हुए तीन प्रकार की आत्मा की अवस्थाओं का ज्ञान परमात्म-समर्पण के लिए आवश्यक है। 'मैं' और 'मेरे' की ममता से जब तक आत्मा घिरा हुआ रहता है, तब तक वह जीव आत्मा तो है, परन्तु बहिरात्मा समझा जाता है। जब आत्मा अपने को देह से भिन्न मान कर देहाध्यास छोड़ देता है, परभावों या आत्म-भिन्न सर्व वैभाविक भावों या पदार्थों में अहंता-ममता की मान्यता का त्याग करके शान्त, संयमी, व आत्मनिष्ठ बनता है, तब वह अन्तरात्मा कहलाता है, और जब वह पूर्ण अध्यात्मयोगी बनकर अपनी आत्मा में सर्वथा लीन हो जाता है, तब उसमें १८ दोष मिट जाते हैं, वह परम पवित्र, अनन्त गुणों की खान, और ज्ञानानन्द बन जाता है, तब परमात्मा बनता है।

किन्तु यथार्थ आत्मसमर्पण किस आत्मा की स्थिति में और कैसे होता है ? इस बात को बताने के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में में कहते हैं—

बहिरातम तजी अन्तर-आतमा-रूप थई थिर भाव, सुज्ञानी !
परमातमनुं हो आतम भाववुं, आतम-अर्पण-दाव, सुज्ञानी ॥५॥

अर्थ

हे सुज्ञानी ! बहिरात्मभाव को छोड़ कर, अन्तरात्मा के रूप में भावपूर्वक स्थिर हो कर अपनी आत्मा में परमात्मत्व-अवस्था की भावना करना ही आत्म-समर्पण का सच्चा दावा या उपाय है ।

भाष्य

आत्मसमर्पण का सच्चा उपाय

इस गाथा में आत्मसमर्पण का सहज स्वाभाविक और यथार्थ उपाय बताया है। सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही वास्तव में परमात्मा बनने का सरल उपाय है। इसमें हठयोग की, जप-योग की, या आसन-प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं आदि के जटिलतम उपायों की अपेक्षा नहीं है। कोई भी किसी भी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, देश या वेष का आत्मनिष्ठ व्यक्ति इस उपाय के द्वारा आत्मसमर्पण करके परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। इसमें न कोई बाह्य अध्ययन की जरूरत है और न ही बाह्य भौतिक साधनों या यन्त्र-मन्त्र-तंत्रादि में पारंगत होने की आवश्यकता है। इसमें सबसे बड़ी शर्त है—बहिरात्मभाव छोड़ने की ; जो आत्मा के अपने हाथ में है। यानी शरीर, शरीर के अवयव-हाथ, पैर, मस्तक, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि, तथा शरीर से सम्बन्धित कुटुम्ब, परिवार, जाति, देश आदि, एवं शरीर के आश्रित धन, धरा, धाम, जमीन, जायदाद आदि में जो तेरी आत्म-बुद्धि है, मैं और मेरापन है, आसक्ति है; तू यह मानता है कि ये मेरे हैं, मैं इनसे भिन्न नहीं हूँ, मैं इन सब वस्तुओं के रूप में हूँ, इत्यादि प्रकार के अनात्मभाव की मान्यता को

---

१. वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीतामें भी कहा है—

जिताऽत्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ अ. ६ श्लो. ३

छोड़ दे और अन्तरात्मा में हृदय और बुद्धि को एकाग्र कर दे; यानी शरीर, शरीर के अंगोपांग, परिवार, धन, जमीन, जायदाद आदि स्थावर-जंगम पदार्थ मेरे नहीं हैं, मैं इनका नहीं हूँ, मेरे गुण, स्वभाव, कार्य आदि इनसे भिन्न हैं, , ये सब पदार्थ या संयोग सम्बन्ध, क्षणिक हैं, नाशवान हैं, मैं अपने स्वभावरूप अविनाशी हूँ। शुभाशुभ कर्मो के संयोग के कारण मेरा और इनका मिलन (संयोग) हो गया है। मेरा स्वभाव इन सबको जानने-देखने (ज्ञाता-द्रष्टा) का है। इस प्रकार अन्तरात्मभाव में अपने आपको स्थिर कर दे।

इस प्रकार अन्तरात्मभाव में एकाग्र होने पर अपनी आत्मा में अहर्निश परमात्मत्व का विचार करना चाहिए। अर्थात्—प्रतिदिन यह विचार करे कि मेरी आत्मा ही (शुद्ध होने पर) परमात्मा है। निश्चयदृष्टि से मेरी आत्मा शुद्ध, है बुद्ध है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखमय है। मैं इन सब बाह्यभावों, अनात्मभावों से परे हूँ, मेरे अंग, स्वभावज या सहजात नहीं हैं, ये सब संयोगज हैं, तेरे से भिन्न हैं। इस प्रकार परमात्मत्व में आत्मत्व को विलीन कर देना, तद्रूप-तन्मय-तदात्मभावों से भावित कर देना ही सच्चे माने में सर्वांगीण आत्म-समर्पण है। इसमें एकमात्र आत्मभाव ही रहता है, निखालिस आत्मनिष्ठा ही रहती है, तात्पर्य यह है कि परमात्मा में अन्तरात्मा का समर्पण होने से परमात्मपद मिलता है, सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने का यही सबसे उत्तम फल है। यही आत्मसमर्पण की सर्वोत्तम, सरलतम विधि है। इसी पर से परमात्मरूपी मैदान में आत्मसमर्पण के खिलाड़ी का सच्चा दाव लग सकता है। यही परमात्मभावप्राप्ति का सच्चा उपाय है।

आत्मा को शरीरादि से भिन्न मान कर पृथक्-रूप से उसको वास्तविक रूप में पहिचाने विना केवल नाटकीय ढंग से अथवा औपचारिकरूप से किसी भी वीतरागप्रभु के केवल नाम जप, जयकार, या नृत्यगीत-भजन के द्वारा उनके चरणों में आत्मसमर्पण मानना बुद्धिभ्रम है,; ऐसे कच्चे आत्मसमर्पण या कच्ची भक्ति का परिणाम यह आता है कि बाह्यरूप से आत्मार्पण कर देने पर भी उनमें पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्र,राष्ट्र के, जाति-जाति के, धर्मसम्प्रदायों के आपसी झगड़े, रागद्वेष, मोह, स्वार्थ और वैरविरोध चलते रहते हैं; यानी वे अन्तर से पूरे बहिरात्मा बने रहते हैं। और इस प्रकार से बहिरात्मभाव में

रहते हुए नाटकीय ढंग से परमात्मा के चरणों में समर्पण करने वाला व्यक्ति परमात्मभाव प्राप्त नहीं कर सकता।

अब अन्तिम गाथा में परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण का वास्तविक लाभ बताते हुए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—

आतम-अर्पण वस्तु विचारतां, भरम टले, मतिदोष, सुज्ञानी !
परमपदारथ संपति संपजे,-'आनन्दघन'-रसपोष, सुज्ञानी !
सुमतिचरण० ॥६॥

अर्थ

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण के वस्तुतत्व का विचार करने से भ्रान्तियाँ, वहम या आशंकाएँ टल जाती हैं, बुद्धि के दोष (छद्‌मस्थ अवस्था के कारणरूप) नष्ट हो जाते हैं और अन्त में, मोक्षरूप परम पदार्थ एवं अनन्त-ज्ञानादि परम सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है ; जो अखण्ड शान्ति, शाश्वत एवं परिपूर्ण आनन्द के रस की पोषक होती है।

भाष्य

आत्मसमर्पण के वस्तुतत्व का विचार

वास्तव में आत्मसमर्पण का सच्चा लाभ साधक तभी उठा सकता है, जब पूर्वोक्त प्रकार से आत्मार्पण का स्वरूप समझे, उसके यथार्थ तत्व पर मनन चिन्तन करे। आत्मा क्या है ? क्या शरीर आत्मा है ? मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मा हैं या आत्मस्वभाव हैं ? क्या शरीर के अंगोपांग आत्मा हैं ?, या शरीर से सम्बन्धित परिवार, जाति, धर्मसम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त आदि आत्मा हैं ? अथवा धन, धाम, जमीन, जायदाद आदि आत्मरूप हैं ? अथवा कर्म, राग, ममत्व आदि आत्मा हैं ? इन सबका भलीभांति विश्लेषण —पृथक करके भेदविज्ञान करना आत्मा के वस्तुतत्व का विचार है और बहिरात्मभाव को छोड़ कर अन्तरात्म-भाव में स्थिर हो कर परमात्मतत्व में लीन हो जाना, तादात्म्यभाव से भावित होना समर्पण के वस्तु तत्व का विचार है। इस प्रकार आत्मसमर्पण का यथार्थ तत्त्व सोचे, विचारे एवं तद्‌रूप ध्यान करे।

यथार्थ चिन्तनपूर्वक आत्मसमर्पण से विविध लाभ

आत्मसमर्पण पर सांगोपांग विचार करने से सब भ्रान्तियां अपने आप

काफूर हो जाती हैं। जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही आत्मसमर्पण के स्वरूपज्ञान का प्रकाश होते ही, भ्रम का सारा अंधेरा दूर हो जाता है। वे भ्रम क्या हैं? शरीर और शरीर से सम्बद्ध सभी पदार्थों में आत्म-बुद्धि या मैं और मेरेपन का जो भ्रम था, जैसे अंधेरे में रस्सी में होने का भ्रम हो जाता है, दूर से सीप में चांदी का भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार अज्ञान एवं मोह के कारण परपदार्थों में अपनेपन के जो भ्रम पैदा हो गये थे, वे सब तत्त्वविचारणा से मिट जाते हैं।

इसके अलावा आत्मसमर्पण पर गहराई से तात्त्विक चिन्तन करने पर बुद्धि पर कुहासे की तरह जमे हुए सब दोष दूर हो जाते हैं। संसारी व्यक्ति की बुद्धि पर अनादिकालीन संस्कारवश जो अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, दुर्ध्यान, दुश्चिन्तन, दुश्चेष्टा, संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अनिश्चितता, चिन्ता, भय, आशंका आदि दोषों की परतों की परतें जमी हुई थी, वे पूर्वोक्त सद्विचार से उखड़ जाती हैं, बुद्धि में निश्चिन्तता व हलकापन महसूस होने लगता है। और श्रुतज्ञान से वढ़ते-वढ़ते जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, तो छद्म-स्थता के कारण ज्ञान पर पड़ा हुआ पर्दा भी हट जाता है,

इससे भी आगे चल कर आत्मसमर्पण के साधक को मोक्षरूप परमपदार्थ एवं अनन्तज्ञानादि आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है; उसे शाश्वत खजाना मिल जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, जन्ममरण के चक्र से, रागद्वेषादि के चंगुल से छूट जाता है, कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाता है और ऐसे अक्षय शाश्वत आनन्द के धाम में पहुँच जाता है, जहाँ पहुँचने के बाद लौटना नहीं होता, वहीं अखण्ड आनन्द के रस में वह निमग्न हो जाता है। वहाँ किसी का झंझट, चिन्ता, फिक्र, या किसी भी प्रकार की मोह-माया नहीं रहती है। वहाँ एकरस आनन्द रहता है।

सारांश

इस पंचम तीर्थंकर की स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा, इन तीन आत्माओं का स्वरूप बता कर परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण का वास्तविक उपाय, महत्व और लाभ बताया है।

६ : पद्मप्रभजिन-स्तुति—

आत्मा और परमात्मा के बीच अंतर-भंग

(तर्ज—चाँदलिया, सन्देशो कहेजे मारा कान्त ने....राग मारु व सिन्धुड़ो)

पद्मप्रभ जिन तुझ मुझ आंत रे, किम भांजे भगवन्त ?
कर्मविपाके कारण जोईने रे, कोई कहे मतिमन्त ॥

पद्मप्रभजिन० ॥१॥

अर्थ

हे पद्मप्रभ, वीतराग परमात्म देव ! आपके और मेरे बीच में जो अन्तर (दूरी) पड़ गया है, हे भगवन् ! वह अन्तर कैसे दूर (नष्ट) हो सकता है ? कर्मफल का ज्ञाता कोई बुद्धिमान पुरुष (परमात्मा और आत्मा के बीच में दूरी का कारण कर्मों को जान कर) कहता है—कर्मों का परिपाक (कर्मफल-भोग) होने पर ही यह अन्तर मिट सकता है ।

भाष्य

परमात्मा और आत्मा के बीच में दूरी का कारण : कर्म

इससे पहले की स्तुति में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का लक्षण बता कर बहिरात्मभाव को छोड़ कर अन्तरात्मा में स्थिर होकर आत्मा में परमात्मत्व की भावना करने से परमात्मपद की प्राप्ति बताई गई थी; उससे स्पष्ट हो गया कि सामान्य जीव जब तक बहिरात्मा बना रहेगा, तब तक उसके और परमात्मा के बीच में बहुत ही दूरी रहेगी। अतः अब इस स्तुति में उसके सम्बन्ध में दो प्रश्न उठाये गये हैं—पहला प्रश्न यह है कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच में जो दूरी है, वह किस कारण से है ? और दूसरा यह कि वह अन्तर कैसे दूर हो सकता है ?

निश्चयनय की दृष्टि से यह बात तो स्पष्ट है कि "अप्पा सो परमप्पा' 'आत्मा ही परमात्मा है।' और यह बात भी यथार्थ है कि जिस जीवात्मा

के परिणाम बहिरात्म भाव से हट जाते हैं और जिसकी परिणति और स्थिरता अन्तरात्मा में हो जाती है, ऐसा अन्तरात्मभावरत जीवात्मा ही परमात्मा बनने के लिए उत्सुक और तत्पर होता है। परन्तु जब वह व्यवहारदृष्टि से देखता है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न होते हुए भी वर्तमान में तो मेरे और परमात्मा के बीच में तो करोड़ों कोसों का अन्तर है। मैं मध्यलोक में हूँ और परमात्मा लोक के अग्रभाग पर हैं, मेरे से सात रज्जूप्रमाण लोकभूमि पार करने के तुरन्त बाद, ही लोक के शिखर पर हैं। इतना अधिक फासला (Distance) तो मेरे और परमात्माके बीच में |क्षेत्रकृत है। कालकृत दूरी भी है, कि भगवान् पद्मप्रभु अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में मुक्त (सिद्ध) परमात्मा बन चुके हैं और मैं पंचम आरे में हूँ; यानी काल का फासला भी काफी हो चुका है और आगे भी न जाने कितना काल अभी और लगेगा, आपके पास पहुँचने तक में। द्रव्यकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच में काफी है। परमात्मा वर्तमान में सिद्ध हैं, मुक्त हैं, गति जाति-शरीरादि से रहित हैं और मैं वर्तमान में सिद्ध बुद्ध-मुक्त नहीं हूँ। गति-जाति शरीरादि से संयुक्त हूँ, मैं वर्तमान में सिद्धत्व से रहित हूँ, पर्यायरूप के अशुद्ध हूँ। कहाँ वे शुद्धअनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य से युक्त और कहाँ मैं अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, चारित्र और वीर्य में भी बहुत पिछड़ा हुआ! कितना अन्तर है! और भावकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच में काफी है। वे रागद्वेषरहित सहजानन्दी शुद्ध और निखालिस आत्मभावों से भरे हुए हैं, मैं अभी रागद्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मान-मोहादि कषाय भावों से संयुक्त हूँ। अतः मुझे आश्चर्य होता है कि परमात्मा के और मेरे बीच में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जो इतना अन्तर (फासला) पड़ गया है, वह क्यों पड़ गया है? जबकि द्रव्य-स्वभाव की दृष्टि से मेरी और परमात्मा की आत्मा में ऐक्य है, समानता है। अतः श्री आनन्दघनजी जिज्ञासाभाव से पूछते हैं कि आपके और मेरे बीच में जो इतना अन्तर पड़ गया है, वह किस कारण से है? व्यवहारनय की दृष्टि से जब उन्होंने सोचा तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया कि परमात्मा के और मेरे बीच में जो इतना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृत अन्तर पड़ गया है, उसका मूल कारण है—मेरे वैभाविक गुण का अशुद्ध परिणमन और निमित्त कारण है कर्म। क्योंकि परमात्मा समस्त कर्मों से रहित होने के कारण क्षेत्र

से भी हमसे बहुत दूर चले गये, काल से भी वे कर्म नष्ट होते ही काफी पहले पहुँच गए, हम बहुत पीछे रह गए। द्रव्य और भाव से भी कर्मों के सर्वथा नष्ट होते ही उनके और हमारे बीच में इतना अन्तर हो गया कि वे सिद्ध, बुद्ध मुक्त, अनन्तज्ञानदर्शनमय हो गए, और हम अभी कर्मों से घिरे होने के कारण ही बन्धन में जकड़े हैं, संसारी हैं, ज्ञान-दर्शन भी हम में अभी परोक्ष और अल्प हैं। राग-द्वेष-मोह आदि विकार भी कर्मों के ही कारण हैं, और इनके रहते और नये कर्म भी हम बांध लेते हैं।

परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच का अन्तर

जब यह निश्चय हो गया कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच में काफी अन्तर है, और वह कर्मों के कारण है, तब श्री आनन्दघनजी इतने अन्तर को सहन न कर सके। वे परमात्मादर्शन के लिए तो जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हो गए और अन्तरात्मा की भूमिका तक आ पहुँचे, तब इस कर्म के अभाव और सद्भाव को ले कर रहे हुए अन्तर को दूर करने के लिए वे परमात्मा के सामने अन्तर्हृदय से पुकार उठे—"**पद्मप्रभ जिन तुझ मुझ आंतरू रे; किम भांजे भगवंत ?**"

परन्तु परमात्मा तो अशरीरी, निरंजन, निराकार, सिद्ध (मुक्त) होने के कारण उनकी यह आवाज सुन नहीं सकते, किन्तु अपने ज्ञान में इसे जान तो सकते हैं, मगर ज्ञान में जान लेने के बावजूद भी वे निराकार, अशरीरी, वाणी रहित होने के कारण उत्तर तो दे नहीं सकते। अतः श्रीआनन्दघनजी की हार्दिक जिज्ञासा को शुद्धबुद्धि वाले गुरुदेव सुन कर बोले-'परमात्मा में कर्म नहीं है, कर्म-विपाक नहीं है, कर्मबन्धन का कारण ही नहीं रहा; इसलिए वे परम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सहजानंदी शुद्धस्वरूपी, सिद्ध परम-आत्मा (परमात्मा) हैं, तुम में अभी कर्म हैं, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि हैं, जिनसे तुम में कर्मबन्धन का कारण है। तुम में कर्म-उपार्जन की क्रिया होती है, कर्म क्रिया से बनते हैं। इसलिए कर्मफलयोग (कर्मविपाक) तुम में होता है। क्योंकि कर्म ही बन्धनरूप बन कर शुभाशुभ फल चखाते हैं। जब तक ये कर्म फल दे कर (कर्म भोग कर) क्षय नहीं हो जाते, झड़ नहीं जाते, तब परमात्मा और आत्मा के बीच में अन्तर रहेगा। जीवात्मा कर्म के फल भोगने

(विपाक) के समय में अगर समताभाव में या आत्मभावों में स्थिर रह नहीं सकता, प्रत्युत राग, द्वेष मोह, लोभ आदि करता रहता है। इसी कारण आत्मा और परमात्मा के बीच में अन्तर पड़ा हुआ है। अगर यह अन्तर नष्ट करना हो तो सर्वप्रथम कर्मबन्ध के कारणों-मिथ्यात्वादि-को पहले सर्वथा नष्ट कर दो। जब कर्मबन्ध के कारण नष्ट हो जायेंगे तो नये कर्मों का बन्ध नहीं होगा, तथापि पुराने कर्म, जो सत्ता में पड़े हैं, वे एक न एक दिन अपने-अपने विपाक (परिपाक) का फल दे कर अवश्य नष्ट हो जाएँगे। अतः अगर तुमने इतनी सावधानी रखी कि जब कर्म फल देने आवें तब (फलोपभोग के समय) समत्व-भाव- आत्मभाव- में स्थिर रहोगे तो तुम्हारे पुराने कृतकर्म नष्ट हो जायेंगे, और नये सिरे से नये कर्म आते हुए पहले से ही रुक जायेंगे। इस प्रकार कर्मों के समभावपूर्वक फलभोग होने से ही तुम्हारी आत्मा और परमात्मा के बीच में जो अन्तर है, वह नहीं रहेगा। तुम और परमात्मा एकमेक हो जाओगे। तुम्हारी आत्मा ही शुद्ध हो कर परमात्मा बन जायेगी। फिर परमात्मा और तुम्हारी आत्मा के बीच में न क्षेत्रकृत दूरी रहेगी, न कालकृत; और न ही द्रव्यकृत अन्तर रहेगा, न भावकृत कोई अन्तर रहेगा। तात्पर्य यह है कि कर्मों को काट देने पर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहेगा।[1]

कई ईश्वरकर्तृत्ववादी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा मानते हैं कि परमात्मा की कृपा होगी तो कर्म स्वयमेव कट जायेंगे अथवा कर्मफल देने वाले तो भगवान हैं, उनसे माफी मांग लो, उनकी सेवाभक्ति (केवल गुणगान, चापलूसी आदि) करके उन्हें रिझा लो। वे प्रसन्न हो कर पाप माफ कर देंगे, तुम्हारे पापकर्म धो देंगे, उन सबका खण्डन इस गाथा से हो जाता है।

जब शुद्धबुद्धियुक्त गुरुदेव या ज्ञानी पुरुष से यह स्पष्ट उत्तर मिल गया कि परमात्मा के और तुम्हारी आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का अचूक उपाय कर्मों को समभाव से भोग कर काटना है! तब श्रीआनन्दघनजी के मन

---

१. देखिए उन्हीं के धर्मग्रन्थ भगवद्गीता में-

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते॥

में सहसा प्रश्न उठता है कि वे कर्म कितनी किस्म के हैं ? वे कैसे-कैसे बंधते हैं ? कितने-कितने काल तक वे ज्यादा से ज्यादा आत्मा के साथ ठहर सकते हैं ? उन कर्मों में तीव्रता-मन्दता आदि कैसे होती है ? जिससे उन्हें भोगते समय अधिक या कम दुःख महसूस हो ? ये और ऐसे अन्तर्मानस उठे हुए प्रश्नों का वे अगली गाथा द्वारा संक्षेप में समाधान करते हैं —

पयई-ठिई अणुभाग-प्रदेशथी रे, मूल-उत्तर बहुभेद।
घाती-अघाती हो, बन्धोदय-उदीरणा रे, सत्ता कर्मविच्छेद ॥
पद्मप्रभजिन० ॥२॥

अर्थ

प्रकृति (निश्चित स्वरूप के फल देने के कर्मों का स्वभावरूप बन्ध), स्थिति (कर्मों का आत्मा के साथ कर्मत्वरूप में रहने का कालसीमारूप बंध) अनुभाग (कर्मों की फल देने की न्यूनाधिक शक्ति) (रसरूप) बन्ध और प्रदेश (कार्माण-वर्गणानुसार कर्मपुद्‌लों के न्यूनाधिक जत्थों का नियमनरूप बन्ध) इन चारों प्रकार के बन्धों से, फिर कर्मों की मूल (मुख्य) तथा उत्तर (अवान्तर) प्रकृतियाँ अनेक भेदों वाली हैं, फिर कर्म भी दो प्रकार के है— घातीकर्म, और अघाती कर्म तथा कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारों को समझ कर इन सभी का विच्छेद (विनाश) कर देना ही परमात्मा के और आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का उपाय है।

भाष्य

चार प्रकार से कर्मों के बन्ध

आत्मा के साथ कर्मों के लगने का सारा तत्त्वज्ञान जब तक न समझ लिया जाय, तब तक साधक न तो कर्म-संयोगों को आत्मा से अलग करने की बात सोच सकता है और न ही वह परमात्मा और अपने बीच के अन्तर को तोड़ने का सही पुरुषार्थ कर सकता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम कर्म के लगने के ५ मुख्य कारण बताए हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके अवान्तर भेद ५७ हैं, इन सबको बन्धहेतु कहते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का संयोग इन ५७ बन्धहेतुओं में से एक या अनेक हेतुओं की

उपस्थिति होने पर होता है। सर्वप्रथम तो बन्ध के हेतुओं पर विजय प्राप्त करना चाहिए। जब किसी कर्म का बन्धन होने लगता है, तब प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश; ये चार बातें मुकर्रर हो जाती हैं। आइए, शास्त्र-प्रसिद्ध मोदक के दृष्टान्त पर से इसे समझ लें—

प्रकृतिबन्ध—जैसे कोई मोदक वातरोगहर्ता होता है, कोई पित्तनाशक, तो कोई कफविनाशक होता है, और वे उन-उन द्रव्यों से बनाये जाते हैं, उसी प्रकार कर्म भी विभिन्न स्वभाव के होते हैं, वे विभिन्न कारणों से अलग-अलग प्रकृति के होते हैं, कई कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को रोकते हैं, कई दर्शन की शक्ति को, कई सुख या दुःख पैदा करने वाले हैं, कई मोहमाया में फँसाने वाले होते हैं, कई शरीर की आयु प्रदर्शित करने वाले, कई शरीर की आकृति बनाने वाले, कई जाति में न्यूनाधिकता करने वाले हैं, कई लाभ, शक्ति आदि को रोकने वाले होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक कर्म की प्रकृति (स्वभाव) नियत करने व बताने वाला बन्ध प्रकृतिबन्ध होता है।

स्थितिबन्ध—जैसे विभिन्न मादकों के अच्छे रहने, बिगड़ने लगने या बिगड़ जाने की अवधि होती है, वैसे ही विभिन्न कर्मों की आत्मा के साथ स्थिति (टिके रहने की कालमर्यादा) को स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मों की स्थिति भी शुभ-अशुभ आदि अनेक अध्यवसायों के अनुसार बँधती है। स्थितिबन्ध में यह मुकर्रर होता है कि अमुक कर्म कब फल देगा, फल देने लगने के बाद कितने समय तक वह फल देगा, अथवा कितने समय तक अमुक कर्म किसी प्रकार का फल दिये बिना आत्मा के साथ जुड़ा रहता है?

रस (अनुभाग) बन्ध - जिस प्रकार लड्डुओं के रसों में भी कोई मीठा, कोई फीका, कोई तीखा, कोई कसैला या स्निग्ध होता है तथा कोई एक गुना मीठा, कोई दो गुना, कोई तीन गुना मीठा, चरपरा आदि होता है। इसी प्रकार कर्मों के रसों में भी विभिन्नता होती है। रसबन्ध भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम, तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम आदि अनेकविध अध्यवसायपूर्वक की गई क्रिया के अनुसार नियत होता है। किस कर्म की मन्दता या गाढ़ता कितनी है, यह रस (अनुभाग) बन्ध में ही मुकर्रर होता है।

प्रदेशबन्ध—जिस प्रकार लड्डू बाँधते समय कोई आधा पाव का, कोई पावभर का, कोई आधा सेर और कोई सेरभर का भी बाँधा जाता है, कई

कई लड्डू छोटे होते हैं, कई बड़े होते हैं। इसी प्रकार कर्मों की वर्गणा (संख्या) जिसमें नियत होती है, कि अमुक कर्म कितनी कर्मवर्गणा का बना हुआ है। तदनुसार एक-दो हजार-लाख वगैरह की संख्या नियत की जाती है। तथा अमुक-अमुक (कर्मप्रदेशों) कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों के जत्थों का नियमन भी प्रदेशबन्ध में होता है।[1]

उक्त दृष्टि से प्रत्येक कर्मबन्ध चार-चार प्रकार का समझना चाहिए। **प्रकृति**—कर्मों की मूल प्रकृतियाँ ८ हैं—(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुष्य, (६) नाम, (७) गोत्र, (८) अन्तराय। इन आठों की उत्तर-प्रकृतियाँ १५८ हैं[2]—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ६, वेदनीय की २, मोहनीय की २८, आयुष्य की ४, नामकर्म की १०३, गोत्रकर्म की २, और अन्तरायकर्म की ५।

घाती-अघाती कर्म—इन आठों कर्मों और उनकी उत्तरप्रकृतियों में से ४ घातीकर्म हैं और ४ अघातीकर्म हैं।

बन्ध—आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसायों अर्थात् भावकर्मों के निमित्त से आत्म-प्रदेशों के साथ कर्मपुद्गलों का क्षीर-नीर-न्याय से जुड़ जाने से द्रव्यकर्म-दल का ग्रहण होता है और प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप में बन्धने यानी कर्मों के आत्मप्रदेश के साथ जुड़ जाने के कारण बन्ध (कर्मबन्ध) कहलाता है। १ से ले कर १४ गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में कितने कर्मों का बन्ध होता है, इसका विचार भी बन्ध के अन्तर्गत किया जाता है।

उदय—जो शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ बन्धे (लगे) हैं, उनका काल जब परिपक्व हो कर कर्मफल देने को तैयार होता है, उस उदयकाल को उदय कहते हैं। किस गुणस्थान में कितने-कितने कर्म उदय में आते हैं, जब कर्म

---

१. चारों बन्धों का लक्षण श्लोक में देखिए—

'प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागो रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसंचयः।

२. इसका विशेष विस्तार कर्मग्रन्थ आदि से समझ लेना चाहिए।

किसी योग्य समय पर फल देते हैं, तब समझा जाता है कि अमुक कार्यों का उदय हुआ। कर्मोदय के कारण कैसे-कैसे फल भोगने पड़ते हैं ? इसका भी पता उदय से लगता है।

उदीरणा—जिन कर्मों का उदयकाल अभी तक नहीं आया, उन उदीरणा-योग्य कर्मों को किसी अनुष्ठानविशेष या प्रसंगविशेष के निमित्त से कर्म-फल शीघ्र भोगे जाने की योग्यता पैदा हो जाना और फलाभिमुख होने पर उनका भोगा जाना तथा फल दे कर निवृत्त हो जाना कर्मों की उदीरणा कहलाती है। उदीरणा में देर से फल देने वाले कर्म बहुत ही जल्दी फल देने योग्य बन जाते हैं। कौन-से गुणस्थान में कितने कर्मों की उदीरणा होती है, इसका विचार कर्मग्रन्थ आदि में इसी के अन्तर्गत बताया गया है।

सत्ता—उदयकाल से पहले जो कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं, भोगे नहीं जाते, जो कर्मफल देने ले लिए सम्मुख नहीं आए। फिर भी उनमें फल देने की शक्ति है; वे अभी स्टॉक में पड़े हैं, उन्हें सत्ता कहते हैं। किस गुण-स्थान में कितने कर्मों की सत्ता है, इसका भी विचार इसी के अन्तर्गत है।

इस प्रकार कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता कब, कौन-से गुणस्थान में, और कैसे होते हैं ? इस विषय में भलीभाँति समझना चाहिए।

प्रकृतिबन्ध आदि से ले कर सत्ता तक की जो बातें कर्म के सम्बन्ध में यहाँ बताई गई हैं, वे इसलिए कि साधक इस बात को भलीभाँति दिल में बिठा ले कि कि इन कर्मों के कारण ही उसके और परमात्मा के बीच में जुदाई है, अलगाव है। अतः अब वह आत्मसाक्षी से सीधा पुरुषार्थ करने लग जाय, इसी से उसके उक्त कर्मबन्धों, मूल-उत्तर कर्मप्रकृतियों, घाती-अघाती कर्मों, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तारूप कर्मों को काटने का पुरुषार्थ सफल होगा। और

---

१. बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारों के विषय में दूसरे कर्मग्रन्थ, प्रज्ञापनासूत्र, कम्मपयडी, गोमटसार आदि में विस्तृत चर्चा है। पाठक वहीं से देख लें।

तभी उसके कर्मों का विच्छेद होगा और वह परमात्मा के निकट पहुँचेगा। अब तक वह आत्मभाव की उपेक्षा करके विभाव-भाव में मग्न हो कर उलटा पुरुषार्थ करता रहा, इसी से कर्मबन्ध हुआ, जिससे परमात्मा से उसका अन्तर पड़ा। कर्म बाँधने का पुरुषार्थ करने वाला भी तू है, तो कर्मों को क्षय करने का पुरुषार्थ करने वाला भी तू ही है।

पूर्वोक्त गाथा से यह स्पष्ट हो गया कि जीव के साथ लगे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से मूलप्रकृति और उत्तरप्रकृति तथा घाती व अघाती के रूप में जो बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के रूप में स्थित कर्म हैं उन्हीं के कारण ही परमात्मा और जीवात्मा में अन्तर है। अतः कर्मों का विच्छेद होने पर ही जीवात्मा-परमात्मा के बीच का अन्तर टूट सकता है। इतना स्पष्ट कर देने के बावजूद भी यह शंका होती हैं कि आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप है, उस पर कर्म आए ही क्यों ? आए हैं तो वे कब से आए हैं ? कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का संयोग कब से है ? पहले कर्म था या पहले आत्मा ? यहाँ आत्मा संसारी कब से बनी, कब तक रहेगी ? आत्मा के साथ कर्मों का सम्बन्ध किस प्रकार का है ? इन दोनों का सम्बन्ध कौन जोड़ता है ? इन सब शंकाओं का समाधान श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में करते हैं—

कनकोपलवत्, पयड़ी पुरुषतणी रे, जोड़ी अनादि स्वभाव,
अन्यसंजोगी जिहाँ लगी आतमा रे, संसारी कहेवाय ॥
पद्म० ॥३॥

अर्थ

अनादिकाल से अपने स्वभाव से जैसे सोने का टुकड़ा और मिट्टी दोनों जुड़े (मिले) रहते हैं, वैसे ही सोने सरीखी आत्मा जब तक दूसरे (कर्मआदि) के साथ जुड़ी हुई है, तब तक वह संसारी कहलाती है।

भाष्य

यहाँ मुख्यतया यह बताने का प्रयास किया है कि आत्मा अपने आप में शुद्ध बुद्ध होते हुए भी जब तक शरीर के साथ सम्बद्ध है, तब तक उसका परमात्मा के साथ मिलना दुष्कर है। दूसरी बात यह बताई गई है कि कर्म और आत्मा का यह सब सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि आत्मा कर्मों के साथ तद्रूप बन गई हो, ऐसा होने पर तो कर्मों का आत्मा से अलग होना ही असम्भव हो

जायगा। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इन दोनों के सम्बन्ध को कनक और उपल यानी सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की उपमा दी है। सोना मिट्टी में मिला है, परन्तु वह कब से उसके साथ मिला हुआ है? इसे ठीक से कहा नहीं जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि मिट्टी मिला हुआ सोना मिट्टी से एक दिन अलग किया जा सकता है, भले ही वह अनादिकाल से हो—उसका काल निश्चित न हो। मिट्टी से सोना अलग होने पर ही वह अपने पूर्ण शुद्ध रूप में आता है इसलिए मिट्टी और सोने का सम्बन्ध संयोगसम्बन्ध है। किन्तु मिट्टी का सोने के साथ संयोग किसने किया? कब किया? मिट्टी पहले मिली थी या सोना पहले मिला था? इन प्रश्नों का जैसे कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता, वैसे ही जीवात्मा का कर्मों के साथ संयोग के सम्बन्ध में जान लेना चाहिए। व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मों के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्वयं आत्मा के द्वारा कृत होता है, दूसरा कोई जीव या ईश्वर आत्मा के साथ कर्मों का संयोग मिलाता है, यह बात असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि यदि ईश्वर ही कर्मका संयोग कराता है, तो ईश्वर ही कर्म से वियोग (मुक्ति) करा सकता है। यदि ईश्वर के हाथ में ही जीवों के कर्मो की मुक्ति हो तो किसी भी जीव को कर्मक्षय करने और कर्मो से मुक्त होने के लिए कोई पुरुषार्थ करने की जरूरत नहीं रहेगी; न व्रत या महाव्रतादि-धारण करने की आवश्यकता रहेगी। परन्तु यह बात मानने पर ईश्वर प्रपंची, रागी, द्वेषी, अन्यायी आदि ठहरेगा, जैसे कि उसका स्वरूप कतई नहीं है। अतः आत्मा का कर्मों के साथ संयोग-सम्बन्ध स्वयंकृत है। परन्तु यह संयोग कबसे है? एक आत्मा की दृष्टि से प्रवाहरूप से आत्मा और कर्मों का संयोग सम्बन्ध अनादि है। आत्मा पहले कर्मों से मिली थी या कर्म आत्मा से मिले थे? यह अतिप्रश्न है, जिसका समाधान बीजवृक्ष-न्याय से दिया जाता है कि बीज पहले था या वृक्ष पहले था? मुर्गी पहले थी या अंडा पहले था? दोनों की प्राथमिकता सापेक्ष है। इसलिए इस पर ज्यादा गौर न करके यही सोचा जाय कि आत्मा और कर्मो का सम्बन्ध प्रवाहरूप से भले ही अनादिकालीन हो, मगर एक न एक दिन उसका अन्त आ सकता है, जिन कारणों से उसका संयोग हुआ है, उन कारणों को मिटा देने पर आत्मा स्वर्णवत् शुद्ध कर्ममलरहित बन सकती है। जैसे कर्मबन्ध का पुरुषार्थ व्यवहारदृष्टि से आत्मकृत है, वैसे ही कर्ममुक्ति का पुरुषार्थ भी आत्मकृत है। यहाँ कर्म के

वदले 'अन्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है, इसलिए कर्म के अतिरिक्त जो भी परभाव (आत्मा से भिन्न भाव) हैं; उनके साथ संयोग-विच्छेद का पुरुषार्थ होने पर एक दिन उनसे मुक्ति हो सकती है और आत्मा अपने आप में शुद्ध, बुद्ध मुक्त हो जाएगी और तव आत्मा और परमात्मा के वीच का अन्तर खत्म हो जाएगा, वह परमात्मरूप वन जाएगी ।

जैसे सोने को मिट्टी से अलग होने के लिए अमुक अमुक प्रक्रियाओं में से गुजरना पड़ता है, वैसे ही आत्मा को कर्मों या परभावों से अलग होने के लिए भी धर्मध्यान आदि प्रक्रियाओं में से उसे गुजरना आवश्यक है ।

जव तक आत्मा का कर्मों या परभावों के साथ वदस्तूर सम्बन्ध न्यूनाधिकरूप में चलता रहेगा, तव तक वह [जीवात्मा] संसारी कहलाएगा, वह परमात्मा-[शुद्ध] रूप तभी कहलाएगा, जब कर्मों [परभावों] से सर्वथा रहित हो कर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हो जाएगा ।

जीव [आत्मा] के मुख्यतया दो भेद हैं-सिद्ध और संसारी । जव तक प्राणी संसारी होता है, तव तक एक गति से दूसरी गति में और एक योनि से दूसरी योनि में वारवार भटकता रहता है । संसार में भी चारगतियों और चौरासी लाख जीवयोनियों में से वह किस गति और किस योनि में जा कर पैदा होगा, यह भी शुभाशुभ कर्मों के अधीन है । यद्यपि कर्मवन्ध मनुष्य द्वारा स्वयमेव होता है, जिसका कर्मफल भी स्वयमेव भोगना होता है । कई लोग यह कह देते हैं कि कोई भी प्राणी अपने कृत कर्मों का अशुभ फल स्वयं भोगना नहीं चाहता, इसलिए तथाकथित ईश्वर को वीच में कर्मफल भुगवाने के लिए माध्यम माना गया । मगर जैनदर्शन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ईश्वर को वीच में नहीं डालता; वह कहता है कि कोई प्राणी चाहे या न चाहे, कर्मों में स्वतः तद्रूप परिणमन की तथा फल देने की शक्ति है । जैसे मिर्च खाने पर मुँह अपने आप जल जाता है, उसके लिए किसी दूसरे को माध्यम वनाने की जरूरत ही नहीं होती । कर्म स्वतः ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप में वर्गीकृत हो कर वंध जाते हैं । समय पर स्वयमेव फल दे देते हैं, जिसे प्राणी को भुगतना पड़ता है । कर्म अपना फल प्राप्त कराने देने में स्वतंत्र हैं । वे अन्य किसी फलदाता या माध्यम की अपेक्षा नहीं रखते । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—"जहाँ तक आत्मा कर्मों से

लिप्त—कर्मों से संयुक्त है, तब तक वह संसारी है, सिद्ध या मुक्त नहीं। अतः यदि आत्मा से परमात्मा तक का अन्तर दूर करना हो तो कर्मों से सर्वथा मुक्त शुद्ध, और स्वरूपनिष्ठ होना आवश्यक है। तभी वह संसारी मिट कर सिद्ध (मुक्त) कहलाएगा। फिर उसके जन्ममरण का चक्र भी मिट जाएगा। यहाँ फिर एक सवाल पैदा होता है कि यह तो समझ में आ गया कि कर्म आदि अन्य के साथ जब तक आत्मा का संयोग है, तब तक वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती, परन्तु पृथक् पृथक् कर्मों के साथ संयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध कराने वाला यानी कर्मों का वर्गीकरण (Classification) करने वाला कौन है? जिससे उसके फल में अन्तर पड़ जाता है और क्या उन कर्मों के साथ संयोग होने से आत्मा को रोका जा सकता है? यदि रोका जा सकता है तो कैसे? और किसके द्वारा? इन सबके समाधान-हेतु अगली गाथा प्रस्तुत है—

कारण जोगे हो बांधे बंधने रे, कारणे मुगति मुकाय।
आश्रव-संवर नाम अनुक्रमे रे, हेय-उपादेय गणाय॥

पद्मप्रभजिन० ॥४॥

अर्थ

अमुक-अमुक कारणों के मिलने पर अमुक-अमुक कर्मों का बन्ध होता है, अमुक-अमुक करणों के मिलने पर कर्मों से मुक्त हो कर आत्मा मुक्त भी हो सकती है। आत्मा जब कर्मबन्धन करती है, तब कर्मों के उक्त प्रवाह के आगमन को आश्रव और नये कर्मों के निरोध (रोकने) को संवर कहते हैं, जो क्रमशः हेय और उपादेय कहलाते हैं।

भाष्य

कारणों से बंध और कारणों से मोक्ष

आत्मा और परमात्मा के बीच में दुई डालने वाले कर्म हैं; यह बात निश्चित हो जाने पर सवाल उठता है कि कर्म किन-किन कारणों से बंधते हैं, और किन कारणों से छूटते हैं? पहले संभवदेव परमात्मा की स्तुति में स्पष्ट बताया जा चुका है कि कोई भी कर्म विना कारण के कदापि सम्भव नहीं है। कर्त्ता द्वारा कार्य होगा तो उसके कारण होंगे ही। प्रत्येक कार्य में कई कारण होते हैं। यहाँ यह भी बताना अभीष्ट है कि कर्मबन्धनरूप कार्य भी किन्हीं

कारणों से होता है, और कर्ममोक्ष भी किन्हीं कारणों से। सामान्यरूप से कर्मबन्धन के मुख्यतया ५ कारण शास्त्र में बताये हैं— १मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इन्हीं पाँचों कारणों को आश्रव कहा गया है। और इन्हीं कारणों से मुक्त होने पर आत्मा कर्मों से मुक्त होती है। कर्ममुक्त होने के भी ६ कारण बताये हैं— ५ समिति, ३ गुप्ति १० श्रमणधर्म, २२ परीषहजय, तथा चारित्र-पालन एवं १२ प्रकार के तप। इन्हें ही एक शब्द में संवर कहा गया है।

आश्रव और संवर हेय-उपादेय क्यों ?

इन दोनों में आश्रव त्याज्य है। यद्यपि कई लोग व्यवहारनय की दृष्टि से ऐसा मान लेते हैं कि शुभ-आश्रव (पुण्य) कथञ्चित् उपादेय है, जब तक कर्मो से सर्वथा मुक्ति न हो, तब तक उसे छोड़ा नहीं जा सकता, छोड़ना नहीं चाहिए। परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से यह बात वास्तविक नहीं जचती है। निश्चयनय की भाषा में यों कहा जा सकता है कि शुभाश्रव (पुण्य) छोड़ने योग्य ही है। कर्मों से सर्वथा मुक्त होने पर उसे छोड़ना नहीं पड़ता, वह स्वयं छूट जाता है। इसी प्रकार शुभकर्मों को ग्रहण करना नहीं पड़ता, और न ही आत्मा अपने गुणस्वभावों के सिवाय किसी को खींचता है। शुभकर्मो को लाचारी से छोड़ नहीं सके, यह अलग बात है। क्योंकि अशुभ आश्रव (पाप) से तो सदैव बचना चाहिए। इसलिए अशुभकर्मो (आश्रवों) को छोड़ने या उनसे बचने के लिए मुख्यतया शुद्ध भावों (स्वगुणस्वभाव) में प्रवृति हो, अगर शुद्धभावों में सतत प्रवृत्त न रह सके तो कम से कम शुभभावों (शुभाश्रवों) में तो प्रवृत्त रहना उचित है। इसी दृष्टि को ले कर व्यवहारदृष्टि से शुभाश्रव कथञ्चित् उपादेय माना जाना है; किन्तु मुमुक्षु के लिए है वह हेय ही। क्योंकि उससे कर्ममुक्ति तो होती नहीं, कर्मबन्धन ही होता है, जन्म-मरण की परम्परा ही बढ़ती है।

इसी प्रकार कर्ममुक्ति के जो कारण बताये गए हैं, या सम्यग्दर्शन, सम्यग्, ज्ञान, और सम्यक्चारित्र को जो मोक्ष के कारण बताये गये हैं, वे व्यवहारनय

---

१. मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाययोगाः बन्धहेतवः। स आश्रवः।
२. स समिति-गुप्ति-धर्मानुप्रेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः, तपसा निर्जरा च ॥
—तत्त्वार्थसूत्र

की दृष्टि से बताये गये हैं। निश्चयनय की दृष्टि से तो स्वभाव, स्वगुण या स्वस्वरूप में रमणता ही कर्ममुक्ति का यथार्थ उपाय है। वही निश्चयदृष्टि से संवर और निर्जरा है, जो उपादेय है। आश्रव को इसलिए हेय बतलाया गया कि इससे आत्मा कर्मों के बंधन में जकड़ कर चिरकाल तक संसार के जन्ममरण के चक्र में परिभ्रमण करती रहती है। संवर को इसलिए उपादेय बताया कि यह आत्मा को कर्मों के बन्धन में पड़ने से रोक कर अपने स्वरूप में स्थिर करता है और चिरकालीन जन्ममरण के चक्र से मुक्त कराता है।

आश्रव और संवर के लक्षण

जिस कारण से प्राणी कर्मों के बन्धन से बंध जाता है, उसे बंध कहते हैं। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी जल का आना आश्रव है। आश्रव में कर्मों के आगमन के स्रोत (द्वार) खुले होते हैं, जबकि संवर में कर्मों के आगमन के स्रोत (द्वार) बंद होते हैं। जीवरूपी तालाब में कर्मरूपी जल का आना बन्द हो(रुक) जाय, उसे संवर कहते हैं। निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धभावों के सिवाय आत्मा का शुभ या अशुभ भावों में बहना या प्रवृत्त होना, आश्रव कहलाता है और आत्मा का शुभ-अशुभ भावों से हट कर शुद्ध भावों—आत्मगुणों या स्वस्वरूप में प्रवृत्त होना या स्थिर होना, लीन होना संवर कहलाता है। जिसके सम्यग्दर्शन, विरति, अकषाय, अयोग, महाव्रत, अणुव्रत आदि अनेक भेद हैं।

अलग अलग स्वभाव के कर्मों के अलग-अलग कारण

सामान्यतया कर्मबन्ध का कारण आश्रव और आश्रव के मुख्य ५ कारण बताये गये हैं, लेकिन शास्त्रों में पूर्वोक्त ८ कर्मों की प्रकृति के रूप में बन्धने वाले ८ कर्मों में से प्रत्येक के बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण भी बताये गये हैं। जैसे ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के ५ कारण मुख्य हैं—ज्ञान या ज्ञानी के दोष देखना, ज्ञान या ज्ञानी का नाम छिपाना, ज्ञान या ज्ञानी से डाह करना, ज्ञान ग्रहण करने में या ज्ञानी के ज्ञान-प्राप्ति में विघ्न डालना, ज्ञान या ज्ञानी की आशातना-अविनय करना। इसी प्रकार के ५ कारण दर्शनावरणीय कर्म के हैं। तथा वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों के बन्ध के अलग-अलग कारण शास्त्रों में बता रखे हैं।

निष्कर्ष : प्रभुमय बनने के लिए संवर का स्वीकार

यहाँ आश्रव और संवर दोनों का स्वरूप बता कर, दोनों को क्रमशः हेय

और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बताने का प्रयोजन यह है कि अगर तुम्हें वीतराग परमात्मा और तुम्हारे बीच का अन्तर मिटाना हो तो कर्मबन्ध के कारणभूत आश्रव को हेय समझ कर छोड़ना चाहिए और संवर को उपादेय समझ कर स्वीकारना चाहिए। तभी तुम्हारा मानवदेह सफल होगा और तुम्हारा परमात्म-मिलन का शुभमनोरथ पूर्ण होगा। यही मुक्ति प्राप्त करने का सच्चा उपाय है, यही सिद्धत्व का मार्ग है और यही परमात्ममिलन का सत्पथ है। और कर्मबन्धन के कारणों का स्वीकार और इन्कार तुम्हारे ही हाथ में है। यदि हाथ में आई हुई इस बाजी को हार गए तो फिर चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ेगा।

'कर्मों के बन्ध और मोक्ष का स्वरूप जानते हुए भी आत्मा बार-बार कर्मों से जुड़ जाता है, उससे न जुड़ने का क्या कोई उपाय है?' इस जिज्ञासा के समाधान-हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली, गाथा में कहते हैं—

युंजनकरणे हो अन्तर तुझ पड्यो रे, गुणकरणे करी भंग।
ग्रन्थ उक्ते करी पंडितजन कह्यो रे, अन्तरभंग सुभंग ॥ पद्मप्रभ०।५।

अर्थ

हे भव्य ! युंजनकरण (कर्म के साथ जुड़ने की क्रिया) के कारण तेरा परमात्मा से अन्तर (फासला) पड़ा है,जो गुणकरण (आत्मगुणों में रमण करने की क्रिया) के द्वारा भंग हो (छूट) सकता है। आगमादि धर्मग्रन्थों के कथन से आगम के अनुभवी पण्डितों ने परमात्मा से आत्मा के बीच की दूरी मिटाने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है।

भाष्य

तीन करण और उनका स्वरूप

पूर्वगाथा में कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति के कारण क्रमशः आश्रव और संवर को हेय और उपादेय बताया, किन्तु केवल कारणों के बताने मात्र से हेय त्यागा नहीं जा सकता और उपादेय को ग्रहण नहीं किया जा सकता। मतलब यह

---

१. 'तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायाशादनोपघाताः ज्ञानदर्शनावरणयोः'
—तत्त्वार्थसूत्र

है कि जब तक किसी चीज को छोड़ने और ग्रहण करने की प्रक्रिया मालूम न हो, तब तक छोड़ने योग्य को छोड़ने और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने का पुरुषार्थ नहीं हो सकता। इसी कारण इस गाथा में परमात्मा और आत्मा के बीच में पड़े हुए अंतर के कारणरूप युंजनकरण की प्रक्रिया को बताया है, जबकि उस अन्तर के दूर करने के कारणरूप गुणकरण की प्रक्रिया को बताया है।

सवाल यह होता है कि युंजनकरण और गुणकरण की प्रक्रिया कोई हठयोग की प्रक्रिया है या सहजयोग की? कठिनतम क्रिया है या सरलतम? इसके समाधान में इतना ही कहा जा सकता है कि योगीश्वर श्रीआनन्दघनजी स्वयं जैनधर्म और जैनयोग के पुरस्कर्ता हैं, इसलिए उन्होंने जैनधर्ममान्य सहजयोग की ही प्रक्रिया प्रस्तुत की है, हठयोग की नहीं। ये करण-प्रक्रियाएँ उन्होंने अपनी मनःकल्पित नहीं बताई हैं परन्तु आगमों और धर्म-ग्रन्थों के आधार पर अनुभवी विद्वानों द्वारा बताई गई प्रक्रियाए हैं। जैन-आगमों के अनुसार आत्मा की यह सहज प्रक्रिया तीन करणों में वर्गीकृत की गई है—युंजनकरण, गुणकरण और ज्ञानकरण। आत्मा की कर्मों के साथ जुड़ने (संयोग] की प्रक्रिया को युंजनकरण कहते हैं। यह क्रिया आश्रवरूप है। इस क्रिया का कर्त्ता संसारी जीव है। सिद्ध परमात्मा के साथ संसारी जीव के मिलने में अन्तराय का कारण युंजनकरण की क्रिया है। दूसरा करण, जो ठीक इसके विपरीत है; गुणकरण है। जिसमें आत्मा अपने वास्तविक गुणों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रत या स्थिर हो कर क्रिया करता है, उस क्रिया को गुणकरण कहते हैं। इसी आत्म-किया को सँवर कहते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मा में रहे हुए कर्मबन्ध के कारणभूत संसार-योग्यता नामक स्वभाव का प्रगट होना युञ्जनकरण है, यही भाव-आश्रव है और आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाने वाले मुक्तियोग्य स्वभाव का प्रकट होना गुणकरण है, । यही भावसंवर, निर्जरा और अन्त में मोक्ष है। ये दोनों स्वभाव[1] जीव में होते है; इनमें से एक

१. हरिभद्रसूरीय योगबिन्दु ग्रन्थ में कहा है—

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी, तद्वियोगतः।
स एव मुक्तः एतौ च स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥६॥
अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्य-निबन्धनः ॥

स्वभाव जब प्रगट होता है तो दूसरा स्वभाव छिप जाता है। इस प्रकार आविर्भाव-तिरोभाव, के रूप में ये दोनों पर्यायें जीव में पाई जाती हैं। अभव्य जीव में सिर्फ एक ही संसारयोग्यता-स्वभाव होता है। संसारी भव्यजीवों में दोनों स्वभाव मुख्य-गौणरूप से होते हैं।

तीसरा करण ज्ञानकरण है, जिसका अर्थ है—वस्तु को वस्तुस्वरूप से जानने-पहिचानने की क्रिया। वस्तुतः इसका समावेश गुणकरण में ही हो जाता है।

गुण-करण में प्रवृत्त होना ही अंतर-भंग का श्रेष्ठ उपाय

पूर्वोक्त दोनों करणों को भलीभाँति जान कर गुणकरण में प्रवृत्त होना ही आत्मा और परमात्मा के बीच में पड़े हुए अन्तर (दूरी) को भंग करने का सुअंग-श्रेष्ठ उपाय है; रामबाण इलाज है। आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी मिटाने का उपाय आत्मा के सिवाय अन्य किसी का अनुग्रह नहीं है। क्योंकि कर्मबन्ध के संयोग और वियोग दोनों आत्मा के स्वभाव के अनुसार होते हैं। यदि थोड़ी देर के लिए ईश्वरकृपा आदि को कारण मान भी लिया जाय, तब भी दोनों स्वगुण-स्वभाव के अनुसार ही होते हैं। मतलब यह है कि जब आत्मा संवर में प्रवर्तमान होती है, यानी व्यवहारिक दृष्टि से वह अष्ट-प्रवचनमाता (समितिगुप्ति) का पालन करती हो, बारह अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म में उद्युक्त हो, परिषह पर विजय प्राप्त करने में प्रयत्नशील हो, पंचमहाव्रत या पंचाणुव्रत, नियम आदि में पुरुषार्थ कर रहा हो, तब वह आश्रवरहित हो जाता है। इससे नवीन कर्मों को आते हुए रोक देता है। यह गुणकरण की प्रक्रिया है, जो आत्मा के स्वपुरुषार्थ से होती है, इस प्रक्रिया से ईश्वरादि का अनुग्रह स्वतः प्राप्त हो जाता है। मुंजनकरण को रोकने से ही ऐसा गुणकरण होता है, जो पूर्वोक्त अन्तर को मिटाने का सरलतम उपाय है।

योगबिन्दु, योगशास्त्र, योगद्वात्रिंशिका अथवा योगदृष्टि-समुच्चय आदि किसी भी ग्रंथ को उठा कर देखें तो उसमें आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी मिटाने का सर्वोत्तम उपाय मुंजनकरण को रोक कर गुणकरण को अपनाने का बताया गया है।

अनादिकाल से संसारभ्रमण करते हुए जीव के द्वारा अगर यह प्रयोग सफल हो जाय तो परमात्मा और उसकी आत्मा के बीच में पड़ा हुआ अन्तर मिट सकता है। अन्तिम गाथा में इसी आशा को ले कर उत्साहपूर्वक श्रीआनन्दघनजी आनन्द-रस-विभोर हो कर झूम उठते हैं—

तुझ मुझ अतंर-अतंर भांजशे रे, बाजशे मंगलतूर।
जीवसरोवर अतिशय वाधशे रे, 'आनन्दघन' रसपूर॥
पद्मप्रभजिन ०॥६॥

अर्थ

मेरे और आपके अन्दर का (आन्तरिक) जो अन्तर है, वह अन्त में अवश्य मिटेगा अथवा मेरा अन्तर (गुणकरण द्वारा) उक्त अन्तर को तोड़ कर रहेगा। तब मंगलवाद्य बज उठेंगे और मेरा जीवसरोवर प्रफुल्लित हो कर अत्यन्त वृद्धिगत हो जायगा एवं वह उस आनन्द-समूह के रस से लबालब भर जायगा अथवा यह जीव परम-आनन्दरूपी घन (बादल) बन कर रस की वर्षा करता रहेगा।

भाष्य

अन्तरभंग होने का परिणाम

श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त गाथाओं में प्रतिपादित बातों द्वारा इस बात को भलीभाँति हृदयंगम कर चुके हैं कि परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच में जो अन्तर है, वह कर्मों के कारण है और कर्मबन्धन से छुटकारा पाना तथा आश्रवत्याग व संवरग्रहण करना भी मेरी आत्मा के ही हाथ में है। मेरी आत्मा जब यह कतई नहीं चाहेगी कि वह कर्मबन्धन में पड़े, तब वह प्रतिक्षण सावधान और जाग्रत हो कर कर्मबन्धन के कारणों को मिटा-येगी, नये कर्मों को आने से रोकेगी, उदय में आए हुए पुराने कर्मों का फल समभाव से भोग कर अथवा उदयाभिमुख न हुए हों, उन्हें उदीरणा करके उनको क्षीण करने का पुरुषार्थ करेगी। इस प्रकार गुणकरण द्वारा यानी प्रतिक्षण आत्मा के ज्ञानादि निजगुणों में स्थिर रह कर युँजनकरण के कारण से परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच बढ़ते जाने वाले अन्तर को मैं एकदम काट दूंगा। इस युँजनकरण के कारण मैं संसारी कहलाता था, लेकिन जैसे आप युंजनकरण का त्याग करके गुणकरण अपना कर संसारी से सिद्ध-बुद्ध-शुद्ध-मुक्त बने, वैसे मैं भी युंजनकरण का त्याग करके गुणकरण को अपनाऊँगा, जिससे

मैं भी एक दिन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा बन जाऊँगा। मेरी यह आशा अवश्य ही फलित हो कर रहेगी। जिस दिन यह अन्तर टूटेगा, उस दिन मेरा ह वर्षों का संजोया हुआ स्वप्न साकार होगा। और तब ध्यान करने वाला ध्याता, उसका ध्येय—आप परमात्मा, और उसका परमात्मसम बनने का ध्यान तीनों एकाकार हो जायेंगे। इन तीनों में जिस दिन ऐक्य-अभिन्नत्व सम्पन्न होगा, उस दिन आपके और मेरे बीच में पड़ा हुआ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावगत सारा अन्तर दूर हो जायगा, मैं प्रभुमय हो जाऊँगा।

जैनतत्वज्ञान में यह विशेषता है कि उसके अनुसार योग्य प्रयत्न करने से बहिरात्मा अन्तरात्मा बन कर एक दिन परमात्मस्वरूप प्राप्त कर सकता है। उसके जन्म-मरण के चक्कर मिट जाते हैं, स्वयं उसमें परमात्मरूप बन जाने की शक्ति आ जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी उत्साह में आ कर प्रसन्नता से कह उठते हैं—'प्रभो! मुझे उस गुणकरण के प्रयोग द्वारा अपनी आत्मिक शक्ति अजमा कर मेरा अनादिकालीन संसारीपन मिटाना है। जिस दिन यह संसारीपन मिट जायगा, उस दिन मैं और आप एकमेक हो जायेंगे; मैं परमात्ममय हो जाऊँगा और आपके और मेरे बीच में रही हुई भेद की दीवार ढह जाएगी।'

जिस दिन ध्याता, ध्येय और ध्यान की इस प्रकार की एकता हो जाए, उस दिन उक्त ऐक्य के फलस्वरूप अन्तर में अनहद मंगलवाद्य बज उठेंगे जिनसे उस आनन्द को द्योतित करने वाले अनाहत-निनाद (शब्द-ध्वनि) सतत सुनाई देगा। जैसे दुनियादार लोग अपनी इच्छितवस्तु की प्राप्ति की खुशी में मंगल बाजे बजाते हैं, वैसे ही साधक को भी जब अपने इष्ट साध्य की प्राप्ति हो जाती है तो उस खुशी को प्रगट करने के लिए आनन्द के अनाहत मंगल-ध्वनिमय वाद्य उसके अन्तर में बज उठते हैं। परमात्मा और आत्म की एकता के उस रूप की महिमा गाने में तीनों लोक में कोई समर्थ नहीं है और न उसे शब्दों से प्रकट करने में कोई समर्थ है।

नेति-नेति' (इसके आगे कुछ नहीं कहा जा सकता) कह कर वाणी भी उस अभूतपूर्व आनन्द का वर्णन करने में असमर्थ हो जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य के उस नजारे को अपने शब्दों में संकेत के

रूप में अभिव्यक्त करते हैं कि परमात्मा और आत्मा के बीच में दूरी डालने वाले कर्मरज का जब एक कण भी नहीं रहेगा, तब यह आनन्दमय आत्मा-सरोवर परमशान्त सुधारस से लबालब भर जायगा। क्योंकि अब तक आत्मा को अतृप्ति थी, वह सदा के लिए समाप्त हो कर शाश्वत परमतृप्ति प्राप्त हो जायगी। उसके आनन्द का क्या ठिकाना!

जब जीव गुणकरण की प्रक्रिया द्वारा संवरधर्म के कारण क्रमशः घातीकर्मों का क्षय कर देता है, तब केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और आत्मानन्द का बल प्राप्त कर ही लेता है। तब उसके केवल नाम-गोत्रादि चार कर्म बाकी रह जाते हैं, अगर आयुकर्म से नाम-गोत्र के कर्मदल अधिक हों तो उन्हें आयुष्य के बराबर करने के लिए वह केवली-समुद्घात करता है, जिससे जो जीव एक समय अंगुल के असंख्यातवें भाग के शरीर में कैद था, वह अब लोकव्याप्त हो जाता है। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को कहना कहना पड़ा—**जीव-सरोवर अतिशय वाधशे रे आनन्दघन-रसपूर'**।

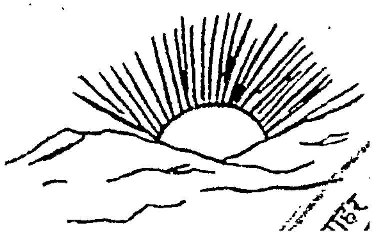
सरोवर में कमल खिले हुए होते हैं, उनका स्वभाव जल की सतह से ऊपर रहने का होता है। जब सरोवर में पानी बढ़ जाता है तो कमल भी बढ़ जाते हैं, फूल जाते हैं। यह एक प्राकृतिक नियम है कि ज्यों-ज्यों सरोवर में पानी बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों कमल अपने रूप, रस और रंग को न बिगड़ने दे कर बढ़ता जाता है। इसी प्रकार ज्यों-ज्यों गुणकरण द्वारा संवरधर्म-सेवन से परमात्मा और आत्मा के बीच का अन्तर टूटता जाता है, त्यों-त्यों जीवसरोवर में आत्मज्ञानरूपी जल बढ़ता जाता है और आत्मज्ञानरूपी जल के वृद्धिगत होने के साथ-साथ आत्मानन्द-कमल में भी वृद्धि होती जाती है। गुणकरण की अधिकता से वही जीवात्मा अपने ज्ञान को लोकालोक में व्याप्त कर देता है और वह आत्मा परमात्मा में लीन हो कर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर जा कर विराजमान हो जाती है। और तब वह आत्मा सदैव निजानन्दसमूह के रस से परिपूर्ण हो कर परम तृप्त हो जाती है।

सारांश

इस स्तुति के आरम्भ में श्रीआनन्दघनजी ने दो प्रश्न उठाए थे— पर-

ात्मा और मेरी आत्मा के बीच में अन्तर क्यों पड़ा ? उस अन्तर को मिटाने ा क्या उपाय है ? इसके समाधान के रूप में उन्हें ज्ञात हुआ कि अपनी आत्मा ा पर (कर्म आदि) के साथ युंजनकरण के कारण जो संयोगसम्बन्ध है अथवा हो रहा है, उसे गुणकरण द्वारा मिटाना ही परमात्मा और आत्मा के बीच अनादि कर्मों के संयोग के कारण पड़े हुए अन्तर को मिटाना है। अतः वे उक्त उपाय को अजमाने के लिए उद्यत हो गए और उसके शुभपरिणामों का दिग्दर्शन करा कर परमात्मा से अपनी आत्मा की एकता स्थापित करने की आशा में प्रतीक्षारत हैं।

वास्तव में, परमात्मा से आत्मा की इस प्रकार की एकता होगी, तभी सच्ची भक्ति, यथार्थ प्रीति, यथार्थ सेवा-उपासना, सत्यदर्शन, आदि सिद्ध होंगे।



७ : श्री सुपार्श्वजिन-स्तुति—

अनेक नामों से परमात्मा की वन्दना

(तर्ज-राग सारंग, मल्हार, ललना की देशी)

श्रीसुपार्श्वजिन, वंदिए सुखसम्पत्तिनो हेतु, ललना।
शान्त-सुधारस-जलनिधि, भवसागरमां सेतु, ललना ॥१॥

अर्थ

हे अन्तरात्मारूपी ललना ! (सखी !) आओ, हम श्रीयुत् सुपार्श्वनाथ जिन (सातवें तीर्थंकर) परमात्मा को वन्दन करें, क्योंकि वे समस्त प्रकार के सुख और सम्पत्ति के कारण हैं; अपने स्वरूप में स्थिर शान्त अमृतरस के समुद्र हैं और संसारसागर को पार करने में हमारे लिए पुल के समान हैं।

भाष्य

परमात्मा को वन्दना क्यों ?

पूर्वोक्त स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा और आत्मा के बीच अन्तर के कारण और उनको मिटाने के लिए निवारणोपाय बताए थे। कर्म-बन्धनरूप उन कारणों को मिटाने के लिए तथा परमात्मा और आत्मा के बीच सामीप्य स्थापित करने के लिए इस स्तुति में परमात्म-वन्दना आवश्यक बताई है। श्री सुपार्श्वनाथ वीतराग परमात्मा के माध्यम से इसमें परमात्म-वन्दना का रहस्य बताते हुए तीन बातें उन्होंने अभिव्यक्त की हैं— परमात्मवन्दना क्या है ? और किस नाम से, किस स्वरूप वाले परमात्मा को वन्दना की जाय ?

सर्वप्रथम परमात्मवन्दना क्यों की जाय ? इसका रहस्योद्घाटन श्रीआनन्द-घनजी अन्तरात्मारूपी ललना (स्त्री=सखी) को सम्बोधित करते हुए कहते हैं— हे अन्तरात्मा-सखी; परमात्मा के पास तो अनन्तज्ञान-दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्तवीर्य सुरक्षित हैं; परन्तु मोह, अज्ञान और अशुभकर्मो के कारण मेरा ज्ञानधन अभी तक लुट रहा है। मैं मोहवश एवं असातावेदनीय के परि-

णामस्वरूप जगत् के तथा जन्ममरण के अनेक दुःखों से ओतप्रोत रहा, अभी तक मैंने इतने-इतने भयंकर दुःख सहे, फिर भी संसार-समुद्र के किनारे का पता नहीं लग रहा है और नये-नये अनेकों दुख और आ रहे हैं। तथा मैंने मोहकर्मवश तथा वीर्यान्तरायकर्म के फलस्वरूप अपनी शक्ति आत्मा के शुद्धस्वरूप को देखने, जानने और उसमें रमण करने में नहीं लगाई, यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना में अपनी शक्ति न लगा सका, और प्रायः विषयों के पोषण बढ़ाने में और राग-द्वेष-मोह आदि की लीलाएँ करने में ही लगाई। अतः सुबुद्धिरूपी सखी! अब तू इन सबसे हट कर वीतराग परमात्मा के के वन्दन करने में लग जा।

क्योंकि प्रथम तो परमात्मा का नाम सुपार्श्व है। लौकिक लोग लोहे से सोना बनाने के लिए पारसमणि का उपयोग करते हैं, परन्तु हमें तो अपनी आत्मा, जो विषय-कषायों में, रागद्वेष में रत हो कर वर्तमान में जंग लगे हुए लोहे के समान बन रही है, उसे सोना बनाना है, इसके लिए सुपार्श्व नामक चेतनपार्श्वमणि का अवलम्बन लेना चाहिए। वन्दना के रूप में इनके पास आने से यानी इनके अभिमुख होने से आत्मा में खोई हुई या सोई हुई ज्ञानशक्ति एवं दर्शनशक्ति प्रकट हो सकती है। वह पारस तो लोहे के साथ स्पर्श होने पर केवल सोना बनाता है, परन्तु ये सुपार्श्व आत्मा को सोने के समान शुद्ध ही नहीं, अपने समान बुद्ध और मुक्त (सिद्ध) भी बना देते हैं।

मतलब यह है, हमारी आत्मा में सोई हुई ज्ञान-दर्शन की विपुलशक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए हमें वीतराग परमात्मा की वन्दना करके इनका सामीप्य प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि वन्दना करने वाले को वन्दनीय पुरुष के अभिमुख=सम्मुख होना आवश्यक होता है। जब वन्दक आत्मा वन्दनीय परमात्मा के सम्मुख होगी तो स्वभावतः उसमें निहित ज्ञान-दर्शन की शक्ति के रोधक कर्मों का पलायन होने लगेगा, ज्ञानदर्शन की शक्ति को रोकने वाले राग-द्वेष-मोहादि विकारों की भगदड़ शुरू हो जायगी और आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति निर्मलतर और निर्विकार होती जायगी। परमात्म-वन्दना का सबसे बड़ा लाभ यह है कि वन्दना में चित्त एकाग्र होने पर साधक विषयविकारों से हट कर स्वस्वरूप के दर्शन एवं ज्ञान में लीन हो जाएगा। वन्दना से सर्वोत्तम

उपलब्धि आत्मऋद्धि की प्राप्ति होगी। भौतिक ऋद्धि की उपलब्धि के लिए दुनियादार लोग अनेक व्यक्तियों के पास भटकते फिरते हैं, जो ऋद्धि नाशवान है; तब फिर आत्मिक ऋद्धि के उपदेष्टा, निर्देशक, दाता परमात्मा को वन्दना करने में आपत्ति ही क्या है ? क्योंकि अगर यह आत्मऋद्धि एक बार भी प्राप्त हो गई तो साधक सदा के लिए अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त कर आत्मसमाधि में लीन हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि परमात्मा अनन्तसुख और अनन्त-अक्षयज्ञानादि सम्पत्ति [लक्ष्मी] की उपलब्धि के कारण हैं, इसलिए इनको वन्दन करने से साधक अपने आपका अन्तर्दर्शन कर सकेगा। अपनी आत्मा पर मनन-चिन्तन कर सकेगा कि वह जिनको वन्दन कर रहा है, वे परमात्मा तो उस अनन्त-अव्याबाध सुख के धनी बने हुए हैं, और वह अभी तक वैषयिक सुखों को, अथवा वस्तुनिष्ठ सुख को ही सुख मानता रहा। परिणामस्वरूप उस क्षणिक सुखाभास के चक्कर में पड़ कर उसने अनन्त-अनन्त जन्म खो दिए, अनेक जन्ममरण के दुःख और उन उन जन्मों में होने वाले अनेकानेक दुःख लाचारी से सहे, अब संभल जा, और अनन्तसुखी परमात्मा की वन्दना के माध्यम से उसे अपनी आत्मा में निहित उस अनन्त स्वाधीन-सुख के खजाने को प्राप्त करना है। इसके लिए तुझे ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय की [अथवा] निश्चयदृष्टि से स्वरूपरमणरूप चारित्र की आराधना करनी लाजिमी है, उसके लिए जो सुखबीजरूप दुःख—क्षणिक दुःख पूर्वकर्मों के फलस्वरूप सहने पड़ें, उन्हें समभाव से सह कर असातावेदनीय कर्म के जाल को काट दे, और परमात्म-वन्दना के द्वारा ज्ञानादि अक्षय सम्पत्ति को प्राप्त करना है। इसीलिए परमात्म-वन्दना का दूसरा कारण श्रीआनन्दघनजी बतलाते हैं—**'सुख-सम्पत्तिनो हेतु।'**

परमात्म-वन्दना का एक तीसरा कारण और है, वह है—शान्तस्वरूपमय शान्तसुधारस को प्राप्त करना। अब तक आत्मा अपने को भूल कर नदी, पर्वत, गुफा, जंगल, तीर्थस्थान, या परिवार, संतान, स्त्री, विषयवासना या भौतिक पदार्थों की प्राप्ति में शांति मान रहा था, वह अपने शुद्धस्वरूप के आसपास जलती हुई क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सर रूपी कषायाग्नि को नहीं देख रहा था, परन्तु परमात्म-वन्दना के समय वन्दनीय परमात्मा का रूप देख कर अन्तरात्मा में अवश्य ही विचार करेगा कि

परमात्मा की आत्मा भी मेरे ही समान है, फिर ये तो अपने स्वरूप में स्थिर होने से शांत अमृतरस के समुद्र बने हुए हैं और मैं अशांति के महासागर में गोते लगा रहा हूँ। अतः इस प्रकार की मेरी शांति को लुप्त करने या दवाने वाले कषायों, वासनाओं तथा राग-द्वेषों और तज्जनित होने वाले मोह या अंतरायकर्मों के बन्धन से दूर रहूँ, मैं प्रतिक्षण सावधान रह कर नवीन कर्मों के के प्रवेश को रोकूँ और पुराने कर्मों के उदय में आने पर उन्हें समभाव से सहूँ। और इस प्रकार मैं भी शान्तसुधारस-समुद्र परमात्मा के समीप पहुँच जाऊँ अथवा स्वयं भी शांतसुधारस का सागर बन जाऊँ।

चौथा परमात्मवन्दना का कारण यह बताया है कि वह आत्मा और परमात्मा के बीच में पड़ा हुआ जो अथाह संसारसमुद्र है, उसे पार करने के लिए पुल के समान है।

किसी नदी या समुद्र को पार करने के लिए पुल का सहारा लिया जाता है। पुल के सहारे से व्यक्ति अनायास ही उससे पार हो जाता है। परन्तु संसार समुद्र इतना लम्बा-चौड़ा है कि इस पर पुल बनाने वाले बहुत ही ही विरले लोग होते हैं। हर एक के वश की बात नहीं है यह। परन्तु वीतराग परमात्मा ने तीर्थंकर-अवस्था में संसारी जीवों के तिरने और संसारसमुद्र पार होने के लिए तीर्थ (चतुर्विध संघ-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप) की स्थापना की थी। उस तीर्थरूपी पुल के सहारे से अनेक भव्यजीव इस संसार-समुद्र को पार कर गए और अब भी कर सकते हैं। इसलिए परमात्मवन्दना करने से भव्यजीव सहसा परमात्मा के अभिमुख होगा ही और उनके द्वारा किये हुए कार्यकलापों पर—उनके चारित्राराधन पर तथा तीर्थस्थापन पर अवश्य विचार करेगा। वन्दना के माध्यम से यह स्मरण ही उसे तीर्थ का सहारा ले कर संसारसमुद्र को पार करने में सहायक होगा। अथवा परमात्मवंदना ही एक प्रकार से संसारसागर को पार करने में पुल का काम करती है। क्योंकि परमात्मवंदना करते समय सहसा विचार होगा कि परमात्मा संसार-सागर से कैसे पार हो गए और मैं क्यों पीछे रह गया? इस प्रकार ऊहापोह करने से वह संसारसमुद्र को पार करने के लिए परमात्मा द्वारा तीर्थंकर-अवस्था में स्थापित तीर्थ का सहारा ले कर ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना

करने में प्रवृत्त होना सम्भव है। इसीलिए श्रीआनंदघनजी परमात्मवंदना का अन्तिम कारण बताते हैं—**'भवसागरमाँ सेतु'** ।

कोई कह सकता है कि यह तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उन्हें वंदना करना हुआ, वंदना निःस्वार्थ होनी चाहिए। परंतु यह बात तो माननी होगी कि उच्च से उच्च स्वार्थ अंत में परमार्थ बन जाता है। उत्तम मार्ग पर चढ़ने के लिए किसी उत्तम मार्गदर्शक से मालूम करने में एक प्रकार का परमार्थ ही है। स्वर्गादि सुख या इहलौकिक भौतिक सुखों को पाने की अभिलाषा वन्दना का कारण होती तो अवश्य कहा जाता कि यह स्वार्थयुक्त वन्दना है।

परमात्म-वन्दना क्या है ?

संस्कृतव्याकरण के अनुसार 'वदि अभिवादन-स्तुत्योः' वन्दनक्रिया अभिवादन-अभिमुख हो कर नमन करने तथा स्तुति करने के अर्थ में प्रयुक्त होती है। वंदना में अपने आराध्य या वन्दनीय प्रभु के प्रति हृदय (मन) से गुणाकर्षण हो कर प्रसन्नता की उर्मियाँ उछलने लगती हैं, यानी हृदय और बुद्धि वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जाते हैं। वाणी अन्यप्रशंसा या अन्यों के गुणगान से हट कर परमात्मा की स्तुति, प्रशंसा अथवा गुणगान में एकाग्र हो जाती है तथा काया अन्यविषयों से सर्वथा हट कर वन्दनीय परमात्मा के अभिमुख हो कर सभी अंगों-सहित सर्वथा झुक जाती है, उन्हीं के ध्यान, नामजप या स्वरूपचिन्तन में इन्द्रियोंसहित वह एकाग्र हो जाती है। सामान्यतया वन्दना करने वाला जब वन्दनीय पुरुष के सम्मुख होता है तो अपना नाम भी प्रगट करता है कि मैं (अमुक नाम वाला) आपको वन्दन कर रहा हूँ। इसी प्रकार परमात्मा को वन्दना करने वाला भी जब अपना नाम पुकार कर प्रभु के प्रति वन्दन-नमन करेगा, तब सहसा ही उसे अपने स्वरूप का भान होगा।

निष्कर्ष यह है कि परमात्मवन्दना वह है, जिसमें मन, बुद्धि, हृदय, वाणी, शरीर, इन्द्रियाँ तथा समस्त अंगोपांग वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जांय; उन्हीं के गुणचिंतन, गुणगान, गुणाराधन और गुणों में तन्मयतापूर्वक लग जांय। निश्चयदृष्टि से परमात्मवन्दना का अर्थ है—आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप

में सर्वतोभावेन झुक जाना, नम जाना, उसी की स्तुति, गुणगान, गुणध्यान एवं गुणचिंतन में लीन हो जाना। वास्तव में वन्दना वन्दनकर्ता को वन्दनीय पुरुष के पास ला कर बिठा देती है, उसे वन्द्य के निकटवर्ती बना देती है।

वन्दना किस परमात्मा को ?

वन्दना किसे की जाय ? वन्दनीय परमात्मा कौन हो सकते हैं ? इसका रहस्योद्घाटन इस स्तुति की प्रथम गाथा में तो किया ही है। बाकी की सभी गाथाओं में वन्दनीय परमात्मा का स्वरूप ही बताया है। प्रथम गाथा में श्रीसुपार्श्वजिन, सुख सम्पत्ति का हेतु, शान्तसुधारस-जलनिधि और भवसागर में सेतु (पुल) ये चार विशेषताएँ वन्दनीय परमात्मा की बताई हैं। ये चारों विशेषताएँ वीतरागता, अनन्तसुखप्राप्ति, अनन्तज्ञानादिसम्पत्ति, परम शांति के अमृतसागर (निर्वाणप्राप्त) इन परमात्मा के चार गुणों से अभिव्यक्त की जा सकती हैं। वास्तव में वन्दनीय आदर्श भी जब उक्त परमगुणों से सम्पन्न हो, तभी उससे लाभ उठाया जा सकता है, अन्यथा हीनगुणों वाले एवं रागी-द्वेषी सांसारिक सुखसम्पत्ति या पारसमणि वाले व्यक्तियों को वंदना करने से गुणवृद्धि नहीं हो सकती। हीन आदर्श के प्रति वंदना हीन गुणों को प्रगट कर सकती है, सर्वोच्च परमगुणों को नहीं।

यों तो वीतराग परमात्मा के नामों और गुणों का कोई पार नहीं है, किंतु फिर भी संकेत के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथाओं में वंदनीय परमात्मा के कुछ विशिष्ट गुणों और नामों का निर्देश करते हैं—

> सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना !
> सावधान मनसा करी, धारो जिनपद-सेव, ललना ॥
> श्रीसुपार्श्व. ॥२॥
> शिव, शंकर, जगदीश्वरू, चिदानन्द भगवान, ललना !
> जिन, अरिहा, तीर्थंकरू, ज्योतिस्वरूप असमान, ललना ॥
> श्रीसुपार्श्व० ॥३॥
> अलख, निरंजन, वच्छलु, सकलजन्तु-विसराम, ललना !
> अभयदानदाता सदा, पूरण आतमराम, ललना ॥
> श्रीसुपार्श्व० ॥४॥

वीतराग-मदकल्पना-रति-अरति-भय-सोग; ललना !
निद्रा-तन्द्रा-दुरंदशा-रहित अबाधित योग ; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥५॥

परमपुरुष, परमातमा, परमेश्वर, परधान; ललना !
परमपदारथ, परमेष्ठी, परमदेव, परमान; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥६॥

विधि, विरंचि, विश्वम्भरू हृषीकेश, जगनाथ, ललना !
अघहर, अघमोचन, धणी, मुक्ति-परमपद-साथ; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥७॥

एम अनेक अभिधा धरे, अनुभवगम्य विचार; ललना !
जे जाणे तेहने करे, 'आनन्दघन' अवतार; ललना ॥
श्रीसुपार्श्व० ॥८॥

अर्थ

यह सप्तम तीर्थंकर सात महाभयों का निवारण करने वाले हैं, इसलिए हे अन्तरात्मारूपीसखी ! अप्रमत्तमन से वीतरागपरमात्मा के चरणकमल की सेवा करो ; अथवा चित्त को एकाग्र करके सावधान हो कर उसमें वीतराग परमात्मपद का ध्यान करो । वीतरागपरमात्मा के नाम शिव (कल्याणकारी या उपद्रवरहित), शंकर (सुखकर्ता), जगदीश्वर (जगत् के ईश्वर=पति); चिदानंद (अनंतज्ञान और आनंद से युक्त), भगवान् (समग्र ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य आदि से युक्त), जिन (राग-द्वेषादि के विजेता), अरिहा (कर्मशत्रुओं का विनाश करके वाले), तीर्थंकर (धर्मतीर्थ=संघ की स्थापना करने वाले), ज्योतिस्वरूप (आत्मज्योतिर्मय) एवं असमान (संसार में अद्वितीय—अप्रतिम हैं ।

आप अलक्ष (वहिरात्मा द्वारा अगम्य), निरंजन (कर्मों के लेप से रहित); वत्सल (प्राणिमात्र के प्रति निष्काम वात्सल्य रखने वाले), समस्त जीवों के लिए विश्रामरूप, अभयदानदाता, समग्ररूप से पूर्णता को प्राप्त, और एकमात्र आत्मा में ही रमण करने वाले हैं ।

आप राग, द्वेष, समस्त मदों, विकल्पों, प्रीति-अप्रीति (रुचि-अरुचि), भय

शोक, निद्रा, तन्द्रा (एक प्रकार के आलस्य), दुर्दशा (दुष्ट अवस्था) से बिलकुल रहित हैं।

आप पुरुषों में उत्कृष्ट पुरुष हैं, उत्कृष्ट आत्मा हैं, परम ईश्वर हैं; सर्वोत्कृष्ट हैं, संसार के समस्त पदार्थों में उत्तम पदार्थ हैं, परमेष्ठी (सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित) हैं, देवों में उत्कृष्ट देव (देवाधिदेव) हैं, उच्च से उच्च सम्मान के योग्य हैं अथवा समस्त साधकों के लिए प्रमाणस्वरूप हैं।

आप विधि (मोक्षमार्ग के विधाता) हैं, ब्रह्मा (आत्मगुणों की रचना करने वाले) हैं, विश्व के आत्मगुणपोषक अथवा विश्व में व्याप्त विष्णु हैं, इन्द्रियों के वशीकर्ता हैं, तीनों लोकों के रक्षक होने से नाथ हैं, पापनाशक हैं, पाप से मुक्त कराने वाले हैं, स्वामी (अपने आपके मालिक अथवा विश्व के स्वामी) हैं, मुक्तिरूपी परमपद को प्राप्त कराने में सार्थवाह (साथी) हैं।

इस प्रकार आप अनेक नामों के धारक हैं, आपके गुणनिष्पन्न अनेक नाम हैं; जो स्वानुभव—स्वज्ञान से विचार करके जाने जा सकते हैं। इस तथ्य को जो जान लेता है (जो भव्यात्मा इस तरह से स्वरूप समझबूझ कर परमात्मवंदन करता है) उन्हें वे आनन्द के समूह का अवतार (सच्चिदानन्दघनमय) बना देते हैं। इसलिए ऐसे परमात्मा की हम वन्दना-प्रणति-स्तुति-भक्ति करें।

भाष्य

वन्दनीय परमात्मा के अनेक गुणनिष्पन्न नाम

इन गाथाओं में श्रीआनन्दघनजी ने सप्तम जिनवर श्रीसुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से परमात्म-वन्दना के सिलसिले में कौन-से, किन-किन मुख्य गुणों वाले परमात्मा वन्दनीय हैं, इस सम्बन्ध में उनके सार्थक नामों का उल्लेख किया है। ये सभी नाम गुणनिष्पन्न हैं। इन कुछ परिगणित नामों के अतिरिक्त और भी अनेक नाम हो सकते हैं, यह भी उन्होंने 'एम अनेक अभिधा धरे' कह कर बता दिया है। 'जिनसहस्रनाम' में परमात्मा के हजार नामों का उल्लेख किया है; इसीलिए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वन्दनीय परमात्मा की पहिचान के लिए एक श्लोक में निर्देश कर दिया—"जिस जिस समय (युग) में, जो-जो, जिस किसी भी नाम से पुकारे जाते हों, वे एक ही हैं, उन महापुरुष वीतराग भगवान् को नमन-वन्दन हो, बशर्ते कि

वे समस्त दोषों से रहित हो।[1]

जैनधर्म किसी विशेष नाम का पक्षपात नहीं करता और न अपने ही माने हुए किसी नाम को वन्दनीय मानने का आग्रह रखता है। उसकी किसी भी महान् आत्मा को वन्दनीय मानने की गुणनिष्पन्न एक ही कसौटी है, और वह है—"राग-द्वेषादि भवभ्रमणकारक दोषों का जिसमें अस्तित्व न हो। इसी दृष्टिकोण को ले कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामों का क्रमशः उल्लेख करते हैं।

सात महाभय के निवारक

जगत् के समस्त प्राणी अपने शरीर, इन्द्रियों, मन और प्राणों की तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों की रक्षा की चिन्ता में लगे रहते हैं, वे मुख्यतया सात महाभय हैं। वे सात महाभय इस प्रकार हैं—(१) **इहलोकभय**—इस लोक में मेरा क्या होगा? कौन मुझे संकटों से बचाएगा? कौन खाने-पीने को देगा? अथवा इस लोक में मेरी इच्छाओं की पूर्ति होगी या नहीं? मुकद्दमे, व्यापार-धंधे, परीक्षा आदि में मुझे सफलता मिलेगी या नहीं? इस प्रकार की अहर्निश चिन्ता। (२) **परलोकभय**—पता नहीं, अगले जन्म में मुझे नरकलोक मिलेगा या तिर्यञ्चलोक मिलेगा? अथवा मनुष्यलोक मिलेगा? और परलोक में पता नहीं, कितनी यातनाएँ सहनी पड़ेंगी? मनुष्य-लोक मिल जाने पर भी शायद मुझे खराब वातावरण व अनेक संकटों से घिरा रहना पड़े; इस प्रकार की नाना चिन्ताएँ। (३) **आदानभय (अत्राण-भय)**—अपनी धन-सम्पत्ति, या अन्य किसी ममत्वग्रस्त वस्तु के छीन जाने का डर, अथवा आदान यानी किसी से कोई वस्तु लेने जाने पर मिलेगी या नहीं? इस प्रकार की फिक्र, या किसी भी प्रकार का संकट अथवा पीड़ा से बचने की चिन्ता, अथवा किसी संकट के आ पड़ने पर अपनी या अपनी मानी हुई वस्तु की रक्षा का भय। (४) **अकस्मात्भय**=आकस्मिक संकट या दुर्घटना के उपस्थित हो जाने की भीति, (५) **आजीविकाभय**—अपनी जीविका या रोजी

---

१. **यत्र तत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।**
वीतदोष-कलुषः स चेद्, एक एव भगवन् नमोऽस्तु ते ॥

छूट जाने का डर अथवा मेरा रोजगार-धंधा चलेगा या नहीं, अथवा व्यवसाय नहीं चला तो क्या होगा ? इस प्रकार की रातदिन चिन्ता करना (६) **अपयश-भय**—अपनी या अपनों की अपकीर्ति, अपयश, बदनामी, बेइज्जती या अप्रतिष्ठा होने का डर। फलां जगह लोग मेरा अपमान करेंगे या मेरे पर झूठा कलंक लगा देंगे तो क्या होगा ? इस प्रकार की चिन्ता। और (७) **मरणभय**—अपने अथवा अपने माने हुए लोगों के प्राणों का वियोग हो जाने का डर। उसके मर जाने पर मेरा क्या हाल होगा ? अथवा मेरे मर जाने पर मेरे परिवार आदि का क्या हाल होगा ? हाय ! मैं इतनी जल्दी मर जाऊँगा ? मुझे मौत न आ जाय ? इस प्रकार मृत्यु का नाम सुनते ही कांप उठना। एक और प्रकार से भय तीन प्रकार के हैं--आध्यात्मिकभय, कर्मजन्यभय और भौतिक (पौद्गलिक) भय। निम्नलिखित सातों भय **आध्यात्मिकभय** के अन्तर्गत हैं--काम, क्रोध, मद हर्ष, राग, द्वेष और मिथ्यात्व। ये आत्मा के साथ रह कर आत्मगुणों की हानि करने वाले हैं। **कर्मजन्यभय** शुभाशुभ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। उपर्युक्त (इहलोकभय आदि) सातों भय कर्मजन्यभय के अन्तर्गत हैं। **भौतिकभय**—ये भय पुद्गलों की विकृति के कारण जीवात्मा को होते हैं। ये भौतिक भय सात प्रकार के हैं—रोग, महामारी, वैर, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, स्वचक्रभय, और परचक्रभय। ये भय मोहनीयकर्म के उदय वालों को अत्यन्त भयभीत करते रहते हैं और उन्हें वास्तविक सुखों से वंचित कर देते हैं। इनके निवारण के लिए वे विविध उपाय करते हैं, इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र आदि की सेवा करते हैं, फिर भी ये उपाय उन्हें भयरहित नहीं बना सकते।

वीतराग-परमात्मा इन सभी भयों से रहित निर्भय होते हैं। उन्हें बड़े से बड़ा भय भी विचलित नहीं कर सकता और न किसी प्रकार का भय उन्हें अपने स्वरूप से च्युत कर सकता है। बड़े से बड़े संकटों का सामना करने में वे जरा भी नहीं घबराए। अपनी साधना के दौरान बड़े से बड़े विघ्न, परिषह या उपसर्ग आए, फिर भी वे तनिक भी नहीं डिगे।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—भयाकुल आत्मा को पूर्ण निर्भय सुपार्श्वनाथ (वीतराग) परमात्मा की वन्दना और शरण ले कर भयरहित होना आवश्यक है। केवल शरीर और मस्तक को झुका लेना ही वन्दना नहीं है; किन्तु सावधान मन से अप्रमत्त हो कर मन-वचन-काया को एकाग्र करके वीत-

रागपरमात्मा की चरणसेवा (अथवा परमात्मपद का आराधन) करना ही सच्चे माने में वन्दना है।

इससे आगे की गाथाओं में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामों का उल्लेख करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—**शिवशंकर जगदीश्वर……**। परमात्मा शिव हैं। यानी वे किसी प्रकार का उपद्रव मचाने वाले या संसार में प्रलय का ताण्डव करने वाले नहीं हैं, वे सच्चे अर्थों में शिव—निरुपद्रव हैं। अथवा कल्याणरूप हैं, या विश्वहित करने वाले हैं। अथवा वे कर्मों के उपद्रव के निवारक हैं। वे किसी का संहार करने वाले नहीं हैं, अपितु संहार को रोक कर कल्याण करने वाले हैं। परमात्मा शंकर हैं, यानी प्रतिदिन सुख के करने वाले आत्मसुखरूप हैं। परमात्मा स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक तीनों लोकों से ऊपर होने के कारण, अथवा तीनों लोकों में उनका आध्यात्मिक आदेश प्रचलित होने से वे जगदीश्वर हैं। उनका ऐश्वर्य भी ईश्वर के समान होने से वे सच्चे अर्थ में जगदीश्वर हैं। वे ज्ञानानन्दमय होने से चिदानन्द हैं। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य, यश, श्री, मोक्ष इन छह बातों से परिपूर्ण होने के कारण वे भगवान् हैं। अथवा भव (जन्ममरणरूप संसार) का अन्त दिया है, इसलिए भगवान् हैं। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वे जिन (विजेता) हैं, आपने कर्म-शत्रुओं को दबा दिये हैं, यानी उन्हें जीत लिये हैं, इसलिए अरिहा (अरिहंत) कहलाते हैं। धर्मतीर्थ (श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध संघ) की स्थापना करने के कारण आप तीर्थंकर हैं। इसी प्रकार आप मुक्त (सिद्ध) हो जाने पर केवल शुद्ध चैतन्य (आत्मा) से सदा ज्योतिर्मय (प्रकाशित) होने से ज्योतिस्वरूप हैं। आत्मा-परमात्मा की तुलना धर्मास्तिकायादि पांच द्रव्य नहीं कर सकते, इसलिए आप असमान हैं, अथवा दुनिया में परमात्मा के सिवाय कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है, जिसके साथ आपकी समानता की जा सके, इसलिए आप (परमात्मा) असमान हैं, अनन्य हैं अथवा फारसी भाषा में अस्मान आकाश को कहते हैं, अतः आकाश की तरह परमात्मा ज्ञानरूप से व्यापक या अव्यक्त हैं।

इसी तरह आप अलक्ष्य हैं, अर्थात् मन या बुद्धि से अगम्य हैं, वाणी से

अनिर्वचनीय हैं, अक्षर से लिखे नहीं जा सकते, कोई भी अल्पज्ञ प्राणी आपको जान-देख या समझ नहीं सका। आप संसार की मोहमाया से, कर्म, काया आदि से बिलकुल निर्लेप होने के कारण निरंजन हैं। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर निराकार होते हुए भी जगत् के दुःखों को देख कर दुनिया में पुनः आ कर जन्म धारण करते हैं, इस मत का इससे खण्डन हो जाता है। क्योंकि परमात्मा को निरंजन-निराकार, अजर-अमर हो जाने के बाद पुनः जन्म धारण करने या संसार के प्रपंचों में पड़ने की क्या आवश्यकता है? और जब उनके शरीर ही नहीं है, तब वे कैसे तो जन्म लेंगे, कैसे वाणी बोलेंगे, कैसे कोई कार्य करेंगे? अतः मुक्त अशरीरी परमात्मा निरंजन होने से किसी भी सांसारिक मोहमाया में पड़ते नहीं।

वे विश्ववत्सल भी हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि वे जगत् के प्रति किसी कामना, राग या मोह से प्रेरित हैं। समभावपूर्वक समस्तप्राणियों का निष्कारण परमहित उनसे होता रहता है। वे जगत् के एकान्त निष्कारण परमहितैषी हैं, आत्मीय हैं, विश्वमित्र हैं। इसलिए जगत्वत्सल हैं। जगत् के माता-पिता समान हैं।

साथ ही वे चार गतियों व चौरासी लक्ष जीवयोनियों में बारबार भटकने के कारण थके हुए जीवों के लिए विश्रामस्थान हैं, आश्रयस्थान हैं, पापी से पापी जीव को भी उनके पास बैठने में कोई भय या खतरा नहीं है, बल्कि उनके पास बैठने से क्रूर प्राणी भी शान्त और सौम्य बन जाता है। इसलिए प्रभु समस्त जन्तुओं के लिए विश्रामरूप हैं तथा क्रूरातिक्रूर प्राणी परमात्मा के पास निर्भयतापूर्वक आ-जा व बैठ सकते हैं, इसलिए उनका सदा अभयदानदाता नाम भी सार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बलवीर्य, सुख आदि आत्मा के अनुजीवी गुणों से परिपूर्ण होने के कारण परमात्मा पूरण हैं तथा प्रभु स्वयं आत्मा में ही स्थिर रहते हैं, आत्मा में ही रमण करते हैं, इसलिए आत्माराम भी हैं।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के और भी अनेकों गुणनिष्पन्न नाम हैं। वे राग (मोह), मद (अष्टमद), संकल्पविकल्प, रति (रुचि), अरति (अरुचि), भय, शोक, निद्रा, तन्द्रा, (आलस्य), दुरवस्था आदि दोषों (जो कि छद्मस्थ में

होते हैं) से रहित हैं। उन्हें मन-वचन-काया के योग कोई बाधा (कष्ट) सदेह वीतराग-अवस्था में नहीं पहुँचाते। विदेह (देहमुक्त) अवस्था में तो उनके उक्त योग होते ही नहीं। मतलब यह है कि संसारी जीवों को अपने और अपनों के लिए बात-बात में राग (मोह), ममता हो जाती है। धन, बल, जाति, कुल, प्रभुत्व, (सत्ता, पद आदि), रूप, किसी वस्तु का लाभ आदि पा कर उन्हें अभिमान (गर्व) हो जाता है, जरा-जरा-सी बात में वे संकल्पविकल्प में डूबते-उतराते रहते हैं, ईष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट के संयोग में अरति (अरुचि=घृणा) हो जाती है तथा अनिष्ट वस्तु के वियोग और ईष्ट के संयोग में रति (रुचि=हर्ष) पैदा हो जाती है, बात-बात में आर्त-रौद्रध्यान के विकल्पजाल गूंथने लग जाते हैं। थोड़ी-थोड़ी-सी बात को ले कर या जरा-सी अप्रिय घटना की सुराग मिलते ही भय पैदा हो जाता है; प्रियजन या प्रियवस्तु के वियोग और अप्रियजन या अप्रियवस्तु के संयोग में शोक पैदा हो जाता है, वे हाहाकार या हायतोबा मचा उठते हैं, अथवा रोने-पीटना या विलाप करने लगते हैं। दुनियादार लोगों को चिन्ता के कारण भले ही नींद न आती हो, वैसे वे द्रव्यनिद्रा में भी बेसुध पड़े रहते हैं, भावनिद्रा में तो प्रायः मग्न रहते ही हैं, क्योंकि वे आत्मस्वरूप में जागृत नहीं रहते हैं। साथ ही वे आत्मस्वरूप में रमण करने में आलसी (तन्द्रापरायण) होते हैं, उन्हें योगों की चपलता प्रतिक्षण खिन्न-क्षुब्ध बना देती है।' उन्हें सांसारिक विषयवासनाओं में प्रवृत्त करती है।

इसके विपरीत पूर्वोक्त कथानानुसार परमात्मा इन सब दोषों से बिलकुल रहित हैं। वे दुनियादारी के इन दोषों से बिलकुल अछूते हैं। क्योंकि वे इन तमाम दोषों को नष्ट करके ही वीतराग बने हैं। राग, द्वेष, मद, कल्पना, रति, अरति, भय, शोक और दुर्दशा, ये सब मानसिक योग हैं और निद्रा तथा तन्द्रा ये दोनों शारीरिक योग हैं, ये सब योग प्रभु में न होने से उनका अबाधित-योगी नाम सार्थक हैं।

इन सब दोषों से रहित होने से वे स्वयं पुरुषों में सर्वथा उत्कृष्ट (Superman) हैं; आत्मिकदृष्टि से महापराक्रमी होने से वे परम पुरुष कहलाने योग्य हैं। उनकी आत्मा परमात्मत्वपद को प्राप्त होने से वे परम आत्मा=परमात्मा हैं। तथा सुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति में परमात्मा के बताये हुए लक्षण के अनुसार वे बहिरात्मा और अन्तरात्मा से आगे बढ़े हुए

परमात्मा हैं। तथा प्रभु का परमेश्वर नाम भी सार्थक है, क्योंकि तीर्थंकर अवस्था में थे, तब वे सर्वोच्च ऐश्वर्यसम्पन्न थे, सब पर आध्यात्मिक दृष्टि से धर्मशासन करते थे। इसके अतिरिक्त प्रभु पुरुषों में प्रधान=मुख्य भी हैं; क्योंकि आपके नाम की सर्वत्र महिमा है। दुनिया के सर्वोत्कृष्ट पदार्थ होने से अथवा मोक्षरूप उच्चपद ही आपका अर्थ (साध्य) होने से आप परमपदार्थ-रूप हैं। इसी तरह आप सबके लिए मनोज्ञ=ईष्ट वस्तु को प्राप्त किये हुए होने से परमेष्टी हैं, अथवा आप परम-उत्कृष्ट ईष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त हैं, इसलिए परमेष्ठी हैं। आपका एक नाम परमदेव भी है। आप परम-देव या महादेव इसलिए हैं, कि दूसरे देव तो रागी-द्वेषी आदि भी हो सकते हैं, परन्तु आप तो वीतराग हैं, राग-द्वेषरूपी महामल्लों को आपने जीत लिया है। इसलिए आपका परमदेव नाम सार्थक है। आप संसार के समस्त साधकों के लिए प्रमाणरूप हैं। अथवा प्रभु स्वयं प्रमाणभूत हैं, उनके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती ?

इसके अतिरिक्त परमात्मा विधि हैं—मुमुक्षु (मोक्षार्थी) के लिए विधि-मार्ग कौन-सा है, निषेधमार्ग कौन सा है ? इसका यथार्थ विधान करने वाले हैं अथवा अपनी आत्मा को शुद्धरूप में स्थापन करने में विधाता हैं। द्वादशांगी आगमों की अर्थरूप से रचना (निर्माण) करते हैं—प्ररूपणा करते हैं; इसलिए आप विरंचि=ब्रह्मा हैं। अथवा अपने आत्मगुणों की स्वयं रचना करने वाले होने से विरंचि=ब्रह्मा हैं। आपका आदेश—उपदेश संसार के लिए आत्मगुण-पोषक होने से आप विश्वंभर हैं। अथवा आपकी आत्मा में सारे जगत् की रक्षा बसी हुई होने से भी आप विश्वम्भर हैं—विश्व-परिपूर्ण हैं। प्रभु इन्द्रियों के ईश=स्वामी होने से अथवा प्रभु के किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, वे समस्त इच्छाओं के स्वामी होने से हृषीकेश कहलाते हैं। ज्ञान द्वारा प्राणि-मात्र की रक्षा करने में कारणभूत होने से आप जगत् के नाथ (रक्षक) हैं। आप अघ यानी पाप के हरने वाले हैं अथवा आपको वन्दन करने से पाप पलायित हो जाते हैं, इसलिए आप अघहर हैं। आपमें एकाग्र होने वाले तथा आपका नाम-स्मरण करने वाले पाप से छूट जाते हैं, अथवा पापी से पापी व्यक्ति के पाप आपके पास आते ही छूट जाते हैं, इसलिए आप अघमोचन भी हैं। अथवा आप-आत्मा को शुभाशुभ अघ=आश्रव से मुक्त करते-कराते हैं, इसलिए आप

अघहर एवं अघमोचन हैं। आप अपने अनन्त आत्मगुणों के धनी हैं, अथवा जगत् के धणी=स्वामी हैं, मालिक हैं। तीर्थंकरों को सभी लोग स्वामी मानते हैं। आप मुक्तिरूप परमपद के सार्थवाह हैं। संसार के समस्त ताप का शमन करने वाला, एकान्तसुख का धाम मोक्ष है, जहाँ जन्म-जरा-मरण नहीं, आधि-व्याधि-उपाधि नहीं है, उस परमसुखरूप मोक्ष को प्राप्त करने में आप-सार्थवाह की तरह साथ देने वाले=सहायक हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त गाथाओं में वीतराग परमात्मा के 'शिव' से लेकर 'मुक्तिपरमपदसाथ' तक कुल ४५ मुख्य-मुख्य सार्थक नाम बताए हैं, और भी अनेकों नाम उनके हो सकते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—**'एम अनेक अभिधा धरे'** यानी हम परमात्मा के नाम कहाँ तक गिनाएँ ? उनके अनेकों नाम हो सकते हैं। जो साधक जिस गुण का अपनी आत्मा में अनुभव करना चाहता है, वह उस गुण से युक्त नाम को ले कर प्रभु का स्मरण करता है—उस गुण पर विचार करता है तो उसके लिए वह नाम अनुभवगम्य हो जाता है। अथवा परमात्मा का रूप विचारपूर्वक अनुभव से ही जाना जा सकता है। जिस गुण का अनुभव जिसे हो गया है, वह यदि उसे अपना ध्येय बना कर विचारपूर्वक ध्यान करता है तो वह ध्याता आनन्दघनरूप हो जाता है, वह अपने जीवन का अवतरण आनन्दमय बना लेता है, अथवा अपनी आत्मा को आनन्दघनरूप साँचे में ढाल लेता है। मतलब यह है कि उपर्युक्त गुणों से परिपूर्ण प्रभु को जो भलीभाँति जानता है, उनका ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है, सच्चिदानन्दमय बन जाता है।

सारांश

इस प्रकार इस स्तुति में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नाम बताने के साथ-साथ अन्त में परमात्म-वन्दना का फल भी बतला दिया है; जिसे भली-भाँति जान कर प्रभु की वन्दना-नमन-स्तुति-भक्ति-सेवा करके अपना जीवन सफल करना चाहिए।

८ : श्रीचन्द्रप्रभजिन-स्तुति

परमात्मा का मुखदर्शन

(तर्ज-कुमारी रोवे, आक्रन्द करे, मुने कोई मुकावे; राग-केदारो या गौड़ी)

देखण दे रे, सखी मुने देखण दे! चन्द्रप्रभु मुखचन्द; सखी।
उपशमरसनो कंद, सखी; गतकलिमल-दुःखद्वन्द; सखी० ॥ १ ॥

अर्थ

आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना अशुद्ध चेतना-सखी से कह रही है—हे सखी! मुझे इस अवसर्पिणीकाल के आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभु [वीतराग-परमात्मा] के मुखरूपीचन्द्र के दर्शन कर लेने दे; क्योंकि परमात्मा का मुख-चन्द्र शान्त (उपशम) रस का मूल है; और वह क्लेश, रागद्वेषरूपी मैल (विकार) व समस्त दुःख; से दूर है।

भाष्य

परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन क्यों ?

पिछली स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-वन्दना के सम्बन्ध में सांगोपांगरूप से बताया था; परन्तु वन्दना में जो अभिमुखता होनी चाहिये, वह तो केवल अमुक गुणनिष्पन्न नाम ले लेने या तदनुसार जप कर लेने से नहीं हो सकती, वह तो प्रभु के शान्त- अमृतरसपूर्ण, समस्त कलंकों व मलिनताओं से रहित पूर्णचन्द्र की तरह मुखचन्द्र के दिखाई देने पर ही भलीभांति हो सकती है; इसलिए श्री आनन्दघनजी श्रीचन्द्रप्रभु तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के शान्त, निर्मल मुखचन्द्र का दर्शन करने को उत्कण्ठित—परम-उत्सुक हो कर आत्मा की एकान्तहितैषी शुद्धचेतना द्वारा अपनी अज्ञानचेतना-रूपी सखी से कहलाते हैं कि 'तू प्रभु के मुखचन्द्र को देखने दे।'

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने सखी को सम्बोधन करते हुए प्रभुमुख के दर्शन की जो बात कही, उस पर से प्रश्न होता है कि क्या अब तक आत्मा को ज्ञान-

चेतना (शक्ति) प्रभु का मुखचन्द्र देखने में रुकावट डाल रही थी कि उसे सम्बोधन करके कहना पड़ा—**सखी, मुने देखण दे।**

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मा अब तक अनेक गतियों और योनियों में अनन्तबार परिभ्रमण कर आई, पर कहीं तो आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना पर इतना गाढ़ आवरण आ गया था कि प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन तो दूर रहा, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी, कहीं कल्पना तो हो सकती थी, पर उस पर भी आवरण था। कहीं थोड़ा आवरण था, तो भी मिथ्यात्व के गाढ़ तिमिर के कारण आत्मा दर्शन नहीं कर सकी। यही कारण है कि अब तक आत्मा की चेतना ही प्रभुमुख के दर्शन करने में बाधक बनी रही। अब मनुष्यजन्म में सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर बहुत-अंशों में वह अनुकूल बनी है, इसीलिए श्रीआनन्दघनजी आत्मा की हितैषिणी शुद्ध (ज्ञान) चेतनारूपी सखी द्वारा अशुद्ध-चेतनासखी से कहलाते हैं—अब तो मुझे चन्द्र-प्रभु (परमात्मा) के मुखचन्द्र का दर्शन कर लेने दे। अब तो दर्शन में अन्तराय मत डाल! बहुत जन्मों तक तूने मेरी आत्मा को अंधेरे में रखा, उसके ज्ञान नेत्रों पर पर्दा डाल दिया, जिससे वह परमात्मा के उज्ज्वल-मुखचन्द्र को देख न सकी। अब वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र को देखने की मेरी इच्छा तीव्र बनी है, और प्रभु के वास्तविक मुखचन्द्र का भलीभाँति दर्शन करने में तू ही बाधक हो रही है। तेरी बाधकता के कारण इन बाह्यनेत्रों से मैं अब तक प्रभुमुख देखने का प्रयत्न करती रही, परन्तु परमात्मा के असली मुखचन्द्र के दर्शन नहीं कर सकी। अगर मैं इस मनुष्यजन्म में और इतने उत्तमधर्म, सम्यग्दर्शन एवं समस्त उत्तम निमित्त एवं अवसर को पा कर भी परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र को नहीं देख सकी, तो मेरा जन्म वृथा हो जायगा। पता नहीं, फिर ऐसा शुभ अवसर मिलेगा या नहीं! अतः तू मुझे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन इस जन्म में तो अवश्य करने दे।"

यहाँ बार-बार **'देखण दे'** शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्तिदोष न हो कर कविता का गुण है, यहाँ बार-बार 'देखण दे' शब्द का प्रयोग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन की आतुरता, या तीव्रेच्छा को सूचित करता है।

परमात्म-मुखदर्शन की आतुरता क्यों?

सवाल यह होता है कि जगत् में मातापिता, भाई, परिवार में अपने से

ज्येष्ठ, अथवा अध्यापक, राष्ट्रनेता या समाजमान्य पुरुष अथवा अन्य किसी बड़े माने जाने वाले व्यक्ति के मुखदर्शन की आतुरता न हो कर परमात्मा के मुख-दर्शन की ही आतुरता क्यों है? इसका समाधान श्री आनन्दघनजी प्रभुमुख की दो विशेषताओं द्वारा प्रगट करते हैं—'उपशमरसनो कंद तथा 'गतकलिमल-दुःख द्वन्द'। तात्पर्य यह है कि सांसारिक व्यक्ति, फिर वे चाहे कितने ही महान् क्यों न हों, जब तक छद्मस्थ हैं, तब तक रागद्वेष आदि विकारों या कर्मरूपी कीचड़ से मलिन बने हुए हैं, उनके जीवन में कषायों की आग सुलगती रहती है, चाहे वह धीमी आंच से ही हो। इसलिए उनका मुखचन्द्र अनेक कषायों से संतप्त होने से अशांत बना हुआ, कामादि अनेक विकारों या कर्मों व रागद्वेषादि से मलिन व दुःखों से युक्त बना हुआ है; इसलिए उनका मुखचन्द्र भौतिक दृष्टि से भले ही सुन्दर या दर्शनीय हो, आध्यात्मिक दृष्टि से या आत्म-विकास की दृष्टि से उनका मुख दर्शनीय नहीं कहा जा सकता; जबकि परमात्मा का मुख पूर्णिमा के चंद्रमा की तरह निष्कलंक एवं परिपूर्ण है, वह कषायों से रहित होने के कारण शान्त-रस का मूल है, उसमें से शान्तसुधारस टपक रहा है। और उसमें रागद्वेष, कामक्रोध आदि विकारों या कर्मों का मैल बिलकुल न होने से वह सभी प्रकार के कलंक, क्लेश के मैल, या विकारों की मलिनता से सर्वथा रहित है। चन्द्रमा में तो फिर भी कलंक रह सकता है या उसकी कला में घट-बढ़ हो सकती है, लेकिन प्रभु-मुखचन्द्र में न तो कोई कलंक रह सकता है और न ही उनके गुणों में कोई घट-बढ़ हो सकती है। यही कारण है कि अन्य सांसारिक मुखचन्द्रों को छोड़ कर यहाँ परमात्मा के शान्त, निर्मल, निर्विकार मुखचन्द्र के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा प्रदर्शित की है।

परमात्म-मुखचन्द्र से तात्पर्य

यह कहा जा सकता है कि परमात्मा जब निरंजन, निराकार एवं अशरीरी सिद्ध हो गए, तब उनके मुख ही नहीं रहा; फिर उनके मुख-दर्शन की बात कैसे संगत हो सकती है? वास्तव में व्यवहार की दृष्टि से १३वें गुणस्थान—सयोगीकेवली वीतरागप्रभु शरीरधारी होते हैं; उनके मुखचन्द्र के दर्शन का विधान यहाँ भूतनैगमनय की दृष्टि से समझना चाहिए।

निश्चयनय की दृष्टि से तो शुद्ध-सिद्ध-स्वरूप परमात्मा के शुद्धज्ञानरूप मुखचन्द्र का दर्शन समझना चाहिए। क्योंकि दूसरे मुख तो सप्तधातु से बने

हुए, मुखचन्द्र हैं, और वे तो सदा मलयुक्त रहते हैं। 'असुई असुईसंभवे' इस शास्त्रवचनानुसार शरीर का प्रत्येक अवयव अशुचिमय है, मलिन है। मुक्त परमात्मा का ज्ञानरूपी मुखचन्द्र तो सदा पवित्र और शुद्ध रहता है, उसमें विकार या अशुद्धता को कोई स्थान ही नहीं है। इस दृष्टि से यहाँ सिद्ध परमात्मा के ज्ञानरूप मुखचन्द्र का दर्शन ही अभीष्ट है।

व्यवहारदृष्टि से भी सोचा जाय तो वर्तमान में श्रीचन्द्रप्रभु तीर्थंकर प्रत्यक्ष नहीं हैं, वे तो मुक्ति में विराजमान हैं। अतः परोक्ष में उनके मुखचन्द्र के दर्शन कैसे किये जा सकते हैं ? यह एक सवाल है। इसलिए यहाँ भी सयोगी-केवली शरीरधारी वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन से ज्ञानरूप मुखचन्द्र अथवा शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र के दर्शन ही अभीष्ट हैं; ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि वही मुखचन्द्र उपशमरस का कंद एवं समस्त क्लेश, मालिन्य एवं दुःख-द्वन्द्वों से रहित है।

साथ ही ऐसे परमात्म-मुखचन्द्र के दर्शन करने का अधिकारी भी ज्ञान-चेतनायुक्त सम्यग्दृष्टि आत्मा होना चाहिए; तभी वह परमात्मा के मुखचन्द्र पर छिटकती हुई उपशमरस की चाँदनी देख सकेगा तथा रागद्वेषादि कलिमल और दुःख-द्वन्द्व से रहित निर्मलता का निरीक्षण कर सकेगा।

इस प्रकार से दर्शन करने वाले को ही संवर-निर्जरारूप महान् धर्म का लाभ मिल सकता है। अन्यथा, शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र या शुद्धज्ञानमय मुखचन्द्र की उपेक्षा करने केवल मुखचन्द्र के सम्यग्भावनाहीन दर्शन से इस महान् धर्म का लाभ नहीं हो सकता।

इसी दृष्टिकोण से अगली कुछ गाथाओं में किस-किस गति और जीवयोनि में कहाँ-कहाँ परमात्मा के उक्त मुखचन्द्र के दर्शन नहीं हो सके; इसका वर्णन श्रीआनन्दघनजी मार्मिक शब्दों में करते हैं—

सुहुम निगोदे न देखियो, सखि! बादर अति हि विशेष ॥ स० ॥
पुढवी आऊ न लेखियो सखि! तेऊ वाऊ न लेश ॥ सखी० ॥ २ ॥
वनस्पति, अतिघणदिहा, स०; दीठो नहिं दीदार ॥ स० ॥
वि-ति- चउरिंदिय-जललीहा, स० ; गतसन्निपण धार ॥स०॥३॥

सुर-तिरि- निरय-निवासमां, स०; मनुज-अनारज साथ । स० ।
अपज्जत्ता प्रतिभासमां, सखि०, चतुर न चढ़ियो हाथ ॥ सखी० ॥४॥
इम अनेक थल जाणीए, स०; दर्शन-विणु जिनदेव; स० ।
आममथी मत जाणीए, स०; कीजे निर्मल-सेव ॥ स०॥५॥

अर्थ

हे सखी ! मैंने सूक्ष्म निगोद (साधारण वनस्पतिकाय) में परमात्मा के मुखचन्द्र को नहीं देखा, और बादरनिगोद (साधारण वनस्पतिकाय के बादर निगोद) में भी खासतौर से उनका मुख नहीं देखा। तथा पृथ्वीकाय और अप्काय नामक एकेन्द्रियजीव के रूप में भी प्रभुमुख के दर्शन नहीं किये; और तेजस्काय (अग्निकाय) और वायुकाय के भव में भी मुझे लेशमात्र दर्शन नहीं हुए। ॥२॥

प्रत्येक वनस्पतिकाय (वृक्ष आदि) के रूप में बहुत लम्बे काल (दीर्घकाल) तक रहा, लेकिन हे ज्ञानचेतनारूपी सखी ! मैंने प्रभु का दीदार नहीं देखा। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियों वाले जीव), त्रीन्द्रिय (तीन इन्द्रियों वाले जीव, और चतुरिन्द्रिय (चार इन्द्रियों वाले जीव) में भी रहा, लेकिन वहाँ भी पानी पर खींची हुई लकीर की तरह (दर्शन के बिना) वृथा समय खोया; कुछ भी दर्शन पल्ले नहीं पड़ा। असंज्ञी (द्रव्यमन से रहित) पञ्चेन्द्रिय जीव के रूप में जन्म धारण करने पर भी यही हाल रहा। ॥३॥

संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय-अवस्था में भी मैं सुरगति (भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक; इन चार प्रकार के देवों की योनि) में रहा, तिर्यञ्चगति (कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े आदि संज्ञी, तिर्यंचपंचेन्द्रिय जीवयोनि) में रहा, तथा निरय (नरक) गति (सातों ही नरकों की नारकभूमियों) में निवास किया; इसी प्रकार मनुष्यगति, प्रभुमुखदर्शन के योग्य संज्ञीपंचेन्द्रिय मनुष्ययोनि) में आया, लेकिन यहां अनार्यमनुष्यों का सहवास (सम्पर्क) मिला, तथा अपर्याप्त (सातों पर्याप्तियों की पूर्णता से हीन) अवस्था में एवं प्रतिभासरूप पर्याप्त-अवस्था में भी रहा, लेकिन चतुर परमात्मा मेरे हाथ नहीं आए, यानी संज्ञीपञ्चेन्द्रिय की इन जीव-योनियों में भी प्रभु-मुख के दर्शन से मैं वंचित ही रहा। ॥४॥

इस प्रकार समझ लो कि मैं पूर्वोक्त अनेक स्थानों में श्री वीतराग परमात्मदेव के (मुख) दर्शन के बिना ही रहा। यह समस्त (पूर्वोक्त) अभिप्राय [विचार] वीतरागप्ररूपित आगमों [शास्त्रों] से हम जान सकते हैं। अतः हे ज्ञानचेतनारूपी सखी! अब तो मुझे [जबकि मैं प्रभुमुखदर्शन की योग्यता के लिए सम्यग्दृष्टि पा गया हूँ] प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन करने दे; और आगमों के वर्णन से समझ कर निर्मल [निर्बन्ध हो कर] मन-वचन-काया को एकाग्र करके प्रभु की सेवा-भक्ति कर लेने दे।॥५॥

भाष्य

विविध गतियों और योनियों में प्रभु-मुखदर्शन से वंचित रहा

इस स्तुति की प्रथम गाथा में परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप, उसके दर्शन का महत्त्व और दर्शन की तीव्रता बतलाई। परन्तु प्रभुमुख के दर्शन इतने समय तक साधक की आत्मा क्यों नहीं कर सकी? क्या कारण था दर्शन के लाभ से वंचित रहने का? यह बात नहीं बताई गई थी। अतः इसी बात को चार गाथाओं द्वारा श्रीआनन्दघनजी अभिव्यक्त करते हैं।

वास्तव में पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार सही माने में वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन सम्यग्दृष्टि आत्मा ही कर सकता है। इसके सिवाय जितनी भी गतियों और योनियों में जीव जाता है, वहाँ प्रभुमुख का दर्शन तो दूर रहा, उसकी जरा-सी कल्पना भी नहीं होती, ऐसा विचार ही नहीं उठता। इसी बात को श्री आनन्दघनजी क्रमशः कहते हैं—

मेरी आत्मा सूक्ष्मनिगोद नामक साधारण वनस्पतिकाय में रही, जहाँ अंगुल के असंख्यातवें भाग जितने एक ही शरीर में (अनन्तजीवों के लिए एक ही शरीर में, एक ही साथ श्वासोच्छ्वास और जन्म-मरण करते हुए) अनन्तकाल तक रही, परन्तु वहाँ तो अपने ही अस्तित्व का भान न था, बेसुध चेतना थी; वहाँ भला प्रभुमुखदर्शन कहाँ हो सकता था? और बादर निगोद वनस्पतिकाय में भी अनन्तकाल तक रहा, मगर वहाँ भी सूक्ष्मज्ञान-चेतना न होने से दर्शन न हो सका। यही हाल पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों के रूप में रहते हुए रहा। वहाँ स्पर्शेन्द्रिय ही थी, द्रव्यमन था नहीं, जिससे मैं चिन्तन कर सकता, और प्रभु-

मुखदर्शन कर सकता। प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के रूप में बहुत दीर्घकाल तक (उसकी स्थिति बहुत लम्बी होने के कारण) रहा, लेकिन वहाँ भी प्रभु के मनोरम, शान्त दीदार को व सूक्ष्मज्ञानचेतना और विचार करने के लिए द्रव्यमन न होने के कारण नहीं देख सका।

इसी प्रकार वहाँ से आगे बढ़ कर मेरा जीव दो इन्द्रियों (स्पर्शन एवं रसना) वाले जीवों में गया, जहाँ मैं स्वाद तो लेने लगा, परन्तु आँख के अभाव मे प्रभु को देख कैसे सकता था, यही हाल तीन इन्द्रियों (स्पर्शन, रसना एवं घ्राण इन्द्रिय) वाले जीवों में उत्पन्न होन पर हुआ। उसके आगे प्रगति करके मेरा जीव चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियों वाले) जीवों म पैदा हुआ, वहाँ भी प्रभुदर्शन के लिए आँख तो मिली; परन्तु अन्तर की आँख न मिलने से वहाँ भी दर्शन न हो सके। यहाँ तक आ कर भी मैंने पानी पर लकीर खींचने की तरह व्यर्थ ही जन्म खोए। मुझे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियाँ भी मिलीं; लेकिन द्रव्यमन नहीं मिलने के कारण वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप में जाना-समझा भी नहीं, विचार भी न कर सका। इसलिए असंज्ञी-पंचेन्द्रिय जीव के रूप में जन्म लेना भी व्यर्थ गया।

इसके बाद मेरा जीव पर्वतीय नदी में इधर-उधर लुढ़कने से चमकीले बने हुए गोलमटोल पत्थर की तरह विविध योनियों में भटकता-भटकता किसी तरह चार प्रकार के देवनिकायों में से अनेक देवयोनियों में पहुँचा। वहाँ पाँचों इन्द्रियाँ, मन आदि मिले, भोगसामग्री भी पर्याप्त मिली, वैषयिक सुख भी पर्याप्त मिला, वैक्रिय शरीर मिला; लेकिन वहाँ भी मैंने अपना समय प्रभुमुखदर्शन में न बिता कर राग-रंग, भोगविलास और वैषयिक सुखों और कषायों में ही बिताया। अतः वहाँ वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप में जानने-समझने का प्रयास भी न किया। कई बार मैं तिर्यंच-पंचेन्द्रिय की विविध योनियों में गया। वहाँ मैं जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के रूप में विविध स्थानों में पैदा हुआ, वहाँ मुझे मन भी मिला, लेकिन विवेक-विकल होने से उसका उपयोग अन्धाधुन्ध विषय-कषायों में ही हुआ, परमात्मा के मुख को देखने का विचार तक मेरे मन में नहीं

आया। हालांकि चाहता तो मैं वैसा विचार कर सकता था। इसके अतिरिक्त सातों नरकों में मैं अनेक वार जन्मा, बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहा। वहाँ वैक्रिय शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ और मन भी मिले; विभंगज्ञान भी जन्म से ही मिला। लेकिन नरकों में अनेक दुःखों और यातनाओं को सहते-सहते मैं इतना अधीर और बेचैन हो गया कि दुःखों और भयों से आक्रान्त मेरे दिमाग में कभी यह विचार भी नहीं आता था कि मैं परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करूँ।

इन सब घाटियों को पार करके मैं विशेष पुण्य के कारण संज्ञी-पञ्चेन्द्रिय मनुष्य बना। पाँचों इन्द्रियाँ, उन्नत विचारशील मन तथा विविध साधन भी मिले; यहाँ प्रभुमुखदर्शन करने के योग्य शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, साधन आदि भी मिले, लेकिन अनार्यक्षेत्र, अनार्यकुल, अनार्यजाति, अनार्यकर्म एवं अनार्यवातावरण मिला। अनार्य मनुष्यों के सहवास में रात-दिन रहने वाले व्यक्ति के मन में आर्यकर्म की प्रेरणा कैसे हो सकती थी? और आर्यकर्म की प्रेरणा अन्तर्मन में जागे बिना वीतरागमुखदर्शन की लगन कैसे पैदा हो सकती थी? यही कारण है कि इतना उत्तम मनुष्यजन्म पा कर भी मैंने व्यर्थ खो दिया। यहाँ भी सूक्ष्मज्ञानचेतना-शून्य होने से मैं प्रभुमुखदर्शन से वंचित ही रहा। यहाँ मुझे कभी छहों पर्याप्तियाँ पूरी नहीं मिलीं, कभी छहों पर्याप्तियाँ पूरी मिलीं तो भी शुद्धज्ञानचेतना न होने से चतुर प्रभु मेरे हाथ में आए ही नहीं। मैं टुकुर-टुकुर देखता ही रह गया; मगर प्रभुमुखदर्शन न हो सके।

इस प्रकार श्रीआनंदघनजी अपनी लंबी आत्मयात्रा का इतिहास कहते-कहते उपसंहार करते हैं— मैं एकेन्द्रिय से ले कर पञ्चेन्द्रिय तक के अनेक स्थानों में भटका और दीर्घकाल तक रहा। चार गतियों में से कोई भी ऐसी गति, ८४ लाख योनियों में से कोई भी ऐसी योनि, तथा पाँच जातियों में से कोई भी ऐसी जाति; संक्षेप में संसारी जीव के सभी प्रकारों में से कोई भी ऐसा प्रकार नहीं छोड़ा, जहाँ मैंने जन्म न लिया हो,[1] मगर किसी भी जगह मैंने

१. न सा जाई, न सा जोणी, न तं ठाणं, न तं कुलं।
न जाया, न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो॥ —उत्तराध्ययन-सूत्र

प्रभुमुखदर्शन नहीं किये। मैं इन सब जगहों में मारा-मारा भटकता फिरा, लेकिन प्रभु-मुख-दर्शन से विहीन ही रहा।

कोई कह सकता है कि श्रीआनन्दघनजी अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी, अथवा जातिस्मरणज्ञानी तो थे नहीं, उन्हें यह सब कैसे मालूम हुआ कि "मैं अमुक-अमुक जगह एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक में गया; लेकिन कहीं भी प्रभु-मुख-दर्शन नहीं कर सका ?" इसी शंका का समाधान करने हेतु श्री आनन्दघनजी नम्रतापूर्वक कहते हैं—'**आगमथी मत जाणीए**....'' यह बात मैं अपने किसी प्रत्यक्षज्ञान या जातिस्मरणज्ञान के बल पर या कपोलकल्पित व मनगढंत नहीं कह रहा हूँ, अपितु आगम (आप्त वीतरागपुरुषों के वचन) के आधार पर कह रहा हूँ। कोई भी सुविहित सुदृष्टि पुरुष जिनप्ररूपित आगमों से इस (उक्त) मान्यता का मिलान कर सकता है; क्योंकि साधु के लिए[२] आगम ही नेत्र हैं।

परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता

श्रीआनन्दघनजी अपनी अन्तर्व्यथा के साथ परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता व्यक्त करते हुए कहते हैं—"इस प्रकार मैं अनन्तकाल तक विविध गतियों और योनियों में यात्रा करता रहा; लेकिन प्रभुमुखदर्शन नहीं कर सका। मुझे पुनः मनुष्यशरीर, उत्तम कुल, आर्यक्षेत्र-जाति-कुल-कर्मादि मिले हैं, शुभकर्मों के फलस्वरूप अच्छा वातावरण और उत्तम सत्संग भी मिला; और सम्यग्दर्शनरूपी रत्न भी मिला है, अतः अब इसे व्यर्थ ही नहीं खोना चाहिए। अगर इस जन्म में प्रभुमुखदर्शन का अवसर चूक गया और शुद्धात्मा के दर्शन नहीं कर सका तो पहले की तरह फिर विभिन्न गतियों और योनियों में भटकने के सिवाय कोई चारा नहीं है। इतना सारा काता पींजा पुनः कपास हो जायगा। इसीलिए शुद्धचेतनारूपी आत्मा अपनी अशुद्धचेतनरूपी सखी से पुनः-पुनः कहती है—"**देखण दे, सखी ! मुने देखण दे।**"

अतः परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करके अपना मनुष्य-जन्म सार्थक कर लेना चाहिए। पर परमात्म-मुखदर्शन कैसे किया जाय ? इसकी विधि

---

२. 'आगमचक्खू साहू'—प्रवचनसार

क्या है ? इसके लिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—जिनभाषित आगमों से प्रभु का सच्चा स्वरूप समझ कर शुद्ध निर्मल (निःस्वार्थ, निष्काम, निर्बन्ध) चित्त से परमात्मा की सेवा करो, उनमें ओतप्रोत हो जाओ, यानी तुम्हारी आत्मा को निर्मल बना कर परमात्मा में लीन करो अथवा परमात्मभाव में रमण करो, जिससे परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र का दर्शन हो जाएगा। जो लोग परमात्मदेव का सच्चा स्वरूप नहीं समझ कर संसार में प्रचलित विविध नामों वाले रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी या विकारी किसी देवी, देव को या भौतिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति को भगवान् प्रभु या परमात्मा मान कर उसके मुखदर्शन को ही यथार्थ मुखदर्शन मानते हैं, उनके उक्त मत का खण्डन भी प्रकारान्तर से इसके द्वारा हो गया।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन यानी परमात्मा = शुद्धात्मा के सत्स्वरूप के साक्षात्कार का उपाय अगली गाथा में बताते हैं—

> **निर्मल साधुभगति लही, स०; योग-अवंचक होय। सखी० !**
> **क्रिया-अवंचक तिम सही, स०; फल-अवंचक जोय ॥**
> **स० ॥६॥**

अर्थ

आत्मा निर्मल साधु-साध्वियों की भक्ति प्राप्त करके जब योग-अवंचक बनती है, उसके बाद वह क्रिया-अवंचक हो जाती है और अन्त में फल-अवंचक बनती है, यानी जब योग, क्रिया और फल तीनों में आत्मा अवंचक हो जाती है, तब परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन वह बेखटके कर सकती है।

भाष्य

परमात्म मुखदर्शन का यथार्थ उपाय

यथार्थ परमात्ममुखदर्शन के हेतु इस गाथा में साधक के लिए तीन बातें बताई गई हैं—योगाऽवंचकता, क्रियाऽवंचकता, और फलाऽवंचकता। इन तीनों के होने पर ही साधक परमात्मा का सच्चे माने में दर्शन कर सकता है। वस्तुतः आत्मस्वभावरूप मोक्ष—(परमात्म-पद) के साथ अनुबन्ध होना योग कहलाता है।

पूर्वगाथा में योगावञ्चकता के लिए सच्चे देव की निर्मलसेवा की बात कही थी, उसी सन्दर्भ में श्रीआनन्दघनजी इस गाथा में सच्चे गुरु (निर्मल साधुसाध्वी) की भक्ति की बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरु और सद्धर्म के योग (निमित्त) से कदापि वंचित न हो, ऐसे अमोघ, या अचूक अवसरों को कदापि न चूके, साथ ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक मोक्ष के अनुकूल धर्मक्रिया करने में जरा भी गफलत न करे तथा मोक्षरूपी फल प्राप्त करने से न चूके। [रागद्वेष, कषाय, कर्म आदि से मुक्ति के जब-जब प्रसंग आएँ, उन्हें न चूके, उन अवसरों से आत्मा को कदापि वंचित न करे।] यानी योग, क्रिया और फल के अवसरों से वंचित न हो। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है, अपनी आत्मा के प्रति वफादार रह कर परमात्मा की साक्षी से अपनी पूरी ताकत लगा कर (भरसक) योग, क्रिया और फल की आराधना से वंचित न होने का प्रयत्न करे। अपनी आत्मा को ठगे नहीं। योग के नाम पर मिथ्यायोगों से न ठगा जाय, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य चूके नहीं। क्रिया के नाम पर झूठी, दंभवर्द्धक, विकासघातक, परवंचक क्रियाओं से ठगा न जाय, इसी प्रकार मोक्षरूपी फल के नाम पर अपने ध्येय को छोटा बना कर इहलौकिक या पारलौकिक सुख-साधनादि-प्राप्तिरूप फल से प्रभावित हो कर ठगा न जाय। मोक्ष के नाम पर विविध आडम्बरों या जन्ममरणवर्द्धक फलों में लुभा कर आत्मवंचना न कर बैठे।[1] योगदृष्टिसमुच्चय में इन तीनों योगों का स्वरूप इस प्रकार बताया है—"दर्शनमात्र से पवित्र हो जाय, ऐसी कल्याणकारिणी सम्पत्ति से युक्त संतपुरुषों के सत्संग से, तथा दर्शन से योग (मिलन) होना योगाऽवंचक योग कहलाता है। ऐसे सद्गुरुओं, सद्देवों आदि को प्रणाम करना तथा अन्य मोक्षदायक अनेक सद्धर्मक्रियाओं या

---

१. सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः।
तथा दर्शनतो योग आद्याऽवंचक उच्यते॥
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया-नियम इत्यलम्।
क्रियावंचकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः॥
फलावञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः।
साऽनुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता॥
—योगदृष्टिसमुच्चय २१७,२१८,२१९

नियमों में भरसक शक्ति लगाना क्रियावञ्चकयोग है, जो महापापों के क्षय से जागता है। तथा सद्गुरुओं के निमित्त (सहयोग) से निर्वाणात्मक धर्म की प्राप्ति करता है। संतों द्वारा सम्मत इस प्रकार के मोक्षानुबन्धी फल की प्राप्ति होते रहना फलावंचकयोग है। निष्कर्ष यह है कि इन तीनों के खोटे योगों से बच कर प्रलोभन, भय, स्वार्थ या कामना के भावों को छोड़ कर सद्देव, सद्गुरु एवं सद्धर्म की कपटरहित हो कर त्रिकरणशुद्ध सेवाभक्ति करने से परमात्मा के यथार्थस्वरूपदर्शन की प्रतीति हो जाती है, जो वास्तव में प्रभु-मुखचन्द्रदर्शन है। तथा पूर्वोक्त विधि से निष्कामभाव से सम्यग्ज्ञान-पूर्वक मन-वचन-काया की एकाग्रतापूर्वक मोक्षदायिनी धर्मक्रिया की जाती है तो वह क्रिया अवंचक हो जाती है। और उसका फल भी शुद्ध मिलता है; कर्ममुक्तिरूप फल को छोड़ कर जो किसी साँसारिक प्रतिष्ठा, नामवरी, दम्भ, ईर्ष्या, स्वार्थ या प्रलोभन को ले कर क्रिया करता है, उसका फल भी सांसारिक एषणा से लिप्त होने के कारण वंचक है, अवंचक नहीं। अतः अवंचकभाव से अवंचकक्रिया करके अवंचकफल के रूप में वीतराग-परमात्मा का साक्षात्कार सम्यग्दृष्टि आत्मा कर सकती है।

निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो जब निमित्तों को गौण मान कर अपने समक्ष शुद्ध-आत्मभाव में रमण के योगों के उपस्थित होने पर जब आत्मा से उनका सही शुद्धभाव में उपयोग, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य होता है, तदनुसार शुद्ध स्वभावरमणरूप क्रिया होती है तथा शुद्धस्वभाव में आत्मा स्थिर होने के योगों को नहीं चूकती, तभी वह परमात्मा के शुद्धात्म-चेतनरूपी मुखचन्द्र के दर्शन कर सकती है। अन्यथा शुभ-अशुभभावों में या परभावों में रमणता और स्थिरता तो अनेक जन्मों और गतियों में की, मगर उससे जरा भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

किन्तु उक्त तीनों योगों की अवंचकता यानी तीनों योगों का अवसर न चूकने की बात प्रमादी व्यक्ति या प्रमत्त साधक से कैसे निभ सकती है? इसके लिए प्रबल आशावान श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

प्रेरक अवसर जिनवरु, स०; मोहनीय क्षय जाय ।सखी०।
कामितपूरण सुरतरू, स०; आनन्दघन-प्रभु पाय ।सखी०।।७।।

अर्थ

जव प्रेरक (उक्त तीनों योगों में प्रवृत्त करने का) अवसर आएगा, तब श्रीजिनवर (वीतराग परमात्मा) हो प्रेरणा करेंगे। और साधक क्रमशः अप्रमत्त-गुणस्थान से आगे बढ़ कर निवृत्तिवादर, अनिवृत्तिवादर, और सूक्ष्म-संपराय आदि गुणस्थानों को लांघ कर १२वें क्षीणमोहगुणस्थान पर पहुँच जायगा, जहाँ उसका सबसे बड़ा घातीकर्म—मोहनीय सर्वथा नष्ट हो जायगा। और अपने (परमात्मदर्शन के) मनोरथ को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान सच्चिदानन्दमय प्रभु को पा जायगा। यानी उसका परमात्मदर्शन का मनोरथ पूर्ण हो जायगा। अथवा उस आनन्दमय परमात्मपद को साधक स्वयं पा जायगा।

भाष्य

परमात्ममुखदर्शन के मनोरथ में सफलता

इस अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त तीनों अवंचक-योगों की प्राप्ति के अवसरों को प्रमत्तसाधक न चूक सके, इसके लिए अवसर-प्रेरक वीतराग परमात्मा को ही वता कर उनके चरण-शरण में जाने की बात पर जोर देते हैं। सचमुच साधक की आत्मा परमात्मा के प्रति पूर्ण वफादार रह कर प्रवृत्ति करे तो उसकी शुद्ध आत्मा ही प्रेरणादायक अवसरों को न चूकने की प्रेरणा दे देती है। शुद्ध आत्मा की आवाज ही परमात्मा की सच्ची प्रेरणा है। परन्तु वहुत-से साधक श्रेयमार्ग को कठिन और दुःखमय समझ कर उससे अपने आपको वंचित कर देते हैं, प्रेयमार्ग को ही सर्वस्व समझ लेते हैं, क्योंकि उसमें प्रायः तात्कालिक फल मिलता है। निश्चयनय की भाषा में कहें तो शुद्ध आत्मा की आत्मभाव में रमण की अथवा स्वभाव की प्रेरणा को ऊवा देने या थका देने वाली समझ कर साधक की आत्मा भय-प्रलोभनपूर्ण परभावों या भौतिक भावों अथवा वैभाविक भावों में रमण की ओर मुड़ जाती है और स्वभावरमण में प्रमाद कर वैठती है। अतः शुद्ध-आत्मभावों में रमण के अवसरों की सतत प्रेरणा देने वाले परमात्मा—शुद्धात्मा हैं। उसी प्रेरणा को मजबूती से पकड़ लेने पर तीनों योगों में अवंचकता से साधक क्रमशः उत्तरोत्तर गुणस्थानों को पार करके वारहवें गुणस्थान पर पहुँच जाता है, जहाँ समस्त कर्मों के मूल

मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। यही प्रभुदर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धि है, साधक के जीवन में। श्री आनन्दघनजी इसी आशा से परमात्मा के विशुद्ध मुखचन्द्र का दर्शन करने के लिए उत्सुक हैं। उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती है कि मोहनीय कर्म के क्षय होते ही साधक मनोवाँछित (मोक्षरूपी फल पाने का) पूर्ण मनोरथ करने वाले, कल्पवृक्षस्वरूप आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। अथवा प्रभुदर्शन का मनोरथ पूर्णरूप से सफल करने वाले वीतराग-परमात्मा के चरण ही मनोरथपूरक हैं, वे ही कल्पवृक्षरूप हैं, सच्चिदानन्दमय हैं।

मतलब यह है कि परमात्ममुखचन्द्र का दर्शन करने की तमन्ना जिस साधक में होगी, वह तीनों योगों की पूर्ण भरसक आराधना करने में वीतराग परमात्मा की प्रेरणा उस-उस अवसर पर पा ही लेगा, और आगे बढ़ते-बढ़ते क्षीण-मोह-गुणस्थान पर जा पहुँचेगा; जहाँ उसके उक्त मनोरथ के सफल होने में कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि इतनी उच्च-भूमिका पर पहुँचने के बाद तो वह स्वयमेव पूर्ण शुद्धात्मा बन कर परमात्ममय हो जाता है, स्वयं कामनापूरक कल्पवृक्षरूप व आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

सारांश

इस स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप एवं उसके दर्शन की तीव्रता बता कर अब तक विभिन्न गतियों और योनियों में प्रभुदर्शन न मिलने का इतिहास बता कर अन्त में प्रभुमुखदर्शन पाने के लिए आत्मा की अवंचकत्रय-साधना बताई तथा अवंचकता के अवसर के लिए वीतराग प्रभु को ही प्रेरक मान कर क्षीणमोह-गुणस्थान श्रेणी तक पहुँच कर पूर्ण सच्चिदानन्दमय परमात्मपद को प्राप्त करने की आशा व्यक्त की है।

९ : श्रीसुविधिनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा

(तर्ज-राग केदारो, एम धन्नो धणीने परचावे)

सुविधिजिनेसर पाय नमी ने, शुभकरणी एम कीजे रे ।
अतिघणो उलट अंग धरी ने, प्रह उठी पूजीजे रे ॥ सुविधि०॥१॥

अर्थ

इस अवसर्पिणीकाल के नौवें तीर्थंकर रागद्वेषविजेता श्रीसुविधिनाथ (परमात्मा) के चरणों में नमन करके पुण्य-उपार्जनरूप शुभक्रिया आगे बताई हुई विधि से करनी चाहिये । वह शुभ-क्रिया यह है कि हृदय में अत्यन्त उमंग (उत्साह) धारण करके सुबह उठ कर परमात्मापूजा करनी चाहिए ।

भाष्य

परमात्मा की पूजा का रहस्य

पूर्वस्तुति में जैसे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन का रहस्य बताया गया था कि सच्चे माने में अपनी आत्मा में परमात्मभाव देखना ही परमात्ममुख-दर्शन है, वैसे ही परमात्मा की पूजा भी सच्चे माने में तो अपनी आत्मा को शुद्ध स्वभाव में स्थिर रखना है ।

परन्तु यह आत्मा जब तक छद्मस्थ है, प्रमादी है, प्रमत्तसाधक-अवस्था में है, तब तक वह निरंतर शुद्धस्वभाव में स्थिर रह नहीं सकती; वह किसी न किसी बाह्य निमित्त का अवलम्बन ले कर शुद्धात्मभाव में सदा के लिए स्थिर परमात्मा का स्मरण करना चाहती है और उनके आश्रय से अपने आत्मगुणों का स्मरण करती है । परन्तु यह ध्यान रहे कि आत्मजागृति या आत्मलक्ष्य के बिना केवल बाह्यनिमित्त सुखप्रद नहीं होते । इसलिए परमात्मा की पूजा का अवलम्बन भी आत्मजागृति की दृष्टि से लेना आवश्यक बताया गया है ।

वीतराग-परमात्मा की भावपूजा या द्रव्यपूजा करने से उन्हें तो कोई लाभ

(भौतिक या आध्यात्मिक) नहीं होता; पूजा करने वाला अपने आत्मिक लाभ की दृष्टि से ही उनकी पूजा के माध्यम से अपने आत्मगुणों का स्मरण करके अपनी आत्मा को जगाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा की द्रव्य-पूजा भी भावानुलक्षी या भावपूर्वक हो, तभी फलदायिनी होती है। अगर भावना न हो तो वह उक्त उद्देश्य को सिद्ध नहीं करती। दूसरे शब्दों में कहें तो अकेली द्रव्यपूजा भावपूजा के विना मुक्ति-फलदायक अथवा आत्मभावों या आत्मगुणों में स्थिरताप्रदायक नहीं होती।

अगर परमात्मा की पूजा भी किसी लौकिक स्वार्थ, भौतिक पदार्थ-प्राप्ति की लालसा, या यशकीर्ति की इच्छा से की जाती है तो उपर्युक्त उद्देश्य-आत्मजागृति का प्रयोजन पूरा नहीं होता। वह तभी पूरा हो सकता है, जब परमात्म-पूजा के साथ आत्मजागृति की दृष्टि से निम्नोक्त बातों का विवेक हो—(१) जिसकी पूजा की जा रही है, वह सच्चे माने में वीतराग-परमात्मा के रूप में पूजायोग्य या पूज्य है या नहीं? (२) परमात्मा की पूजा किसी भौतिक लालसा, कामना, प्रसिद्धि, स्वार्थ या पदलिप्सा अथवा किसी पौद्गलिक लाभ की दृष्टि से की जा रही है या सिर्फ आत्मविकास अथवा आत्मगुणों की प्रेरणा या आत्मजागृति की दृष्टि से की जा रही है? (३) परमात्मपूजा का रहस्य या उसका खास प्रयोजन क्या है? (४) परमात्मा की भावपूर्वक पूजा या भावना से ही पूजा हो सकती है या दुर्बल आत्मा के लिए और भी कोई पूजा का प्रकार है? अगर है तो वह कौन-सा है? उसकी पूजा के साथ भावशुद्धि कैसे रह सकती है? परमात्मपूजा के सम्बन्ध में इन और ऐसी ही कुछ बातों पर विचार किये विना परमात्मा की केवल स्थूलपूजा (जो कि वर्तमानकाल में अन्यधर्मों की भक्तिमार्गीय शाखाओं में अपनाई जाती है) को अपना लेना, अथवा अविवेकपूर्वक पड़ौसी सम्प्रदायों की बाह्यपूजा व बाह्यभक्ति का अन्धा-नुकरण करना आत्मगुणविकास की दृष्टि के लाभदायक नहीं हो सकता।

उपर्युक्त बातों के सम्बन्ध में हम यहाँ कुछ प्रकाश डालेंगे। यह तो पहले भी कई बार कहा जा चुका है कि पूजनीय व्यक्ति का नाम चाहे जो कुछ हो, अगर उसमें वीतरागता, समता, आत्मस्वरूप में सतत स्थिरता व अनन्तज्ञानादि गुण हों तो वह परमात्मा है, वन्दनीय, दर्शनीय, सेवनीय और पूजनीय है। परन्तु इसके विपरीत जिसमें वीतरागता आदि गुण न हों, सिर्फ बाह्य आडम्बर

जनता की भीड़, बाह्य रागरंग तथा आकर्षक आभूषण, पोशाक आदि पहनने वाले, बाह्य भोगों व वैभवों की चकाचौंध में डूबे हुए व्यक्ति को वन्दनीय, दर्शनीय, सेवनीय और पूजनीय (आध्यात्मिकदृष्टि से) नहीं माना जा सकता। परन्तु अगर सच्चे अर्थों में यथोक्तगुणसम्पन्न परमात्मा की पूजा भी अगर भौतिक स्वार्थ आदि किसी दृष्टि से भी की जायगी तो वह भी सच्चे माने में परमात्मपूजा नहीं होगी। सच्चे अर्थों में परमात्मपूजा वही होगी, जहाँ उसे आत्मगुणों के विकास या स्वस्वरूप में स्थिरता की दृष्टि से आत्मजागृति पूर्वक अपनाया जायगा। वास्तव में परमात्मा (वीतराग हैं, इसलिए उन) को हमारे द्वारा की गई पूजा से कोई मतलब या लाभ नहीं, लेकिन हमें अपनी आत्मा को आत्मगुणों के विकास की पूर्णता की ओर ले जाने के लिए परिपूर्णता के प्रतीक परमात्मा की पूजा करना है। मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसा आदर्श उसे अपनाना जरूरी होता है। अगर साधक को अपने आत्म-विकास के अन्तिम शिखर तक पहुँचना हो तो उसे आत्मविकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए आदर्शपुरुष परमात्मा की पूजा – आदर्शरूप की पूजा करना नितांत आवश्यक है। परमात्मा के तुल्य बनने के लिए उसे परमात्मा के आदर्श अपनाने तथा अपने उस निर्णय पर दृढ़ रहने के लिए परमात्मपूजा अनिवार्य है। परमात्मपूजा का रहस्य भी यही है कि आत्मा परमात्मा की पूजा द्वारा अपने आपको परमात्मा बनने के पथ पर टिकाए रखे, जहाँ आत्मगुणों या आत्मविकास के विपरीत अथवा स्वरूप या स्वभाव के विपरीत पथ या बात हो, यानि परमात्मपूजा के विपरीत भौतिक या आत्मगुणातिरिक्त विकारों या विभावों की पूजा का का प्रश्न सामने आए; फिर वह सिर्फ धन, यश, बल, रूप, वैभव, कुल, जाति आदि की पूजा का ही प्रश्न क्यों न हो; सम्यग्दृष्टि साधक उसमें नहीं फँसेगा, परमात्मपूजा के असली पथ से विचलित नहीं होगा। परमात्मपूजा से विपरीत स्वार्थपूजा या भौतिकपूजा के चक्कर में वह नहीं आएगा। परमात्मपूजा परमात्मा को खुश करने के लिए या पापों से माफी के लिए अथवा पापों पर पर्दा डाल कर धर्मात्मा या भक्त कहलाने के लिए नहीं; अपितु अपनी आत्मा को सर्वांगपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न बनाने के लिए है। इस प्रयोजन या उद्देश्य को न समझ कर जो लोग परमात्मा के प्रतीक (मूर्ति) के सामने नाच-गा कर केवल उनको रिझाने का प्रयत्न करते हैं, उनके प्रतीक के सामने चढ़ावा चढ़ा कर अथवा अमुक लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए उनकी मनौती करते हैं, अथवा उनके

विम्ब के आगे बकरे आदि पशु-पक्षी की वलि चढ़ाते है, शराब, मांस आदि अपेय या अभक्ष्य द्रव्य चढ़ाते हैं, वे भी परमात्मपूजा के वास्तविक प्रयोजन से अनभिज्ञ हैं।

वास्तव में परमात्मा की पूजा भावों से ही हो सकती है, उनकी स्तुति या गुणगान के पीछे भी परमात्ममय वनने या आत्म-गुणविकास की पराकाष्ठा पर पहुँचने का लक्ष्य होता है। वह भी एक एक प्रकार की भावपूजा ही है। अथवा पूर्णत्यागी परमात्मा के समक्ष हिंसादि-त्याग की पुष्पांजलि चढ़ाना ही। उनकी पूजा है, जो भावमय है। परन्तु कुछ दुर्वल आत्माओं को ज्ञानयोग का यह मार्ग वहुत कठिन प्रतीत होता है। साधारणतया लोग कठोरमार्ग को छोड़ कर आसान मार्ग पकड़ते हैं; क्योंकि परमात्मा की केवल भावपूजा करने में ज्ञान, बुद्धि-वैभव, या मानसिक चिन्तन, ध्यान आदि की आवश्यकता होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के वश की वात नहीं है। आम आदमी सतत स्वरूपलक्ष्य या आत्मगुणों के विकास या स्वभाव में स्थिर नहीं रह सकता। इसलिए श्री आनन्दघनजी ने सम्भव है, उस युग में आम आदमियों के [1]द्रव्यपूजा की ओर वढ़ते हुए लोक-प्रवाह को नया मोड़ देने अथवा उसमें भावपूजानुलक्षिता का नया दौर लाने अथवा भावपूजा के साथ उस समय के लोक मानस में प्रचलित द्रव्यपूजा का समन्वय करने की दृष्टि से कह दिया हो—**'शुभकरणी एम कीजे रे'**। तात्पर्य यह है कि या तो अशुभ प्रवृत्ति की ओर वढ़ते हुए लोकमानस को कम से कम

---

१. ऐतिहासिक दृष्टि से निर्विवाद है कि भगवान् महावीर के निर्वाण के वाद लगभग १७० वर्ष में आचार्य भद्रवाहु स्वामी हुए। उन्होंने चन्द्रगुप्त राजा को उसके १६ स्वप्नों का अर्थबोध देते हुए ५वें स्वप्न में चैत्य-स्थापना तथा उससे होने वाली हानि का संकेत किया है। देखिये व्यवहारसूत्र की चूलिका—

"पंचमए दुवालसफणि संजुत्तो कण्ह अहि दिट्ठो, तस्स फलं दुवालसवासपरिमाणो दुक्कालो भविस्सई। तत्थ कालियसूयप्पमुहाणि सुत्ताणि वोच्छिज्जिसंति। चेइयं ठवावेइ····लोभेण मालारोहण-देवल-उवहाण-उज्जमण-जिणबिंवपइट्ठावणविहिं पगासिस्संति; अविहे पंथे पडिस्सई।.......

इससे योगी श्रीआनन्दघनजी की, उस समय की भावना समझी जा सकती है।

शुभ प्रवृत्ति में टिके रहने के लिए परमात्मपूजा के स्थूलरूप का श्रीआनन्दघनजी ने समर्थन किया हो, अथवा उन्होंने भक्तिमार्गीय धर्म-सम्प्रदायों में उस युग में प्रचलित लक्ष्यहीन, भावहीन, बाह्यचमत्कारपरक, स्वार्थलक्ष्यी, आडम्बरयुक्त भक्तिवाद के रूप में प्रचलित तथाकथित भगवत्पूजा को देख कर या परमात्मपूजा के नाम पर विकृतियाँ, आडम्बर, अन्धविश्वास, चमत्कार या रूढ़िवाद आदि घुसे हुए देख कर उन्हें हटा कर जैनत्व की दृष्टि से अनेकान्तसिद्धान्त के जरिये भावपूजानुलक्ष्यी द्रव्यपूजा का समर्थन किया हो। यही कारण है कि उन्होंने इस स्तुति की प्रथम गाथा में इस बात को स्पष्ट कर दिया है—**'अतिघणो उलट अंग धरी ने, 'प्रह उठी पूजीजे रे'** अर्थात् परमात्मपूजा करो, पर कब और कैसे? इस बात का पूर्ण विवेक करके करो। **'उलट अंग धरी ने'** का मतलब है—मन-वचन-काया में पूर्णउत्साह, उत्कट भावना, शरीर के अंग-अंग में पूर्ण स्फूर्ति धारण करके। तथा **'प्रह उठी पूजीजे रे'** कहने का यह मतलब है कि प्रातःकाल उठते ही या सवेरे उठ कर सर्वप्रथम और सब कामों को गौण करके परमात्मपूजा करो। यद्यपि परमात्मा की भावपूजा के लिए कोई विशेष समय नियत नहीं होता, जिस समय साधक की इच्छा हो, उस समय वह की जा सकती है। फिर भी प्रातःकाल का समय ब्राह्ममुहूर्त या अमृतवेला कहलाता है, उस समय तन, मन, वातावरण सब शान्त रहता है, चित्त एकाग्र रहता है, मन अन्यमनस्क नहीं रहता; दिमाग भी ऊलजलूल विचारों से रहित होता है, तन-मन में स्फूर्ति रहती है। एक लौकिक स्वर्णसूत्र भी है—

"Early to bed, early to rise,
Makes man healthy, wealthy and wise"

जो व्यक्ति जल्दी सो जाता है और प्रातः जल्दी उठता है, वह मनुष्य स्वस्थ, धनाढ्य और बुद्धिमान बनता है। इसलिए आत्मिक दृष्टि से भी प्रातःकाल परमात्मा की पर्युपासना के लिए बहुत उत्तम है। परमात्मा के नामजप, भजन, गुणगान, वन्दना, स्तुति, आदि के द्वारा परमात्मपूजा के लिए भी प्रभातकाल सर्वोत्तम रहता है। किन्तु इसके पूर्व एक बात प्रभातकाल में सर्वप्रथम करणीय और बता दी है—**'सुविधि जिनेसर पाय नमीने'** सुविधि (जिन्होंने मोक्षमार्ग का स्पष्ट विधान किया है ऐसे) वीतरागपरमात्मा के चरणों को नमन करके। इसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं—एक तो यह है कि वीतराग-परमात्मा के चरण

में नमन करके उनकी पूजा करना। दूसरा अर्थ यह है कि परमात्मा के पद (चरण या चारित्र) को नमन करके अथवा जिस चारित्र से सुविधिनाथ प्रभु मोक्ष गए हैं, उस चारित्रवान् आत्मा के शुद्ध पद को नमन करके।

निष्कर्ष यह है कि तीर्थंकर भगवान् के स्थूल प्रतीक के रूप में स्थापित उनकी मूर्ति का आलम्बन ले कर उसमें परमात्मा का आरोपण करके 'मूर्ति की नहीं, मूर्तिमान—परमात्मा की पूजा कर रहा हूँ' इस भावना से उस युग में जोर-शोर से प्रचलित मूर्तिपूजा में आए हुए विकारों को दूर करने और भाव-पूजा के लक्ष्य से द्रव्यपूजा करने का श्रीआनन्दघनजी जैसे आध्यात्मिक और निःस्पृह संत ने विवेक किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी आशय को ले कर वे अगली गाथा में कहते हैं—

द्रव्यभाव शुचिभाव धरी ने, हरखे देहरे जइए रे।
दह-तिग-पण अहिगम साचवतां, एकमना धुरि थइए रे॥
सुविधि० ॥२॥

अर्थ

द्रव्य से यानी बाह्यरूप से और भाव से यानी आन्तरिकरूप से शुद्ध—(पवित्र—दोषरहित) भाव धारण करके (रख कर) हर्षपूर्वक देवालय (मन्दिर) में जाएँ और द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की पूजा करें। मन्दिर में दश त्रिकों और ५ अभिगमों का विधिपूर्वक पालन करते हुए सर्वप्रथम एकाग्रचित्त हो जाएँ।

भाष्य

द्रव्य और भाव से शुचितापूर्वक द्रव्यपूजा और भावपूजा

इस गाथा में श्री आनन्दघनजी द्रव्यपूजा[1] और भावपूजा दोनों में शुचि-भाव शुद्धभाव, दोषरहित भाव की अनिवार्यता बताते हैं। इस गाथा के दो अर्थ निकलते हैं। एक तो यह है कि द्रव्यपूजा में द्रव्य से और भाव से दोनों प्रकार से शुचिता = शुद्धता रखी जाय। दूसरा अर्थ यह है कि द्रव्यपूजा और भावपूजा दोनों में शुद्धभाव, दोषरहित भाव रखे जांय।

---

१. श्री आनन्दघनजी स्वयं निःस्पृह होते हुए भी मूर्तिपूजक-परम्परा के संत थे। इसलिए उन्होंने अपनी परम्परा और धारणा के अनुसार द्रव्यपूजा का समर्थन किया है। यह उनका अपना मत है। उनके द्रव्यपूजा के इस मत से भाष्यकार का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

द्रव्यपूजा की दृष्टि से द्रव्यतः शुचिभाव का अर्थ है—[1]शरीर और शरीर के अंगोपांग स्वच्छ करके परमात्मपूजा के योग्य बिना मैले शुद्ध साफ वस्त्र पहिन कर तथा परमात्मपूजा के योग्य जो शुद्ध द्रव्य हैं, उन्हें भी शुद्धरूप में लेना। मतलब यह है कि ऐसे द्रव्य न लिए जांय, जो वीतरागप्रभु की पूजा के योग्य न हों। जैसे शराब, मांस आदि घिनौने द्रव्य या बलि चढ़ाने के लिए कोई पशु या पक्षी आदि जीव ले कर जाय। अथवा वीतराग एवं त्यागी महापुरुषों की पूजा के लिए भोग-विलास की सामग्री ले कर कोई जाय तो वास्तव में वीतरागपूजा के लिए ये चीजें उचित द्रव्य नहीं हैं। जो भी द्रव्य ले कर जाय, वह भी ठीक तरह से उचितरूप में ले कर जाय। जैसे कई लोग पूजा की सामग्री इधर-उधर बिखरते हुए, या बारबार जमीन पर या गंदे स्थान पर गिराते हुए अथवा कपड़े आदि अस्तव्यस्तरूप में पहन कर या शरीर में शौचक्रिया (मल-मूत्र आदि की क्रिया) की हाजत रख कर जाते हैं या शराब आदि नशीली चीजें पी कर अथवा मांसादि अभक्ष्य वस्तुएँ खा कर अथवा किसी व्यक्ति से लड़झगड़ कर किसी की हत्या, मारपीट आदि करके, किसी पर अत्याचार-अन्याय करके, प्रभु-पूजा के लिए खून से रंगे हाथों, अथवा गंदे शरीर को ले कर जाना भी द्रव्यतः अशुचिभाव है। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की द्रव्यपूजा करने के लिए बाह्य आडंबर रचना, या लोकदिखावा करना, जोर-जोर से चिल्ला कर दूसरे व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली पूजा में खलल डालना, आदि सब द्रव्यतः अशुचिभाव हैं। क्योंकि परमात्मपूजा दिखावे या प्रदर्शन की चीज नहीं है। वह तो आत्मगुणविकास या स्वस्वरूप में स्थिर रहने के लिए होती है। इसी तरह द्रव्यपूजा की दृष्टि से भावतः शुचिभाव का अर्थ है—चित्त में किसी प्रकार का कालुष्यभाव, किसी के साथ वैरविरोध, होड़ (प्रतियोगिता), संघर्ष, अथवा जय-पराजय का भाव ले कर परमात्मपूजा के लिए नहीं पहुँचना; अथवा पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा, पद, मुकद्दमे में जीत, प्रसिद्धि आदि किसी सांसारिक कामना से

---

१. ण्हाए सुद्धपावेसाइं वत्थाइं पवर-परिहिए······-उपासकदशांग सूत्र
भ० महावीर के पास आनन्द श्रमणोपासक के जाने के समय का वर्णन। आनन्द श्रमणोपासक ने स्नान किया, शुद्ध और सभा में प्रवेश के योग्य वस्त्रों को ठीक रूप में पहने।

परमात्मपूजा के लिए नहीं जाना। लोकप्रवाह की दृष्टि से पूजा या पूज्यव्यक्ति का स्वरूप या यथार्थ पूजाविधि समझे बिना अथवा शरीर और कहीं हो, मन और कहीं भटक रहा हो, ऐसी स्थिति में द्रव्यपूजा के लिए प्रवृत्त होना भी भावतः अशुचिभाव है। वास्तव में परमात्मपूजा का अर्थ, उद्देश्य, स्वरूप, विधि आदि समझ कर निष्काम एवं दोपरहित भावों से तन-मन की एकाग्रतापूर्वक उत्साहपूर्वक परमात्मपूजा के लिए जाना परमात्मा की द्रव्यपूजा में भावतः शुचिभाव धारण करना है।

क्योंकि आचार्य नमि और आचार्य अमितगति ने द्रव्यभाव-संकोच को परमात्म-पूजा और वचनसंयम को व हाथ-पैर को, मस्तक आदि अंगों के सम्यक्विधिपूर्वक रखने को द्रव्यसंकोच तथा विशुद्ध मन प्रभु में जोड़ने को भावसंकोच कहा है। यही क्रमशः द्रव्यपूजा और भावपूजा है।

अब आइए परमात्मा की भावपूजा करते समय द्रव्यतः एवं भावतः शुचिभाव की ओर। भावपूजा के कुछ प्रकार आगे इसी स्तुति में बताए जायेंगे। तदनुसार भावपूजा में प्रवृत्त होते समय अपने शरीर, अंगोपांग तथा बैठने के आसन, पहिनने के वस्त्रों आदि का शुद्ध होना आवश्यक है। उस समय की जाने वाली शारीरिक चेष्टाएँ भी ठीक हो, उनमें चंचलता या अभिमान न हो, व्यग्रता न हो। उस समय गंदे स्थान में या अत्यन्त कोला-हलभरी भीड़भड़क्के वाली अशान्त जगह में बैठना अथवा गंदे वातावरण में, शारीरिक हाजतों को रख कर या उग्र बीमारी या घर में कोई बीमार या अशक्त की सेवा की जिम्मेदारी के समय उसी हालत में परमात्मा की भावपूजा के लिये बैठना ठीक नहीं होता। क्योंकि उस समय शरीर और कहीं होगा, मन और कहीं। दोनों का तार जुड़ेगा नहीं, परमात्म-पूजा से। इसी तरह माला के मनके फिराने के साथ शरीर और मन को भी एकाग्र करना द्रव्य-

---

१. वचोनिग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा हि पुरातनैः॥

—अमितगति-श्रावकाचार

पूजा च द्रव्यभावसंकोचः। तत्र करशिरःपादादिसंन्यासो द्रव्यसंकोचः। भावसंकोचस्तु विशुद्धमनसो नियोगः।—षड़ावश्यकवृत्ति, प्रणिपातदण्डक

शुचि में शुमार है। यह तो हुई द्रव्यशुद्धि की बात। भावपूजा में भावशुद्धि के लिए पूर्वोक्त प्रकार से लक्ष्यपूर्वक चित्त की प्रसन्नता, उत्साह और आत्मसमर्पणता रखना है। उस समय चित्त में किसी प्रकार का शोक, विषाद, घृणा या चपलता नहीं होनी चाहिए। तभी भावपूजा में भावतः शुचिभाव आ सकता है। अगर भावपूजा भी किसी सौदेबाजी, स्वार्थसिद्धि या लौकिक कामना के अशुद्धभावों को ले कर की जाय, तो वह दूषित हो जाती है; वह पवित्र, निष्काम, निष्कलुष एवं विशुद्ध निर्जरालक्षी या, आत्मगुणविकासलक्षी नहीं रहती।

द्रव्यपूजा और भावपूजा कहाँ की जाय ?

यद्यपि परमात्मा की पूजा के लिए कोई स्थानविशेष नियत नहीं होता; तथापि सामाजिक दृष्टिकोण से समाज के आम आदमी को वीतरागपूजा की ओर प्रवृत्त करने के लिए श्रीभद्रबाहु स्वामी के बाद के आचार्यगण तात्कालिक परिस्थितियों को मद्देनजर रख कर शुभ उद्देश्य से जैनमन्दिर, चैत्यालय या जिनालय के लिए प्रेरणा देने लगे। इसी परम्परा के सन्दर्भ में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'**हरखे देहरे जइए रे**' अर्थात् परमात्मा-पूजा के लिए हर्षपूर्वक देवालय में जाना चाहिए। देहरा या देरासर-शब्द देवगृह, देवाश्रय आदि शब्दों का अपभ्रंश है। जहाँ वीतरागपरमात्मा की मूर्ति (प्रतिमा या बिम्ब) की स्थापना की जाती है और जिनभगवान् का आरोपण करके द्रव्यपूजा भावपूजानुलक्ष्यी की जाती है। द्रव्यपूजा की दृष्टि से यह अवलम्बन हैं। परन्तु जिसे द्रव्यपूजा न करके परमात्मा की सीधी भावपूजा ही करनी हो, उसके लिए देवालय देह या हृदय हो सकता है; वहीं आत्मदेव विराजमान हैं। उसमें परमात्मदेव का आरोपण करके परमात्मा की भावपूजा करनी चाहिए। एक आचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि यह [1]देह ही देहरासर (देवालय) है। इसी में विराजमान शुद्ध आत्मदेव को परमात्मदेव मानो और अज्ञानरूपी मैल दूर करके सोऽहंभाव से उसकी पूजा करो।

अथवा दहराश्रय का मतलब हृदय-मन्दिर भी है। क्योंकि परमात्मदेव को

---

१ देहो देवालयः प्रोक्तः जीवो देवः सनातनः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत् ॥

भी स्वदेहस्थित हृदयमन्दिर में स्थापित करके ही भावना से उनकी पूजा की जाती है। वेदान्त-ग्रन्थों में दहराकाश का वर्णन आता है कि आत्मा हृदय में स्थित दहराकाश में विराजमान है। जो भी हो, भावपूजा के लिए हृदय-मन्दिर परमात्मदेव का आलय हो सकता है।

परमात्मपूजा के लिए विधि

परमात्मपूजा के लिए चैत्यवन्दन भाष्य, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थों में परम्परागत कुछ विधियाँ, मर्यादाएँ बताई गई है। श्रीआनन्दघनजी ने मूर्ति-पूजा की उसी चालू परिपाटी के अनुसार[१] दश प्रकार के त्रिक एवं पाँच अभिगमों के पालन का उल्लेख यहाँ किया है, वह द्रव्यपूजा की दृष्टि से इस प्रकार है—

(१) **निसीहित्रिक**—देवालय (देहरासर) में प्रवेश करते समय तीन बार नैषेधिकी क्रिया करनी चाहिए। यानी मैं सब प्रकार के गृहकार्यसम्बन्धी या व्यापारसंबन्धी खटपट या चिन्ताएँ छोड़ (निषेध) करके प्रवेश कर रहा हूँ, मैं हिंसादि समस्त मानसिक विचारों, असत्यादि सब वचनों एवं अशुभकायादि चेष्टाओं को देवालय के बाहर छोड़ कर इसमें प्रवेश कर रहा हूँ पूजा में प्रवृत्त हो रहा हूँ,वन्दन कर रहा हूँ। इस प्रकार तीन बार निसीहि, निसीहि, निसीहि शब्द का उच्चारण करे।

(२) **प्रदक्षिणात्रिक**- पूज्य को दाहिनी ओर रख कर उनके चारों ओर प्रदक्षिणा-परिक्रमा देना। यह पूज्यपुरुष के प्रति बहुमान का सूचक है।

(३) **प्रणामत्रिक**—तीन प्रकार का तीन बार नमन प्रणामत्रिक कहलाता है। (१) अंजलिबद्धप्रणाम,—दो हाथ जोड़ कर झुकना; (२) अर्धविनत प्रणाम—जिस प्रणाम के समय आधा झुका जाय। (३) पंचाग प्रणाम-दो हाथ, दो घुटने और मस्तक ये पाँचों अंग नमा कर झुकना।

---

२ मूर्ति में परमात्मभाव का आरोपण करते समय लोगों की अश्रद्धा न हो, पूज्यभाव बना रहे, लोगों के लिए वह हंसी का पात्र न हो, इस दृष्टि से संभव है, यह विधान हो।

(४) **पूजात्रिक**—अंगपूजा (जल, चंदन, पुष्प आदि से पूजा), अग्रपूजा (धूप, दीप, अक्षत, फल व नैवेद्य आदि से पूजा) और भावपूजा (गीत, संगीत, भजन, स्तवन आदि के द्वारा चित्त एकाग्र करके परमात्मा का ध्यान करना) अथवा प्रकारान्तर से विघ्न-उपशामिनी, निवृत्तिदायिनी और अभ्युदयसाधिनी ये तीन पूजाएँ भी हैं, जो पूजात्रिक कहलाती हैं ।

(५) **अवस्थात्रिक**—परमात्मा के जीवन के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपातीत इन तीनों अवस्थाओं की पूजा करते समय कल्पना करना अवस्थात्रिक है । तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त करें, उससे पहले की अवस्था को पिण्डस्थ, उनके सर्वज्ञसर्वदर्शी होने के बाद की अवस्था को पदस्थ और वे समस्त कर्मों से मुक्त, सिद्ध, बुद्ध हो जांय, उस समय की अवस्था को रूपातीत कहा जाता है ।

(६) **त्रिदिशिनिवृत्त-दृष्टित्रिक**—परमात्मा (या प्रभुमूर्ति) के सामने ही दृष्टि स्थापित करना । ऊर्द्ध्व (ऊँची) दिशा, अधो (नीची) दिशा तथा तिर्यग्दिशा (तिरछी दिशा) की ओर दृष्टि (नजर) न करना अथवा अपनी पीठ पीछे की दिशा, अपने दाहिनी ओर की दिशा व अपने बाँई ओर की दिशा की ओर न देखना, नजर न फेरना—त्रिदिशिनिवृत्त-दृष्टित्रिक कहलाता है ।

(७) **भूमिप्रमार्जनत्रिक**—प्रभु को पंचांग प्रणाम करते समय, या वन्दन करते समय रजोहरण, प्रमार्जनिका या उत्तरासन से तीन बार भूमि का प्रमार्जन (शुद्धि) करना ।

(८) **आलम्बनत्रिक**—प्रभु के समीप वन्दन करते समय जिन सूत्रपाठों का उच्चारण किया जाय, उनमें ह्रस्व, दीर्घ, पदसम्पदा आदि का ध्यान रखना वर्णालम्बन है, उक्त सूत्रपाठों के अर्थ पर विचार करना अर्थालम्बन है और परमात्मा या उनकी प्रतिकृति (प्रतिमा) में—उनके गुणों का ध्यान करना प्रतिमालम्बन है, इस प्रकार के तीन आलम्बन हैं ।

(९) **मुद्रात्रिक**—परमात्मपूजा करते समय तीन प्रकार की मुद्राएँ धारण की जाती हैं—(१) **योगमुद्रा**—हाथ की दसों उंगलियों को परस्पर एक दूसरे में संलग्न करके कमल के डोडे की तरह दोनों हाथ रख कर, दोनों हाथ की

कुहनियों को पेट पर रखना। (२) **जिनमुद्रा**—पैरों के दोनों आगे के भागों में ४ अंगुल का फासला तथा पिछले भागों में इससे कुछ कम फासला रख कर खड़ा होना। (३) **मुक्ताशुक्तिमुद्रा**—हाथ की अंगुलियों को एक दूसरे में संलग्न किये विना ही दोनों हाथ चौड़े करके ललाट पर रखना।

(१०) **प्रणिधानत्रिक**—मन, वचन, काया–इन तीनों योगों का प्रणिधान (एकाग्रता) करना। अथवा '**जावंत चेइयाई**', **जयंति के वि साहू**' व **जय वीयराय** ('आभवमखंडा' तक) इन तीन पाठों के उच्चारण के समय सावधान रहना भी प्रणिधानत्रिक कहलाता है।

इन दसों त्रिकों का द्रव्यपूजा के समय पालन करने का अर्थ तो स्पष्ट है। भावपूजा के समय प्रभुमूर्ति के वजाय प्रभु की छवि की अन्तर्मन में कल्पना करके स्थापित करना तथा पूजात्रिक में अंगपूजा और अग्रपूजा की भी भावरूप ही कल्पना करना अभीष्ट है। जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूजाष्टक में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, मैथुनत्याग, मोह (ममत्त्व) वर्जन, गुरुपूजा, तप, और ज्ञान; इन्हें सत्पुष्प कहे हैं। इसी प्रकार धूप, दीप आदि के विपय में समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूजाविधि में देवगुरु के पास जाते समय ५ अभिगम (Rules of decent approach) (वीतराग-परमात्मा के अनुरूप विशिष्ट मर्यादा) का पालन भी आवश्यक है। वे ५ अभिगम [1]इस प्रकार हैं—(१) पूजा करने जाते समय पूजा करने वाले के पास फूल, फल या वनस्पति आदि सजीव (सचित्त) वस्तुओं का त्याग करना, (२) छत्र, जूते, तलवार, मुकुट या कोई शस्त्र-लाठी आदि अभिमान या [2]वैभव की सूचक या वैभव या मानव (जात्यादि) भेदभावसूचक चीजों का त्याग करना। वस्त्रालकार आदि उचित

---

१. पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति, तं जहा—"सचित्ताणं दव्वाणं विउसरणयाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, उत्तरासंग-करणेणं, चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगत्तीकरणेणं। —भगवतीसूत्र

२. श्री ज्ञानविमलसूरि ने भी कहा है—देरासरजीमां प्रवेश करतां जोड़ा, (जूते) छत्र, चामर, मुकुट अने फूलहार विगेरे बहार मूकवां.

वस्तुएँ पहनी हों तो वे साफ व सादी हों, (३) विना सिले हुए एक अखंड उत्तरीय वस्त्र (चादर) को मुख से संयुक्त करना यानी उसे मुख पर लगाना, ताकि मुख का उच्छिष्ट पूज्य पर न पड़े। (४) चाहे जितनी दूर से इष्टदेव या गुरु पर दृष्टि पड़ते ही तुरंत दोनों हाथों को अंजलिबद्ध (जोड़) करके नमस्कार करना और (५) मन को इन्द्रियों के वाह्य विषयों से हटा कर परमात्म देव या गुरु के प्रति एकाग्र करना।

इन पांचों अभिगमों का पालन द्रव्यपूजा की दृष्टि से तो मन्दिर में प्रवेश करते समय करना आवश्यक है ही; भावपूजा की दृष्टि से हृदयमन्दिर में प्रभु-पूजा के लिए प्रवृत्त होते समय भी ये पालनीय हैं। यानी प्रभुपूजा के लिए शुद्ध आसन पर वैठते समय भी पूर्वोक्त पांचों अभिगमों का आचरण करना आवश्यक है।[3]

सवसे मूल वात तो यह है कि परमात्मपूजा के समय मन एकाग्र होना चाहिए। इसी वात को श्रीआनन्दघनजी प्रकट करते हैं—**"एकमना धुरि थइए रे।"** सौ वात की एक वात है कि पूजा के समय सवसे पहले यह अवश्यकरणीय है कि मन को तमाम सांसारिक वातों, चिंताओं, व्यापारों व ऊलजलूल विचारों से हटा कर प्रभु के स्वरूप में, उनके गुणों के चिन्तन में जोड़ देना चाहिए। अगर मन कहीं और घूम रहा है और शरीर व वचन से प्रभुपूजा हो रही है, तो उसमें आनन्द नहीं आएगा। वह एक प्रकार की वेगार होगी। उसमें आनन्द व मस्ती नहीं आएगी। जैसे-तैसे पूजाविधि पूरी कर लेना तो भाड़ैत लोगों का काम है, अथवा एक प्रकार का दिखावा है, उसमें दंभ भी आ सकता है। इस प्रकार की अन्यमनस्क पूजाविधि से यथार्थ लाभ, या शुभकरणी का सम्पादन नहीं हो सकता! प्रभुभक्ति की मस्ती में मन इतना तन्मय हो जाय कि वाहर की हलचलों का, यहाँ तक कि अपने शरीर, खानपान, नींद आदि का भान भी न रहे, दुनियादारी की चीजों का मन में विचार ही न आए, तभी परमात्मपूजा में एकाग्रता कही जा सकती है। परमात्मा के शुद्ध आत्मभावों,

---

३. सनातन या वैदिकादि धर्मों में भी सन्ध्यावन्दन या उपासना के समय कुछ मर्यादाओं का पालन अनिवार्य होता है।

विशिष्ट गुणों आदि के चिन्तन में मस्त न होने से, वाणी से 'तूही तूही' के रूप में एकाग्रता न साधने से एवं शरीर की कर्म चेष्टाओं को न रोकने से परमात्म-पूजा प्रायः नाटकीय रूप ले लेती है। ऐसी मानसिक एकाग्रतारहित केवल द्रव्य-पूजा पूजा के अटपटे विधिविधानों या क्रियाकाण्डों में ही अटक कर रह जाती है। पूजक का ध्यान उस समय प्रायः क्रियाकाण्ड को जैसे-तैसे पूरा करने की ओर ही रह जाता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के सम्बन्ध में अनेक खतरों से सावधान करने और इतनी बारीकी से द्रव्यपूजार्थी का मुख भावपूजा की ओर मोड़ने के बाद अगली गाथाओं में द्रव्यपूजा की प्रचलित परम्पराओं का उल्लेख करते हैं—

"कुसुम, अक्षत, वरवास-सुगन्धी, धूप, दीप मनसाखी रे।
अंगपूजा पण भेद सुणो इम, गुरुमुख आगम भाखी रे॥
सुविधि० ॥३॥

अर्थ

पुष्प, अक्षत (अखण्डित चावल के दाने), उत्तम सुवास वाले सुगन्धित द्रव्य, धूप, दीपक, यों इन पांच द्रव्यों से मन की साक्षीपूर्वक या मन के भावों के साथ वीतराग-परमात्मा की प्रतिमा की अंगस्पर्शी पूजा के पांच प्रकार हैं। ऐसी पंच-प्रकारी पूजा मैंने अपनी परम्परा के आदरणीय गुरुओं के मुखारविंद से सुनी है तथा आगम (अर्थागम) में कही है।

भाष्य

परमात्मा की पंचप्रकारी द्रव्यतः अंगपूजा

यद्यपि पूर्वोक्त गाथाओं के अनुसार द्रव्यपूजा भी भावों को उद्बुद्ध करने के लिए है, इसलिए अन्ततोगत्वा वह वर्तमान नैगमनय की दृष्टि से भावपूजा में ही परिनिष्ठित होती है; फिर भी उस युग में भक्तिमार्गीय शाखाओं में प्रच-लित परम्पराओं के अनुसार श्रीआनन्दघनजी ने द्रव्यपूजा का उल्लेख इस गाथा में किया है।

द्रव्यपूजा की दृष्टि से वीतराग-प्रतिमा की अंगपूजा के पांच प्रकार हैं—

फूल, [1]अक्षत (अखण्डित चावल) श्रेष्ठ, सुगन्धित पदार्थ, धूप और दीप। परन्तु इस अंगपूजा के पांचों प्रकारों के साथ श्रीआनन्दघनजी ने **'मन-साखी रे'**[2] पद जोड़ा है। इसका मतलब यह है कि वीतराग-प्रतिमा में वीतराग-प्रभु का आरोपण करके उसके आगे फूल चढ़ाते समय मन में विचार करना चाहिए कि मैं फूल की तरह कोमल और जीवन में सुगन्ध भर कर प्रभु के चरणों में अपने को न्योछावर करूँगा। अक्षतों की तरह बुराइयों, वासनाओं एवं व्यसनों के सामने क्षत=ध्वस्त=पराजित नहीं होऊंगा। मैं उनसे दबूँगा नहीं। श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थों की तरह जीवन को सच्चारित्र से सौरभमय बनाऊंगा, धूप की तरह अपने आसपास के वातावरण को अपने बुरे विचारों से गंदा न बना कर अच्छे विचारों, सम्यग्-दर्शन के प्रचार से सुगन्धित बनाऊंगा, और दीपक की तरह अपनी आत्मा को ज्ञानज्योति से आलोकित करूंगा। हे भगवन्! मैं अपने इन पाँचों अंगों द्वारा आपकी परम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त श्रेष्ठ, आत्मा की पूजा करके अपनी आत्मा को राग-द्वेष, काम-क्रोध ममत्व, आदि बुराइयों या तज्जनित कर्मों से मुक्त, निष्कलंक, अखण्डशुद्धतायुक्त, स्वरूपरमणरूप सच्चारित्र से सुगन्धित, सम्यग्दर्शन की निष्ठा से सुवासित और सम्यग्ज्ञान से प्रकाशित कर रहा हूँ।

श्रीआनन्दघनजी इस पंचप्रकारी अंगपूजा के सम्बन्ध में स्वमतप्रतिपादन में तटस्थ रहे हैं। यही कारण है कि वे अपने अन्तर की बात स्पष्ट कह देते हैं—**'अंगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख, आगम-भाखी रे'** अर्थात् मैंने ऐसी पंचप्रकारी अंगपूजा अपनी परम्परा के महान् गुरुओं के मुख से और चैत्यवन्दन भाष्य, प्रवचन सारोद्धार आदि अर्थागमों में कही हुई सुनी है।

---

१. यद्यपि जिनेन्द्रभगवान् सचित्त पुष्प के त्यागी होते हैं, द्रव्यपूजा के समय कुछ मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को उन्हें सचित्त पुष्प चढ़ाना असंगत-सा लगता है, तथा सचित्तपुष्प की हिंसा होने की तर्क भी दी जाती है, परन्तु लाभालाभ की दृष्टि से सोच कर शुभभावों का पलड़ा भारी होने से तथा गृहस्थ सचित्त पुष्पों का त्यागी नहीं होता, इस कारण से थोड़े से सचित्त-पुष्पों की हिंसा की क्रिया से पृथक् मानी जाने से मूर्तिपूजकपरम्परा के कुछ आचार्यों ने द्रव्यपूजा के लिए इसे तथा धूप-दीप आदि को क्षम्य माना है।

२. इसी दृष्टि से सावद्यत्यागी श्रीआनन्दघनजी ने पंचप्रकारी अंगपूजा के साथ मन के भावों का तार पूर्वोक्त पांचों द्रव्यों से पूजन के समय जोड़ना आवश्यक बताया है। —भाष्यकार

पूर्वोक्त अंगपूजा का यह वर्णन व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्यदृष्टि से हुआ।

अब निश्चयनय की अपेक्षा से भावपूजा की दृष्टि से जब हम अंग-पूजा पर विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि वीतराग-परमात्मा की अंगपूजा के लिए निश्चयनय की दृष्टि से ये वस्तुएँ गौण हैं। ये पाँचों चीजें जड़ हैं, उनसे चेतना के महाप्रकाश की पूजा करना विशेप महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा (निश्चय में) नहीं हो सकता। निश्चयनय की दृष्टि से पुष्प अक्षत धूप आदि पंचद्रव्य परमात्मपूजा के लिए न भी लिये जांय तो भी मानसिक चिन्तन के द्वारा प्रकारान्तर से भावपुष्प-ज्ञानदीप आदि द्वारा भावपूजा की जा सकती है। अतः शुभभावों के उद्बोधन के लिए इन्हें प्रतीक मान कर अपनाये जांय तो भावपूजा की दृष्टि से अंगपूजा सफल हो सकती है। जैसे पुष्प के सम्बन्ध में जैनजगत् के उद्भट् विद्वान् आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक में आठ सत्पुष्प बताए हैं—[1]अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असंगता, गुरुभक्ति, तपस्या और ज्ञान। भगवान् के चरणों में ये फूल चढ़ाइए। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की अंगपूजा के लिए आत्मा के अखण्ड शुद्धस्वरूपमय शुक्लध्यान में मस्त हो जाइए। सुगन्धित पदार्थों से परमात्मा की पूजा करनी हो तो आत्मा के अनुजीवी गुणों रूपी सुगन्धित पदार्थों से कीजिए।

धर्मध्यान की धूप दे कर अपने और आसपास के जीवन और जगत् के वातावरण को सुवासित कर दीजिए।

सम्यग्ज्ञान में वृद्धि कीजिए, शास्त्रज्ञान, श्रुतज्ञान एवं मतिज्ञान बढ़ाइए। आत्मा को ज्ञानदीप से आलोकित कीजिए। यही दीपकपूजा का तात्पर्य है। आत्मा को स्वरूपज्ञान में स्थिर करने, स्वभाव में रमण कराने एवं अपने शुद्धस्वरूप में श्रद्धा करने का प्रयत्न कीजिए यही निश्चयदृष्टि से पंचप्रकारी अंगपूजा है। श्रीआनन्दघनजी ने अगली गाथा में पूर्वोक्त पंच प्रकारी अंग-पूजा का फल बताया है—

---

१. अहिंसा-सत्यमस्तेय-ब्रह्मचर्यमसंगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते॥—हरिभद्रीय अष्टक

एहनुं फल दोय भेद सुणी जे, अनन्तर ने परस्पर रे।
आणापालन, चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमन्दिर रे॥
सुविधि० ॥४॥

अर्थ

इसके दो फल सुनने में आते हैं, एक अनन्तर [तात्कालिक सीधा Direct] फल और दूसरा पारस्परिक फल। अनन्तर फल तो वीतराग परमात्मा का सालम्बन ध्यान [साकार उपासना] करके क्रमशः परमात्मभाव प्राप्त करने रूप परमात्मा की आज्ञा का पालन और परमात्मा की प्रतिमा को देख कर चित्त की प्रसन्नता=शुद्धात्मभाव में चित्त की स्थिरता, है। इसका परम्पराफल है—मनुष्यभवरूप सद्‌गति अथवा देवलोक की प्राप्ति और अन्त में मुक्ति की प्राप्ति,

भाष्य

परमात्मपूजा का फल

वीतराग-परमात्मा की उपासना किसी लौकिक फलाकांक्षा से करना उचित नहीं। उनकी सेवा, पूजा, भक्ति और उपासना अपनी आत्मा को जगाने, अपनी आत्मा को अपने अनुजीवी गुणों की ओर मोड़ने और वासना, कामना, प्रसिद्धि, आसक्ति, ममता आदि बुराइयों से दूर रखने के लिए, सत्-असत् का विवेक करने और स्वस्वरूप में निष्ठा बढ़ाने के लिए है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त परमात्मपूजा के दोनों प्रकार के फल बताते हैं—अनन्तरफल और पारम्परिक फल। अनन्तरफल तो तात्कालिक कहलाता है, जो कार्य सम्पन्न होते ही व्यक्ति को मिलता है, जबकि परम्परागत फल दूरगामी होता है, वह कई बार तो इसी एक जन्म में ही मिल जाता है, कई बार भवान्तर (दूसरे-तीसरे आदि जन्म) में मिलता है।

यह तो निश्चित है कि[1] किसी भी क्रिया का फल तो अवश्य मिलता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि प्रत्येक क्रिया का फल कर्ता के भावों पर आश्रित है। एक समान क्रिया होने पर भी कर्ता के भाव अशुभ हों तो उसका फल भी अशुभ मिलेगा, और शुभ होंगे तो शुभ मिलेगा। तथा यदि

---

१. 'या या क्रिया सा सा फलवती।

उस क्रिया के करते समय निष्काम और निष्कांक्ष भाव हैं, शुद्ध आत्मस्वरूप को ही प्राप्त करने का लक्ष्य है तो उन उन शुद्धभावों के फलस्वरूप उनके कर्ता को शुद्ध फल=कर्मों से मुक्ति [मोक्षफल] की प्राप्ति होगी। परमात्म-पूजा के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। यद्यपि आध्यात्मिक साधक को फल की इच्छा नहीं होती; तथापि **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'** इस न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन के परमात्मपूजा की प्रवृत्ति भी कोई विचारवान साधक कैसे कर सकता है? इस दृष्टि से परमात्म-पूजा के प्रयोजन और उद्देश्य का कथन फल के रूप में श्रीआनन्दघनजी ने किया है। अतः इस प्रवृत्ति के प्रयोजन और उद्देश्य के रूप में ये दो फल स्पष्ट हैं।—

यदि पूजाकर्ता परमात्मपूजा जैसी शुभप्रवृत्ति के साथ सौदे-बाजी करता है, दूसरों को धोखा दे कर, चकमे में डाल कर अपने को भक्त या परमात्मपूजक कहलाने का दिखावा करता है, या दम्भ करता है, तो यह पूजा भी अशुभभावों के कारण अशुभफलदायिनी बनती है। यदि पूजाकर्ता शुभभावों के साथ परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तरफल पुण्य-प्राप्ति के परिणामस्वरूप चित्तप्रसन्नता, और परम्परा से मनुष्यगति या देवगति प्राप्त होती है। परन्तु यदि वह निष्काम एवं निष्कांक्ष भाव से अपनी आत्मशुद्धि, आत्महित या शुद्धात्मभाव या वीतरागभाव में रमणता की दृष्टि से परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तर फल आज्ञापालन और चित्त की शुद्धि [प्रसन्नता] है, तथा परम्पराफल कर्मों से मुक्ति [मोक्ष] है।

वास्तव में, शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् की आज्ञा आश्रव में प्रवृत्ति करने की नहीं है। उनकी आज्ञा आश्रव से रहित संवर में या शुद्धस्वरूप में रमण करने—एकांत निर्जरा [आत्मशुद्धि] या आर्हत्पदप्राप्ति की दृष्टि से कोई भी प्रवृत्ति करने की है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति में कहा है—[1] 'आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी पूजा है।' यही बात श्री आचारांगसूत्र में भी कही है—[2] "श्रीतीर्थंकर देव ने मोक्षसाधना के

१. 'तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्'—अयोगव्यवच्छेदिका।
२. आणाए मामगं धम्मं, एस उत्तर वादे इह माणवाणं वियाहिए।
—आचा. श्रु. १ अ. ६ उ. २

लिए मनुष्यों को कहा है कि 'मेरा धर्म आज्ञापालन में है।' तीर्थकरदेव ने दो प्रकार के धर्मो की आचरण करने की आज्ञा दी है—आगारधर्म और अनगारधर्म।[1] इस विनयमूलक धर्म के आचरण से क्रमशः ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मों की प्रकृति का क्षय करके मनुष्य लोकाग्र-प्रतिष्ठित सिद्धि [मुक्ति]-स्थान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह धर्माचरण न इस लोक के किसी स्वार्थ या वासना की दृष्टि से धर्म करे, न परलोक के किसी प्रयोजन से धर्माचरण करे, न कीर्ति, वाहवाही या प्रतिष्ठा की दृष्टि से धर्माचरण करे; किन्तु वीतरागप्राप्ति [शुद्धात्मभाव में स्थिरता] के उद्देश्य से धर्माचरण करे।[2]

निष्कर्ष यह है कि यदि कोई मुमुक्षु साधक वीतरागता-प्राप्ति की दृष्टि से धर्माचरणरूप आज्ञा का पालन करता है, तो वह वीतराग परमात्मा की पूजा ही है और उसका अनन्तर फल वीतराग की आज्ञा का परिपालन और चित्त की प्रसन्नता [निर्मलता] है। जबकि परम्परागत फल [अन्त में] सिद्धि [मुक्ति]-स्थान की प्राप्ति है।

जब साधक परमात्मा [पद्मासनस्थ जिनप्रतिमा] के सान्निध्य में पद्मासन से बैठ कर वीतरागपरमात्मा के ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय गुणों का ध्यान करता है तो उसके हृदयपटल में विकारभावों या वैभाविक गुणों का जाल हट कर परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव का आन्दोलन होता है। धीरे-धीरे परमात्मभाव संस्कारों में जम जाता है। यही परमात्मपूजा का फल है। सचमुच ऐसी परमात्मपूजा आज्ञापालन से शुरू हो कर चित्तप्रसन्नता तक पहुँच कर शुभगति और अन्ततोगत्वा मुक्ति तक पहुँचा देती है। शुद्ध का विवेक करने के लिए ही श्रीआनन्दघनजी ने प्रभुपूजा के द्रव्य और भाव दोनों प्रकार के अनन्तर और परम्परागत फल बताये हैं, फलाकांक्षा करके पूजा करने की दृष्टि से नहीं।

---

१. इच्चेएणं विणयमूलएणं धम्मेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणा भवंति।—ज्ञातासूत्र अ. ५

२. न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा। —दशवैकालिक अ. ८ उ.-६

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी उस युग में प्रचलित अष्टप्रकारी अग्रपूजा के सम्बन्ध में भी भावों का तार प्रभु से जोड़ने के लिए कहते हैं—

फूल अक्षत वर धूप पईवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्रपूजा मली अड़विध, भावे भविक शुभगति वरी रे॥
सविधि० ॥५॥

अर्थ

फूल, जल, और गंध (केसर आदि सुगंधित पदार्थ) इन तीनों से पूजा करना अंगपूजा है, तथा अक्षत, श्रेष्ठ धूप, दीपक, नैवेद्य व फल इन पांचों से पूजा करना अग्रपूजा करना है; दोनों मिल कर आठ प्रकार की पूजा है। भव्यजीव शुभ हार्दिक भावों से उसकी आराधना करके सुगति प्राप्त करते हैं।

भाष्य

अंगपूजा और अग्रपूजा के साथ भी भावों का तार

पूर्वोक्त पंचप्रकारी पूजा का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने जैसे 'मन साखी रे' कह कर मन के साक्षित्व में—मानसिक भावों का तार जोड़ कर परमात्मा की पूजा में ओतप्रोत होने का विधान किया था, उसी प्रकार यह भी अष्टप्रकारी पूजा में भी शुभभावों का तार जोड़ने की बात कही गई है। मतलब यह है कि यहां भी पहले की तरह आठ द्रव्यों से पूजा करते समय मन में उन द्रव्यों को शुद्ध आत्मस्वरूप या आत्मगुण की प्रेरणा के प्रतीक मान कर अंगपूजा और अग्रपूजा करने से शुभगति की प्राप्ति बताई है।

अंगपूजा का मतलब है—ऐसे द्रव्यों से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्म-प्रतिमा से हो तथा अग्रपूजा का मतलब है—उन द्रव्यों से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्मा की प्रतिमा से नहीं होता, सिर्फ प्रभु की प्रतिमा के समक्ष खड़े रह कर उन्हें चढ़ाना होता है। इसलिए कहा है—**'अंग-अग्रपूजा मली अडविध'** यानी फूल, जल और केसर आदि गन्ध ; ये तीन अंगपूजायोग्य द्रव्य हैं ; धूप, अक्षत, दीप, फल और नैवेद्य ये पांच अग्रपूजायोग्य द्रव्य हैं। वर्तमान में प्रचलित पूजा में द्रव्यों का क्रम यह है—सर्वप्रथम जल का अभिषेक, उसके बाद केसर व अन्य सुगन्धित द्रव्यों के चढ़ाने का रिवाज है। तत्पश्चात् पुष्प

ढ़ाना, चौथी पूजा दशांग धूप की, पांचवीं दीपक की, छठी पूजा चावल की ातवीं फलों की और आठवीं पक्वान्न आदि, नैवेद्य चढ़ाने की प्रथा है।

परन्तु इन दोनों प्रकार की पूजा के साथ भावहीनता[1] हो तो उसका थेष्ट और यथोचित फल नहीं मिलता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा ं स्पष्ट कह दिया है—**'भावे भविक शुभगति वरी रे'**। भविकजीव इस अष्ट-कारी पूजा को भावों से ओतप्रोत हो कर करेगा, तभी सुगति प्राप्त करेगा।

पूजायोग्य द्रव्यों को भावों के धागे में कैसे पिरोएँ?

यद्यपि यह अष्टप्रकारी पूजा भी द्रव्यों का आलम्बन ले कर की जाती है; तथापि इन सबको भावों के धागे में पिरोने का अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा, न तो चित्त में प्रसन्नता होगी, न पूज्यदेव के साथ आत्मीयता होगी और न ही पूजा का उद्देश्य सिद्ध होगा। ऐसी भाववाहिनी पूजा के अतिरिक्त कोरी द्रव्य-पूजा यांत्रिक, रूढ़िग्रस्त एवं कभी-कभी प्रदर्शन होनी संभव है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य के साथ-साथ हृदय के भावों का तार जुड़ना चाहिये।

जैसे पूर्वोक्त अष्टप्रकारी पूजा में क्रमशः जल से प्रभुप्रतिमा का अभिषेक करने या जल चढ़ाने का रिवाज है। वैष्णवपूजाविधि में पाद्य, अर्घ्य, आच-मन, और स्नान (अभिषेक) के लिए ४ चम्मच इसलिए चढ़ाए जाते हैं कि हम अपना श्रम, मनोयोग, प्रभाव एवं धन इन चारों उपलब्धियों का यथासम्भव अधिकाधिक भाग वीतराग-परमात्मीय प्रयोजन के लिए समर्पित करें। चूंकि जल शीतलता, शान्ति, नम्रता, विनय एवं सज्जनता का प्रतीक है,। अतः सत्प्रयोजनों के लिए मैं समय लगाऊँगा, श्रमबिन्दुओं का समर्पण करूँगा।

यह तो हुई व्यवहारनय की दृष्टि से बात। निश्चयनय की दृष्टि से जल चढ़ाने के समय यह भाव आने चाहिए कि प्रभो! मैं अब तक यह नहीं अनु-भव कर पाया कि मैं शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यघन हूँ; ये इन्द्रियों के मधुर विषय विषसम हैं, यह लावण्यमयी कांचनकाया भी क्षणभंगुर है, यह सब कुछ जड़ की क्रीड़ा है, चैतन्य का इससे क्या वास्ता? इस बात को और स्वयं के आत्मवैभव को भूल कर मैं अहंत्व-ममत्व में फंस गया था। परन्तु अब मैं आपके सान्निध्य में सम्यक्-जल ले कर उस मिथ्यामल को धोने आया हूँ। इसके पश्चात् चन्दन,

---

१. 'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः'

केसर या अन्य सुगन्धित द्रव्य चढ़ाए जाते हैं। चन्दन की यह विशेषता है कि इस वृक्ष के कण-कण में सुगन्ध होती है, यह समीपवर्ती वृक्षों या झाड़-झंखाड़ों को भी सुगन्धित करता है। अपनी शीतलता से सांप, बिच्छू जैसे विषदंश वाले प्राणियों तक को शान्ति प्रदान करता है। उसकी छाया में बैठने वाले भी सुगन्धभरी शीतलता प्राप्त करते हैं। उसकी लकड़ी काट कर बेचने या पत्थर पर घिसने वाले अपकारी भी बदले में प्रतिशोध नहीं, उपकार ही पाते हैं। नष्ट होते-होते भी चन्दन अपनी लकड़ी से भजन या जप करने की माला, हवन-सामग्री का चूरा वगैरह दे जाता है। इसी प्रकार पूजाकर्ता भी यह भावना रखे कि मेरी शक्ति या सामर्थ्य का उपयोग भी जीवन के अन्त तक इसी प्रकार हो। निश्चयनयदृष्टि से चन्दन चढ़ाते समय यह भावना करें कि प्रभो! जड़ और चेतन की सभी परिणतियाँ अपने-अपने में होती हैं। आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बहुत से व्यक्ति चैतन्य के लिए जड़ को अनुकूल या प्रतिकूल बताते हैं, पर यह सब मन की झूठी कल्पना है। मैंने चन्दन के गुणों के विपरीत प्रतिकूल संयोगों में भी मन को क्रोधी, चिन्तित, व्यग्र या आर्तध्यानी बना कर जन्ममरण के चक्र को बढ़ाया है। अतः उक्त विकारों से संतप्त हृदय को चन्दन के समान शीतल बनाने के लिए आपके पास आया हूँ। चन्दन के बदले कई जगह केसर या कुंकुम वगैरह चढ़ाया जाता है। उस समय भी ऐसी भावना की जा सकती है।

इसी प्रकार अक्षत उपार्जित अन्न, धन, वैभव, बल आदि का प्रतीक है। उपार्जन को दूसरों में संविभाग न करके अपने आप ही खाते रहने वाले को 'चोर' कहा गया है। अतः उपार्जन को अपने एवं अपने परिवार तक के उपयोग में सीमित न रख कर उसमें देश, धर्म, समाज, संस्कृति आदि का भी भाग स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार अपनी कमाई का एक बड़ा अंश नियमित रूप से निकाला जाय, यह व्यवहारनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण की प्रेरणा है।

निश्चयनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण के साथ यह भावना हो कि प्रभो! मेरी आत्मा अक्षत है, उज्ज्वल है, धवल है, परद्रव्य के साथ किञ्चित् भी नहीं लगी हुई है, फिर भी मैं अनुकूल मनोज्ञ पदार्थों पर ममत्व और अभिमान

निरन्तर करता रहता हूँ। मेरा चैतन्य जड़ के सामने झुक जाता है, दब जाता है, वह अखण्डित नहीं रह पाता, अतः अपने शाश्वत और अविनाशी (अक्षत) आत्मनिधि को पाने के लिए मैं आप (परमात्मा) के चरण-शरण में आया हूँ।

इसके पश्चात् पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करनी है कि जैसे पुष्प कोमल होता है, खिलता-खिलाता है, हलका-फुलका होता है, नम्रतापूर्वक समर्पित हो जाता है, वैसे ही हम भी कोमल (निरभिमान, मदरहित) हो कर खिलें-खिलाएँ (आत्मविकास करें-कराएँ), बाह्य चिन्ताओं के बोझ से रहित हो कर अपनी जिन्दगी हलकी-फुलकी बिताएँ, विश्वोद्यान को शोभायमान बनाने के लिए अपना जीवन नम्रतापूर्वक कपटरहित हो कर समर्पित कर दें। फूल की तरह गर्दन नुचवा कर तथा मर्मभेदी सुई का-सा छेदन समभावपूर्वक स्वीकार करके परमात्मा के चरणों में समर्पित हो जांय।

निश्चयदृष्टि से पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करें कि हमारी आत्मा कुटिलता (माया, मिथ्यादर्शन) से रहित हो कर पुष्प की तरह सुकोमल हो, स्वस्वरूप की सुवास में रमण करें। स्वस्वरूप का चिन्तन हो, वैसा ही सम्भाषण हो, वृत्ति में भेद न हो। निजगुणों में स्थिरता हो।

दीपक के समय भावोद्बोधन इस प्रकार करे कि दीपक स्नेह से —चिकनाई से भरापूरा है, वह स्वयं जल कर दूसरों को प्रकाश देता है। इन्हीं विशेषताओं के कारण उसे पूजा में स्थान मिला है। इसी प्रकार हम भी अपने अन्तःकरण में असीम स्नेह, सद्भाव भर कर परमार्थ के लिए बढ़-चढ़ कर त्याग, बलिदान करें, कष्ट सहें, स्वयं ज्ञान से जाज्वल्यमान हो कर दूसरों को ज्ञान का प्रकाश दें। जिनकी दृष्टि उत्कृष्ट आदर्शवादी, ऊर्ध्वगामी है, वे ही जीवन्त दीपज्योति कहे जा सकते हैं। हम भी परमात्मा के आदर्शपथ पर चल कर उनके कृपाभाजन बनें। धूपबत्ती में अग्निस्थापना भी प्रकारान्तर से दीपक की आवश्यकता-पूर्ति करती है, उसकी भी यही प्रेरणा है।

निश्चयदृष्टि से दीपक-समर्पण के समय यह चिन्तन हो कि प्रभो! अब तक मैंने जग के जड़-दीपक को ही उजाला समझा था, किन्तु वह तो आंधी के एक ही झौंके में घोर अंधकार बन जाता है। अतः प्रभो! इस नश्वरदीप

को समर्पित करके, आपके केवल-ज्ञानरूपी दीपक की लौ से अपने आत्मदीप को जलाने के लिए आया हूँ।

धूप देते समय अन्तर में यह भावना हो कि प्रभो ! मैं धूप (या अगरबत्ती) की तरह स्वयं जल कर दूसरों को सौरभ दूं। आपके चरणों में अपनी सुकृतियों की यशःसौरभ चढ़ा दूं। धूप की तरह निरभिमानभाव से परोपकार में अपने आपको लगा दूं। निश्चयदृष्टि से धूप देते समय विचार करे कि मेरी यह मिथ्या भ्रान्ति रही कि जड़कर्म मुझे घुमाता है, मैं जड़ की परिणति के अनुरूप हो कर अपने को रागी-द्वेषी बना लेता हूँ। इस प्रकार मैं सदियों से भावकर्म या भावमरण करता आया। लेकिन अब आपके चारणों में आ कर इस धूप से यह सीख रहा हूँ कि अपनी आत्मा की स्वस्वरूपाचरणरूपी गन्ध को अपनाऊँ एवं परगन्ध (वैभाविक परिणति) को जला दूं।'

फल-समर्पण के समय विचार करे कि प्रभो ! मैं अपने प्रत्येक सत्कार्य का फल आपके चरणों में न्यौछावर कर रहा हूँ। मेरा अपना कुछ नहीं है, सब आपका ही है। मैं स्वयं-कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो कर फल की तरह समर्पित हो रहा हूँ। अथवा मुझे जो भी शुभ फल विश्व-उद्यान से मिले हैं, उन्हें मैं विश्व को बाँट दूं।

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो ! जिसे मैं अपना कहता हूँ, वह मुझे छोड़ कर चल देता है। मैं इससे व्यथित और व्याकुल हो जाता हूँ, जिसका फल व्याकुलता है। अतः प्रभो! मैं शान्त, निराकुल चेतन हूँ, मुक्ति मेरी सहचरी है। यह जो मोह-ममत्व है, वह फल की तरह पक कर आत्मवृक्ष से टूट पड़े और आपके चरणों में समर्पित हो जाय। इसी में मेरी सार्थकता है।

नैवेद्य (मिष्टान्न आदि पदार्थ) चढ़ाते समय सोचे कि प्रभो ! मैं संसार की समस्त वस्तुओं को अपनी मान कर उनमें आसक्त रहता हूँ, पर अब पदार्थ के प्रति वह ममता और अहंता आप के चरणों में नैवेद्य के रूप में समर्पित कर रहा हूँ।—

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो ! अब तक अगणित जड़द्रव्यों (परभावों) से मेरी भूख नहीं मिटी, तृष्णा की खाई खाली की खाली रही; युग-युग से मैं इच्छासागर में गोते खाता आया, आत्मगुणों का अनुपम रस छोड़ कर पंचेन्द्रिय-

विषयों का रस पीता रहा अतः आपके चरणों में आत्मकथा निवेदन करके उन सब परद्रव्यों का नैवेद्य चढ़ाता हूँ।

इस प्रकार पूर्वोक्त अष्टद्रव्यों के साथ शुभ और शुद्ध भावों का पुट दे कर परमात्मा के गुणों में तन्मय हो कर भक्तिपूर्वक परमात्मपूजा करके भव्यजीव शुभगति प्राप्त करते हैं। परम्परा से वे मुक्ति भी प्राप्त कर सकते हैं।

उपर्युक्त भावनाओं से अनुप्राणित विधि को छोड़ कर जो प्रभुपूजा के बहाने सिर्फ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श (गद्य-गीत के शब्दों, नर्तक-नर्तकी के रूपों, मिठाइयों, फलों या अन्य प्रसाद के रूप में प्राप्त खाद्य-पेयवस्तु के रसों, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थों की सुगन्धों एवं कोमल वस्तुओं के संस्पर्शों, में आसक्त और मुग्ध हो कर इन्द्रियों और मन को उच्छृंखल बना कर भोगों में तन्मय होते हैं, विलासिता और रागरंग में मशगूल हो कर महफिल का मजा लूटने आते हैं; वे प्रभुपूजा से कोसों दूर हैं। वे ऐसी प्रभुपूजा से आत्मशुद्धि, चित्तप्रसन्नता और आत्मगुणों में लीनता के बदले सांसारिक विषयवासनाओं में उलझ कर कभी-कभी आत्मपतन एवं आत्मवंचना कर लेते हैं। क्योंकि १ शब्दादि-विषय कामगुण हैं, और संसार के मूल कारण हैं। जन्ममरण के चक्र को गति देने वाले हैं। इसी कारण उस समय के लोकप्रवाह को उलटी दिशा में बहते देख कर आनन्दघनजी को कहना पड़ा—**भावे भविक शुभगति वरी रे,**

पूजा के और भी अनेक प्रकार उस युग में प्रचलित थे; जिनका जिक्र श्री-आनन्दघनजी छठी और सातवीं गाथाओं में करते हैं—

सत्तरभेद, एकवीस प्रकारे, अष्टोत्तरशत भेदे रे।
भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहगदुर्गतिछेदे रे॥ सुविधि० ६॥

अर्थ

परमात्मा की द्रव्यपूजा १७ प्रकार की है, २१ प्रकार की है और १०८ प्रकार की है। और भावपूजा अनेक प्रकार की निर्धारित (निर्दिष्ट) है। जो दुर्भाग्य और दुर्गति को मिटाती है।

---

१. "जे गुणे से मूलठाणेजे, मूलठाणे से गुणे"—आचारांग अ. २ उ. १

भाष्य

परमात्मापूजा के विविध प्रकार

परमात्मापूजा से अपनी आत्मा को जगाने के लिए और भी अनेकों प्रकार हैं। श्रीआनन्दघनजी ने उस युग में प्रचलित द्रव्यपूजा या साकारपूजा के १७, २१ और १०८ इन तीन प्रकारों का उल्लेख किया है। परन्तु यह द्रव्यपूजा भी तभी सही अर्थ में सार्थक हो सकती है, जब पूर्वोक्त विधि से इन सबके साथ तदनुकूल शुभ या शुद्ध भावों का तार जुड़ा हो। अन्यथा, वह पूजा केवल स्थूलपूजा या यान्त्रिक क्रिया बन कर रह जायगी। सतरह प्रकार की पूजा उस परम्परा के आचार्यों ने इस प्रकार बताई है—१—स्नान (अभिषेक या स्नान), २- चंदनादि का विलेपन, ३—वस्त्रयुगल-परिधान,[1] ४—वासपूजा (वासक्षेप या सुगन्धित वस्तु, ५—पुष्पपूजा (खुल्ले फूल चढ़ाना) ६— पुष्पमाला, ७—पुष्पों की आंगी-रचना, ८—चूर्णपूजा, [बरास का चूर्ण], ९—ध्वजपूजा, १०—आभूषणपूजा, ११—पुष्पगृहपूजा, १२—कुसुममेघ [पुष्पवृष्टि करना), १३—अष्टमगलपूजा (तश्तरी या हाथ में अष्ट मांगलिक को थाम कर खड़े रहना), १४—धूप-दीप-पूजा, १५—गीतपूजा, (ताललयसहित प्रभु-गुणगान करना) १६ नृत्यपूजा (प्रभु की प्रतिमा के आगे नृत्य करना) १७—सर्ववाद्यपूजा।

इसी प्रकार २१ प्रकारी द्रव्यपूजा भी उस युग में प्रचलित थी। वह इस प्रकार है—१—जलपूजा, २—वस्त्रपूजा, ३—चन्दनपूजा, ४—पुष्पपूजा, ५—वासपूजा, ६—चूर्णाचूर्णपूजा (बरास के चूर्ण में चन्दन डालना), ७—पुष्पमाला, ८—अष्टमांगलिक-पूजा, ९—दीपकपूजा, १०—धूपपूजा, ११—अक्षतपूजा, १२—ध्वजपूजा, १३—चामरपूजा, १४—छत्रपूजा, १५—मुकुट-पूजा, १६—दर्पणपूजा, १७—नैवेद्यपूजा, १८—फूलपूजा, १९—गीतपूजा, २०—नाटकपूजा, २१—वाद्यपूजा।

इसी प्रकार प्रभुप्रतिमा के आगे सुन्दर फल व नैवेद्य चढ़ा कर १०८ प्रकार से द्रव्यपूजा करने की परम्परा भी उस परम्परा में प्रचलित है। इसी तरह अष्टोत्तरी, चौसठ प्रकारी या ९९ प्रकारी द्रव्यपूजा भी कहीं-कहीं प्रचलित हैं।

---

१. वस्त्रयुगल के बदले कहीं-कहीं 'चक्षुयुगल' मिलता है।

परन्तु इन सबके साथ पुर्वोक्त प्रकार से तदनुकूल भावनाओं को जोड़ना आवश्यक है। क्योंकि इन सब द्रव्यपूजाओं का उपयोग इतना ही है कि ये सब भावपूजा का निमित्त बनें। अकेली द्रव्यपूजा दुर्भाग्य और दुर्गति का नाश करने वाली नहीं है। इसी कारण आरम्भ-परिग्रह के त्यागी, अनगार (मुनि) या साधुसाध्विगण द्रव्यपूजा नहीं करते, वे सिर्फ भावपूजा ही करते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भावपूजा पर जोर देते हुए कहा है—**भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहग्गदुर्गतिछेदे रे।**

भावपूजा क्या, कैसे और किसलिए?

वास्तव में द्रव्यपूजा तो भावपूजा तक पहुँचाने हेतु गृहस्थसाधकों (देशचारित्री) के लिए एक साधन हो सकती है। जैसे—नन्हे शिशु को खिलौने दे कर या चित्र बता कर उनके जरिये विविध पदार्थों का बोध कराया जाता है, परन्तु आगे की कक्षाओं में पहुँचने पर उसे चित्रों या खिलौनों की जरूरत नहीं पड़ती, वह उन्हें छोड़ देता है और अपनी भावना और चिन्तनशक्ति के जरिये विविध अनुभव प्राप्त कर लेता है। संभव है, इसी प्रकार आचार्यों ने स्थूलबुद्धि प्राथमिक भूमिका के लोगों के लिए मूर्ति या किसी प्रतीक में परमात्मा की छवि की कल्पना करके या उसमें परमात्मा का आरोपण करके विविध द्रव्यों से स्थूल पूजा करने का विधान किया हो; परन्तु उनका मूल लक्ष्य और मुख्य प्रयोजन तो भावपूजा तक प्रत्येक जिज्ञासु को पहुँचाने का रहा है। श्रीआनन्दघनजी ने भी इसलिए बारबार भावपूजा की ओर इंगित किया है।

भावपूजा में किसी बाह्य वस्तु का आलम्बन नहीं लिया जाता। उसमें अपने हृदय के तारों को भगवान के गुणों से जोड़ा जाता है। जहाँ किसी बाह्य द्रव्य का आश्रय न ले कर सिर्फ अपने मनोभावों द्वारा ही पूज्य की पूजा-भक्ति की जाती है, उनके चरणों में त्याग, बलिदान एवं संयम का नैवेद्य चढ़ाया जाता है, उनके समक्ष प्रार्थना के रूप में अपनी आलोचना, गर्हा, आत्म-निवेदन, आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) व्यक्त की जाती है, स्तोत्रों, भजनों, स्तवनों और स्तुतियों के माध्यम से या ध्यान, चिन्तन, मनन, आदि से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, वहाँ भावपूजा है।

इसलिए भावपूजा का कोई एक ही प्रकार न बता कर बहुविध प्रकार बताए हैं। चूंकि वीतरागपरमात्मा में अनन्तगुण हैं, उन समस्त गुणों की

प्राप्ति के लिए विविध रूप से अध्यवसाय करना होता है। इसलिए भावपूजा भी असंख्य प्रकार की है। भव्यात्मा जब भी किसी गुण की प्राप्ति के लिए पूज्यचरणों में किसी भी प्रकार से निवेदन करता है, और तदनुसार सक्रिय होने का प्रयत्न करता है, तब उस भावपूजा से उसके दौर्भाग्य, दुःख और दुर्गति नष्ट हो जाते हैं।

जैसे कि एक जैनाचार्य ने कहा है—

[1]वीतराग-परमात्मा की पूजा करने से उपसर्गों का क्षय हो जाता है, विघ्नरूपी बेलें कट जाती हैं, मन प्रसन्नता से भर जाता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य किसी चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट वातावरण से घिरा होता है, तब यदि किसी समर्थ व्यक्ति का उसे आश्वासन मिल जाता है, या वह किसी समर्थ व्यक्ति की सेवा में संलग्न हो जाता है अथवा किसी उच्चगुणी पर विश्वास रख कर उसकी आराधना करने में लग जाता है अथवा किसी विशिष्ट गुणी से गुणों को प्राप्त करने की उसे प्रेरणा मिल जाती है और उस पर विश्वास रख कर उसके आदेश-निर्देश में वह साधना करता है, तो स्वाभाविक ही उसकी वह चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट परिस्थिति समाप्त हो जाती है, उसको व्यथित करने वाले ऊलजलूल विचार समाप्त हो जाते हैं और उसका मन आश्वस्त, विश्वस्त और समाहित एवं समाधिस्थ हो जाता है। साथ ही परमविश्वस्तपुरुषों पर विश्वास रख कर अपने पापकर्मों का त्याग करने और और अहिंसा-सत्यादि धर्मों का आचरण करने से उसके दुर्गति के द्वार बंद हो जाते हैं, सद्गति और मुक्ति के द्वार खुल जाते हैं। यही बात परमआराध्य वीतरागपरमात्मा की सेवा, भक्ति, उपासना और भावपूजा के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। इसी दृष्टि से परमात्मा की भावपूजा से दुर्भाग्य और दुर्गति के नष्ट हो जाने की बात कही गई है। क्योंकि कपटरहित हो कर परमात्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण करने से ही परमात्मा की अखण्ड भावपूजा होती है, जिसका तात्कालिक फल चित्त की प्रसन्नता है; यह प्रथम तीर्थंकर की स्तुति

---

१. उपसर्गाः क्षयं यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लयः।
मनः प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे ॥

में कही गई है। अतः भावपूजा से चित्त के समस्त विकार, दुश्चिन्ता, दुर्ध्यान, आदि काफूर हो कर उसमें प्रसन्नता, स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता पैदा हो जाती है, जिससे दुर्भाग्य दूर हो कर सद्भाग्य में परिणत हो जाता है; दुःस्थिति, दुश्चिन्ता और दुर्गति मिट जाती है और सुस्थिति, निश्चिन्तता और सुगति प्राप्त हो जाती है; परम्परा से कर्मक्षय होने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त तथ्यों के प्रकाश में सतरह प्रकार की भावपूजा का अर्थ है—१७ प्रकार का असंयम छोड़ कर आत्मा के शुद्ध संयमगुणों को अपनाना। इक्कीस प्रकार की भावपूजा का अर्थ है—२१ प्रकार के सबलदोषों का त्याग करके आत्मा के अनुजीवी गुणों की आराधना करना। इसी तरह १०८ प्रकारी भावपूजा भी पंचपरमेष्ठी के १०८ गुणों की आराधना करने से होती है। अथवा १७ प्रकार का संयम-पालन करने का पुरुषार्थ करना तथा बारह प्रकार के तप और नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यसमाधि मिल कर २१ गुणों की आराधना करने का पुरुषार्थ करना भी भावपूजा है।

पूर्वोक्त गाथाओं में अंगपूजा और अग्रपूजा; यों दो प्रकार की द्रव्यपूजा और अनेक प्रकार की भावपूजा; इस तरह पूजा के तीन प्रकारों का वर्णन किया गया, अब अगली गाथा में चौथी प्रतिपत्तिपूजा का वर्णन करते हैं—

तुरियभेद पडिवत्तिपूजा, उपशम-क्षीण-सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तरज्झयणे, भाखी केवलभोगी रे।
सुविधि ॥ ७ ॥

अर्थ

परमात्मपूजा का चौथा प्रकार प्रतिपत्तिपूजा है। जो उपशान्तमोह, क्षीणमोह और सयोगीकेवली नामक ११वें १२वें और १३वें गुणस्थान में होती है। यों चतुर्थ प्रकार की पूजा श्रीकेवलज्ञानी ने उत्तराध्ययनसूत्र में बताई है।

भाष्य

परमात्मपूजा का चौथा प्रकार: प्रतिपत्तिपूजा

परमात्मपूजा के तीन प्रकारों का वर्णन पहले की गाथाओं में कर चुके

हैं। यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने चौथे प्रकार की पूजा—प्रतिपत्तिपूजा बताई है।

यहाँ '**चउहा पूजा**' का अर्थ चौथी (चतुर्थी) पूजा है; क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति में प्रतिपत्ति का उल्लेख है। वहाँ अनाशातनाविनय को प्रतिपत्ति कहा गया है।

प्रतिपत्तिपूजा की व्याख्या इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति में विनय के प्रसंग में प्रतिपत्ति का अर्थ अनाशातनाविनय बताया है।

ललितविस्तरा वृत्ति आदि में प्रतिपत्ति का अर्थ '**प्रतिपत्तिः अविकलाऽऽप्तोपदेशपालना**' किया है। यानि आप्तपुरुषों के उपदेश का अखण्ड (अविकल) रूप से पालन करना प्रतिपत्ति है। यह अर्थ व्यवहारनय की दृष्टि से संगत है। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से प्रतिपत्ति का अर्थ होता है—परमात्मा को आत्मभाव से अंगीकार करना अथवा आत्मा के गुणों का समग्ररूप से अनुभव करना; परमात्मा में स्वस्वरूप का संवेदन यथार्थरूप से करना प्रतिपत्तिपूजा है।

प्रतिपत्तिपूजा के अधिकारी

प्रतिपत्तिपूजा भी भावपूजा का विशिष्ट अंग है, किन्तु उसके अधिकारी ११ वें गुणस्थान में स्थित उपशान्तमोही होते हैं, जिनके तमाम कषायभाव उपशान्त हो जाते हैं, अथवा १२ वें गुणस्थान में स्थित क्षीणमोही हैं, जिनके तमाम कषायभाव क्षीण हो चुके होते हैं, अथवा तेरहवें गुणस्थान में स्थित सयोगी-केवली भगवान् हैं, प्रथम दो कोटि के महान् आत्मा आत्मगुणों का यथार्थरूप से अनुभव कर लेते हैं, अथवा यथाख्यात-चारित्री होने के कारण वीतरागपरमात्मा के उपदेश का वे अविकलरूप से पालन करते हैं, अथवा वे पूर्णता के पथ पर होने से वीतरागपरमात्मा की जरा भी आशातना या आज्ञा की अवहेलना नहीं करते। अन्तिम सयोगी-केवली तो सदेहमुक्त वीत-राग हो जाते हैं, और वे आत्मा-परमात्मा के गुणों का साक्षात् अनुभव करते हैं और यथाख्यातचारित्री होने से वे अविकलरूप से आज्ञापालन करते हैं।

इस प्रकार परमात्मपूजा के चार प्रकार श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति में बताए हैं—अंगपूजा, अग्रपूजा, भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा। किन्तु

जैसा कि पूर्वोक्त गाथाओं के वर्णन में बताया गया है, दो प्रकार की द्रव्यपूजा प्राथमिक भूमिका वालों के लिए हैं और बाद की दो प्रकार की भावपूजा, उत्तरोत्तर उच्चभूमिका वालों के लिए हैं। इसी बात को ललितविस्तरावृत्ति में स्पष्टरूप से बताया गया है कि पुष्पपूजा (अंगपूजा), आमीपपूजा (अग्रपूजा) स्तुतिपूजा (वन्दना, कायोत्सर्ग, स्तुति, स्तव, नाम-स्मरण, जप, गुणकीर्तन, प्रार्थना एवं भावना आदि के जरिये भावपूजा) और प्रतिपत्तिपूजा इन चारों पूजाओं में क्रमशः उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) की पूजा अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशविरति में उक्त चारों पूजाएँ होती हैं, सराग-सर्वविरति आदि में स्तुति और प्रतिपत्तिरूप दो पूजाएँ होती है, उपशान्त मोहादि-पूजाकर्ता में प्रतिपत्तिपूजा ही होती है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्यपूजा से भावपूजा श्रेष्ठ है, और वही उपादेय है। परमात्मपूजा का मुख्य प्रयोजन आत्मस्वरूप में रमण करना और आत्मशुद्धि करके आत्मा के अनुजीवी गुणों को विकसित करना है, जो भावपूजा के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

इसी कारण श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के उद्देश्य एवं फल के सम्बन्ध में संकेत करते हुए अन्तिम गाथा में कहते हैं—

इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणी रे।
भविकजीव करशे ते लेशे, 'आनन्दघन'–पद--धरणी रे॥
सुविधि० ॥ ८ ॥

अर्थ

इस प्रकार परमात्मपूजा के बहुत-से भेदों को सुन-समझ कर जो भव्य-जीव लौकिक और लोकोत्तर सुखदायक शुभकरणी = उत्तम अनुष्ठान (जिनाज्ञावाह्य क्रियाओं का त्याग करके जिनाज्ञायुक्त शुभक्रिया) करेगा, यानी उसे क्रियान्वित करेगा; वह आनन्द के समूहरूप परमपद (मोक्ष) भूमि [मोक्षभूमि सिद्धशिला] प्राप्त करेगा : अथवा मोक्षपद की भूमिका प्राप्त करेगा।

---

१. पुष्पाऽमीप-स्तुति-प्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम्।
देवविरतौ चतुर्विधा।
सराग-सर्वविरत्यादौ स्तोत्र-प्रतिपत्तिरूपे द्वे।
उपशान्तमोहाऽऽदौ पूजाकारके प्रतिपत्तिः॥
—ललितविस्तरादि से

हैं। यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने चौथे प्रकार की पूजा—प्रतिपत्तिपूजा बताई है।

यहाँ 'चउहा पूजा' का अर्थ चौथी (चतुर्थी) पूजा है; क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति में प्रतिपत्ति का उल्लेख है। वहाँ अनाशातनाविनय को प्रतिपत्ति कहा गया है।

प्रतिपत्तिपूजा की व्याख्या इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति में विनय के प्रसंग में प्रतिपत्ति का अर्थ अनाशातनाविनय बताया है।

ललितविस्तरा वृत्ति आदि में प्रतिपत्ति का अर्थ **'प्रतिपत्तिः अविकलाऽऽप्तोपदेशपालना'** किया है। यानि आप्तपुरुषों के उपदेश का अखण्ड (अविकल) रूप से पालन करना प्रतिपत्ति है। यह अर्थ व्यवहारनय की दृष्टि से संगत है। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से प्रतिपत्ति का अर्थ होता है—परमात्मा को आत्मभाव से अंगीकार करना अथवा आत्मा के गुणों का समग्ररूप से अनुभव करना; परमात्मा में स्वस्वरूप का संवेदन यथार्थरूप से करना प्रतिपत्तिपूजा है।

प्रतिपत्तिपूजा के अधिकारी

प्रतिपत्तिपूजा भी भावपूजा का विशिष्ट अंग है, किन्तु उसके अधिकारी ११ वें गुणस्थान में स्थित उपशान्तमोही होते हैं, जिनके तमाम कषायभाव उपशान्त हो जाते हैं, अथवा १२ वें गुणस्थान में स्थित क्षीणमोही हैं, जिनके तमाम कषायभाव क्षीण हो चुके होते हैं, अथवा तेरहवें गुणस्थान में स्थित सयोगी-केवली भगवान् हैं, प्रथम दो कोटि के महान् आत्मा आत्मगुणों का यथार्थरूप से अनुभव कर लेते हैं, अथवा यथाख्यात-चारित्री होने के कारण वीतरागपरमात्मा के उपदेश का वे अविकलरूप से पालन करते हैं, अथवा वे पूर्णता के पथ पर होने से वीतरागपरमात्मा की जरा भी आशातना या आज्ञा की अवहेलना नहीं करते। अन्तिम सयोगी-केवली तो सदेहमुक्त वीत-राग हो जाते हैं, और वे आत्मा-परमात्मा के गुणों का साक्षात् अनुभव करते हैं और यथाख्यातचारित्री होने से वे अविकलरूप से आज्ञापालन करते हैं।

इस प्रकार परमात्मपूजा के चार प्रकार श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति में बताए हैं—अंगपूजा, अग्रपूजा, भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा। किन्तु

जैसा कि पूर्वोक्त गाथाओं के वर्णन में बताया गया है, दो प्रकार की द्रव्यपूजा प्राथमिक भूमिका वालों के लिए हैं और बाद की दो प्रकार की भावपूजा उत्तरोत्तर उच्चभूमिका वालों के लिए हैं। इसी बात को ललितविस्तरावृत्ति में स्पष्टरूप से बताया गया है कि पुष्पपूजा (अंगपूजा), आमीषपूजा (अग्रपूजा) स्तुतिपूजा (वन्दना, कायोत्सर्ग, स्तुति, स्तव, नाम-स्मरण, जप, गुणकीर्तन, प्रार्थना एवं भावना आदि के जरिये भावपूजा) और प्रतिपत्तिपूजा इन चारों पूजाओं में क्रमशः उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) की पूजा अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशविरति में उक्त चारों पूजाएँ होती हैं, सराग-सर्वविरति आदि में स्तुति और प्रतिपत्तिरूप दो पूजाएँ होती है, उपशान्त मोहादि-पूजाकर्ता में प्रतिपत्तिपूजा ही होती है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्यपूजा से भावपूजा श्रेष्ठ है, और वही उपादेय है। परमात्मपूजा का मुख्य प्रयोजन आत्मस्वरूप में रमण करना और आत्मशुद्धि करके आत्मा के अनुजीवी गुणों को विकसित करना है, जो भावपूजा के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

इसी कारण श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के उद्देश्य एवं फल के सम्बन्ध में संकेत करते हुए अन्तिम गाथा में कहते हैं—

इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणी रे।
भविकजीव करशे ते लेशे, 'आनन्दघन'-पद-धरणी रे॥
सुविधि० ॥८॥

अर्थ

इस प्रकार परमात्मपूजा के बहुत-से भेदों को सुन-समझ कर जो भव्य-जीव लौकिक और लोकोत्तर सुखदायक शुभकरणी = उत्तम अनुष्ठान (जिनाज्ञावाह्य क्रियाओं का त्याग करके जिनाज्ञायुक्त शुभक्रिया) करेगा, यानी उसे क्रियान्वित करेगा; वह आनन्द के समूहरूप परमपद (मोक्ष) भूमि [मोक्षभूमि सिद्धशिला] प्राप्त करेगा : अथवा मोक्षपद की भूमिका प्राप्त करेगा।

---

१. पुष्पाऽमीष-स्तुति-प्रतिपत्तिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम्।
देवविरतौ चतुर्विधा ।
सराग-सर्वविरत्यादौ स्तोत्र-प्रतिपत्तिरूपे द्वे ।
उपशान्तमोहाऽऽदौ पूजाकारके प्रतिपत्तिः ॥
—ललितविस्तरादि से

भाष्य

परमात्मपूजा का रहस्य जान कर उसे क्रियान्वित करना है

इस गाथा में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मपूजा के बहुत से प्रकार और उसके रहस्य के ज्ञान पर बहुत जोर दिया है। साथ ही उन लोगों को चेतावनी भी दी है कि केवल पूजा के रहस्य को जान लेना ही पर्याप्त नहीं है, उसमें लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रकार के सुख को देने वाली जिनाज्ञायुक्त शुभक्रियाएँ हैं, उन्हें अवश्य करना है। जिन क्रियाओं से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में रमण कर सके, जो क्रियाएँ आत्मा को स्वगुणों की ओर ले जाने वाली हैं, आत्मा का विकास करने वाली हैं, वे ही क्रियाएँ लौकिक और लोकोत्तर सुख देने वाली हैं। जिनसे आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों की ओर जाती हो, जिनसे अपना और दूसरों का अहित होता हो, जो क्रियाएँ मनुष्यजीवन में वैर-विरोध-वर्द्धक, हिंसा, असत्य आदि बढ़ाने वाली हों, वे लोक-परलोक दोनों जगह दुःखदायिनी हैं, लोकोत्तर सुख तो उनसे मिलता ही कैसे? परन्तु जिस करणी से दूसरों को क्षणिक सुख मिलता हो, मगर अपने आप को जन्ममरण के चक्र में पड़ कर दुःख पाना पड़ता हो, अथवा अपने को क्षणिक सुख प्राप्त होते हुए भी दूसरों को दुःख में पड़ना पड़ता हो, (जैसे-पूजा के लिए पशुवलि या शराब आदि चढ़ाना) वह करणी उभयसुखदायक नहीं है, इसलिए उसे शुभकरणी नहीं कहा जा सकता। अथवा जिस क्रिया से इहलोक में तो नाशवान् ऐन्द्रियक सुखों की प्राप्ति हो जाय, परन्तु परलोक का अथवा लोकोत्तर सुख का मार्ग उससे अवरुद्ध हो जाय, उसे भी सर्वसुखदायक शुभकरणी नहीं कहा जा सकता। जिस करणी से त्रैकालिक और त्रैलौकिक सुख की प्राप्ति हो, उसे हम सर्वसुखदायिनी शुभकरणी कह सकते हैं। ऐसी शुभकरणी से भव्य भक्तजन अवश्य ही सच्चिदानन्दमय पद की भूमिका या भूमि (स्थान) प्राप्त कर सकेगा।

इस गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि प्रभुपूजा के ज्ञाता को केवल जान कर ही नहीं रह जाना चाहिए। अगर वह केवल जान-समझ कर भी चुपचाप बैठ जाता है, अवश्यकरणीय शुभक्रिया में प्रवृत्त नहीं होता; तो वह इस हाथ में आई हुई बाजी या अमूल्य अवसर को खो देगा, इस जिंदगी से

प्राप्तव्य अलभ्यलाभ को गँवा कर बाद में हाथ मल-मल कर पछताएगा। अथवा परमात्मपूजा का यह अवसर बार-बार नहीं मिलेगा। अगर इसे चूक गए तो परमानन्दपद-प्राप्ति के बदले दुःखद्वन्द्ववर्द्धक जन्ममरण के चक्र में भटकना पड़ेगा। बार-बार जन्ममरण के दुःख से बचना हो तो भावपूजा का आलम्बन लेना ही उत्तम है।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा के विविध प्रकार बता कर अन्त में भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा पर जोर दिया है, साथ ही पूजा का रहस्य बता कर इसे शुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य से करके आनन्दघनमय पद प्राप्त करने का संकेत किया है। इस प्रकार की समझ-पूर्वक की गई परमात्मपूजा से अन्त में प्राप्तव्य जो लोकोत्तर लाभ—सच्चिदानन्दमय परमात्मपद अथवा उक्त पद का जो स्थान है, वह मिलता है।

अब आगामी स्तुति में श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा में पहले के परस्परविरोधी गुणों से युक्त परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का रहस्योद्घाटन करते हैं।

१० : श्रीशीतलनाथ-जिन-स्तुति—

परस्परविरोधी गुणों से युक्त परमात्मा

(तर्ज—गुणह विशाला मंगलिक माला, राग धन्याश्री गौड़ी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा, कोमलता, तीक्षणता, उदासीनता सोहे रे ॥
शीतल० ॥१॥

अर्थ

दसवें तीर्थंकर श्रीशीतलनाथ जिनेन्द्र परमात्मा की विविध सुन्दरभंगियों पर चिंतन करने पर वे मन को मुग्ध कर देती हैं। वीतराग-परमात्मा में एक ओर अहिंसकभाव होने के कारण करुणा और कोमलता [नम्रता] है; तो दूसरी ओर इनसे विरोधी तीक्ष्णता [क्रूरता] और उदासीनता [उपेक्षाभाव] से वे सुशोभित हैं।

भाष्य

परमात्मा के जीवन के विविध पहलू

पूर्वस्तुति में परमात्मपूजा के सम्बन्ध में विस्तृतरूप से कहा गया; लेकिन सवाल यह होता है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? उनमें कई वार परस्परविरोधी गुणों का निवास भी होता है, जिन्हें देख कर पूजक (भक्त), चक्कर में पड़ जाता है कि किस गुण वाले प्रभु को आदर्श व पूज्य माना जाय?

जैनधर्म परमात्मा के वाह्य रूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप को ही पूज्यता या उसकी पूजा का आधार मानता है। अन्य सम्प्रदायों में जहाँ आत्मिक गुणों के वैभव की ओर ध्यान न दे कर शारीरिक वाह्यवैभव, आभूषण एवं पोशाक आदि वाह्य रूपों से ही, स्थूलप्रभुता से ही अपने माने हुए तथाकथित प्रभुओं या भगवानों को पूज्य मान कर उनकी पूजा-भक्ति पर जोर दिया जाता है; वहाँ जैनधर्म वाह्यरूपों, वैभव, पोशाक, आभूषणादि ठाठ-बाठ व वाह्य चमत्कारों पर से ही किसी की पूज्यता का मापदंड नहीं मानता, न उसे पूज्य

मानता है, और न उसकी पूजा का विधान करता है, उसे अमुक नामों से कोई पक्षपात नहीं है; किन्तु वह आन्तरिक गुणों आत्मिक वैभव, रागद्वेप-रहितता आदि अन्तरंग रूप को ही महत्त्व देता है। इसी कारण आप्त मीमांसा में जैनाचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है—[1] प्रभो! आपके पास देव आते हैं, आप आकाश में उड़ते हैं, आपके पास छत्र, चामर आदि विभूतियाँ हैं, इनसे आप हमारे लिए महान् (विश्वपूजनीय) नहीं हैं; क्योंकि ये सब वाह्य वैभव या चमत्कार आदि तो एक जादूगर में भी पाये जा सकते हैं।"

जैनधर्म तो गुणों का पूजारी है। 'जिसमें वीतरागता के गुण हों, यानी संसार के वीज को अंकुरित करने वाले राग-द्वेपादि दोप जिसके नष्ट हो गए हों, फिर वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो, बुद्ध हो, या जिन हो, उसे नमस्कार है।'

इस दृष्टि से परमात्मा की परीक्षा वाह्य रूप, वैभव, विलास व ठाठवाठ या चमत्कार से न करके वीतरागता आदि अन्तरंग गुणों की परिपूर्णता से करनी चाहिए। परन्तु कई वार वीतराग-परमात्मा में विरोधी गुण देख कर उनसे घवराना नहीं चाहिए; अपितु अनेकांत व सापेक्षदृष्टि से विचार करके विरोधी प्रतीत होने वाले अंतरंग गुणों का परस्पर सामंजस्य विठा लेना चाहिए।

प्रथम गाथा में श्री वीतराग प्रभु [१० वें तीर्थंकर श्रीशीतलनाथजी] के माध्यम से उनके जीवन में विविध भागभंगियों [दृष्टियों] वाली मनोरम त्रिभंगियों का उल्लेख करते हैं। यानी वीतराग प्रभु हमारी पूजा के आदर्श हैं [फिर भले ही वे चाहे जिस नाम के हों]; हमारे लिए पूजनीय हैं। एक ओर उनमें अंतरंग गुण हैं—करुणा और कोमलता; जवकि दूसरी ओर ठीक इससे विरोधी गुण—तीक्ष्णता और उदासीनता भी हैं।

---

१. देवागम-नभोयान-चामरादि-विभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्॥ —देवागमस्तोत्र

२. भवबीजांकुरजनना रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै॥ —आचार्य हेमचन्द्र

प्रश्न होता है कि जब प्रभु राग से रहित हैं, तो उनमें करुणा और कोमलता [हृदयद्रावकता] कैसे हैं ? क्योंकि करुणा और कोमलता दोनों ही प्रायः रागजनित होती हैं, फिर भले ही ये दोनों प्रशस्तरागजनित हों तथा उनमें ठीक इन दोनों गुणों से विपरीत तीक्ष्णता और उदासीनता कैसे है ? क्योंकि ये दोनों प्रायः द्वेषजनित होती हैं। फिर भले ही वह प्रशस्तद्वेष ही क्यों न हो !

मतलब यह है कि ये परस्परविरोधी गुण वीतरागपरमात्मा में सुशोभित हो रहे हैं, इसका क्या कारण है ?

इसी शंका का समाधान तथा परस्परविरोधी गुणों के निवास की संगति अनेकान्तसिद्धांत द्वारा अगली गाथा में इस प्रकार बिठाई गई है—

सर्वजन्तुहितकरणी करुणा, कर्मविदारण तीक्षण रे।
हानादानरहित परिणामी, उदासीनता-वीक्षण रे॥
शीतल० ॥२॥

अर्थ

प्रभु में जो करुणा है, वह सर्वजीवहितकारिणी है, वही कोमलता है; तथा उनमें तीक्ष्णता (कठोरता) इसलिए है कि वे कर्मशत्रुओं का समूल छेदन करने में कठोर हैं। किसी ईष्ट व मनोज्ञ वस्तु को देख कर उसे रागवश ग्रहण करने के तथा अनिष्ट व अमनोज्ञ वस्तु को देख कर उसे छोड़ने के द्वेष-युक्त परिणामों से रहित हैं, तथा संसार के समस्त पदार्थों या जीवों को समभाव से देखते हैं, इसलिए उदासीनता का गुण भी उनमें दिखाई देता है।

भाष्य

विश्ववन्द्य परमात्मा के चरित्र में परस्परविरोधी गुणों की प्रथम संगति

परमात्मा का चरित्र विविध प्रकार से विचारणीय है। केवल विचारणीय ही नहीं, आदरणीय; पूजनीय और उपासनीय भी है, आनन्दजनक भी है। उपर्युक्त गाथा में प्रभु के चरित्र में तीन परस्परविरोधी गुणों के समावेश की संगति अनेकांतवाद की दृष्टि से की गई है। वे गुण हैं—करुणा-

प्राय: देखा जाता है कि जिसका हृदय करुणा और कोमलता से परिपूर्ण होता है, उसके हृदय में तीक्ष्णता-कठोरता प्रतीत नहीं होती; और तीक्ष्णता हो तो उदासीनता नहीं हो सकती; परन्तु वीतरागपरमात्मपद का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर उसमें ये तीनों परस्परविरोधी गुण एक साथ दिखाई देते हैं। वे कैसे? परमात्मा के उन-उन गुणों का स्वरूप समझे बिना झटपट निर्णय कर बैठें, यह उचित नहीं। अत: इसी का समाधान करते हुए, श्रीआनन्दघनजी कहते हैं— **सर्वजन्तुहितकरणी करुणा** अर्थात् वीतराग तीर्थंकर परमात्मा की वृत्ति जगत् के त्रस-स्थावर आदि समस्त प्राणियों का हित करने की होती है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र में तीर्थंकर भगवान् द्वारा की जाने वाली प्रवचनप्रवृत्ति का उद्देश्य बताया है कि[1] समस्त संसार के जीवों की रक्षारूप दया के लिए भगवान् ने प्रवचन कहे हैं। **'सबै जीव करूं शासनरसी, ऐसी भावदया मन उल्लसी'** इस प्रकार सर्वप्राणियों का हित करने वाली करुणा और कोमलता उनमें हैं। किन्तु पहले अपनी आत्मा की करुणा किये बिना कोई परमात्मा करुणानिधि नहीं बन सकता। अत: कर्मशत्रुओं या रागद्वेषादिरिपुओं से दबी हुई, रंक बनी हुई अपनी आत्मा पर करुणा करने के लिए वे इन शत्रुओं से जूझते हैं, इन पर करुणा नहीं करते, इसीलिए कहा है—**'कर्मविदारण तीक्षण रे'** कर्मों के नष्ट करने में वे अत्यन्त कठोर बन जाते हैं। अथवा अपने कृतकर्मों का नाश करने हेतु अपनी वृत्तियों को तीक्ष्ण बना कर परमकरुणाशील प्रभु शुक्लध्यान उत्पन्न करते हैं। कृतकर्मों को काटने में शुक्लध्यानवृत्ति ही सफल होती है; जिसे तीक्ष्ण गुण कहा गया है। इसलिए तीक्ष्णता भी वीतरागप्रभु की शोभा है। इसी कारण उनका एक नाम अरि [कर्मशत्रुओं] के हन्त [नाशक] भी है। उन्हें कर्मों पर दया नहीं आती कि ये बेचारे कहाँ जायेंगे? इनका क्या होगा? अत: जिस समय प्रभु में पूर्वोक्त प्रकार का करुणाभाव होता है, उसी समय उनमें कर्मों को काटने की तीक्ष्णता [तीव्रता] भी होती है। परन्तु विचार करने पर यह विरोध नहीं रहता। क्योंकि करुणा करने योग्य प्राणी अथवा आत्मा और कर्म बिलकुल अलग-अलग हैं। जब परमात्मा वीतराग कर्मरहित हो कर

---

१. **'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।**

—**प्रश्नव्याकरणसूत्र**

परमशुक्लध्यानी हो जाते हैं, तब उनमें साधकदशा मिट कर सिद्ध [मुक्त] दशा प्रगट हो जाती है, और उन्हें जगत् के समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् हो जाते हैं। उस समय वे समस्त पदार्थों को तटस्थरूप—उदासीनभाव से देखते हैं उनके लिए ग्राह्य-अग्राह्य भाव नहीं रहता। वे न तो किसी अनिष्ट वस्तु पर द्वेष करके उस का त्याग करने की प्रवृत्ति करते हैं, और न ईष्ट वस्तु पर राग करके उसे स्वीकार करने की। क्योंकि वे रागद्वेष से सर्वथा रहित हैं। इसी त्याग-ग्रहणरहित परिणाम वाली दृष्टि को उदासीनता कहते हैं, जो प्रभु के परमपद की प्राप्ति की मुख्य हेतु है।

निश्चयदृष्टि से विचार करें तो वीतराग-परमात्मा में करुणावृत्ति का गुण केवल परात्महितकर नहीं, अपितु वास्तव में स्वात्महितकर होता है। और स्वात्महित वे तभी मानते हैं, जब कर्मों के बन्धन से आत्मा को बचाएँ। तथा कर्मबन्धन तभी नष्ट होता है, जब औदासीन्यभाव से युक्त आत्मा की उत्कृष्ट आत्मवीर्य की तीक्ष्णता हो। इस प्रकार ये तीनों परस्पर विरोधी गुण वीतराग-परमात्मा में एक साथ पाये जाते हैं, जो प्रत्येक चेतनाशील जाग्रत साधक को प्रेरणा देते हैं।

अगली गाथा में इसी त्रिभंगी की अन्य प्रकार से संगति बताते हैं—

परदुःखछेदन-इच्छा करुणा; तीक्षण पर दुःख रीझे रे।
उदासीनता उभय-विचक्षण, एक ठामे किम सीझे रे ? शीतल० ॥३॥

अर्थ

दूसरों के दुखों को मिटाने की इच्छा ही करुणा है। पर [परभावों या आत्मा से भिन्न जड़पुद्गलों] को दुःखी [आत्मा से हटते] देख कर वे प्रसन्न होते हैं, यह उनकी तीक्ष्णता है। तथा करुणा और तीक्ष्णता दोनों के लक्षणों से विलक्षण माध्यस्थ्यवृत्ति या तटस्थपरिणाम उदासीनता है। आश्चर्य होता है कि ये तीनों गुण विलक्षण होने से एक जगह कैसे सिद्ध हो (रह) सकते हैं। परन्तु प्रभु में ये तीनों गुण एक साथ रहते हैं, यही उनकी प्रभुता है।

भाष्य

दूसरी दृष्टि से त्रिभंगी की संगति

पूर्वोक्त गाथा में वीतराग-परमात्मा में तीन परस्पर विरोधी गुणों की

संगति एक दृष्टि से की गई थी। इस गाथा में दूसरी दृष्टि से उन तीनों गुणों की संगति बिठाई गई है।

'अध्यात्मकल्पद्रुम' ग्रन्थ में करुणा का लक्षण बताया गया है—परदुःख देख कर उसे दूर करने की अथवा दूसरों को किसी प्रकार का दुःख न हो, इसे देखने की इच्छा करुणा है'। व्यवहारदृष्टि से वीतरागप्रभु को परम कारुणिक, निष्काम करुणाशील कहा जाता है। वे दूसरों को दुःखी देख कर उसे उस दुःख से छुड़ाने की इच्छा रखते हैं, उसे उक्त दुःख से छुटकारे का उपाय बताते हैं। दुःख क्यों होते हैं? उन्हें किसने पैदा किये हैं? उनके निवारण के क्या उपाय हैं? इत्यादि सब बातें वे जगत् के पीड़ित संसारी जीवों को बताते हैं। इसलिए करुणा तो उनमें है ही। परन्तु उनके साथ ही जब वे देखते हैं कि संसारी जीव राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के कारण या परपदार्थ के सम्बन्ध के कारण दुःख पाते हैं तो अपनी आत्मा के साथ लगे उन परपदार्थों के सम्बन्धों को हटाने में जबर्दस्त तीक्ष्ण वृत्ति भी प्रभु में होती है, वे उन सजीव या निर्जीव परपदार्थों का मोहबन्धन बड़ी सख्ती से हटा कर खुश होते हैं। इसीलिए कहा गया—"तीक्षण पर दुःख रीझे रे" यानी बन्धन में डालने वाले परपदार्थों के अपनी या दूसरों की आत्मा से पृथक् होने से दुःख में पड़े देख कर राजी होते हैं। वे इन्द्रियदमन में पुद्गलों को हटाने में खुश होते हैं। तीसरी ओर वे उदासीन भी रहते हैं। जहाँ वे देखते हैं कि अनेक प्राणी जानबूझ कर शुभाशुभ कर्म उपार्जन करते हैं, कोई झूठ बोलते हैं, चोरी, ठगी, बेईमानी, चुगली, माया आदि करते हैं, उन सबके प्रति वे उदासीन रहते है। यानी पापकर्म करने वाले जीवों को देख कर न तो वे उनके प्रति करुणा करते हैं, और न ही उनके प्रति कठोरता (क्रोध) करते हैं, वे करुणा और तीक्ष्णता से अलग ही उदासीनता या तटस्थता की वृत्ति रखते हैं। इस प्रकार परस्परविरुद्ध तीनों बातें प्रभु में हैं, विरोधाभास से युक्त तीनों गुण उनमें एक साथ मौजूद रहते हैं।

निश्चयदृष्टि से देखें तो राग-द्वेष-मोह आदि के कारण दुःख पाते हुए सांसारिक जीवों को देख कर उपदेश, प्रेरणा आदि प्रवृत्ति द्वारा उनके बन्धन-मुक्त होने का प्रयत्न वे करते हैं। अथवा परपदार्थों के प्रति आसक्ति के कारण अपनी आत्मा को होने वाले दुःखों के दूर करने की इच्छा वीतराग-परमात्मा

की सच्ची करुणा है। दूसरी ओर परपदार्थों के साथ सम्बन्धों को हटाने की कठोरता होने से, परपदार्थों को अपने से हुआ वियोग-दुःख देख कर भगवान् प्रसन्न होते हैं और सांसारिक जीवों के शुभाशुभ परिणामों को अपने ज्ञान में देखते हैं, पर दर्पणवत् तटस्थ रहते हैं, समता रखते हैं। इस प्रकार वीतराग परमात्मा में करुणा, तीक्ष्णता, और उदासीनता इन तीनों परस्पर विरोधी गुणों का समावेश हो जाता है।

अगली गाथा में फिर इन्हीं तीन गुणों की तीसरी दृष्टि से परस्पर संगति बिठाई गई है—

अभयदान[1] तिम लक्षण करुणा, तीक्षणता गुणभावे रे।
प्रेरक विण कृति उदासीनता, इम विरोध मति नावे रे॥

शीतल० ॥४॥

अर्थ

इसी प्रकार जीवों को भयरहित करने के लिए जीवनदान (अथवा उपदेश-दान) देना परमात्मा में करुणा का लक्षण है। उनके गुण में और भावों में तीक्ष्णता है, किसी प्रकार की प्रेरणा के बिना प्रभु में स्वाभाविकरूप से क्रिया होती रहती है, इसलिए उदासीनता है। इस तरह विचार करने पर विरोधी की तरह दिखाई देने वाले तीनों गुणों में कोई भी विरोध की बुद्धि नहीं पैदा होती।

भाष्य

इस गाथा में भी एक अन्य दृष्टि से प्रभु में तीनों विरोधी गुणों का अस्तित्त्व सिद्ध किया है। जीवमात्र को जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि का भय रहता है। उस भय से छुटकारा दिला कर अभय करने का मूल हेतु है—ज्ञान। अभय का ज्ञान देना ही प्रभु की करुणा है। द्रव्य और भाव से प्रभु सांसारिक जीवों को निर्भयता का दान देते हैं। वे कहते हैं—किसी सांसारिक पदार्थ से डरो मत। तुम्हारी आत्मा स्वयं भययुक्त-निर्भय है, इस प्रकार सांसारिक पदार्थों से भय न पाने देना—द्रव्य-अभयदान है, और संसार

---

१. किसी-किसी प्रति में 'तिम लक्षण करुणा' के बदले 'त मलक्षय करुणा' है। वहाँ 'कर्मरूपी मैल के क्षय का हेतुरूप उपदेश ही करुणा है' यह अर्थ समझना।

का भय मिटा देना भाव-अभयदान है, अथवा अपनी आत्मा को पर-पदार्थों से निर्भयता का दान देना=प्रकट करना भी अभयदान है, यह निश्चय-दृष्टि से अभयदान प्रभु में करुणा का ही लक्षण है। व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो प्रभु के पास जो भी जीव आ जाता है, वह उनकी परम अहिंसा के कारण निर्भय हो जाता है। उसे ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं अभय हो गया हूँ। अर्हन्त परमात्मा का एक विशेषण 'नमोत्थुणं' के पाठ में आता है—'अभयदयाणं' और अभयदान परमात्मा की करुणा का द्योतक चिह्न है।

ज्ञानादि गुणों पर अज्ञानादि के छाए हुए आवरणों—वैभाविक गुणों को दूर करने के लिए एक तरफ से आत्मा के स्वाभाविक गुणों को प्राप्त करते हैं, अज्ञानादि को कठोरता से हटाते हैं, दूसरी ओर परभावों (पुद्गलों) को पराया (शत्रु) मान कर बार-बार उन्हें त्याज्य समझ कर छोड़ने का विचार किया करते हैं; स्वभाव में तीव्रता से रमण किया करते हैं। इसके कारण पुद्गलों (परभावों) के प्रति उनकी कड़ी आँख है, जो उनकी तीक्ष्णता का लक्षण है। इसी प्रकार संसार के स्वरूप का विचार करते हैं तो मालूम होता है, प्रायः सभी कार्य (व्यापार, धन्धा, नौकरी आदि) प्रेरणा पर आधारित हैं। वे इस स्वरूप को जानते हैं और कोई निन्दा करे या प्रशंसा; भला कहे या बुरा, वन्दना करे, या निंदा करे, सभी से निरपेक्ष हो कर किसी भी प्रेरणा के बिना सहजभाव से आत्म-परिणतिरूप कृति—कर्तव्य में निष्ठा रखते हैं। यह पदार्थ इष्ट, प्रिय या मनोज्ञ है, यह अनिष्ट, अप्रिय या अमनोज्ञ है, इस प्रकार की प्रेरणा प्रभु में नहीं होती। लिए उनमें बिना किसी प्रेरणा के स्वरूपरमण क्रिया होती रहती है। यह उनकी उदासीनता का लक्षण है।

इस प्रकार वीतरागप्रभु में पूर्वोक्त तीनों विरोधी गुण एक साथ रहते हैं, क्योंकि उनके पात्र अलग अलग हैं।

अगली गाथा में वीतरागप्रभु में अन्य गुणों की त्रिभंगियों का अस्तित्व हुए कहते हैं—

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन-प्रभुता, निर्ग्रन्थता संयोगे रे।
योगी, भोगी, वक्ता, मौनी, अनुपयोगी उपयोगे रे॥

शीतल० ॥५॥

अर्थ

प्रभुवीतराग में अनन्त आत्मवीर्यरूप शक्ति है, जो कि समस्त आत्माओं में सामान्यरूप में होती है, फिर भी ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति में प्रभु का अपना अलग व्यक्तित्व है। तथा एक ओर उनकी तीनों लोकों के समस्त प्राणियों पर स्वामित्व (त्रिलोकप्रभुता या त्रिभुवनपूज्यता) है; जबकि दूसरी ओर वे निर्ग्रन्थ (अकिंचन) हैं। इसी प्रकार प्रभु मोक्ष के साथ जोड़ने (योग कराने) वाले गुणों को अथवा मन-वचन-कायारूप त्रियोग को धारण करते हैं, इसलिए वे योगी हैं, जबकि इसके विपरीत वे भोगी भी हैं। यानी वे आत्मगुणों का स्वयं भोग (अनुभव) करते हैं। एक ओर वे द्वादशांगीरूप प्रवचन करते हैं, इसलिए वक्ता हैं, जबकि दूसरी ओर मौनी भी हैं सावद्यभाषा बोलने तथा पाप-कर्म का उपदेश देने में वे मौन रहते हैं। वे केवल-दर्शनी हैं, इसलिए निराकार उपयोगी होने से उपयोग नहीं लगा सकते—निरुपयोगी हैं, तथैव केवलज्ञानी होने से साकार उपयोग वाले होने से वे उपयोगी हैं। साथ ही इन पाँचों जोड़ों के साथ संयोग होने से एक-एक भंग और जुड़ जायगा, प्रत्येक की त्रिभंगी हो जायगी।

भाष्य

परमात्मा में परस्पर विरोधी पाँच गुण-त्रिभंगियाँ

साधारणतया परमात्मा के परस्पर विरोधी को आम आदमी समझ नहीं पाता: वह तो उन्हें उलझनभरे और परस्परविरोधी समझ कर छोड़ देता है। साहित्यशास्त्र में इसे विरोधभास अलंकार कहा जाता है। जो विचार करने पर ठीक समझ में आता है। परमात्मा में निम्नलिखित तीन-तीन भंग हो सकते हैं—

(१) शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति-रहित-
(२) त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता-निर्ग्रन्थतारहित, (३) योगी, भोगी और योग भोग-रहित, (४) वक्ता, मौनी और वक्तृत्व-मौन-रहित और (५) उपयोगवान, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोगरहित।

ये पाँचों गुणत्रिभंगियाँ, परस्पर विरोधी हैं, लेकिन इन पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक त्रिभंगी वीतराग-परमात्मा में एक साथ रह सकती है। उदाहरण के तौर पर पहली त्रिभंगी में तीन गुण

हैं—शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति-रहित। वीतराग परमात्मा में अनन्तशक्ति है, अनन्त-वीर्य के धनी परमात्मा अपना अनन्तवीर्य बता सकते हैं। मेरु को उठाना हो तो वे उसे उठा सकते हैं, भुजाओं से अथाह समुद्र को पार कर सकते है। अपने शुद्धस्वभाव एवं स्व-गुण में लीन रहने की अद्भुत शक्ति प्रभु में है; यह प्रभु का आत्मिक गुण है। वैसे तो प्रत्येक आत्मा में अनन्त शक्ति है, यह उसका स्वभाव है। परन्तु सामान्य आत्मा उसकी अभिव्यक्ति नहीं कर सकती। परमात्मा में शक्ति का पूर्ण व्यक्तीकरण होता है; परन्तु होता है, वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अलग-अलग गुणों का अलग-अलग। प्रभु में वैसे तो ज्ञानादि सभी—शक्तियाँ पूर्णरूप में हैं; परन्तु वे चाहें तो एक-साथ उन सबकी अभिव्यक्ति कर सकते हैं। अथवा सांसारिक लोगों की अपेक्षा परमात्मा का अलग व्यक्तित्व होने से परमात्मा उनसे विशिष्ट व्यक्ति हैं। परन्तु परमात्मा में दोनों गुणों का एक साथ अस्तित्व होते हुए भी सिद्ध (मुक्त) दशा में उनमें शक्ति होते हुए भी न होने जैसी है; क्योंकि वह शक्ति कुछ कार नहीं सकती; वह अकरणवीर्य होती है। और सिद्धदशा में अलग-अलग गुणों की अलग-अलग अभिव्यक्ति (व्यक्ति) नहीं होती। अथवा परमात्मा ने शक्तित्व या व्यक्तित्व किसी इरादे से बताने का प्रयत्न नहीं किया, इसलिए उनमें ये तीनों गुण एक साथ रहने में कोई विरोध नहीं है।

दूसरी त्रिभंगी में भी तीन गुण हैं—त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता—निर्ग्रन्थतारहित। यह बहुत ही आश्चर्यजनक लगता है कि परमात्मावीतराग में तीनों लोकों की पूज्यता—उनमें ३४ अतिशय और आठ महाप्रातिहार्यों के होने से तीनों भुवनों की प्रभुता (ऐश्वर्ययुक्तता) प्रत्यक्ष दिखाई देती है; तथापि स्वयं निर्ग्रन्थ होने से उनमें निर्ग्रन्थता है। उन्होंने संसार या सांसारिक पदार्थों के साथ कोई लागलपेट, या ममत्वादि की गाँठ नहीं रखी, दुनिया से उन्हें कुछ भी लेना-देना नहीं है, उन्हें न कोई वस्तु ईष्ट है, न अनिष्ट है। यही उनकी निर्ग्रन्थता है। यानी त्रिभुवन की वैभव-सम्पन्नता—प्रभुता के होते हुए भी उनमें अकिंचनता (अपरिग्रहवृत्ति) एवं निर्लेपता (निर्ग्रन्थता) है। अथवा एक ओर इन्द्र, नरेन्द्र और चक्रवर्ती द्वारा पूजनीय होने से त्रिभुवनप्रभुता होते हुए भी स्वयं निर्ग्रन्थता गुण से परिपूर्ण हैं।

निश्चयनय की दृष्टि से विचार करें तो परमात्मा में आत्मा के समस्त गुण विकसित होने से तीनों लोकों के समस्त आत्मगुणों के स्वामी होने से उनमें त्रिभुवन-प्रभुता है, तथा पंचमहाव्रतसहित सामायिक ग्रहण कर चुके, इसलिए परम त्यागी होने से उनमें निर्ग्रन्थता है, परभावों का स्वरूप या परभावों का कार्य उनके ज्ञान में झलकते हुए भी वे उनका लेप आत्मा पर नहीं होने देते।

तीसरा भंग प्रभु के त्रिभुवन-प्रभुता से एवं निर्ग्रन्थता से रहित होने का है, जो बड़ा अटपटा है। फिर भी यह संगत है; क्योंकि मिथ्यात्वीजीव प्रभु को पूज्य नहीं मानते। समवसरणादि तथा उनके अष्टमहाप्रातिहार्य आदि देख कर आपको त्यागी या निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) नहीं मानते, इसलिए वीतराग परमात्मा तीनों लोक के प्रभु नहीं रहे। तथा सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त सभी जीव समान हैं, वहाँ न कोई प्रभु है और न ही कोई उसका दास ! यहाँ पूज्य-पूजक-भाव बिलकुल नहीं है, इसलिए त्रिभुवनप्रभुता से परमात्मा रहित हैं तथा प्रभु केवल साधु का वेष धारण किए सदा नहीं फिरते, अथवा प्रभु में भी में भी स्वगुण में रगणतारूपी ममता है; इसलिए वे निग्रंथता से रहित भी हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त तीनों विरोधी गुणों का प्रभु में अस्तित्व है। उनकी संगति भलीभाँति समझ लेने पर गुणों में विरोध नहीं आता।

तीसरी गुणत्रिभंगी है—योगी, भोगी, और योग-भोग-रहित। लोक व्यवहार में देखा जाता है कि जो योगी है, वह भोगी नहीं रह सकता। पर-परमात्मा में मन-वचन-काया को अपने वश में रखने वाले योगी के समस्त गुण हैं। व्यवहारदृष्टि से वीतराग-अवस्था में मन-वचन-काया के योगों से युक्त (सयोगी केवली) हैं। निश्चयदृष्टि से रत्नत्रयी की साधनारूप योग से युक्त होने अथवा मोक्ष के साथ जुड़े हुए होने से या परमात्मा के गुणों या शुद्धस्वरूप के साथ युक्त होने से वे योगी हैं। तथापि दूसरी ओर वे भोगी भी हैं। इससे चोंकिये नही। परमात्मा विलासी जैसे भोगी नहीं हैं। वे स्वात्मगुणों के भोगी हैं, अनुभवी हैं, अनुभव करते हैं। अथवा व्यवहारदृष्टि से वे भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का क्षय कर देने के कारण तीनों

लोक के समस्त भोगों से भी उत्कृष्ट स्वात्मरमणतारूपी भोगों के भोगी हैं। जब समस्त कर्मों का क्षय होता है, तब अयोगी-केवली गुणस्थानक में और मोक्ष जाने के बाद वे न तो योगी रहते हैं, न भोगी। क्योंकि वहां उनके समस्त योग दूर हो जाते हैं और अयोगी-गुणस्थानक में पाँच ह्रस्व अक्षरों अ इ उ ऋ लृ, के उच्चारण में जितना समय लगता है, उस समय न तो वे योगी हैं और न भोगी हैं।

अब आइए चौथी गुणत्रिभंगी पर। इसमें भी तीन गुण हैं—वक्ता, मौनी और अवक्तामौनी। वक्ता तो प्रभु इसलिए हैं कि वे स्वयं द्वादशांगी का प्रवचन देते हैं और परमदेशना देते हैं तथा मौनी इसलिए हैं कि वे मुनियों के संघ के पति (स्वामी) हैं। अथवा वे सदा आत्मभाव में निष्ठ होने से मौनी हैं। सावद्य या पापमय, आश्रवजनक उपदेश के सम्बन्ध में वे वक्ता नहीं हैं, तथा वक्ता और मौनी होते हुए भी उस वक्त वे द्वादशांगी के सिवाय कुछ वचन नहीं बोलते, इसलिए वे उस समय न तो वक्ता हैं, न मौनी हैं। अथवा वे अवक्तामौनी यों हैं कि जो जगत् में है, उसी को वे कहते हैं; नया कुछ भी नहीं कहते, इसलिए वक्तृत्व से रहित हैं, तथापि देशना देते हैं, इसलिए वे मौन से भी रहित हैं। इस प्रकार यह चौथी गुणत्रिभंगी भी प्रभु में एक साथ अविरोधरूप से संगत हो जाती है।

अब पांचवीं गुणत्रिभंगी का विचार करें। वह है—उपयोगी, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोग-रहित।

सामान्य छद्मस्थ ज्ञानी को तो कोई बात कहनी या जाननी हो तो उसके लिए उपयोग लगाना पड़ता है; परन्तु वीतराग-परमात्मा तो केवलज्ञान के धनी होते हैं, इसलिए बिना ही उपयोग लगाए वे बात को जान-देख सकते हैं, इसलिए अनुपयोगी हैं, क्योंकि उनमें ज्ञान-दर्शन का उपयोग सदा प्रवर्तमान रहता है। किन्तु प्रभु ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय होने से उपयोगी हैं। अथवा आत्मा और उपयोग का अभेद उपचार करने से परमात्मा स्वतः अनुपयोगी हैं। किन्तु योगरुन्धन होने के बाद उन्हें ज्ञान का या दर्शन का उपयोग लगाने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। उस समय वे न उपयोगी हैं, न अनुपयोगी। उनमें ज्ञानदर्शन का उपयोग सदा प्रवर्त्तमान रहता है; इसलिए वे अनुपयोग-रहित

हैं और उपयोग तो उनमें स्वतः प्रवृत्त होता है, उन्हें उपयोग लगाना नहीं पड़ता; अतः वे उपयोगरहित भी हैं।

इस प्रकार पाँचवीं गुणत्रिभंगी भी वीतरागप्रभु में भलीभाँति घटित हो जाती है।[१]

इनके सिवाय और भी परस्परविरोधी गुणत्रिभंगियाँ वीतरागप्रभु में घटित हो सकती हैं, इस बात को बताने के लिए अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

इत्यादिक बहुभंगत्रिभंगी, चमत्कार चित्त देती रे।
अचरजकारी चित्रविचित्रा, आनन्दघनपद लेती रे॥
शीतल० ॥८॥

अर्थ

ये और इस प्रकार की और भी बहुत-से भंगों (भेदों-विकल्पों) वाली त्रिभंगियाँ चित्त में चमत्कार पैदा करती हैं। सामान्य व विशेष दोनों तरह से विचित्र प्रकार की आश्चर्यकारी ये गुणत्रिभंगियाँ आत्मानन्द-समूहरूप पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेती हैं यानी इन आत्मस्वरूपमूलक त्रिभंगियों में मग्न हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त हो कर अन्त में सच्चिदानन्दपद (परमात्मपद) प्राप्त हो जाता है।

भाष्य

परमात्म-गुण चिन्तन से आनन्दघनमत-पद की प्राप्ति

यहाँ एक सवाल उठता है कि आखिर परमात्मा में इन अटपटी गुण-त्रिपुटियों का चिंतन करने का चिंतन करने लाभ क्या है? इसका कोई प्रयोजन भी तो होना चाहिए। इसके उत्तर में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—सबसे पहला लाभ तो यह है कि इन गुणत्रिपुटियों का चिन्तन चित्त में शुद्ध आत्मा की गुणमयी शक्तियों का चमत्कार पैदा करता है। परमात्मभक्त

---

१. इस प्रकार हमने अपनी बुद्धि से इन गुणत्रिभंगियों के परस्परविरोधी भाव को दूर करके एक साथ प्रभु में होने की संगति बिठाई है। इनके सिवाय और भी किसी तरह से घटित हो सकती हो तो बहुश्रुतज्ञानी के सहयोग से घटित करने का पाठक प्रयत्न करें। —भाष्यकार

परमात्मा के इन गुणों पर चिन्तन करते-करते साधक आश्चर्य से भर जाता है कि एक ही आत्मा में इतने गुण कहाँ से आ गए? छोटी-सी, अव्यक्त, अमूर्त, अदृश्य आत्मा में इतने गुणों के धारण करने की शक्ति कहाँ से आ गई? दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ सामान्यतया और विशेषतया प्रभुगुणत्रिपुटियों के बार-बार के चिन्तन से आत्मा की अनन्त आश्चर्यकारी ज्ञान-सम्पदा विकसित हो जाती है, आत्मा अपनी सुषुप्त ज्ञान-शक्ति को प्रगट करके स्वयं स्वस्वरूप में या शुद्धरूप में, अथवा आत्मगुणों में रमण करने में एकाग्र हो जाता है, और इस प्रकार के ऊहापोह में एकाग्र होने से उसे केवलज्ञान प्राप्त हो कर एक दिन आनन्दघनमय परमात्मपद या मोक्षपद प्राप्त हो जाता है। चूँकि स्याद्वाद-शैली के बिना जीवन और जगत् का या आत्मा-परमात्मा का सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान होने का सबूत सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्राथमिक भूमिका है। जिसे सम्यग्दर्शन हो गया, उसे मोक्षप्राप्ति अवश्य हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहें तो इस प्रकार विभिन्न पहलुओं से परमात्मा के गुणों का चिन्तन करने से चिन्तनकर्ता की आत्मा भी स्वतः स्वाभाविकरूप से उन गुणों की ओर झुकेगी, और एक दिन वह आश्चर्य-कारक विचित्र गुणत्रिभंगी-चिन्तन से आनन्दघनमय प्रभुपद को प्राप्त कर लेगी।

इसी प्रकार की अन्यान्य गुणत्रिपुटियों का चिन्तन करो

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के जीवन में उपर्युक्त गुणत्रिभंगियों के सिवाय, ऐसी ही अन्य गुण-त्रिभंगियों का चिन्तन करने का संकेत किया है। परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुक को और भी गुणत्रिपुटियों चिन्तन करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर—वीतरागप्रभु कामी भी हैं, क्रोधी भी हैं और अकामी-अक्रोधी भी हैं। सर्वप्रथम दृष्टिपात में तो परमात्मा के लिए कामी शब्द सुनते ही व्यक्ति चौंक उठता है, परन्तु गहराई से विचार करने पर उसका यह भ्रम दूर हो जाता है। प्रभु कामी इसलिए हैं कि वे स्व (आत्म) स्वरूप की कामना वाले होते हैं। क्रोधी इसलिए हैं कि वे मोह, राग, द्वेष, काम आदि आत्मगुणनाशक अन्तःशत्रुओं को कठोरतापूर्वक खदेड़ देते हैं। किन्तु साथ ही वे अकामी इसलिए हैं कि वे आत्मा के प्रतिकूल पर-पदार्थ को ग्रहण करने की कामना नहीं रखते, तथा वे अक्रोधी इसलिए हैं कि

परिषह-उपसर्ग (कष्ट) देने वाले देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी पर जरा भी मन से भी क्रोध नहीं करते।

इस प्रकार के अनेक आश्चर्यजनक गुणत्रिपुटियाँ परमात्मा में घटित हो सकती हैं। इन विचित्र-त्रिभंगियों का रहस्य और अनुभव अनुभवी बाहुश्रुत गुरु से जान लेने चाहिए।

सारांश

श्रीआनन्दघनजी ने श्रीशीतलनाथ तीर्थंकर की स्तुति के जरिये परमात्मा में उपलब्ध विविध, विचित्र एवं आश्चर्यजनक गुण-त्रिभंगियों की संगति बिठाई है, जिससे आत्मा इन और ऐसी ही अन्य गुणत्रिपुटियों के चिन्तन-मनन से परमात्म-गुणों की ओर सतत आकर्षित एवं तन्मय हो कर अन्त में आनन्दघनमय परमात्मपद या मोक्षपद की प्राप्ति कर लेता है। मानवजीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्मा के गुणों के एकाग्रतापूर्वक चिन्तन से ही होती है।



११ : श्री श्रेयांसनाथ-जिन-स्तुति—

अध्यात्म का आदर्श : आत्मरामी परमात्मा

(तर्ज-अहो मतवाले साजन, राग गौड़ी)

श्रीश्रेयांसजिन अन्तरजामी, आतमरामी, नामी रे।
अध्यातम-पद[1] पूरण पामी, सहज मुगतिगतिगामी रे॥
श्री श्रेयांस०॥१॥

अर्थ

श्री (ज्ञानलक्ष्मी) युत श्रेयांसनाथ नामक ग्यारहवें तीर्थंकर (रागद्वेषविजेता) अन्तःकरण के भावों के ज्ञाता हैं, आत्मा में रमण करने वालों में श्रेष्ठ हैं, अथवा सार्थक नाम वाले हैं, या भावकर्मरूप शत्रुओं को नमाने-झुकाने वाले हैं। अध्यात्मपद (ज्ञान) की पूर्णता पहुँच कर अनायास ही मोक्षगतिगामी बन गये हैं।

भाष्य

अध्यात्म की पूर्णता पर पहुँचे हुए : परमात्मा

पूर्वोक्त स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के विभिन्न परस्परविरोधी गुणों की त्रिपुटियाँ बता कर उक्त गुणों को प्राप्त करने की बात कही है, इस स्तुति में परमात्मा के उक्त गुणों की पूर्णता तक पहुँचने के लिए अध्यात्म-आत्मा के पूर्णविकास) के हेतु परमात्मा का आदर्श अपनाना आवश्यक बताया है। जब तक आदर्श सामने न हो तब तक कोई भी साधक वहां तक पहुँचने के लिए उत्साहित नहीं होता। अध्यात्म के विषय में भी यही बात है। जगत् में विभिन्न धर्मों, मतों, पंथों और सम्प्रदायों के लोग अध्यात्म की रट लगाते हैं। वे आत्मा के बारे में जरा-सी जानकारी प्राप्त करते ही अपने को अध्यात्मवादी या अध्यात्म ज्ञानी घोषित कर देते हैं। श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति द्वारा अभिव्यक्त कर रहे

---

१. कहीं कहीं 'पद' के बदले 'मत' शब्द मिलता है, तब, अध्यातम-मत पूरण पामी' का अर्थ होता है-आत्मविकास के पथ के सिद्धान्त को पूर्णरूप से प्राप्त करके।

है कि आत्मा के बारे में जरा-सी जानकारी पा लेने मात्र से, आत्मा और जड़ की पारिभाषिक शब्दावली को घोट लेने से या अध्यात्म की बातें बघारने मात्र से ही किसी व्यक्ति को आध्यात्मिक या आत्मविकास की परिपूर्णता पर पहुँचा हुआ नहीं कहा जा सकता। इसलिए एक साधक ने अध्यात्मभासों पर करारा व्यंग किया है—**कलावध्यात्मिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा'** इस कलियुग में आध्यात्मिक होने का दावा करने वाले ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे फाल्गुन महीने में होली पर अच्छा बालक हो तो भी अपशब्द बोलने का मजा लूटता है। जिन्हें अध्यात्म का क. ख. ग. भी न आता हो, भी वे उच्चस्वर से अपने में आध्यात्मिकता होने का दावा करते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी इसी स्तुति में आगे अध्यात्म क्या है? सच्चा आध्यात्मिक कौन है? इसका पुर्जा-पुर्जा खोल कर वास्तविक रहस्य बताते हैं।

सच्चा आध्यात्मिक बनने या अध्यात्म की पूर्णता तक पहुँचने के लिए वीतरागपरमात्मा के आदर्श को सामने रखना और वे जिस आत्मविकास के मार्ग पर चल कर अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं, उनके स्वरूप तथा मार्ग को जानना अत्यावश्यक है। क्योंकि आत्मोत्थान या आत्मविकास के पथ पर चल कर वे आध्यात्मिकपूर्णता तक पहुँचे हैं, उन्होंने आत्मविकास के सिद्धान्त को पूर्णतया जाना था। इसलिए वे इस मार्ग के पूर्ण विशेषज्ञ हैं। जो जिस मार्ग का पूर्ण विशेषज्ञ या अनुभवी होता है, वही उस मार्ग को बता सकता है अथवा उसी से उस मार्ग की जानकारी प्राप्त हो सकती है। परमात्मा आध्यात्मिक विकास का श्रीगणेश करते समय आत्मरामी रहे हैं; यानी वे परभावों, वैभाविक गुणों या परपदार्थों से लगाव छोड़ कर अपनी आत्मा के गुणों में या स्वात्मस्वभाव में सतत रमण करते रहे हैं। और सामान्य प्राणियों की आत्मा पर जो परभावरूप कर्म या रागद्वेषादि विकार हावी हो जाया करते हैं, परमात्मा उन कर्मों या विकारों को नमा देते हैं, अपने अधीन कर लेते हैं, उन इन्द्रियों एवं मन को अनुशासित कर लेते हैं, उन्हें अपने पर हावी नहीं होने देते; इसीलिए वे अरिहन्त या जिन के नाम से संसार में नामी (प्रसिद्ध) हैं। यही कारण है कि वे आत्मज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने से अन्तर्यामी बन गये हैं। जब ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि उसमें कोई विकार या संशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप दोष नहीं होता, तब वह केवलज्ञान हो जाता है, जिसके जरिये समस्त चराचर

जगत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है, उसके लिए कोई भी वस्तु परोक्ष नहीं रहती, उस ज्ञान में कोई भी अन्तराय, बाधकतत्त्व या क्षेत्र-काल की दूरी की अड़चन नहीं रहती। इसलिए इस पूर्णज्ञान के धनी होने से परमात्मा घट-घट के भावों को जानते हैं, वे पारगामी हैं। साथ ही आध्यात्मिकता की पूर्णता पर पहुँच जाने की उनकी निशानी यह है कि उनमें रागद्वेषादि नहीं रहे, उन पर उन्होने पूर्णतया विजय प्राप्त करली है। इसी आध्यात्मिक पूर्णता के फलस्वरूप वे अनायास ही मुक्तिपदगामी बने हैं, सिद्धपद पर पहुँचे हैं।

जैसे फल पक जाने पर बिना ही प्रयास के वह पेड़ से टूट कर नीचे टपक पड़ता है, वैसे ही आध्यात्मिकता (आत्मस्वरूप में सततरमणता) परिपक्व हो जाने पर परमात्मा भी परभावों से अलग हो कर अथवा कर्मों से पृथक् हो कर स्वाभाविक रूप से अनायास ही—मोक्ष में जा पहुँचते हैं।

निष्कर्ष यह है कि विकास या आध्यात्मिकता के चरम शिखर (आदर्श) तक पहुँचने के लिए आत्मा आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए वीतराग अन्तर्यामी आत्मरामी नामी परमात्मा (उनका नाम चाहे श्रेयांसनाथ हो या और कुछ हो) को आदर्शरूप में सामने रखना आवश्यक है।

कोई कह सकता है कि क्या दुनिया में श्रेयांसनाथ जिन के सिवाय और कोई पूर्ण आध्यात्मिक या आत्मरामी नहीं हुआ? **यह तो घर के देव, घर के पूजारी** वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इसका क्या सबूत है कि दुनिया में और किसी धर्म में आध्यात्मिक हुए ही नहीं? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने श्रेयांसनाथ की स्तुति के बहाने से इस गाथा में बताए आध्यात्मिक के विशिष्ट गुणों पर से सभी आध्यात्मिकों परीक्षा ले डाली है और आध्यात्मिकों की जाँच के लिए कुछ कसौटियाँ भी बता दी है। उन्होंने 'जिन' शब्द से किसी व्यक्ति-विशेष का नाम न ले कर जिस किसी नाम के जिन (रागद्वेष-विजेता) हों, उन्हें आत्मरामी, नामी, अध्यात्ममतपूर्णगामी एवं अन्तर्यामी बता कर उनके आदर्श को स्वीकार करने की बात कही है। अगली गाथा में वे आत्मरामी की कसौटी बता रहे हैं—

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण [1] आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे॥ श्री श्रेयांस०॥ २॥

अर्थ

संसार में रहे हुए अथवा संसार के कारणों को सेवन करने वाले (संसार को अपना मानने वाले) जीव पाँचों इन्द्रियों के २३ विषयों में रमण करने वाले (आसक्त) हैं। अगर कोई आत्मा (आत्मगुणों) में रमण करने वाले हैं तो क्षमादि-दशविध मुनिधर्म का पालन करने वाले मुनि हैं। मुख्यतया केवल वे ही आत्मा में रमण करने वाले हैं, जो कामना [लोभ, आसक्ति आदि] अथवा काम (विषयों में आसक्ति) से रहित हैं।

भाष्य

आतमरामी का मुख्य लक्षण

पहले यह बताया जा चुका है कि जो पूर्ण आध्यात्मिक होता है, वह सर्वप्रथम आतमरामी होता है। परन्तु सवाल यह होता है कि आतमरामी किसे समझा जाय ? बहुत-से आत्मा-आत्मा की रट लगाने वाले जगह-जगह आश्रम बना कर या किसी कुटिया में अपना डेरा जमा कर लोगों को भुलावे में डाल देते हैं, बहुत-से चालाक लोग कुछ हाथ की सफाई या बाह्य चमत्कार बता कर अपने को आत्मरामी बताते हैं। बहुत से लोग आत्मरमणता का प्रदर्शन करने के लिए नृत्य, गीत, संगीत, धुन, कीर्तन या प्रवचन आदि के बड़े-बड़े आयोजन करते हैं, शाही ठाठबाठ में रचेपचे रह कर पाँचों इन्द्रियों का विषयास्वादन करते हुए अपने को आत्मारामी या पहुचे हुए महात्मा घोषित करते रहते हैं। बहुत-से लोग शरीर में राख रमा कर, गांजे-सुलफे का दम लगा कर या शराब के नशे में मस्त हो कर अपने को आत्मरामी के रूप में प्रसिद्ध करते रहते हैं, अपने को अध्यात्मयोगी बता कर सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयों के सुख लूटते रहते हैं, वे ऐश-आराम में रातदिन मशगूल रहते हैं। सुख-सुविधाओं और भोगों के गुलाम बने हुए ऐसे नकली तथाकथित आत्मारामी लोगों से सावधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'सयल संसारी

१ 'गण' के बदले अधिकांश प्रतियों में 'गुण' शब्द है।

इन्द्रियरामी' अर्थात्—जिन-जिन लोगों को इन्द्रियविषयों के, भोगों के, या सुखसुविधाओं के गुलाम व आसक्त देखो, उन सबको आत्मरामी नहीं, इन्द्रियरामी समझो। जो सांसारिक विषयसुखों को लात मार कर, इन्द्रिय-विषयों के प्रति अनासक्त हो कर अदीनभाव से अपनी आत्मा में या आत्मगुण में मस्त रहते हैं, क्षमा, मार्दव आदि मुनिधर्म का पालन करते हैं, वे मुनिगण ही वास्तव में आत्मरामी हैं। यह बात श्रीआनन्दघनजी मुनियों के प्रति किसी पक्षपात के कारण नहीं कह रहे हैं। क्योंकि मुनिधर्म किसी भी जाति, धर्म सम्प्रदाय, देश, वेष या पंथ की बपौती नहीं है, उस पर किसी की मोनोपोली (एकाधिकार) नहीं है; और न ही किसी एक व्यक्ति या जाति आदि का ठेका है। उसे कोई भी, किसी भी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेष या पंथ का व्यक्ति पालन कर सकता है, बशर्ते कि वह दशविध श्रमणधर्मों से युक्त हो। और जो मुनि इस प्रकार से इन्द्रियविषयों में रमणता (आसक्ति) से दूर होगा, उसे ही आत्मरामी कहा जाएगा।

आत्मरामी का मुख्य लक्षण यह है कि वह कामना (स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि आदि की लिप्सा, सुख-सुविधाओं की लालसा) तथा काम (पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति, गुलामी, मूर्च्छा) से रहित हो, दूर हो, उसे ही केवल आत्मरामी समझो, जो निष्काम व निःस्पृह हो।

जीवों के दो भेद हैं—सिद्ध और संसारी। जो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा हैं, वे तो अध्यात्म के चरम शिखर पर पहुँच चुके हैं। परन्तु जो संसारी हैं, वे संसार में ही सुख मानते हैं, उसी में मस्त रहते हैं, वे एक या अधिक इन्द्रियों के विषयों में आनन्द मानते हैं, चाहे जिस उपाय से इन्द्रियसुखों को प्राप्त करने की लालसा रखते हैं। इन्द्रियसुख कम होने पर उससे सन्तोष न मान कर वे, येन-केन-प्रकारेण नैतिक-अनैतिक रूप से इन्द्रियों के विषयभोगों को भोगते हैं, रात-दिन उनके गुलाम बने रहते हैं, इसके फलस्वरूप वे संसार के जन्ममरण के चक्र में फँसे रहते हैं, उनके संसार-परिभ्रमण का अन्त आता ही नहीं। एक गति से निकल कर दूसरी में, एक योनि से निकल कर दूसरी योनि में जाते हैं। इस प्रकार वे संसार में चक्कर लगाते रहते हैं परन्तु कई लोग इस भूमिका से बहुत ऊँचे उठे हुए होते हैं, वे पर्याप्त सुख मिलते हुए भी उन्हें

तिलांजलि दे कर उनसे बिलकुल उदासीन, अनासक्त या निरपेक्ष रहते हैं। जो वास्तविक मुनि या श्रमण हैं, वे अपने गुणों—क्षमादि दशविध श्रमणधर्मो अथवा ज्ञानादि आत्मगुणों—में रमण करते हैं। वे साधुगुणों में मस्त रह कर उनके अनुरूप ही सबको उपदेश देते हैं। यद्यपि मुनि भी अभी तक साधक हैं, वे सिद्ध या मुक्त नहीं हुए, तब तक संसारी हैं, तथापि वे अपने सर्वस्व ध्यान, चिन्तन, शक्ति, वाणी आदि का उपयोग आत्मिक गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य—में करते हैं, संसार में रहते हुए भी आत्मिकगुणों (अथवा यतिधर्म) में रमण करते हैं। उनमें और सामान्य संसारी जीव में यह अन्तर है।

इसके बावजूद भी मुनियों (अथवा साधु-संन्यासियों के वेष) में भी बहुत-से पुद्गलानन्दी, इन्द्रियासक्त होते हैं, उन्हें आत्मरामी मानना यथार्थ नहीं है। जिनके मन-वचन-काया के योग इन्द्रियों के शब्दादिविषयों से निरपेक्ष, अनासक्त व निःस्पृह रह कर स्वस्वरूप अथवा ज्ञानादि गुणमय आत्मा में ही रमण करते हैं, उन्हें ही मुख्यतया आत्मरामी समझना चाहिए। अब अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी परमात्मा में जो सच्चे अध्यात्म का गुण पूर्णतया विकसित हैं, उस अध्यात्म की कसौटी बताते हैं—

निजस्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहीये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहीये रे॥
श्रीश्रेयांस० ॥३॥

अर्थ

जिस क्रिया से सच्चे अर्थ में निजस्वरूप को प्राप्त करने या स्वरूप में स्थिर होने की साधना की जाती है, वह अध्यात्म-क्रिया है। परन्तु जिस क्रिया के करने से नरकादि चारों गतियों में से कोई एक गति मिलती हो, उसे अध्यात्म मत समझो।

भाष्य

'अध्यात्म' की कसौटी

बहुत-से लोग 'अध्यात्म' के नाम से अनेक प्रकार की कठोर क्रियाएँ करते हैं, उनकी उन क्रियाओं को देख कर साधारण लोग, यहाँ तक कि

क्रियाकाण्डप्रिय साधक भी वाहवाह कर उठते हैं, वे उन्हें आध्यात्मिक या आत्मा के खटके वाले माँगने लगते हैं, और वे स्वयं भी कई बार किसी के द्वारा पूछे जाने पर यही जवाब देते हैं कि 'हम ये सब क्रियाएँ अपनी आत्मा के लिए करते हैं।' परन्तु उनके अन्तर की तह में आत्मा के लिए वे क्रियाएँ होती नहीं; वे प्रायः की जाती हैं—अपनी प्रसिद्धि, किसी पद या प्रतिष्ठा की लिप्सा या किसी स्वार्थलालसा से प्रेरित हो कर। कई साधकों के हृदय में अपनी कठोर क्रियाओं के फलस्वरूप देवलोक या स्वर्गसुख प्राप्त करने की कामना होती है। अथवा कुछ तथाकथित अध्यात्मिक मनुष्यलोक में ही लोगों को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए दूसरे साधकों को अपने से हीन व निकृष्ट बता कर उनके प्रति लोकमानस में घृणा फैलाने का काम करते हैं। अथवा फूंक-फूंक कर कदम रख कर, मैले-कुचैले फटे-से कपड़े, गन्दगीभरा शरीर एवं पैरों में बिवाई फट जाने पर भी दवा न लगा कर अपने तथाकथित बाह्य त्याग और वैराग्य की छाप लोगों पर डाल कर आध्यात्मिक कहलाने का प्रयास करते हैं। अतः श्रीआनन्दघनजी ने 'अध्यात्म' के नाम से दुनिया में प्रचलित बातों में खरी-खोटी की कसौटी बता दी कि जो लोग अपने अन्तर में स्वस्वरूप के लक्ष्य को छोड़ कर सिर्फ स्वर्गादि लक्ष्य की दृष्टि से क्रिया करते हैं, उनकी वह क्रिया या प्रवृत्ति सच्चे माने में आध्यात्मिक नहीं कही जा सकती। स्वर्गप्राप्ति दुनियादार लोगों को आकर्षक लगती है, वे अध्यात्म का सस्ता नुस्खा खोजते फिरते हैं, इसलिए कई ढोंगी साधक उनको चक्कर में फँसा कर योगादि क्रियाएँ या अन्य उटपटांग क्रियाएँ बता कर अपना उल्लू सीधा कर लेते हैं, मगर उनकी वह क्रिया कतई आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक या अध्यात्म उसे ही कहा जा सकता है, जिसमें तमाम क्रियाएँ या प्रवृत्तियाँ स्वरूप के लक्ष्य से की जाती हों।

अन्य क्रियाएँ और स्वस्वरूपलक्ष्यी क्रिया

आध्यात्मिक जगत् में पाँच प्रकार की क्रियाएँ मानी जाती है—(१) विषक्रिया, (२) गरलक्रिया, (३) अननुष्ठानक्रिया, (४) तद्हेतुक्रिया, और अमृतक्रिया। इन पाँचों क्रियाओं में विष और गरलक्रिया में किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर मनुष्य निदान करता है; अथवा किसी को मारने

या नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से इसलिए बाहर से अध्यात्मलक्ष्यी दिखाई देने वाली क्रिया भी निदान-विष से दूषित होने के कारण अध्यात्म नहीं कही जा सकती। जो क्रिया करने योग्य है, उसे न करना अननुष्ठान क्रिया है, वह भी किसी अपेक्षा से त्याज्य है, किसी अपेक्षा से उपादेय है। तथा तद्हेतुक्रिया और अमृतक्रिया ये दोनों स्वरूपलक्ष्यी व आत्मगुणविकासलक्षी होने से सर्वथा उपादेय हैं; समादरणीय हैं, अध्यात्मरूप हैं। चाहे जैसी उटपटांग क्रिया को या अमुक ज्ञान की प्राप्ति को अध्यात्म नहीं कहा जा सकता।[1]

स्पष्ट शब्दों में कहें तो जिस क्रिया से आरम्भ, परिग्रह (अनात्मपदार्थ पर ममता) आदि कार्य-कारणभावयुक्त क्रिया से अथवा इन्द्रियों के शब्दादि विषय, क्रोधादि कषायभाव से युक्त क्रिया से साधक को नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि गतियों में से कोई भी गति मिले, तद्रूप क्रियात्मक साधना आध्यात्मिक नहीं समझी जाती। परन्तु निश्चयदृष्टि से निजस्वरूप और व्यवहारदृष्टि से अहिंसा, सत्य, जप-तप आदि-सहित मन-वचन-काया की निर्बन्ध क्रिया है, जो निज-पद को साधने में बहुत उपयोगी है। उसी क्रिया को आध्यात्मिक क्रिया मानी गई है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही क्रिया है। तथा अप्रमत्तभाव से विषयकषायादि से रहित या अनात्मपदार्थ पर ममता से दूर रह कर क्रिया की जाय, वह भी आध्यात्मक्रिया है।

अगली गाथा में अध्यात्म को चार निक्षेपों से समझा कर हेयोपादेय का विवेक बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

नाम अध्यातम, ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भावअध्यातम निजगुण साधे, तो तेहशुं रढ़ मंडो रे॥
श्रीश्रेयांस० ॥४॥

---

१. मालूम होता है श्रीआनन्दघनजी के युग में चैत्यवाद का बहुत जोर था, या भक्तिमार्गीय सम्प्रदायों में बाह्याडम्बर, चमत्कार एवं मंत्रादि का जोर था, इन सबकी ओट में अध्यात्म का नारा लगाया जाता था। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को अध्यात्म का सच्चा अर्थ करना पड़ा।

अर्थ

नाममात्र (कहने भर) का अध्यात्म, स्थापनाभर का अध्यात्म तथा अध्यात्म के ज्ञाता का मृत शरीर जहाँ छूटा है, वह स्थान-विशेष द्रव्य-अध्यात्म इन तीनों प्रकार के अध्यात्मों को छोड़ो, जिससे निज आत्मगुणों की साधना होती हो, ऐसा भाव-अध्यात्म हो तो उसमें जुट पड़ो, उसी की धुन में लग जाओ।

भाष्य

अध्यात्म : कौन-सा हेय, कौन-सा उपादेय ?

श्रीआनन्दघनजी ने इसमें और अगली गाथाओं में 'अध्यात्म का सांगोपांग विश्लेपण करके हेय और उपादेय का विवेक बताया है।

जहाँ अध्यात्मशब्द की या आत्मा-आत्मा की केवल रटन हो, उसका कोई अर्थ समझ में न आता हो, नाममात्र का अध्यात्म हो, यानी 'अध्यात्म' की भावना से रहित किसी जीव या पुद्गल का नाम 'अध्यात्म' रख दिया जाय तो ऐसे नाम-अध्यात्म से आत्मसिद्धि नहीं होती। अतः वह त्याज्य है। इसी प्रकार किसी कागज पर 'अध्यात्म' शब्द लिख दिया जाय या अध्यात्म शब्द का कोई कल्पित चित्र या मूर्ति बना कर अध्यात्म की स्थापना कर दी जाय, उसमें अध्यात्म का कोई गुण नहीं होता। ऐसा स्थापना-अध्यात्म भी त्याज्य है। अध्यात्म के नाम से जहाँ हठयोग की रेचकपूरक आदि क्रियाएँ करके अध्यात्म का प्रदर्शन किया जाता हो, आत्मा की अन्तर-वृत्ति जरा भी सुधरी न हो, वहाँ द्रव्य-अध्यात्म है, अथवा शुष्क आध्यात्मिक ग्रन्थ समझेबूझे बिना पढ़ने-बोलने वाला उपयोगशून्य वक्ता भी द्रव्य-अध्यात्म है, अथवा अध्यात्मज्ञाता के मृत शरीर को या जहाँ उसका शरीर छूटा है, उस स्थान को अध्यात्म कहना द्रव्य-अध्यात्म है। यह भी आत्मस्वरूप की साधना में उपयोगी न होने से त्याज्य है। नाम, स्थापना और द्रव्य, ये तीनों प्रकार के अध्यात्म जानने योग्य हैं, अपनाने योग्य नहीं, छोड़ने योग्य हैं। ये तीनों भाव-अध्यात्म में सहायक न हों तो त्याज्य हैं।

अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप यह है कि जो अपने आत्मगुणों को प्रगट करे, साधे, वही भाव-अध्यात्म है। 'आत्मानमधिकृत्य वर्त्तते इत्यध्यात्मम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा के स्वरूप को ले कर प्रवृत्त हो, वह अध्यात्म है। ऐसा भावअध्यात्म, जिससे निजगुणों की साधना हो, आत्मा

की सिद्धि हो, उसे साधा जा सके, उसे देखते ही उसे अपना कर उसमें तत्काल जुट पड़ो। अपनी आत्मा को उसमें जोड़ दो।

चूँकि पूर्वोक्त नामादि तीन प्रकार के अध्यात्म को अपनाने से कोई आत्मिक लाभ नहीं हो, सकता; संसार के जन्ममरण के चक्र से छूट कर निरंजन-निराकार स्थिति उनसे प्राप्त नहीं हो सकती। हमारा लक्ष्य मोक्षगमन या परमात्मपद-प्राप्ति है, जो भाव-अध्यात्म के अपनाने से ही पूरा हो सकता है। भाव-अध्यात्म स्वाध्याय, ध्यान, तप, संयम तथा ज्ञानोपयोगसहित क्रिया है, जो मोक्षमार्ग के कारणभूत हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी नाम, स्थापना और द्रव्य-अध्यात्म को छोड़ कर सिर्फ भाव-अध्यात्म में डुबकी लगाने पर जोर दे रहे है, वास्तव में भाव-अध्यात्म ही अन्दर-बाहर की स्थिति एक सरीखी रह कर अपने आत्मिकगुणों में प्रवृत्ति करा कर अपने आत्मगुणों को प्रगट कराता है। उन्हीं में रमण कराता है। इसीलिए भाव-अध्यात्म ही उपादेय है, उसी में जीवन की सफलता है।

परन्तु यहाँ एक बात की चेतावनी परिलक्षित होती है कि जो बाहर से भाव-अध्यात्म प्रतीत होता हो, लेकिन जो निजगुण नहीं साध सके, उसे भाव-अध्यात्म मत समझो और उस अध्यात्माभास के पीछे मत पड़ो।

भाव-अध्यात्म की भी, ऊँची-नीची कई श्रेणियाँ होती हैं। उच्च-उच्च श्रेणी पर पहुँचने के बाद नीचे-नीचे की श्रेणियाँ छोड़नी आवश्यक हैं। जहाँ तक उच्च श्रेणी पर नहीं पहुँचे, वहाँ तक जिस श्रेणी (भूमिका) पर आत्मा स्थित हो, उस श्रेणी की साधना दृढ़तापूर्वक करनी चाहिए, जिससे उच्च श्रेणी प्राप्त हो जाय।

भाव-अध्यात्म की यथार्थ शुरूआत तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही हो जाती है, परन्तु आत्मविकास का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए **'पंचाऽऽचारचरिया'** यानी पाँच आचारों के आचरण से इसकी शुरूआत मानी जाती है; जिसे एवंभूतनय से **अध्यात्म** माना जा सकता है। मैत्री आदि भावनाओं से जब मन वासित होने लगे, तब ऋजुसूत्रनय से **'अध्यात्म'** समझना चाहिए। अन्तिम

भाव आने के बाद से नैगमनय से अध्यात्म माना जा सकता है। अप्रमत्त भाव से ले कर १४वें अयोगीकेवली गुणस्थान तक तो परमनिश्चयनय का भाव-अध्यात्म कहा जा सकता है। उसी के उतार-चढ़ाव के ये अनेक भेद हैं।

अब अगली गाथा में शब्द और अर्थ की दृष्टि से अध्यात्म का विश्लेषण करते हैं—

शब्द-अध्यातम अर्थ सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे।
शब्द-अध्यातम भजना जाणी, हान-ग्रहण-मति धरजो रे ॥
श्रीश्रेयांस० ॥०॥

अर्थ

अध्यात्मशब्दमात्र जान कर उसका यथार्थ अर्थ सुनो और फिर समस्त विकल्प छोड़ कर भावार्थ का स्वीकार करो। शब्दमात्र-अध्यात्म में यथार्थता (सत्यता) हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। यों समझ कर जिसमें आत्मसिद्धि होने में शंका हो, किसी प्रकार का कल्याण न होता हो, वैसे नामादि अध्यात्म का त्याग करो और जिस भाव-अध्यात्म से अपने निजात्म-गुणों में रमणता होने से स्वरूपसिद्धि होती हो, वहाँ उसे ग्रहण करो।

भाष्य

निर्विकल्प शब्द-अध्यात्म ही उपादेय है

इस गाथा में पुनः निर्विकल्प भाव-अध्यात्म को अच्छी तरह ठोक-बजा कर अपनाने की बात कही है कि अध्यात्मशब्द को सुनते ही एकदम चौंक मत पड़ो। संभव है, तुम्हें लम्बे-चौड़े अध्यात्मशास्त्र के पोथों की अपेक्षा एक छोटे-से वाक्य में अध्यात्म का सार मिल जाय। परन्तु सुनने के बाद उस पर विचार करो, उसे जाँचो-परखो और उसमें से शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त विकल्पमात्र को दूर करके उसे निर्विकल्पक रूप में अपनाओ। यह जरूर देखो कि उस अध्यात्म के साथ कहीं आगे-पीछे कोई परपदार्थ का (स्वार्थ, अभिमान दम्भ, द्रोह, मोह, कामना आदि का) विकल्प तो नहीं लगा है? जब तुम वास्तविक अध्यात्म का अर्थ समझ कर उसे अपनाओगे तो तुम्हें सच्चा आनन्द आएगा, जिसकी तुलना में दुनिया की कोई भी वस्तु नहीं है। परन्तु अध्यात्म

शब्द के मोह में मत फँसना, क्योंकि मोह तो जगत् में फँसाने वाला है। अतः अध्यात्म शब्द को सुन कर उसकी जो कसौटियाँ पहले बताई गई हैं— **निजस्वरूप जे किरिया साधे तेह अध्यातम लहिये रे** आदि; उनके अनुसार तथा नाम, स्थापना और द्रव्य अध्यात्म का त्याग करके सिर्फ सच्चे माने में भाव-अध्यात्म तुम्हारी बुद्धि को जचे, उसे अपनाओ। सभी अध्यात्मशास्त्रों में उक्त शब्द-अध्यात्म में गुण भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। नयों की सहायता से जहाँ गुण न हो तो, वहाँ उसे छोड़ने की और जहाँ गुण हो, वहाँ ग्रहण करने की बुद्धि रखना। कोरे अध्यात्मशास्त्र के नाम से प्रभावित मत हो जाना।[1] अध्यात्मशब्द का प्रतिपादन करने वाले तथाकथित आध्यात्मिक में खुद में अध्यात्म है या नहीं ? यह देखना। अन्यथा अध्यात्म की कोरी व्याख्या से तुम झूम उठोगे, पर आध्यात्मिक के जीवन में पूर्वोक्त आध्यात्मिकता नहीं होगी, तो तुम्हें भी वह कैसे तार सकेगा, जब कि वह स्वयं तर नहीं सका है ?

अथवा इस गाथा का यह भी अर्थ हो सकता है कि आध्यात्मिक शास्त्र-रूपी शब्द-अध्यात्म में से उसका विस्तृत अर्थ सुन कर अन्त में निर्विकल्पदशा ही अपनाना। चूँकि भाव-अध्यात्म निर्विकल्पदशा प्राप्त करने के लिए ही है। शास्त्र तो अमुक हद तक ही सहायक हो सकते हैं। अन्त में तो निर्विकल्प दशा पर पहुँचना है, जहाँ पहुँच जाने पर उदासीनभाव प्राप्त होने से कुछ भी लेना (ग्रहण) या छोड़ना (हान) नहीं होता। अथवा इस गाथा का एक अर्थ यह भी है कि शब्दनय की अपेक्षा से अध्यात्म की भावनाओं—अलग-अलग कक्षाओं का भेद जान लेने के बाद त्याग या स्वीकार की बुद्धि नहीं रहती। विषयों के प्रति स्वतः ही तटस्थता—उदासीन हो जाती है। अध्यात्म-साधना किसलिए करनी चाहिए ? तथा उसका प्रयोजन और उच्च ध्येय क्या है ? यह बात श्रीआनन्दघनजी ने **'निर्विकल्प आदरजो रे'** कह कर सूचित की है।

---

१. उत्तराध्ययन सूत्र में स्पष्ट कहा है —

भणंता अकरंता य बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं॥

अध्यात्म का स्वरूप भलीभाँति समझाने के बाद अब अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष का लक्षण बताते हैं—

[1]अध्यातमी जे वस्तुविचारी, बीजा जाण[2] लबासी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतवासी रे ॥
श्री श्रेयांस० ॥६॥

अर्थ

जो अध्यात्म मार्ग में लीन हैं, वे वस्तुतत्त्व का विचार करने वाले होते हैं, बाकी के दूसरे लोग तो कोरे लबार हैं—अध्यात्म की बकवास करते हैं। वस्तु को जैसी है. उस रूप में जो (वस्तुतत्त्वरूप में) प्रकट करते हैं, यथार्थ, रूप से उस पर प्रकाश डालते हैं, वे ही आनन्द के समूह रूप आत्मा के (अध्यात्म) के मत में निवास करने (स्थिर रहने) वाले हैं।

आध्यात्मिक कौन और कैसे ?

श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति की अन्तिम गाथा में आध्यात्मिक की यथार्थ पहिचान बताते हैं और जो आध्यात्म के नाम से थोथी बकवास करते हैं, उन्हें लबार समझ कर उनका संग छोड़ने की बात सूचित करते हैं। वास्तव में अध्यात्म का विषय इतना गहन है, इतनी चिरकालीन साधना की अपेक्षा रखता है कि राह चलता व्यक्ति आत्मा की दो चार रटी-रटाई बातें कह देने मात्र से आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता है। आध्यात्मिक की सच्ची पहिचान यही है कि जो किसी वस्तु पर विभिन्न नयों, पहलुओं एवं दृष्टिबिन्दुओं से विचार करते हैं, उस पर भलीभाँति श्रद्धा रखते हैं, समझते हैं, अध्यात्म के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसते हैं, जो वस्तु गुणों में सही नहीं उतरती, उसे पकड़े रखने का मोह नहीं रखते, उसे तुरन्त छोड़ देते हैं, गुणों में सही उतरने वाली वस्तु को पकड़ते हैं, उसे ही यथार्थरूप में प्रकाशित (प्रगट) करते हैं। चाहिए।

---

१. किसी किसी प्रति में 'अध्यातमी' के बदले 'अध्यातम' शब्द है, वहाँ अर्थ होता है—'अध्यात्म में तो वस्तु का विचार ही होता है,
२. 'जाण' के बदले कहीं-कहीं 'बधा' शब्द है।

वे झूठी प्रतिष्ठा के मोह में पड़ कर झूठी वस्तु को पकड़े रखते। और न ही झूठी सिद्ध होने वाली वस्तु को पूर्वाग्रहवश सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। सच्चे आध्यात्मिक पुरुष वे ही हैं, जो किसी शर्म-लिहाज या मुलाहिजे में न आ कर, किसी से भयभीत न हो कर वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उसी रूप में सोलह आना प्रगट करते हैं। चाहे उनसे कोई एकान्त में पूछ लो, चाहे भेरी सभा में पूछ लो, वे सोये हों या जागते हों, वस्तु के सत्य-स्वरूप को प्रगट करने से कभी हिचकिचाएँगे नहीं, न उसे छिपाने का प्रयत्न करेंगे। सच्चे आध्यात्मिक के इस लक्षण के सिवाय वाकी के जो भी लोग अध्यात्म का ढोल पीटने वाले हैं, या अध्यात्म की रट लगा कर भोली जनता को उलटी-सीधी बात समझा कर आध्यात्मिक होने का दावा करते हैं या आध्यात्मिक के नाम से प्रसिद्ध हो जाते हैं, उन्हें, वाचाल समझना चाहिए।

किन्तु जो यथार्थरूप से वस्तुतत्व का प्रकाशन करते हैं, वे आनन्दमय आत्मा के मत (अध्यात्म) में स्थायी रूप से टिक जाते हैं। वे आध्यात्मिकता से पतित या स्खलित नहीं होते, सदा के लिए स्थिर हो जाते हैं।

सारांश

श्रीश्रेयांसनाथजिन (परमात्मा) की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को पूर्ण आध्यात्मिक और आत्मरामी, नामी, अन्तर्यामी व मोक्षगामी बता कर परमात्मपद-प्राप्ति के लिए उक्त आदर्श सूचित करके तत्पश्चात् आत्मरामी एवं अध्यात्म का लक्षण, अध्यात्म का विश्लेषण, और अन्त में सच्चे आध्यात्मिक की पहिचान बता कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में पूर्ण अध्यात्मदशा को प्राप्त करने के लिए सच्चा आध्यात्मिक बन कर आत्मोत्थान के शिखर तक क्रमशः पहुँचना आवश्यक है।

१२ : श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तुति—

विविध चेतनाओं की दृष्टि से परम आत्मा का ज्ञान

(तर्ज-तुंगियागिरि शिखर सोहे, राग-गोड़ी तथा परज)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवनस्वामी, घननामी [1]परनामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम-करमफल-गामी रे॥
वासु० १॥

अर्थ

श्री वासुपूज्य नामक बारहवें तीर्थंकर वीतराग परमात्मा हैं। ऊर्द्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक, इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। वे शुद्ध चैतन्य धातु-मय या अनेक नामवाले अथवा नित्य हैं; तथा आत्मगुणों के रागादिरूप शत्रुओं को नमाने वाले अथवा परिणामी (रूपान्तर होने वाले) भी हैं। वे प्रभु दर्शनो-पयोग के कारण निराकार भी हैं और ज्ञानोपयोग के कारण साकार भी हैं। एवं ज्ञानादिचतुष्टय से ज्ञानचेतनामय, कर्म और कर्म के फल के कामी हैं।

भाष्य

विविध दृष्टियों से परमात्मा में निहित गुण

पूर्वस्तुति में वीतरागपरमात्मा को अध्यात्म के चरमशिखर पर चढ़ने के लिए आदर्शरूप मान कर अध्यात्म की एवं आध्यात्मिक बनने की प्रेरणा है, किन्तु आध्यात्मिक बनने के लिए शुद्ध (परम) आत्मा में निहित विविध आत्म-गुणों का ज्ञान होना अनिवार्य है। ऐसा सोच कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति में परम (शुद्ध) आत्मा के गुणों का वर्णन विविध दृष्टियों से करते हैं।

चूंकि भारत के बहुत-से दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। बौद्ध-

---

१. कहीं कहीं 'परनामी' के बदले 'परिणामी' पाठ भी है।

दर्शन आत्मा को क्षणिकपरिणामी मानता है। कोई दर्शन आत्मा को रागादि-मय (प्रकृतिमय) मानते है और कोई दर्शन आत्मा को सदा-सर्वदा एकान्त ज्ञानमय मानता है, कोई कर्ममय और कोई कर्मफलचेतनामय मानता है। इन सब एकान्तवादी दार्शनिकों की एकान्त मान्यता का अस्वीकार करते हुए श्रीआनन्दघनजी अनेकान्तदृष्टि से सापेक्षरूप से शुद्ध आत्मा के विविध रूपों का वर्णन परमात्मा की स्तुति के बहाने करते हैं।

मतलब यह है कि साधारण भव्य आत्मा को अगर परमात्मा से मिलना हो तो उसे सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि 'मैं कौन हूँ? आत्मा कौन है? परमात्मा कौन व कैसे हैं? मैं नित्य, कूटस्थ (सदासर्वदा) नित्य हूँ या परिणामी (परिवर्तन-रूपान्तरशील) भी हूँ? मेरी आत्मा निराकार ही है या वह आकार भी धारण करती है? वह पंचभूतमय अचेतन ही है या शरीर के साथ रहते हुए सचेतन भी है? यदि आत्मा केवल ज्ञानचेतनामय है तो फिर शरीर के साथ उसका क्या लेना-देना है? और वह इस गति, योनि या देह में कैसे आ गई? *यदि कहें कि कर्मों के कारण आ गई; तब क्या आत्मा कर्मचेतनामय* भी है? यदि कर्मचेतनामय है तो रहे, किन्तु वह तो सभी संसारी जीवों के साथ समानरूप से है। फिर एक को कम दुःख, एक को अधिक, एक मन्द-बुद्धि, एक तीव्रबुद्धि, ऐसा संसार में क्यों दिखाई देता है? ऐसी विविधता है, तब तो कहना चाहिए कि आत्मा कर्मफलचेतनामय भी है। इन सब बातों का रहस्य श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की स्तुति के माध्यम से खोल कर रख दिया है। परमात्मा में निहित शुद्ध आत्मा के गुणों तथा आत्मा के विविध रूपों का ज्ञान हो जाना ही वास्तव में अध्यात्मज्ञान है। ऐसा अध्यात्मज्ञान हो जाने पर साधक को परमात्मा से मिलने में आसानी हो जाती है।

अतः इस गाथा में परमात्मा यानी शुद्ध आत्मा को त्रिभुवनस्वामी कहा गया है। आत्मा जब रागद्वेषादि विकारशत्रुओं को जीत कर शुद्धचैतन्य पर अपना आधिपत्य जमा लेती है; तो तीनों लोकों में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो उसे हटा सके, दबा सके; जीत सके। तीनों लोकों में वह आत्मा सबसे बढ़कर शक्तिमान व अनन्तवीर्यमय होने से वह तीनों भुवन से ऊपर उठ कर तीनों

भुवनों की स्वामी बन जाती है। ऐसी शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनी हुई आत्मा फिर कहीं जन्म-मरण नहीं करती, कोई कर्मबन्धन नहीं करती, परन्तु साथ ही वह ज्ञानादि में परिणमन करती है, इसलिए परिवर्तन=(परिणाम) शील भी है। वह एकान्त कूटस्थ नित्य नहीं है। संसारी आत्माएँ भी निश्चयदृष्टि से नित्य एवं अविनाशी होते हुए भी विविध गतियों में भ्रमण करने के कारण परिणमन-परिवर्तनशील हैं, अथवा शरीर धारण करने के साथ-साथ आत्मा के अनेक नाम-रूप हो जाते हैं। परमात्मा की एक आत्मा के भी जिन, वीतराग आदि या ऋषभ, अजित आदि, अथवा तीर्थंकर जगद्गुरु, केवलज्ञानी, विश्ववत्सल आदि अनेकों नाम-रूप हो जाते हैं। साथ ही पर यानी शत्रु—(आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के गुणों का घात करने वाले) कर्मों या रागद्वेषादि-विकारों—परभावों रूपी शत्रुओं को परमात्मा नमा देते हैं। वे उन्हें अपने पर हावी नहीं होने देते। न अपनी आत्मा को दबाने देते हैं; इस दृष्टि से वे परनामी हैं। इसी प्रकार संसारी आत्मा भी परनामी बन सकती है; बशर्ते कि वह रागद्वेषादिविकारों या आत्मगुणघातक कर्मों, (जो कि परभाव हैं, आत्मा के शत्रु हैं) से दूर रह कर स्वभाव में ही रमण करे।

परमात्मा की आत्मा जब शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध (मुक्त) हो जाती है, तब वह सर्वथा निराकार हो जाती है अथवा निश्चयदृष्टि से समस्त आत्माएँ अपने आप में अरूपी, अमूर्त होने से निराकार हैं, इसलिए परमात्मा भी निराकार हैं। परन्तु व्यवहारदृष्टि से शरीर के साथ संयोग होता है, अथवा वीतरागप्रभु की आत्मा भी जब तीर्थंकर-अवस्था में देह में स्थित (शरीरव्यापी) रहती है, तब उनकी आत्मा और संसारी आत्माएँ भी साकार सचेतन कहलाती हैं। अथवा परमात्मा में साकार (ज्ञान) उपयोग के कारण साकार ज्ञानचेतना और निराकार (दर्शन) उपयोग के कारण निराकार ज्ञानचेतना होती है। यही समस्त संसारी जीवों में भी होती है। अथवा वीतरागप्रभु (तीर्थंकररूप में) जब देशना (उपदेश) देते हैं, तब वे शरीरी होने से साकार होते हैं, और जब मोक्ष में चले जाते हैं, तब निराकार हो जाते हैं। इस दृष्टिबिन्दु से आत्मा के दो प्रकार हुए—जो वीतराग प्रभु में घटित होते हैं। प्रत्येक आत्मा को इन दो प्रकारों से समझना चाहिए। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के कारण उसे साकार और निराकार कहने में जरा भी विरोध नहीं है। क्योंकि व्यवहारदृष्टि से ये

सब भेद अवस्थाभेद के कारण से हैं। निश्चयदृष्टि से आत्मा के कोई भेद नहीं होता।

इसी तरह व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्म का कर्ता है, और भावकर्मफल का कामी (भोक्ता या अभिलाषी) है। प्रत्येक आत्मा जब तक इस संसार में रहता है, तब तक वह कर्म करता है। यदि वह शुभकर्म करता है, तो उसे शुभफल और अशुभकर्म करता है तो अशुभफल मिलता है। वीतराग परमात्मा भी जब तक साकार (सदेह) हैं, सयोगी केवली हैं, तब तक उनके भी योगों की चपलता के कारण कर्म होते हैं, चाहे वे शुभ ही हों, और उन कर्मों का फल भी अवश्यमेव भोगना पड़ता है, चाहे वे समयमात्र भी भोगें। किन्तु वीतराग-प्रभु जानते हैं कि जो मैंने किये हैं, उनका फल स्वयं मुझे ही अवश्यमेव भोगना है। कर्मफल भोगने के समय वे घबराते नहीं। वे कर्मफल भोग कर उनसे शीघ्र ही छुटकारा (मुक्ति) पा लेते हैं। अतः वे शुद्धोपयोगी रह कर कर्मफल भोगने के औपचारिक रूप से कामी कहे जाते हैं। अथवा उन्होंने केवलज्ञानप्राप्ति से पहले जो भी शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनके फलस्वरूप तीर्थंकर नामगोत्र आदि कर्मफल—उन्हें ही भोगने हैं; क्योंकि इस अकाट्य सिद्धान्त पर उनका भलीभाँति विश्वास होता है कि जो भी कर्म किये हैं, उनके फल भोगे बिना कोई चारा नहीं है। क्योंकि [1] कृतकर्मों का फलभोग अनिवार्य है। जब समस्त कर्मफल भोग लिये जायेंगे, तभी मुक्ति होगी। मुक्ति में गये बाद न तो कर्म करना होता है और न कर्मफल भोगना होता है। वहाँ तो कर्ममुक्त हो कर आत्मा निजगुणों में प्रवृत्त रहता है; यानी अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणों में रमण करता रहता है। वहाँ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो कर परमात्मा शुद्ध ज्ञानचेतना में लीन रहते हैं।

मतलब यह है कि जैनदर्शन में चेतना के तीन भेद माने गये हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। चेतना यद्यपि अपने आप में एक अखण्ड तत्त्व है, किन्तु विभिन्न दशाओं या अपेक्षाओं से उसके तीन रूप बन जाते हैं—ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। यद्यपि तीनों चेतनाओं के क्रम

---

१. कडाण कम्माण मोक्ख अत्थि।

में पहले कर्मरूप चेतना, फिर कर्मफलरूप चेतना, तदनन्तर ज्ञानरूप चेतना है; तथापि यहाँ पहले ज्ञानचेतना को प्रस्तुत किया है, तदनन्तर शेष दोनों चेतनाओं को। इन तीनों चेतनाओं के लक्षण क्रमशः आगे की गाथाओं में श्रीआनन्दघनजी स्वयं बतलायेंगे।

यहाँ उपर्युक्त तीनों चेतनाओं को परमात्मा में बताने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्म-रसिक साधक कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के समय सावधान रहे, समभावी हो कर चले और अप्रमत्त (जागृत) रहे; ताकि संसार से पराङ्मुख हो कर निराकार परमात्मा की तरह अन्तर्मुखी बन कर एकमात्र शुद्ध ज्ञानचेतना की अखण्डधारा की साधना करे। स्वयं में स्व का उपयोग करे, अपने अन्दर अपने स्वरूप का ज्ञान करे। इस प्रकार ज्ञानचेतना की अविच्छिन्न धारा विकसित होते-होते सिद्ध (परमात्म) दशा तक पहुँच जाय।

इसी दृष्टि से सर्वप्रथम ज्ञानचेतना के विषय में अगली गाथा में कहते हैं—

निराकार अभेदसंग्राहक, भेदग्राहक साकारो रे।
दर्शन-ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारो रे ॥वासु०॥२॥

अर्थ

परमात्मा में अभेदस्वरूप को ग्रहण करने वाला निराकार (दर्शन=निर्विशेषसामान्य) उपयोग है; तथा भेदयुक्त स्वरूप को ग्रहण करने वाला साकार (ज्ञान=विशेष) उपयोग भी है। वस्तु को ग्रहण करने में आत्मा के इन दोनों उपयोगों (व्यापारों) को ले कर इनके क्रमशः दर्शनचेतना और ज्ञानचेतना ये दो भेद हो जाते हैं। अर्थात् ये दोनों चेतनाएँ ही क्रमशः निराकार और साकार कहलाती हैं, जो परमात्मा में केवलदर्शन और केवलज्ञान के रूप में रहती हैं।

भाष्य

ज्ञानचेतना : स्वरूप और भेद

परमात्मा में जिस विशुद्ध ज्ञानचेतना का विकास हुआ है, वह दो प्रकार की है—एक सामान्यग्राही है, दूसरा विशेषग्राही है। जीव-अजीव आदि

समग्र पदार्थों को सामान्यरूप से या अभेदरूप से ग्राहक निराकार ज्ञानचेतना है, जिसे दर्शन कहते हैं और जीव-अजीव आदि समस्त पदार्थों को विशेषरूप से या भेदरूप से ग्राहक साकार ज्ञानचेतना है, जिसे ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार परमात्मा में निराकार उपयोग और साकार उपयोग की क्रिया (आत्मव्यापार) प्रतिक्षण होती रहती है। अर्थात्—आत्मा परमात्मा के स्वरूप को जानने की, जड़ (अजीव) से भिन्न चैतन्य (आत्मा) को पहिचानने की जो क्रिया होती है, वह इन दोनों प्रकारों के जरिये होती है।

प्रत्येक पदार्थ में सामान्य और विशेष दो प्रकार के धर्म होते हैं, तो प्रत्येक आत्मा में भी पदार्थ के पूर्वोक्त दो धर्मों (सामान्य-विशेष) को जानने की शक्ति होती है; जिसे ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना कहते हैं। आत्मा में अगर ज्ञानचेतना न होती तो वह यह कैसे जान सकती कि जीवन क्या है? जगत् क्या है? जगत् में कितने द्रव्य हैं? उनके क्या-क्या लक्षण हैं? जीव और अजीव में क्या अन्तर है? और इनका आपस में क्या सम्बन्ध है? आत्मा में ज्ञानचेतना (ज्ञानशक्ति) होने से ही वह यह सब जान सकती है।

ज्ञानचेतना के दो भेद तो इसलिए किये हैं कि आत्मा पदार्थों को जान तो अवश्य सकती है, मगर वह किसी भी पदार्थ को सहसा विशेषरूप से उसके असली स्वरूप को पहिचान नहीं सकती। वह क्रमशः ही जानती है। किसी चीज को देखते ही या स्पर्श आदि होते ही पहले क्षण में, सामान्यरूप से एक ऐसा आभास होता है कि 'यह कुछ है' उसके बाद दूसरे-तीसरे क्षणों में वह वस्तु किस प्रकार की है? कैसी है? क्या है? आदि विशेष प्रकार से जानती है। इसी क्रम को निराकार उपयोग (दर्शन) और साकार उपयोग (ज्ञान) कहा जाता है। सामान्य से विशेष तक पहुँचने का समय बहुत ही अल्प होता है।

यहाँ ज्ञानचेतना द्वारा शुद्ध आत्मा या परमात्मा के विषय में जानकारी करने हेतु स्व का उपयोग स्व में करना होता है। वस्तुतः इसी स्थिति का नाम ज्ञानचेतना है। ऐसी ज्ञानचेतना वीतरागभाव की या शुद्ध आत्मस्वरूप की एक पवित्रधारा है। ज्ञानचेतना में साधक अन्य विकल्पों को छोड़ कर संसार से पराङ्मुख हो कर यानी बहिर्मुखी न रह कर अन्तर्मुखी बन जाता

है। और परमात्मभाव=मुक्तिपद की ओर अग्रसर होता है। ज्ञानचेतना की साधना में स्वयं में स्व का उपयोग, स्व में स्वस्वरूप का भान करना होता है। यही सबसे बड़ी साधना है, यही सबसे बड़ा धर्म है। ज्ञानचेतना की अखण्डधारा सम्यग्दर्शन से बढ़ते-बढ़ते परमात्मदशा तक पहुँच जाती है। यद्यपि शुद्ध ज्ञानचेतना के साथ भी छद्मस्थ को बीच-बीच में शुभधारा अवश्य आती है। परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतना का अत्यधिक बल होने से वे विकल्प अधिक देर तक नहीं टिक पाते। मन के शुभ या अशुभ विकल्पों को तोड़ने का एकमात्र साधन शुद्ध ज्ञानचेतना ही है।

निश्चयदृष्टि में एकमात्र आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपना नहीं है और वह आत्मस्वरूप की अविच्छिन्न स्थिति ही ज्ञानचेतना है।

परन्तु ऐसी ज्ञानचेतना अधिक समय तक अविच्छिन्नरूप से सामान्य साधक में टिक नहीं पाती, बीच में शुभ का विकल्प आ जाता है, इसलिए आगे की गाथा में चेतना के द्वितीय प्रकार—कर्मचेतना के बारे में कहते हैं—

कर्ता परिणामी, परिणामो, कर्म ते जीवे करिए रे।
एक-अनेकरूप नयवादे, नियते नर अनुसरिए रे ॥वासु०॥३॥

अर्थ

परमात्मा शुद्धनय से निजस्वभाव का, तथा अशुद्धनय (पर्यायार्थिक नय) की मुख्यता की अपेक्षा से स्वपर्यायों, भावकर्मादि का उत्पादक और विनाशक है। वह स्वपर्यायों का उपादानकारण और परपर्यायों की उत्पत्ति और विनाश का भी कारण (कर्ता) समझा जाता है। ऐसी आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील (परिणामी) है। कर्म भी उसका एक परिणाम है। परन्तु वह कर्म तभी बन्धनकारक होता है, जब जीव के द्वारा किया जाता है; यानी जब चेतना के साथ उसका संयोग होता है। वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एकरूप है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकरूप है। यह सब नयवाद की दृष्टि से है। इसलिए हे मुमुक्षु साधक! अन्त में तो तुम्हें निश्चयनय से निर्णीत आत्मा का ही अनुसरण करना चाहिए।

भाष्य

आत्मा का एक रूप : कर्मचेतना

परमात्मा में निश्चयदृष्टि से तो ज्ञानचेतना ही होती है, लेकिन जब तक वे चार घातीकर्मों से युक्त होते हैं, तब तक उनमें कर्मचेतना भी होती है। वीतराग एवं सदेहमुक्त होने पर कर्मचेतना नहीं होती। समस्त संसारी जीवों के कर्मचेतना अवश्य होती है।

प्रश्न होता है कि चेतना तो आत्मा का गुण है और कर्म अपने आप में जड़ हैं। इन दोनों का मेल कैसे हो सकता है? जब ज़ड़-चेतन का मेल नहीं, तब इसे कर्मचेतना क्यों कहा गया?

इसका समाधान यह है कि निश्चयदृष्टि से सिद्धों की आत्मा में कर्मचेतना नहीं होती। व्यवहारदृष्टि से सांसारिक रागद्वेषयुक्त आत्माओं के साथ ही कर्मचेतना का सम्बन्ध है। कर्म को, केवल कर्म मत समझो। क्योंकि उसके साथ चेतना भी है। इसी कारण से बन्ध होता है। यदि कर्म के साथ चेतना न हो तो बन्ध नहीं हो सकता। जलती हुई अगरबत्ती के कारण सभी की नाक में भीनी-भीनी सुगन्ध पहुँची और उन्हें आनन्द आया। पंखा टूट कर नीचे गिर पड़ा, इससे एक आदमी का सिर फट गया; यहाँ अगरबत्ती या पंखा; इन दोनों में से किसी को भी कर्म का बन्धन नहीं होता। क्योंकि ये दोनों जड़ हैं। जड़ होते हुए भी उनमें कर्म (क्रिया) अवश्य सम्पन्न हुआ; मगर बन्धन नहीं हुआ। निष्कर्ष यह है कि जड़ पदार्थ में कर्म होते हुए भी उसमें चेतना न होने के कारण बन्ध नहीं होता। बन्ध वहीं होता है, जहाँ चेतना होती है। पंखे और अगरबत्ती में कर्म (क्रिया या चेष्टा) तो है, परन्तु चेतना नहीं है, इसलिए न तो पंखे को अशुभबन्ध हुआ और न अगरबत्ती को ही शुभबन्ध हुआ।

अतः कर्मचेतना का अर्थ यह है कि जहां चेतनापूर्वक कर्म किये जाँय, उसी से ही शुभ या अशुभ बन्ध होता है। चेतनापूर्वक कर्म चेतन में ही सम्भव है; इसलिए चेतन में ही बन्ध होता है, और चेतन में ही मोक्ष हो सकता है। चैतन्यशून्य पुद्गल में कर्म होते हुए भी बन्ध नहीं हो सकता। यही कर्मचेतना का रहस्य है।

परन्तु प्रश्न होता हैं कि कर्मचेतना आत्मा में होती किस कारण से है?

जब हमारे अन्तर में राग या द्वेष से किसी क्रिया की स्फुरणा होती है, तब भाववतीशक्ति से आत्मचेतना विविध विकल्प करती है। जैसे यह करूं या वह करूं ? वह करूं या न करूं ? क्या करूं, क्या न करूं ? इस प्रकार के विकल्पों की जो ध्वनि आत्मा में निरन्तर उठा करती है, वही कर्मचेतना का कारण है। ऐसी चेतना (विकल्पों की स्फुरणा) कहीं बाहर की नहीं, हमारे अंदर की है। वह अन्तर की चेतना ही कर्मचेतना है। भले ही बाहर में तदनुरूप कोई क्रिया न हो। अध्यात्मजगत् में मूल प्रश्न कर्म (क्रिया) का नहीं है, अपितु कर्मबन्ध का है; जो कर्मचेतना के कारण होता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कह दिया कि कर्ता (चेतन या अचेतन) परिणामी= परिणमनशील है। परन्तु उन्होंने साथ में यह भी बता दिया कि **'परिणामो कर्म जे जीवे करिए रे'**; कोई भी कर्म जो जीव के परिणामों (चेतना में उत्पन्न विधिनिषेध के विविध विकल्पों की लहरों) से किया जाता है, उसे ही कर्मचेतना कहते हैं। कर्मचेतना के समय चेतना के सागर में विकल्पों का तूफान उठता है। तब आत्मा स्वरूप में स्थिर नहीं रह पाती। जब आत्मा स्वस्वरूप में स्थिर नहीं रह पाती, तब कर्मबन्ध के चक्कर में उलझी रहती है। विकल्पों की लहरें ही कर्मबन्ध का मूल कारण बनती हैं। यद्यपि आत्मा अपने सहजस्वरूप से शान्तसरोवर के समान स्थिर है; किन्तु जब उसमें कर्तव्यसम्बन्धी विविध विकल्पों की ऊर्मियाँ उठने लगती हैं, तब वह अशान्त बन जाती है। इस विराट् विश्व में सर्वत्र लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओं का अक्षय भंडार भरा पड़ा है। जब चेतना में विविध विकल्पों का तूफान उठता है, तब ये ही कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करके आत्मा से बद्ध हो जाती है। अनन्त अतीतकाल में ये कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करती और आत्मा से बद्ध होती आई हैं; भविष्य में भी ये कर्म का रूप तब तक लेती रहेंगी, जब तक भावकर्म का सर्वथा क्षय न हो जाय। चूंकि कर्मपरमाणुओं के साथ आत्मप्रदेशों का संश्लेष (कर्म) बन्ध कहलाता है। यही कारण है कि जड़कर्मों के साथ चेतन की परलक्ष्यी विकल्प शक्ति रहती है। कोई भी कार्य बिना कारण के हो नहीं सकता, भले ही हमें कारण प्रत्यक्ष न दिखाई दे। लेकिन कार्य तो अवश्य ही दिखाई देता है। जड़-कर्मबन्धरूप कार्य के प्रति चेतना का रागद्वेषात्मक विकल्प ही निमित्त कारण

है। शास्त्र में जड़ कर्मों को द्रव्यकर्म और चेतनकर्मों को भावकर्म कहा है। अतः भावकर्म से द्रव्यकर्म का और द्रव्यकर्म से भावकर्म का बन्ध होता रहता है। यह निमित्तनैमित्तिक-सम्बन्धरूप भावकर्म ही वास्तव में कर्मचेतना है।

इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो कर्मचेतना के भी दो भेद हो जाते हैं—पुण्यकर्मचेतना, और पापकर्म-चेतना। किसी दुःखी व्यक्ति को देख कर उसके दुःख दूर करने की भावना से जो दान दिया जाता है या गुरुभक्ति, या सेवा की जाती है, वह पुण्यकर्म चेतना है। जब आत्मा में शुभकार्य करने का विकल्प उठता है, तब पुण्यकर्मचेतना होती है। वह चेतना जिसमें पुण्य की धारा शुभ दान में प्रवाहित होती रहती है, वह पुण्यकर्मचेतना है। इसमें शुभ-योग में स्थित आत्मा पुण्यकर्मबन्ध करती है। दूसरी कर्मचेतना पापकर्म-चेतना है। जो पुण्यकर्मचेतना से विपरीत है, इसमें पाप की धारा प्रवाहित होती रहती हैं। उस समय आत्मा अशुभयोग में स्थित हो कर पापप्रकृतियों का बन्ध करती है। किसी को कष्ट देने, दुःख देने का विचार काम, क्रोध आदि का अशुभ विकल्प पापकर्मचेतना है। किसी की वस्तु छीनना, किसी के साथ मारपीट करना, किसी को गाली देना आदि पापकर्मचेतना के उदाहरण हैं। मिथ्यादृष्टि आत्मा ही नहीं, सम्यग्दृष्टि आत्मा भी जब ऐसी अशुभयोग की क्रियाएँ करती है, तो उसे भी पापप्रकृतियों का बन्ध होता है।

आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से चैतन्यरूप लक्षण के कारण एक[1] है। साथ ही व्यवहारनय[2] की दृष्टि से जीवात्माएँ अनन्त हैं। किसी अपेक्षा से ज्ञानात्मा आदि आठ आत्माएँ भी हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—'एक-अनेक-रूप नयवादे।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के साथ रागद्वेषादि विकल्पों के कारण कार्माण-वर्गणाओं का संश्लेष-संयोगसम्बन्ध होता है। इस कारण वे कार्माण-वर्गणाएँ ही आत्मा के साथ चिपकने के समय कर्म कहलाती हैं। आत्मा कार्माणवर्गणा को कर्मरूप से करता है। वह करने वाला आत्मा का एक परिणाम है।

---

१. कहा भी है—'एगे आया'—ठाणांगसूत्र
२. 'अणंता जीवा'—भगवतीसूत्र

वह भी भावकर्म है; जो आत्मा के रागद्वेषादि परिणाम रूप हैं। वही वास्तव में कर्मचेतना हैं। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता कहलाता है। यद्यपि आत्मा चैतन्यरूप के कारण एक प्रतीत होती है, परन्तु कर्म के कारण उसके अनेक भेद हो जाते हैं। विविध गतियों और योनियों में आत्मा के परिणमन के कारण उसके अनेक रूप दिखाई देते हैं।

परमात्मा में कर्मचेतना व कर्मफलचेतना नहीं होती; क्योंकि वे घाती कर्मों एवं रागद्वेष से रहित होते हैं। वे शुद्ध ज्ञानचेतना या ज्ञानदर्शन-चारित्र-रूप मुक्तिमार्ग में स्थिर होते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी भव्यसाधकों से कहते हैं—'नियते नर! अनुसरिए रे' अर्थात्—साधकपुरुष! कर्मचेतना का स्वरूप समझ कर तथा आत्मा के विविध रूप देख कर विकल्पों के जाल (भले ही वे शुभ हों) में लुभा मत जाना। तू एकमात्र ध्रुव, शाश्वत आत्म-तत्त्व में या आत्मस्वरूप में स्थिर हो कर उसका अनुसरण करना।

चूँकि द्रव्यार्थिक—निश्चयनय के अनुसार आत्मा स्वभावपरिणति से निजस्वरूप की अथवा स्वगुणों की ही क्रिया का कर्ता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है—स्वज्ञान से आत्मा स्वपरपदार्थ को जानती है, दर्शन से श्रद्धा करती है, चारित्र से कर्मपरमाणु रोकने की क्रिया (संवर) करती है और आत्मानन्द-परमानन्द स्वभाव को भोगती है, उसमें रमण करती है।[1]

अब अगली गाथा में कर्मफलचेतना के सम्बन्ध में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं।

सुखदुःखरूप कर्मफल जाणो, निश्चै एक आनन्दो रे।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे॥
वासुपूज्य० ॥४॥

अर्थ

कर्म के फल सुखरूप भी हैं, और दुःखरूप भी हैं, इसे भलीभांति समझ

१. कहा है—"नाणेण जाणइ भावे; दंसणेण च सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई॥"

लो। निश्चयदृष्टि से एकमात्र आत्मानन्द (स्वरूपरमणता का आनन्द) ही आत्मा का फलभोग है। श्रीजिनेश्वरों (वीतरागों) में चन्द्र के समान तीर्थंकरदेव कहते हैं चेतन की चेतनता ही उसके परिणाम हैं, जिन्हें वह कदापि नहीं छोड़ सकता।

भाष्य

कर्मफलचेतना : स्वरूप और कारण

जब आत्मा कर्मफलचेतनारूप होता है तो रागद्वेषजनित कर्मबन्ध का शुभाशुभ फल भी उसे मिलता है। प्राणी को जब दुःख का अनुभव हो, तो उसे भी कर्मफल जानना चाहिए, और सुख का अनुभव हो, तब भी उसे कर्मफल समझना चाहिए। आत्मा के अनुकूल (मनोज्ञ) वेदन (अनुभव) होना सुख कहलाता है और आत्मा के प्रतिकूल अमनोज्ञ वेदन होता है—दुःख। जब कोई रोगी, कंगाल या कष्टपीड़ित होता है तो सहसा दुःख का अनुभव करता है और जब जीव स्वस्थ, धनिक, वैभवविलास से युक्त या आज्ञापालक परिवार से युक्त हो कर मनोज्ञ वस्तुओं को पा जाता है तो सुख का अनुभव करता है। परन्तु वे सुख-दुःखरूप फल आते हैं—पूर्वकर्मों के फलस्वरूप ही। फिर चाहे वे शुभ हों या अशुभ, कर्म का फल अवश्य मिलता है। कर्म जब अपना फल देने लगता है, तब उसके साथ अपनी चेतना को-अपनी चेतना की परिणति को जोड़ देना कर्मफलचेतना है। यानी जिसमें जीव अपने शुभ एवं अशुभ कर्म के फल का अनुभव करते समय शुभ फल को पा कर प्रसन्न हो उठता है और अशुभ फल को पा कर खिन्न हो उठता है। उसकी दृष्टि प्रायः पुण्य, पाप और उसके फल में ही उलझी रहती है। कर्मफलचेतना में जीव को अपने स्वरूप का भान नहीं हो पाता। वह कर्मों के भार से इतना दबा रहता है कि कर्म और कर्मफल के अतिरिक्त अविनाशी शुद्ध आत्मतत्त्व पर उसकी दृष्टि नहीं पहुँच पाती। यह सुख भोग लूं, वह सुख भोग लूं; यह दुःख न भोगूं, वह दुःख भोगना न पड़े, इस प्रकार भोगने, न भोगने के विकल्पों में उलझे रहना ही कर्मफलचेतना है। कर्मफलचेतनायुक्त जीव अपने आध्यात्मिक आनन्द को, अपने आंतरिक आत्मस्वरूपरमणजन्य शाश्वत अनन्त सुख को भूल जाता है। वह इन्द्रियजन्य भोगों में सुख मान कर इतना आसक्त हो जाता है कि उसे कर्मफल के अतिरिक्त किसी वस्तु का—अपनी आत्मिक

स्वरूपनिधि या स्वगुणनिधि का भान ही नहीं रहता कि वह जिस आनन्द या सुख की खोज में है, वह शाश्वत सुख या आनन्द कहीं भौतिक पदार्थों या इन्द्रियों के विषयों में नहीं, बल्कि अन्तरात्मा में ही है। किन्तु वह बहिर्मुखी होने के कारण सुख और आनन्द की खोज बाहर में ही करता है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—निश्चै एक आनन्दो रे।

कर्मों के शुभ या अशुभ फल जैसे अज्ञानी को भोगने पड़ते हैं, वैसे ज्ञानी को भी भोगने पड़ते हैं। लेकिन ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा दुःखरूप कर्मफल से बेचैनी नहीं मानता। और दुःखरूपफल भोगते समय उसकी दृष्टि मुख्यतया घृणायुक्त या द्वेषात्मक नहीं होती। इसी तरह सुखरूप कर्मफल हो तो भी वह हर्षित या आसक्त नहीं होता। वह दोनों स्थितियों को भोगते समय समभाव में रहता है।

निष्कर्ष यह है कि वीतराग पुरुष या सम्यग्दृष्टि आत्मा भी पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों के कारण कर्मफलचेतना से युक्त होते हैं; लेकिन जहाँ साधारण (अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि) आत्मा दुःखरूप कर्मफल भोगते समय हायतोबा मचाता है, दूसरों (निमित्तों या मनःकल्पित निमित्तों) को कोसता है, अपने उपादान (आत्मा) को नहीं देखता; तथा इस जन्म या पूर्वजन्मों में स्वयं द्वारा कृत किन्हीं अशुभ कर्मों के ही ये फल हैं, इस बात को नहीं मानता। वह अन्तर्मुखी हो कर आत्मस्वरूप का चिन्तन नहीं करता।

अतः यह निश्चित समझो कि शुभाशुभकर्म का सुख-दुःखरूप फल निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह चैतन्य से भिन्न है। सुख और दुःख ये पुद्गलपर्याय की अवस्थाएँ हैं। मन-वचन-काया की योगजन्य क्रिया कर्म का फल है। कर्म या कर्मफल के साथ आत्मा का सम्बन्ध नहीं। बल्कि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्रमय या अनन्त-आनन्दमय है और उसी निजस्वरूपानन्द में मस्त रहती है। आत्मा की निर्गुण क्रिया से तो निश्चय एक आनन्द ही है; जो अनिर्वचनीय, अनन्त तथा अनुभवगम्य है। साधक को आत्मा की निश्चयनय की इस आनन्दमय दशा को ध्यान में रखनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि त्रिकाल एकस्वभावी (क्षायिकभावी) आत्मा, चेतन को या चेतनता में परिणमन को कभी भूलती नहीं। जिसने जैसे कर्म बांधे होंगे, उसकी आत्मा तद्रूप हो जायगी; इसमें

वह जरा भी नहीं चूकती ; चाहे वह अनिष्ट दुःख के परमाणुओं से घिरी हो चाहे जैसी विचित्र परिणमनदशा हो, चाहे केवल आत्मानन्द का ही अनुभ करती हो। सभी अवस्थाओं में, सर्वकाल में एवं सर्वक्षेत्र में आत्मा अप चैतन्य को कभी छोड़ नहीं सकती। वास्तव में चेतन तीनों काल में चेतन रहता है। उसे जो सुखदुःखादि होते हैं, वे तो सिर्फ कर्म के परिणाम हैं आत्मा के ८ रुचकप्रदेश तो हमेशा खुले रहते हैं। उन पर कर्मों का को असर नहीं होता। अतः निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्म का कर्त्ता नह है। पर उसे जो सुख-दुःख भोगने पड़ते हैं, वे कर्म के फल हैं। यह बा वीतराग परमात्मा (जिनचन्द्र) कहते हैं। यह कह कर श्रीआनन्दघनजी अपन नम्रता प्रदर्शित करते हैं और कहते हैं कि यह बात मैं अपने मन से कल्पि नहीं कह रहा हूँ ; श्री वीतरागश्रेष्ठ परमात्मा इसे कहते हैं।

यहाँ निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से आत्मा के विविधरूप का प्रतिपादन किया है। अब आत्मा की उपर्युक्त तीन चेतनाओं का लक्षण संक्षेप में बताते हैं।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान-करम-फल भावी रे।
ज्ञानकर्मफल-चेतन कहीए, ले जो तेह मनावो रे ॥वासु० ५॥

अर्थ

चेतन (आत्मा) विविध अवस्थाओं में अपनी चेतना परिणमन करता है। इसलिए आत्मा अपने आप में परिणामी है। इसी कारण वह ज्ञानरूप में, कर्मरूप में या भविष्यकालिक कर्मफलरूप में परिणत होती हैं। इसी को क्रमशः ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कहते हैं। इन तीनों चेतनाओं को तुम मनाना, दूसरों को मनाना, अथवा तुम्हारी खुद को आत्मा को, वीतराग परमात्मा की तरह ठीक उपयोग करने हेतु मना लेना।

भाष्य

चेतना की त्रिधारा और इसका सदुपयोग

वीतराग परमात्मा चैतन्यरूप हैं। चैतन्य में सर्वत्र सामान्यरूप से असंख्य आत्मप्रदेश व्याप्त हैं। आत्मा परिणामस्वरूप है। वह जब जिस रूप में परि-

ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। जब आत्मा का शुद्ध परिणमन, अर्थात् अपने ज्ञानादि गुणों में परिणमन होता है, तब वह ज्ञानचेतना कहलाती है, जो कि शुद्ध और भूतार्थ है। जब आत्मा कर्म के रूप में परिणमन करती है, तब वह कर्मचेतना कहलाती है और जब वह कर्मफल के रूप में परिणत होती है, तब कर्मफलचेतना कहलाती है। ये दोनों चेतनाएँ 'पर' के निमित्त में होती हैं। इनमें आत्मा रागादिपरिणाम (भाव) वाली हो जाती है। इसलिए ये दोनों चेतनाएँ अभूतार्थ अशुद्ध और अज्ञानचेतना हैं। स्व-स्वरूप के ज्ञान के सिवाय अन्य में 'यह मैं करता हूँ'; इस प्रकार कर्म के कर्तृत्व में आत्मा का लीन होना कर्मचेतना है। इसी तरह स्वात्मज्ञान के सिवाय अन्य में 'मैं इसे भोगता हूँ'; इस प्रकार कर्म के भोक्तृत्व में आत्मा को तद्रूप बना लेना कर्मफलचेतना है। मगर ज्ञानचेतना की तरह कर्मचेतना और कर्मफलचेतना में भी चेतन का ही परिणमन है। यह बात अपने आपको और दूसरों को अवश्य समझा लो। यही बात विभिन्न अध्यात्मग्रन्थों[1] में बताई है।

---

१. ज्ञानाख्या चेतना बोधः, कर्माख्या द्विष्टरक्तता।
जन्तोः कर्मफलाख्या सा, वेदना व्यपदिश्यते॥ —अध्यात्मसार

बोध ज्ञानचेतना है, रागद्वेष कर्मचेतना है, प्राणी के कर्मों के अनुसार फल कर्मफलचेतना है; जिसे वेदना भी कहा जाता है।

'परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पणत्तं' —प्रवचनसार

जो द्रव्य जिस काल में जिस भाव में परिणत होता है, उस काल में वह द्रव्य तद्रूप हो जाता है।

अप्पा परिणामप्पा, परिणामो णाण-कम्म-फल-भावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥
परिणमदि चेयणाए आदा पुण चेतणा तिधाऽभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥
णाणं, अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥१२४॥ —प्रवचनसार

अर्थ—आत्मा परिणामस्वरूप है परिणाम ज्ञानरूप में, कर्मरूप में और कर्मफलरूप में होने वाले त्रिविध हैं। इसलिए आत्मा को ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप मानना चाहिए। आत्मा स्वचेतना के द्वारा परिणमन करती है। चेतना तीन प्रकार की मानी गई हैं--क्रमशः वह है—ज्ञानविषयक, कर्मविषयक और कर्मफलविषयक।

समस्त विकल्प (वस्तुग्रहण व्यापार) ज्ञान हैं, जीव के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य कर्म हैं, जो आठ प्रकार के होते हैं। सुख और दुःखरूप कर्मफल हैं। जिसे अनेक प्रकार का कहा है।"

श्री आनन्दघनजी का कहने का आशय यह है कि तुम मानो या न मानो, चेतन का अवश्य ही परिणमन होगा ; और जब तक जीव संसारी है, तब तक शुभ या अशुभ कर्मबन्धन भी होगा ही ; तथा जिसने जैसे कर्म किये होंगे, उसे तदनुसार फल भी मिलेगा, जो उसे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। इसमें राईरत्तीभर भी फर्क पड़ने वाला नहीं। इसलिए अपनी आत्मा को भलीभाँति समझा लो। अन्य लोगों को भी यह बात भलीभाँति हृदयंगम करा दो।

चेतन और अचेतन में यही अन्तर है कि चेतन आत्मा का निजी सहभावी गुण है, पुद्गल या जड़ को या किसी भी जड़द्रव्य को यह विज्ञान नहीं मिलता। कर्म के साथ चेतना जुड़ती है, उस समय जैसे अध्यवसाय या परिणाम होते हैं, तदनुसार कर्मबन्ध होता है। चेतन के सम्बन्ध में कोई प्रिय या अप्रिय घटना हो तो समझ लेना चाहिए कि अवश्य ही यह मेरे किसी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म का फल है। कर्म करते समय तथा कर्मफल भोगते समय तीर्थंकर परमात्मा की तरह राग-द्वेष, आसक्ति, घृणा, द्रोह-मोह आदि भाव नहीं रखने चाहिए ; यही इसका फलितार्थ है।

आत्मा के सम्बन्ध में वास्तविक ज्ञान और उससे प्राप्त होने वाले अनिर्वचनीय आनन्द के सम्बन्ध में श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतसंगी रे ॥
वासु० ॥६॥

अर्थ

आत्मा के सम्बन्ध में विविध पहलुओं और दृष्टियों से ज्ञान प्राप्त करने वाला श्रमण कहलाता है। इसके अतिरिक्त और सब केवल मुनिवेषधारी द्रव्यलिंगी हैं। जो वस्तु जिस रूप में हो, उसे उसी रूप में जानें, समझें और प्रगट करें (कहें) वे ही आनन्दघन (सच्चिदानन्द परमात्मा) के, शुद्ध आत्म-स्वरूप के अथवा जहाँ आनन्दसमूह है, उस मोक्ष के ज्ञान (मत) के सत्संगी (वादी या प्राप्त करने वाले) हैं।

भाष्य

अध्यात्मज्ञानरसिक ही श्रमण हैं

पूर्वोक्त मतानुसार जो अध्यात्मज्ञानी, (विविध पहलुओं से आत्मा के ज्ञाता) ; जो आत्मविज्ञान के रसिक हैं। जो अपने जीवन में प्रत्येक प्रवृत्ति या ग्या आत्मा को, या आत्मस्वरूप को लक्ष्य में रख कर करते हैं। इसके तिरिक्त जो पेट भरने के लिए अध्यात्मज्ञान वघारते हैं, जो अध्यात्मज्ञान वहाने शब्दजाल रचते हैं या आत्मज्ञान की ओट में स्वार्थमय व्यापार या गृहाओं का जाल बिछाते हैं, वे श्रमण के वेष में नकली श्रमण हैं, वेषधारी हैं। नकली अध्यात्मज्ञानी हैं; भावपूर्वक अध्यात्मज्ञानी नहीं हैं। ऐसे लोग साधु, ंन्यासी, श्रमण या मुनि का वेष पहिन कर आत्मज्ञान में पुरुषार्थ करना छोड़ कर सिर्फ खानपान, ऐश-आराम, शारीरिक सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा आदि की लिप्सा में पड़ जाते हैं। वे खाना, पीना और मौज उड़ाना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं। देखिये, मुनि का लक्षण ज्ञानसार में बताया है—

> मन्यते यो जगत्तत्वं स मुनिः परिकीर्तितः ।
> सम्यक्त्वमेव तन्मौनं, मौनं सम्यक्त्वमेव च ॥

जो जगत् के तत्त्वों पर भलीभाँति मनन करता है, वही मुनि कहलाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में अनुगत जो[1] सम्यक्त्व (सत्यता) है, वही मौन = मुनित्व है और जो मुनित्व है, वही इस प्रकार का सम्यक्त्व है। जिसमें आत्मा का सम्यक् ज्ञान है, उसमें ही मुनित्व समझो; जिसमें मुनित्व है, उसमें ही सम्यग्ज्ञान समझो, जो आत्मज्ञान में मस्त हो, जो जड़-चेतन का भेद, आत्मा का स्वरूप, गुणों और शक्तियों का रहस्य भलीभाँति जानता हो, वही सच्चा साधु है। जिसकी दृष्टि में राजा और रंक का, गरीब-अमीर का कोई भेद न हो; समस्त प्राणियों में निहित आत्मगुण या शुद्ध आत्मत्व (चैतन्य) दृष्टि से जो देखता हो; वही मुनि है, वही श्रमण है, समन है। ऐसी आत्मदृष्टि होने पर उसकी दृष्टि में जड़ या पर पदार्थों का

---

१. 'जं सम्मंति पासह, तं मोणंति पासह,
जं मोणंति पासह, तं सम्मंति पासह ॥'

—आचारांगसूत्र

इतना मूल्य नहीं होता। दशवैकालिक सूत्र में भी इसी बात को अभिव्यक्त किया गया है—"जो[1] आत्मज्ञान-दर्शन से सम्पन्न है, संयम और तप में रत है, जो इस प्रकार के गुणों से समायुक्त हो, उसे संयमी को ही साधु कहो।" ऐसा आत्मज्ञानी नि.स्पृह श्रमण, जो बात जैसी होगी; जैसा उसका स्वरूप होगा; जैसी देखी-सुनी-सोची-समझी या अनुमान की हुई होगी, उसी रूप में लोगों के सामने प्रगट करेगा। वह झूठे मुलाहिजे, लागलपेट, चापलूसी या अपनों के पक्षपात से दूर होगा। ऐसा मुनि ही आनन्दघनमत यानी मोक्षमार्ग का साथी या सत्संगी है सच्चिदानन्दघन परमात्मा के मत का संगी-साथी है।

श्रीआनन्दघनजी निःस्पृह साधु थे। उन्होंने अपना कोई मत, पंथ या सम्प्रदाय नहीं चला या इसलिए 'मत' का अर्थ यहाँ सिर्फ 'विचार' समझना चाहिए, सम्प्रदाय या परम्परा नहीं। वे योगी एवं भौतिक प्रलोभनों से दूर, सच्चे मस्त संत थे। उन्होंने आत्मज्ञान को पचा व रमा लिया था। क्योंकि अनुभवयुक्त आत्मज्ञान से ही कोई मुनि हो सकता है; केवल अध्यात्म के ग्रन्थों की पारिभाषिक शब्दावली रट लेने से नहीं, अपितु समताभाव को जीवन में रमा लेने से ही कोई श्रमण हो सकता है। ऐसा आत्मज्ञानी साधक ही वस्तु का यथार्थरूप में कथन करता है। वह आत्मज्ञान की उपलब्धि करने, दूसरों को समझाने, आत्मज्ञान को जीवन में रमाने में और अन्त में, आत्मज्ञान का वास्तविक प्रतिपादन करने में जरा भी नहीं हिचकिचाता।

प्रवचनसार और ज्ञानसार में श्रमणत्व[2] का लक्षण बताया है कि जो दर्शन,

---

१. "नाण-दंसण-संपन्नं, संजये य तवे रयं।
एयं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे॥" —दश. अ. ७

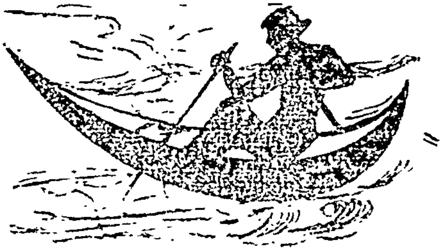
२. दंसण-णाण-चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठियो जो दु।
एग्गगगतोत्ति मतं, सामण्णं तस्स पडिपुण्णं॥
—प्रवचनसार

आत्मानमात्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
ज्ञेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याऽऽचारैकता मुनेः॥
—ज्ञानसार

ज्ञान और चारित्र तीनों में एक साथ एकाग्र व समुद्यत रहता है, उसका श्रमणत्व परिपूर्ण माना गया है।' निश्चयदृष्टि से माना गया है कि जो आत्मा के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे ही मुनि समझो। उसी मुनि के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय में यानी श्रद्धा, बोध और आचरण (आचार) में एकरूपता समझनी चाहिए।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्वरूप का भलीभांति गुणचित्रण करके साधकभक्त को ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना रूप चेतनात्रय को आत्मा का अंग बता कर आत्मा की शुद्ध ज्ञानचेतना पर चलना तथा कर्म एवं कर्मफलचेतना की केवल जानकारी प्राप्त करना अभीष्ट बताया है। अन्त में, आत्मज्ञानी की महत्ता बता कर साधक के जीवन में वस्तुतत्व के यथार्थ प्रकाश (प्ररूपण) और परमात्मा की प्राप्ति को ही सारभूत तत्त्व बतलाया है।



१३ : श्रीविमलनाथ जिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा का साक्षात्कार

(तर्ज-ईडर आंबा आंबली रे, ईडर दाड़िम द्राक्ष, राग-मल्हार)

दुःखदोहग दूरे टल्यां रे, सुखसंपदशुं भेट ;
धींगधणी माथे कियो रे, कुण गंजे नर-खेट ? ।
विमलजिन, दीठां लोयण आज, मारा सीध्यां वांछित काज ॥
विमलजिन०

अर्थ

तेरहवें तीर्थंकर श्रीविमलनाथ वीतराग परमात्मा को आज मैंने नेत्रों [से] देखा ; इससे मेरे भूतकाल के सभी दुःखोत्पादक कर्म, वर्तमानकाल में उ[त्पन्न] दुःखों का अनुभव तथा भविष्यकाल की आफतों से भरा दुर्भाग्य, ये सब मि[ट] गये, सुख-सम्पदा के साथ भेंट हुई । आज मैंने अपने सिर पर जबर्दस्त स्वाम[ी] को धारण किया है, इसलिए कौन दुष्ट (खल) जन मुझे जीत सकता है [?] फिर कौन तुच्छ मनुष्य के अधीन हो सकता है ? अथवा आत्मगुणों का शिका[र] करने वाला कौन मिथ्यावादी मनुष्य मुझे हरा सकता है ? इन आत्मिक चक्षु[ओं] से रागद्वेषविजेता प्रभु को देखने [सम्यग्दृष्टि] से मेरे समस्त मनोवांछि[त] [सम्यग्दर्शनादि] कार्य सिद्ध हो गए ।

भाष्य

परमात्मा का साक्षात्कार क्यों, क्या और कैसे

श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वस्तुति में तीन प्रकार की चेतना का वर्णन करके अन्त में ज्ञानचेतना पर ही स्थिर रहने पर जोर दिया था, परन्तु जो व्यक्ति कर्म और कर्मफल के साथ अपनी चेतना को लगा देता है, वह ज्ञानचेतना में स्थिर नहीं रह सकता । ज्ञानचेतना में स्थिर रहने का प्रयोजन यही है कि वह धी[रे-] धीरे क्रमशः आगे बढ़ कर परमात्मसाक्षात्कार तक पहुँचे । अन्तिम ध्येय तक पहुँचना ही ज्ञानचेतना में दृढ़तापूर्वक टिके रहने का प्रयोजन है । पर

मात्मतत्व का साक्षात्कार करने पर आत्मा स्वयंमेव परमात्मा बन जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मतत्व यानी शुद्ध आत्मा के दर्शन करके स्वयं को कृतकार्य मानते हैं।

चूँकि परमात्मा वर्तमान में अपने आप में निरंजन निराकार हैं, और अब वे तीर्थंकर-अवस्था में भी प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं हैं, इसलिए उनके दर्शन या साक्षात्कार इन चर्मचक्षुओं से तो होने असम्भव हैं, तब फिर श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति में कैसे कह दिया—विमलजिन दीठां लोयण आज ? इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे तीर्थंकर (श्री अजितनाथ) की स्तुति में बताया था कि 'नयण ते दिव्य विचार' अर्थात्-जिन नेत्रों से जिन भगवान् (परमात्मा) के दर्शन हो सकते हैं, वे तो दिव्यविचाररूपी नेत्र हैं। यहाँ भी लोचनों से भगवान् को देखने से तात्पर्य है—दिव्यविचाररूपी नेत्रों से परमात्मा को देखना। परमात्मा को देखने या साक्षात्कार करने से यहाँ मतलब है—शुद्ध आत्मत्व (परमात्व) का विचार करना, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन-मनन करके उनके तत्त्व का अपने आत्मदेव में विचार करना। यही परमात्मसाक्षात्कार या प्रभुदर्शन अथवा आत्मत्व की प्रतीति से तात्पर्य है। यह हुआ निश्चयदृष्टि से अर्थ।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु को नयनों से देखने का अर्थ है—प्रभु वीतराग की साकार छवि की अन्तर्मन में कल्पना करके उनके विमल (कर्मफलरहित) एवं रागद्वेषविजेता रूप को नीहारना, अपने हृदय में परमात्मा की शुद्धात्मगुणों से युक्त छवि को देखना, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यनयनों से परमात्मा को हृदय सिंहासन पर विराजमान करके उनके प्रत्येक गुण पर गहराई से चिन्तन करना, उनको अपने नाथ या स्वामी मान कर उनके चरणों में सर्वस्व अर्पणतापूर्वक भक्तिभावना से अपना सिर झुकाना; और उनके गुणों का प्रफुल्लमन से गान करना। यही दिव्यनेत्रों से परमात्म-साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार (प्रभुदर्शन या शुद्धात्मदर्शन) है।

परमात्मसाक्षात्कार के बाद दुःखदौर्भाग्यनाश कैसे ?

अब तक आत्मा ने चारों गतियों और विविध योनियों में दुःख ही दुःख पाया; क्योंकि पूर्वोक्त दिव्यनेत्र नहीं मिले थे, जिनसे परमात्मा के दर्शन कर पाता। देवगति में दूसरे देवों का उत्कर्ष देख कर ईर्ष्या होती है, च्यवन (अन्त)-

काल नजदीक आता है, तब देव इष्ट-वियोग के दुःख से पीड़ित हो कर विलाप और शोक करते हैं। मनुष्यगति में वैरविरोध, निन्दा, भय, ईष्टवियोग और अनिष्टयोग से दुःख ही दुःख होता है। तिर्यचगति में विवश और पराधीन हो कर पशु-पक्षी आदि को चुपचाप खूब दुःख सहने पड़ते हैं और नरकगति के दुःख का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वहाँ पारस्परिक दुःख के सिवाय क्षेत्रकृत दुःख का भी कोई पार नहीं है। इस प्रकार चारों गतियों और विविध योनियों में अज्ञान, मोह, और मिथ्यात्व के कारण दुःख ही दुःख सहे। भूतकाल में भी दुःख सहे, वर्तमान में भी अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य आध्यात्मिक दुःख—विषयकषायजन्य जन्ममरणात्मक, मानसिक दुःख-ईष्ट-पदार्थ की अप्राप्ति और उसके वियोग तथा प्रतिकूल अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति या संयोग से होने वाले मनःकल्पित दुःख ; एवं शारीरिक दुःख—भूख, प्यास ज्वर, कंठमाल आदि रोग, शस्त्र आदि के घाव से होने वाली पीड़ा; यों त्रिविध दुःख सहता है। दुर्भाग्य, कमनसीबी, फूटे भाग्य या पुण्यहीनता अशुभ-नामकर्म का फल है। जिसके भाग्य बुरे होते हैं, उसे भविष्य में अनेक दुःखों और संकटों का सामना करना पड़ता है। दुर्भाग्य के कारण व्यक्ति की बुद्धि भी कुंठित हो जाती है, उसे सच्ची बात सूझती नहीं।

परन्तु इन सब दुःखों और दुर्भाग्यों का खात्मा परमात्मा के दर्शन (साक्षात्कार) होते ही हो गया। इसका रहस्य क्या है? आइए सर्वप्रथम निश्चयदृष्टि से इस पर सोचें—सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यचक्षु से परमात्मा के अखण्ड आत्मगुणों पर विचार करके जब आत्मा परमात्ममय या परमात्मा में लीन हो जाता है, जिसे हम पहले परमात्मसाक्षात्कार कह आए हैं, उसकी उपलब्धि हो जाती है, तब आत्मा को अपनी असलियत का पता लग जाता है। वह सोचने लगता है, कि ये सब सांसारिक पदार्थ, जिन्हें मैं अपने मान कर उनमें लुब्ध हो कर पूर्वोक्त सभी प्रकार के दुःख पाता था। इनके कारण चारों गतियों में बारबार भटकता था। इनमें कोई सुख नहीं है, ये तो दुःखरूप हैं। सच्चा सुख तो आत्मा में है, परमात्मा के शुद्ध रूप को निहारने में है। अतः अब जब कि मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई है, मुझे परमात्मत्व (शुद्ध आत्मतत्व) में डूबने पर पूर्वोक्त दुःखों का भान भी नहीं होता। मुझे अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप को देख कर सब प्रकार की तृप्ति,

शान्ति, संतुष्टि और आनन्द की अनुभुति हो गई। मुझे अब किसी भी पर-पदार्थ या वाह्यपदार्थ से सुख प्राप्त करने की कोई अपेक्षा नहीं है। ये पदार्थ अपने आप में मुझे न कोई सुख दे सकते हैं, न दुःख। ये क्षणिक सुख या दुःख तो तभी देते हैं, जब मैं इन्हें अपने मान कर आसक्तिवश इनमें से ईष्टके वियोग या अप्राप्त होने पर तड़फता हूँ, इसी प्रकार इनमें से अनिष्ट से घृणा और द्वेप करके परेशान होता हूँ। अगर मैं इनसे कोई लगाव न रखूं, इन्हें अपना न मानूँ, सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा में दिव्यनेत्रों से देखूं, तो न तो मुझे किसी प्रकार का दुःख होगा, न मेरे लिए कोई दुर्भाग्य का अभिशाप होगा। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्तदृष्टि से परमात्मदर्शन (दिव्यनेत्रों से) होते ही मस्ती में झूम उठते हैं, उनका रोम-रोम पुकार उठता है—"दुःखदोहग दूरे टल्या रे, सुख-सम्पदशुं भेंट।" आज मेरे तमाम दुःख (मनःकल्पित या शारीरिक या आध्यात्मिक) दूर हो गये हैं, मेरा दुर्भाग्य भी मिट गया है; क्योंकि अव्यावाध अनन्तसुख, अनन्तज्ञानादिचतुष्टय से सम्पन्न परमात्मा से मेरी भेंट हो गई है, उनमें मैंने अपनी शुद्ध आत्मा की ज्ञानादि निधि को देखा तो अपनी खोई हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि सुखसम्पदा मुझे मिल गई।

व्यवहारदृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो यह अर्थ प्रतीत होगा कि वीतराग की छवि को अन्तर्मन में निहारने और भक्तिभाव से उनके दर्शन-वन्दन करने से इहलौकिक दुःख, दुश्चिन्ताएँ, भय, विघ्न और नाना प्रकार के संकट दूर हो जाते हैं। प्रभुदर्शन-वन्दन-भक्तिजनित पुण्य के प्रभाव से शारीरिक, मानसिक तमाम दुःख दूर हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है। और साथ ही प्रभुदर्शन से दुर्भाग्य का मूल जो अशुभ नामकर्म है, वह सौभाग्य में परिणत हो जाय, इसमें भी कोई अत्युक्ति नहीं है। पुण्यकर्म प्रवल हो जाने पर वाह्य सुख और सम्पत्ति प्राप्त हो जाना भी दुभर नहीं है। इसी कारण व्यवहारदृष्टि से भी श्रीआनन्दघनजी ने शायद अन्तर के उल्लासपूर्वक कहा हो—दुःखदोहग दूरे टल्यां रे, सुख-सम्पदशुं भेंट" लौकिक व्यवहार में भी देखा जाता है कि किसी शक्तिशाली या वैभवशाली पुरुप की दर्शन-विनयरूप भक्तिसे दीन-हीन व्यक्ति के दुःख और दुर्भाग्य नष्ट हो जाते हैं, उसे सुख-सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तव विमलनाथ वीतरागप्रभु की उक्त भक्ति से दुःख-दुर्भाग्य नष्ट हो कर सुख-सम्पदाएँ हासिल हो जांय; इसमें कौन-सी बड़ी

जात है? प्रभु के दर्शन, विनय और भक्तिपूर्वक वन्दन आदि से निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से अनायास ही पूर्वोक्त फल प्राप्त हो जाते हैं।

परमात्मदर्शन के कारण भक्त में आत्मिक दृढ़ता

इतना ही नहीं, निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मसाक्षात्कार के कारण आत्मतत्वज्ञ व्यक्ति के जीवन में आत्मबल बढ़ जाता है, और तमाम विषय-कषायादिजन्य दुश्चिन्ताओं, भयों और विकारों से वह डरता नहीं, हार नहीं खाता, उनके अधीन हो कर वह उनके आगे घुटने नहीं टेकता। दुनियादार लोग कहते हैं कि सम्पत्तिवान को अनेक प्रकार का वियोगजनित या दुश्चिन्ताजनित भय रहता है, परन्तु जिसे परमात्मरूप (शुद्ध आत्मतत्व का) जबर्दस्त पृष्ठबल हो, जिसके सिर पर परमात्मा (शुद्ध आत्मतत्वदृष्टि) की छत्रछाया हो, जिसने परमात्मा जैसे जबर्दस्त नाथ बनाये हों, उसे कोई हैरान नहीं कर सकता। जब अनन्तबली रागद्वेषविजेता परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) को मैंने अपने स्वामी बनाये हैं तो वह प्रतिक्षण मेरे साथ हैं और साथ रहेंगे। मुझे जो अनन्तचतुष्टय-रूप और सम्यग्दर्शनज्ञानरूप आत्मिक सम्पत्ति मिली है, वह पौद्गलिक सुख सम्पत्ति की तरह नाशवान नहीं है, वह तो अखण्ड और अविनाशी है। उनका वियोग कदापि होना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा में यदि कोई मिथ्यात्व, अज्ञान, राग, द्वेष, मोह, आदि आन्तरिक शत्रुओं--(जो कि प्रतिक्षण आत्मगुणों के शिकार करने की टोह में रहते हैं, जिनका स्वभाव ही आत्मगुणों को लुप्त या नष्ट करने का है) का भी भय नहीं रहा। वे मुझ पर हावी हो जांय और मुझे अपना शिकार बना कर अपने चंगुल में फँसा लें; या मुझे हैरान करें, ऐसी संभावना नहीं है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी दृढ़ आत्मबल के साथ कह उठते हैं—

'धींग धणी माथे कियो रे, कोण गंजे नर खेट ?'

व्यवहारदृष्टि से इसका तात्पर्यार्थ यह होता है कि जब मैंने वीतराग प्रभु का सान्निध्य प्राप्त किया है, या आधार लिया है उनका ही अहर्निश स्मरण, ध्यान, जप, स्तवन, गुणगान करके उनके ही आज्ञानुरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान--चारित्र-मय धर्म का पालन किया है, तब कोई भी दुष्ट, शत्रु या धोखेबाज मुझे हैरान नहीं कर सकता, मेरा अहित नहीं कर सकता और न मुझे हरा सकता है।

लोकव्यवहार में जब किसी स्त्री को पति का, बालक को मातापिता का, नौकर को मालिक का और सेवक को स्वामी का आधार मिल जाता है, तो फिर

वह व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है। वह किसी से घबराता, डरता, या संकट में चिल्लाता नहीं; इसी प्रकार यहाँ भक्त को भी परमात्मारूपी नाथ (स्वामी) का जबर्दस्त आधार मिल जाने पर उसे किसी से डरने, घबराने या चिल्लाने की जरूरत नहीं। और फिर परमात्मभक्ति एवं दर्शन से जब व्यक्ति के जीवन में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत, नियम, संयम आदि चारित्रगुण आ जाते हैं तो उसे सच्चे-झूठे की पहिचान हो जाती है, वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की प्राप्ति कर लेता है, उसे अच्छे सत्संगी मिल जाते हैं, परिवार, समाज और राष्ट्र भी उसके अनुकूल हो जाते हैं। व्यवहारिक दृष्टि से सुख और सम्पत्ति मिल जाने पर उसे किसी दीन-हीन या तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पसारने और उसकी जी-हजूरी करने की जरूरत नहीं रहती।

परमात्मदर्शन से मनोवांछित कार्यसिद्धि

और फिर श्री आनन्दघनजी वस्तुतत्व को जान लेने तथा निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्तरीति से परमात्मदर्शन हो जाने पर और सम्यग्दर्शन—ज्ञानरूप आत्मिक सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर कृतार्थ हो कर अपनी मस्ती में बोल उठते हैं—**'मारां सीध्यां वांछित काज'** मेरे मनोवांछित कार्य सिद्ध हो गए। मुझे परमात्म-दर्शन के दुष्करकार्य में सफलता मिल गई। जिस आत्मिक सुखसम्पदा को प्राप्त करने का मेरा मनोरथ था, वह सिद्ध हो गया। व्यवहारदृष्टि से भी परमात्मा के दर्शन एवं भक्ति करके उन्हें स्वामी बना लेने के बाद उनकी आज्ञानुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से दुःख, दुर्भाग्य, दुश्चिन्ता आदि सब दूर हो कर सुख-सम्पदा मिल जाने से सभी मनोवांछित कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के सांगोपांग दर्शन के हेतु सर्वप्रथम उनके चरणों के दर्शन की महत्ता बताते हैं—

चरणकमल कमला बसे रे, निर्मल थिरपद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख॥
॥ विमल० ॥२॥

अर्थ

आपके चरण—चारित्ररूप चरणकमल में अथवा बाह्यचरणकमल में, कमला (ज्ञानलक्ष्मी, आत्मगुणसम्पत्ति अथवा अष्टमहाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी) घातीकर्म—मलरहित (निर्मल) और स्वभाव में स्थिर पद (आत्मस्थान) देख-

कर बसी हुई है। वह संसार के विषय-कषायरूपी पंक में उत्पन्न होने वाले कमल (बाह्य वैभव) को मल (रागद्वेषादि-मलयुक्त), अस्थिर एवं पामरस्वभाव वाला देख-कर छोड़ देती है। अथवा कमल को मलयुक्त कीचड़ में पैदा हुए देख कर अपने अज्ञान और ममत्व के कारण नाशवान बाह्य सम्पत्ति को ही वास्तविक लक्ष्मी मान कर पामर बने हुए देख कर उस अस्थिर स्थान को भौतिक लक्ष्मी छोड़ देती है।

भाष्य

परमात्मा के चरण-दर्शन का प्रयोग

वीतराग परमात्मा के पुर्वोक्तरीति से दर्शन के लिए उद्यत साधक को सर्व-प्रथम उनके चरण के दर्शन क्यों करने चाहिए? इसका प्रयोजन बताते हुए श्री आनन्दघनजी वीतरागपरमात्मा के चरणकमल का महत्त्व बताते हैं।

निश्चयदृष्टि से परमात्मा का चारित्ररूपी चरण यथाख्यात होता है, जिसमें रागद्वेषादि या घातीकर्म आदि किसी प्रकार का मैल नहीं होता और वह चरण (चारित्र) चंचल नहीं होता, एक बार प्राप्त हो जाने के बाद फिर वह जाता नहीं है। स्वभाव में सतत अविच्छिन्नरूप से रमण के कारण वह स्थिर होता है। परमात्मा के उस चारित्ररूपी पूर्ण शुद्ध, (मोहादिमलरहित शुद्ध) स्थिर परिणाम वाले, चरणरूपी कमल को देख कर केवल (अनन्त) ज्ञानादिचतुष्टयरूपी लक्ष्मी वहाँ सदा के लिए बस गई है। भौतिकलक्ष्मी भी अपना अस्थिर और कीचड़ वाला स्थान तथा अपने पर से होने वाले अज्ञान, और मोहममत्व के कारण पामर समझ कर छोड़ देती है।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु के चरणकमल को निर्मल (पंकरहित) और स्थिर देख कर लक्ष्मी वहीं निवास कर लेती है। इस कारण प्रभु अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्पदा में इतने लीन हैं, कि वह सम्पत्ति आपको छोड़ कर अन्यत्र कहीं जाती नहीं। इसी कारण आप सतत आत्मानन्द-मग्न रहते हैं। कई धन-वानों के पैर में पद्म होता है, वे जहाँ भी जाते हैं, वहाँ आनन्द ही आनन्द होता है। यही नहीं, ऐसे व्यक्तियों की महिमा और यशकीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। प्रभु वीतराग के चरणों में भी पद्म होता है। इसलिए उनके लिए भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनके चरणों में लक्ष्मी लीला करती है, अष्ट-

महाप्रातिहार्यरूपी लक्ष्मी के कारण उनकी यशकीर्ति फैलती है, दिव्यजन उनकी सेवा में रहते हैं।

यही कारण है कि लक्ष्मी अपने अस्थिर और पंकिल (कीचड़ से गंदे) स्थान को छोड़ कर लक्ष्मीवान और पुण्यवानप्रभु के चरणकमल में आ कर बसी हुई है, क्योंकि उनका चरणकमल निर्मल और स्थिर है। अथवा यह अर्थ भी संगत हो सकता है कि भगवान् वीतराग का निर्मल यथाख्यातचारित्ररूपी चरण-कमलस्वभाव से ही स्थिर है, उसे देख कर या अनन्त-ज्ञानादिचतुष्टय लक्ष्मी वहाँ रहती है, उसे देख कर पामरप्राणी अपनी पामरता का ध्यान करता है और हर प्रकार से मोहमल उत्पन्न करने वाली कमला—भौतिकलक्ष्मी का त्याग करता है।

निष्कर्ष यह है कि जहाँ परिग्रह है, वहाँ आरम्भ (हिंसा) है, आरम्भ और परिग्रह में लीन होने वाले पामर प्रणियों को सुख कहाँ? मुमुक्षु जब अन्तरात्मा से परिग्रह का त्याग करता है, तभी स्थिरस्वभाव वाला व चारित्रवान बनता है। निर्मल (निरतिचार) यथाख्यातचारित्री होने पर उस आत्मा को अनन्तज्ञानादिचतुष्टय—लक्ष्मी उत्पन्न होती है।

सारांश यह है कि मुमुक्षु आत्मा भगवान् के चरणकमल को अनन्त-पारमार्थिक भावलक्ष्मी का निवासस्थान देख कर स्वयं भी भौतिक लक्ष्मी का लोभ सर्वथा छोड़ कर उनके चरणकमल में लीन हो जाना चाहता है।

इसके अतिरिक्त वीतरागप्रभु के चरणकमल में और क्या आकर्षण है? इसे श्रीआनन्दघनजी अपने अनुभव से अगली गाथा में बताते हैं—

मुज मन तुज पदपंकजे रे, लीनो गुण-मकरंद।
रंक गणे मंदरधरा रे, इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र ॥ विमल ० ॥३॥

अर्थ

आपके दर्शन के बाद आपके चरणकमल का इतना आकर्षण हो गया है कि मेरा मन (ज्ञानचेतनायुक्तआत्मा) आपके गुणों-रूपी पराग से युक्त चरण-(आत्मरमणतारूप चारित्र) में (अब इतना) लीन हो गया है कि स्वर्णमयी मेरुपर्वत की भूमि को तथा इन्द्र, चन्द्र या नागेन्द्र के पद अथवा स्थान (लोक) को भी वह तुच्छ समझता है। उसे आपके (शुद्ध आत्मा के) अनन्त-ज्ञानादिगुणों

की सौरभ से युक्त चरणकमल (स्वभावरमणचारित्र] में इतनी लीनता हो गई है। कि दूसरी मोहक वस्तुओं की तरफ वह जाती ही नहीं है।

भाष्य

परमात्मा के चरणकमल में लीन होने के बाद""

पूर्वगाथा में श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग-परमात्मा के चरणकमल का माहात्म्य बताते हुए कहा था कि उसमें भावलक्ष्मी का निवास होने से वह सर्वतोमुखी आकर्षक है। अतः अब इस गाथा में यह बताया है कि मेरा ज्ञान-चेतनायुक्त भावमन (आत्मा) परमात्मा के चरणकमल को देख कर इतना आकर्षित हो गया है कि वह अन्य भौतिक या संसार की रमणीय से रमणीय वस्तु या स्थान की ओर जाता ही नहीं। उन्हें अत्यन्त तुच्छ समझता है।

परमात्मा के चरणकमल में क्या आकर्षण है?

प्रश्न होता है कि परमात्मा के चरणकमल में मनरूपी भ्रमर क्यों आकर्षित हो जाता है? इसका समाधान इसी गाथा में दिया गया है—'गुणमकरन्द जैसे भौंरा कमल की पराग को पा कर तृप्त हो जाता है, वह सुगन्धित पराग में इतना लीन हो जाता है कि उसे अपने तन की सुध नहीं रहती, कमल को काट कर बाहर निकलने की शक्ति होते हुए भी वह रात को कमलकोष में बन्द हो जाता है। इतनी लीनता भौंरे में होती है। इसी प्रकार भौंरे में एक गुण यह भी होता है कि वह विष्ठा आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थों पर कभी नहीं जाता, तथा सुगन्धित कमल या पुष्प के सिवाय दुनिया की चाहे जैसी रंगविरंगी, सुन्दर, मनोमोहक या आकर्षक अथवा कोमल, स्वादिष्ट पदार्थ या मनोरम संगीत वाला सुरम्य स्थान भी क्यों न हों, वह वहाँ नहीं जाता और न वहाँ बैठना चाहता; वैसे ही दिव्यनेत्रों से परमात्मा को दर्शनपिपासु भक्त साधक का मनरूपी (भावमन-आत्मा) मधुकर भी जब परमात्मा के अनन्त-आत्मगुणरूपी पराग से परिपूर्ण परमात्मचरणकमल (आत्मरमणतारूपी चारित्र) को देख कर वहीं लीन हो जाता है, वहीं तृप्त हो जाता है। वह आपके गुणपराग से युक्त चरणकमल में इतना आकर्षित हो जाता है या आत्मा के अनन्तगुणों से से युक्त वीतराग के चारित्र (मार्ग) का उपासक (सम्यग्दृष्टि) बन जाता है, तब उसको मन को विश्व के सभी मोहक या रँगीन पदार्थ तुच्छ लगने लगते हैं। वह

संसार के पदार्थों की बिलकुल परवाह नहीं करता, न उसे किसी स्थान या पद-विशेष की इच्छा होती है। इतना आकर्षण है परमात्मा के चरणकमल में !

संसार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ, जो प्रत्येक सांसारिक और यहाँ तक कि कभी-कभी साधक को भी लुभायमान करती हैं, वे ये हैं—रूपवान सुन्दर वस्तुओं में सर्वोत्तम सुमेरुपर्वत है, जो सारा का सारा स्वर्णमय है। जिस सोने के लिए सारी दुनिया भागती फिरती है, जिसके लिए दुनियाभर के छलबल, हत्याकाण्ड या पाप किये जाते हैं जो सोना मनुष्य को अभिमानी, उच्च पदाधिकारी, सर्वोच्च प्रतिष्ठासम्पन्न या सांसारिक सुख-की वस्तुओं से सम्पन्न बना देता है, उस सोने से ही सारा मेरुपर्वत मढ़ा हुआ है। साथ ही वहाँ देवोपम सुखों से युक्त रमणीय नन्दनवन है, इसलिए भी सांसारिक वस्तुओं में सर्वोत्कृष्ट सुन्दर पाँचों इन्द्रियों के विषयों से वह परिपूर्ण है। इसके अलावा इन्द्रलोक या इन्द्रपद ये दोनों भी संसार के आकर्पणीय पादर्थों में अद्वितीय हैं। इन्द्रलोक वह है, जहाँ सभी प्रकार के इन्द्रियसुखों का भण्डार है, जहाँ एक से एक सुन्दर दिव्यांगनाएँ सुन्दरतम सुखभोग, मनोरम्य सुगन्ध, मनोहारी संगीत, नृत्य, वाद्य सब प्रकार की सुख-सुविधाएँ, हाथ जोड़े हुए आज्ञा-कारी सेवक, विनीत देव-देवीगण, एक से एक बढ़कर रमणीय चित्ताकर्षक भवन और प्रतिष्ठित पद हैं। इसी प्रकार चन्द्रलोक भी विश्व के मानवों के लिए शान्ति दायक स्थान है। कहते हैं, चन्द्रमा से अमृत झरता रहता है। जिस अमृत की खोज में देव, दानव, मानव सभी मारे-मारे फिरते हैं,। अमृत पा जाने पर मनुष्य को जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि आदि की चिन्ता नहीं रहती भूख-प्यास सब बुझ जाती हैं, जिनकी चिन्ता से मनुष्य रात-दिन अशान्त रहता है। अतः चन्द्रलोक पाने के लिए मानव-मन इसलिए लालायित रहता है कि उसके पा जानेपर अमृत के भण्डार चन्द्र का सान्निध्य पा कर मानव के मन को शान्ति मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त मानव-मन के लिए एक और विशेप आकर्पक और गुद-गुदाने वाली वस्तु है—नागेन्द्रलोक। यह भी एक प्रकार का देवलोक है, जहां भवनपति देव हैं उनके भी दिव्यसुखों का क्या ठिकाना ! दिव्यभवन, दिव्यरमणियां, दिव्य चित्रविचित्र रत्न, संगीत नृत्य, गीत, वाद्य, सर्वभोग्य

पदार्थ आदि की प्रचुरता ! तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मन को आकर्षित करने वाले तिर्यचलोक, ऊर्ध्वलोक, ज्योतिर्लोक और अधोलोक, इन सबमें जो सर्वोच्च सुख के केन्द्र हैं, लुभावने पद या पदार्थ हैं, मिथ्यादृष्टि सांसारिक लोगों का मन झटपट इन में से किसी के लिए लालायित हो सकता है ।

'मंदरधरा' शब्द से यहां तिर्यग्लोक का संकेत है । जहां नन्दनवन के या चक्रवर्ती आदि के सुखों का आकर्षण है। 'इन्द्र' शब्द से यहाँ ऊर्ध्वलोक का संकेत है, जहाँ वैमानिक देवी-देव एवं देवेन्द्रों के सुख हैं । चन्द्रपद से यहाँ ज्योतिर्लोक का संकेत हैं, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा आदि के लोक या पद का सुख है । तथा 'नागेन्द्र' शब्द से अधोलोक-वासी भवनपति तथा व्यन्तर देव-देवेन्द्र आदि का संकेत है, जहाँ इनके दिव्य सुखवैभव हैं ।

सामान्य व्यक्ति का मन संसार की इन सुखसम्पन्नतायुक्त प्रेय वस्तुओं की ओर सहसा आकर्षित हो सकता है, परन्तु जिस आत्मसाधक (सम्यग्दृष्टि) का मनरूपी भ्रमर परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के गुणोंरूपी सुगन्धित पराग से युक्त चरणकमल (आत्मरमणतारूपी चारित्र में लीन हो गया है, उसे ये सब वस्तुएँ तुच्छ व असार प्रतीत होती हैं । क्योंकि वह अपने दिव्य सम्यग्दर्शनज्ञान से यह भलीभाँति समझ जाता है अथवा उसके दिलदिमागमें यह बात अच्छी तरह अंकित हो जाती है कि मनुष्यों या देवों के जो सुखदायक भोग्य पद, पदार्थ, या इन्द्रियविषय हैं, वे सब पुण्यकर्म से मिलते हैं । जहाँ तक पुण्य है, वहाँ तक इनका अस्तित्व है । परन्तु ये सब पद, पदार्थ या विषयसुख क्षणिक व नाशवान हैं, सुखाभासदायक हैं । पुण्यनाश के साथ ही इन सुखाभासों का भी नाश हो जाता है । इस कारण इन सब पदार्थों का वियोग होने से अतृप्ति रहती है, जो कि दुःख का कारण है ; जबकि आत्मा-परमात्मा के गुण तथा उनमें रमण करने से जो सुख-प्राप्त होता है, वह अविनाशी है । उनमें डूब कर आत्मा तृप्त हो जाती है । उस आत्मसुख के सामने इन सांसारिक पदार्थों से होने वाले सुख कुछ भी नहीं हैं, नगण्य हैं, वे किसी बिसात में नहीं हैं । यही कारण है कि वीतरागमार्ग के उपासक सम्यग्दृष्टि अध्यात्मरसिक श्रीआनन्दघनजी हृदय से पुकार उठते हैं—प्रभो ! मेरा मनमधुकर शुद्ध आत्मगुणोंरूपी पराग से युक्त आपके पादपद्म में इतना तल्लीन हो गया है कि वह

शाश्वत स्वर्णमयसुमेरुगिरि की भूमि, इन्द्र-लोक, चन्द्रलोक, या नागेन्द्रलोक आदि सर्वोच्च सुख का आभास कराने वाली वस्तुओं को तुच्छ मानता है, इन्हें जरा भी नहीं चाहता। इन सबका सुख परमात्मपद (शुद्धात्मा) के सुख के पासंग में भी नहीं आता। परमात्मा के चरण में लीनता का जो असीम सुख है, उसके सामने ये सब सुख निकम्मे या फीके मालूम होते हैं। कमल के सौरभयुक्त पराग में मस्त वना हुआ भौंरा जब तृप्त हो जाता है, तव उसके लिए दुनिया की अच्छी से अच्छी मानी जाने वाली वस्तु भी तुच्छ हो जाती है, वह उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देखता, वहीं बैठा हुआ अपनी मस्ती में गुनगुनाता रहता है। वैसे ही परमात्मगुणों से युक्त चरणकमल में जब मनरूपी भ्रमर मस्त वन कर जम जाता है, अथवा शुद्ध आत्मगुणों की सौरभ से जिस आत्मा का ध्यान सुवासित हो जाता है; तव वह सर्वथा तृप्त हो जाता है, तव उसके लिए भी संसार की अच्छी मानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ तुच्छ हो जाती हैं। वह परमात्मा के चरणों में लीन हो कर 'तू ही तू ही' की रटन से तादात्म्यसुख का अनुभव करने लगता है। उसके मन-वचन-काया आदि सब आत्मगुणों के प्रगट करने में लग जाते हैं।

यही कारण है कि अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी आराध्य-आराधक (द्वैत) भाव से परमात्मा को अपनी आत्मा का आधार और मन का विश्राम-स्थल वताते हुए कहते हैं—

साहेब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार।
मनविसरामी वालहो रे, आतमचो आधार ॥ विमल०॥४॥

अर्थ

हे साहिव प्रभो! आप ही मेरे समर्थ शक्तिशाली स्वामी (मालिक) हैं आप सरीखा अत्यन्त उदार स्वामी (पति) मैंने पाया है। इसलिए आप ही मेरे मन (ज्ञानचेतनायुक्तआत्मा) के विश्राम-स्थान हैं, आप ही मेरे प्रियतम हैं, मेरी आत्मा के आधार हैं।

भाष्य

आत्मा-परमात्मा का स्वामी-सेवक-सम्बन्ध

पूर्वगाथा में श्रीआनन्दघनजी ने बताया है कि मुमुक्षु आत्मा का मन परमात्म-चरण में लीन वन कर क्यों संसार की सर्वश्रेष्ठ सुखदायक मानी जाने

वाली वस्तुओं में नहीं लुभाता ? उसके कुछ कारण तो हम ऊपर स्पष्ट कर आए हैं, इस गाथा में परमात्मचरण में स्थिर होने के विशिष्ट कारण बताए गए हैं।

प्रथम कारण : समर्थ स्वामी परमात्मा

परमात्मा के चरण में स्थिर होने के यहाँ जो कारण बताए हैं, उन कारणों को देखने से आत्मा और परमात्मा में स्वामी-सेवक-सम्बन्ध प्रतीत होता है। यानी आत्मा को निम्न और परमात्मा को सर्वोच्च अथवा आत्मा को पहाड़ की तलहटी पर खड़े हुए और परमात्मा को उसकी चोटी पर बैठे हुए मान कर आत्मसाधक भक्त अपने आपको उनके चरण में लीन कर देता है। सेवक बन कर उनकी शरण स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है कि स्वयं सेवक बन कर परमात्मा को स्वामी बना लेने मात्र से भक्त कैसे निश्चिन्त, आश्वस्त, निर्भय और आनन्दित हो सकता है ? इसी का समाधान **'साहब ! समरथ तू धणी रे'** पद के अन्तर्गत आ जाता है। जैसे किसी लौकिक वीर पुरुष की शरण में जाने अथवा किसी वैभवशाली समर्थ व्यक्ति को स्वामी बना लेने पर उस पर जिम्मेदारी आ जाती है कि शरणागत सेवक पर कोई संकट या आफत, आ जाय या कोई व्यक्ति हमला करे तो वह जीजान से उसकी रक्षा करे। इसी प्रकार अध्यात्मरसिक साधक (आनन्दघनजी) ने भी प्रभु की शरण में जा कर उनको स्वामी बना लिया है, इसीलिए वे भगवान को समर्थ स्वामी बना कर आश्वस्त हो गए हैं कि प्रभु आप ही मेरे समर्थ स्वामी हैं, इसलिए आप पर (निश्चयदृष्टि से शुद्ध एवं अनन्त शक्तिमान होने से समर्थ आत्मदेव की शरण में जाने पर) जिम्मेदारी आ जाती कि वे शरणागतरक्षक के विरुद का विचार करके मेरी आत्मा की रक्षा करें। आप जैसे समर्थ पुरुष का मेरे हृदय में ध्यान रहने से मुझ पर कोई भी शत्रु (आत्मिक रिपु — रागद्वेषादि) हमला नहीं कर सकते। मेरा कोई कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता। दुनिया मोहराजा के राग-द्वेष, काम, क्रोध आदि अनुचरों को शत्रु-समान और बलवान मानती है, वे इन्द्र, नरेन्द्र आदि को हैरान करते हैं, विविध योनियों में नाना प्रकार की यातना दे कर सताते हैं। परन्तु आप जिनके हृदय में विराजमान हैं, उन्हें कोई भी परेशान नहीं कर

सकता, उसके जन्ममरण की वृद्धि भी नहीं होती। यह तो कुछ-कुछ निश्चय दृष्टि से संगत बात हुई।

व्यवहारदृष्टि से अर्थ यह है कि प्रभो! मालिक! आप पूर्ण समर्थ हैं आप में अनन्त बल है, उसके सामने कोई टिक नहीं सकता। साथ ही आप मेरे नाथ हैं। मुझ पर आप सरीखे स्वामी की छत्रछाया है, कृपादृष्टि है, तब दूसरा क्या कर सकता है? वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा वीतराग होने से वे दूसरों को प्रत्यक्ष में कोई बल देते-लेते नजर नहीं आते। किन्तु जब सेवक समर्पणवृत्ति से शुद्धभावभक्तिपूर्वक प्रभु के चरण में दृढ़-संकल्प करके अपना जीवन खपाने का दृढ़ निश्चय कर लेता है और ध्यानमुद्रा में बैठ कर प्रभु के गुणों का ध्यान करता है तो उसमें बल और पौरुष स्वयं स्फुरित हो जाता है, परमात्मा के अनन्तशक्तिशाली स्वरूप का ध्यान करने से आत्मा में भी शक्ति प्रगट करने का उत्साह जग जाता है।

दूसरा कारण: परम उदार प्रभु

लोकव्यवहार में देखा जाता है कि सेवक स्वामी की सेवा करता है, तो वह खुश हो कर सेवक की तनख्वाह बढ़ा देता है, उसकी लगन देख कर उसे इनाम दे देता है, उसकी पदोन्नति कर देता है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी कहते हैं- **'पाम्यो परम उदार'** यानी आप परम उदार-चेता हैं। इसका निश्चयदृष्टि से संगत अर्थ यह है कि परमात्मा (शुद्ध आत्मा) इतना उदार है कि उसकी सेवा (आत्मस्वभाव में रमण या आत्मा के गुणों या आत्मत्व का सेवन) करने से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति परमात्मा से यह आश्वासन पा जाता है कि अब तू आश्वस्त हो जा, तेरी दुर्गति या जन्ममरणवृद्धि तो अवश्य ही नहीं होगी। यदि कोई तिर्यंच या मनुष्य परमात्मत्त्व (शुद्ध स्वभाव या आत्मगुणों) की सेवा=ध्यान करता है तो उसकी आत्मोन्नति हुए बिना नहीं रहती, पदोन्नति भी हो जाती है। यानी पापकर्मों से भारी बनी हुई आत्मा हलकी हो जाती है। इससे पुण्य-कर्मों की प्रबलता हो जाने पर उस जीव को परमात्मा की सेवा-पूजा करने के विचार उठते हैं, वह उस पुण्यराशि के फलस्वरूप दुर्गति में न जा कर मनुष्य-गति या देवगति में जाता है। यह उस जीव की पदोन्नति है। तथा पुण्यपुंज के फलस्वरूप शुभभावों की शृंखला शुरू हो जाती है, जिससे आत्मा पर आए हुए कर्मों की निर्जरा हो जाती है या अशुभकर्म का जोर अत्यन्त कम हो कर शुभ में बदल जाता है। यह आत्मोन्नति हुई।

व्यवहारदृष्टि से इसका संगत अर्थ यह है कि आप ऐसे परम उदारपुरुष हैं कि किसी को भी अपने से हीन नहीं मानते। लोकव्यवहार में तो स्वामी सेवक को कदापि अपने बराबर का स्वामी नहीं बनाता, भले ही सेवक मालिक की अत्यन्त लगन से विनय-भक्तिपूर्वक सेवा करता हो। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि भक्त परमनिर्मलरूप बन कर उदार प्रभु का ध्यान करता है तो उसे शुद्धात्मस्वरूप का सान्निध्य प्राप्त होता है, सेवा करने वाले को प्रभु अपने से भिन्न न रहने दे कर यानी सेवक का सेवकत्व मिटा कर उसे अपने बराबर का परमात्मा बना देते हैं; स्वामी-सेवक का भेद मिटा देते हैं। इसलिए साधक कहता है—'मैं तो आप जैसे परम उदार स्वामी को पा कर धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ।'

व्यवहारदृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है—प्रभो ! आप जैसे परम उदार परमात्मा को पा कर मैं भी अलभ्य लाभ से युक्त बना हूँ। क्योंकि मुझमें भी आप की तरह अपने से हीन-दीन या जरूरतमंद या दुःखी को तन-मन या साधन का दान देने या त्याग करने की भावना पैदा हुई। आप परम-दानी हैं, यह तो सारा संसार जानता है कि आपने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक प्रायः लगातार दान दिया और जगत् को दान देने की उदारता सिखाई।

तीसरा कारण : साधक के मन के विश्राम

इसी कारण को लेकर आनन्दघनजी कहते हैं-**'मन-विसरामी'** आप मेरे मन को विश्राम देने वाले हैं। मेरा मन दुनियाभर में कई दफा तो ऊलजलूल बातों में भटकता रहा; विषयों, कषायों में व दुर्भावों में मेरा मन भटका, किन्तु अब आपका चरणकमल पकड़ लिया तो वह इन सब विषयों में विश्राम नहीं पाता, वह तो एकमात्र आप में ही निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप (स्वभाव) में, व्यवहारदृष्टि से परमात्मा (वीतराग) में ही विश्राम पाता है। उसकी थकान ध्यान करने से ही मिटती है। और जगह तो वह विश्रान्त के बदले श्रान्त हो (थक) जाता है। मेरे मन को प्रसन्न करने वाला आपके सिवाय आराम का स्थान कोई नहीं है। प्रभो ! मेरा मन विविध पदार्थों में भटका, उसने विविधरूप धारण किये, फिर भी इसे तृप्ति न हुई, उसके भ्रमण करने का चंचल स्वभाव नहीं मिटा। इस

कारण यह थक गया, इसे कहीं आराम नहीं मिला । सद्गुरु की परम कृपा से मुझे आपके गुणों का पता लगा । मैंने उनका महत्त्व समझा । अब आपके सिवाय कोई भी उच्चसुख का या विश्राम का स्थान मुझे प्रतीत नहीं होता ।

चौथा कारण : प्रियतम वीतराग प्रभु

परमात्मा में मन को रमाने और आश्वस्त-विश्वस्त हो जाने का चौथा कारण श्रीआनन्दघनजी बताते हैं—**'वालहो मे'** परमात्मा अत्यन्त प्रिय हैं। जो अत्यन्त प्रिय या वात्सल्यमय होता है, उसे देखते ही आत्मीयता जागती है, हृदय में आनन्द की उर्मियाँ उछलने लगती हैं, रोमांच हो जाता है, मन में आनन्द की अनुभूति होती है, चित्त में आल्हाद उत्पन्न होता है । सचमुच भक्त साधक को परमात्मा का स्मरण करते ही, या हृदय की आँखों से अन्तर में उसका स्वरूप निहारते ही अथवा उसका भावपूर्वक दर्शन करते ही प्यार उमड़ पड़ता है ।

प्रश्न होता है कि जगत् में इतने पदार्थ हैं, इतने जीव हैं अथवा अपने सम्बन्धी या मित्र हैं, क्या वे प्यारे नहीं लगते, जो परमात्मा को ही अतिप्रिय बताया गया है। इस प्रश्न का समाधान श्रीआनन्दघनजी प्रथम तीर्थंकर की स्तुति में **'भांगे सादि अनन्त'** कह कर कर आए हैं । यहाँ एक दूसरे पहलू से परमात्मा के प्रियतम लगने का कारण बताते हैं—प्रभो ! मैंने अज्ञानवश संसार के अनेक पदार्थों या सम्बन्धियों या मित्रों को अपने प्रिय माने, परन्तु वे सबके सब प्रिय के बदले अप्रिय, स्वार्थी और धोखेबाज निकले । मुझे भोला समझ कर उन्होंने खूब बनाया । किसी ने मेरा (आत्मा का) महत्त्व नहीं बढ़ाया । जहाँ मुझे पवित्रता दिखाई देती थी, अपवित्रता निकली। असलियत का पता लगते ही उन सबके प्रति मुझे अरुचि हो गई । अब तो मुझे प्रतीति हो गई कि आप ही एकमात्र परम पवित्र और शुद्ध (आत्म) स्वभाव वाले हैं । इसलिए मुझे आप ही आदि से ले कर अन्त तक प्रिय—प्रियतम प्रतीत हुए ।

पाँचवाँ कारण : आत्मा का आधार

परमात्मा में मन के जम जाने का पाँचवाँ कारण श्रीआनन्दघनजी बताते हैं—**'आतमचो आधार'** । दुनिया में बहुत से पदार्थों और नाते-रिश्तेदारों को

मैंने आधारभूत माने, किन्तु वे सब मुझे निराधार छोड़ कर चले गए, किनाराकसी कर गए, संकट के समय मुझे (मेरी आत्मा को) आश्वासन देने वाले, मुझ में आत्मविश्वास जगाने वाले कोई भी नहीं रहे। इसलिए अन्ततोगत्वा मुझे आपके सिवाय कोई भी आत्मा का आधार नहीं जचा। आपके आधार पर रहने वाले व्यक्ति को आपके शाश्वत स्थान या अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय का सुख मिलता ही है।

इन सब कारणों को ले कर श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को आत्मा के लिए समर्थ स्वामी, परम-उदार, मनविश्रामी, प्रियतम और आधारभूत बताया। सचमुच, संसार के त्रिविध ताप की ज्वाला में झुलसते हुए प्राणी के लिए परमात्मा का ही आधार है, वही अकारण बन्धु हैं, अहैतुक मित्र हैं, निष्काम प्रेरक या मार्गदर्शक हैं, निःस्वार्थ विश्ववत्सल हैं।

अब अगली गाथाओं में परमात्मा के दर्शन के अनेक लाभ बताते हैं—

दरिसण दीठे जिनतणुं रे, संशय न रहे वेध।
दिनकर करभर पसरतां रे, अन्धकार-प्रतिषेध॥
विमल० ॥५॥

अर्थ

श्रीवीतराग परमात्मा (शुद्धआत्मस्वरूप) के दर्शन होने से किसी भी प्रकार के विरोध या विघ्न की शंका नहीं रहती। जैसे सूर्य की किरणों का जाल फैलते ही अन्धकार (रुक नष्ट हो) जाता है। वैसे ही आपके दर्शन होते ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।

भाष्य

वीतरागप्रभु के दर्शन का साक्षात्फल

पूर्वगाथाओं में वीतराग-परमात्मा के दर्शन से पहले की भूमिका के रूप में उनके चरणकमल में लीनता और संसार की श्रेष्ठतम मानी जाने वाली वस्तुओं के प्रति उदासीनता का दिग्दर्शन किया गया था; इस गाथा में परमात्मा के दर्शन का साक्षात्फल बताते हुए सूर्यकिरणों की उपमा दी है। जैसे सूर्य की किरणों के फैलते ही घोर से घोर अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रभु के दर्शनों की प्राप्ति होते ही मन में चाहे जितने वहम, शंकाएँ,

अश्रद्धा, अविश्वास, मिथ्यावासना, अज्ञान, सम्मोह आदि चाहे जितने भरे हों, आपके दर्शन (परमात्मस्वरूपदर्शन) होते ही आत्मविकास में बाधक ये तमाम विघ्न नष्ट हो जाते हैं। आत्मा स्वाभाविक रूप से निर्मल हो जाती है। उसके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पड़ता। संशय अपने आप मिट जाता है और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। **'संशयात्मा विनश्यति,** इस कहावत के अनुसार जो व्यक्ति अधिक शंकाशील संशयात्मा होता है, उसका जीवन नष्ट हो जाता है, परन्तु अगर वह वीतराग-परमात्मा का सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप-दर्शन) प्राप्त कर ले तो उसका तमाम संशय भाग जाता है। उसकी आत्मा में सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। परमात्मा के दर्शन का यह तात्कालिक फल है। चारों ओर से विरोध और अवरोध (विघ्न) पैदा हो रहे हों, वे भी आपके यथार्थ दर्शन से मिट जाते हैं।

वास्तव में वीतराग परमात्मा के यथार्थस्वरूप का दर्शन ही उनका दर्शन है, उस दर्शन के होते ही, उस पर दृढ़ आस्था के कारण निःसंशय प्रतीति हो जाती है कि मुझे अवश्य ही परमानन्द-प्राप्ति होगी। निश्चयनय की दृष्टि से प्रभु के और मेरे स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है; इस बारे में परमात्मा के स्वरूपदर्शन होने पर साधक को कोई शंका नहीं रहती। यह तो हुई परमात्मा के सूक्ष्म (आत्मस्वरूप) दर्शन के साक्षात्फल की बात। अब अगली गाथा में परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

अमियभरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय।
दृष्टि सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय॥

॥ विमल० ॥ ६ ॥

अर्थ

अमृत से भरी आपकी आकृति (परम औदारिक शरीरात्मक) (शुभनामकर्म के कारण) रची हुई है, संसार की किसी वस्तु के साथ जिसकी उपमा (तुलना) नहीं की जा सकती। वह रागद्वेष की उष्णता से रहित (शान्त), परमकारुण्य-सुधारस से ओतप्रोत है। जिसे चर्मचक्षु या ज्ञानचक्षु से देखने पर तृप्ति ही नहीं होती।

भाष्य

परमात्मा के स्थूलदर्शन और उनका साक्षात्फल

पूर्वगाथा में वीतराग परमात्मा के सूक्ष्मदर्शन के तात्कालिक फल का वर्णन था, इसमें श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल वताया है। वीतरागप्रभु के सूक्ष्मदर्शन का तत्कालफल तो वहुत ही अनुपम है, किन्तु उनके स्थूलदर्शन का भी फल कम नहीं है।

वीतरागपरमात्मा के स्थूलदर्शन दो प्रकार से हो सकते हैं—एक तो उनके जीवनकाल में उनकी औदारिक देहाकृति के दर्शन, दूसरे उनके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त हो जाने के वाद इस लोक में उनके स्थूलदर्शन की पूर्ति के रूप में (यानी उनकी औदारिक देहाकृति को ऐवज में) उनकी प्रतिकृति (मूर्ति) के भावपूर्वक दर्शन।

यद्यपि परमात्मा के स्थूलदर्शन के साथ भी आत्मस्वरूपभाव होना आवश्यक है, अन्यथा परमात्मा की स्थूल देह या उनकी प्रतिमा के देखने पर भी दर्शक का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

स्थूलदर्शन के पहले प्रकार में श्रीआनन्दघनजी (साधक) कहते हैं—"वीतराग प्रभो ! (विमलनाथ तीर्थंकर) आपकी आकृति ही अमृतरस से लवालव भरी हुई है, जिसे नामकर्मरूपी चित्रकार सवके शरीर को रचता है; परन्तु आपकी देहाकृति परम उत्कृष्ट, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस, शुभस्पर्श, शुभ संहनन—संस्थान आदि से निर्मित है, जिसकी उपमा के लायक संसार में कोई उपमेय पदार्थ नहीं है। यद्यपि सूर्य, चन्द्र, मेरु आदि पदार्थ सुन्दर जरूर हैं, किन्तु आपके साथ इनमें से किसी की उपमा घटित नहीं हो सकती ; क्योंकि इनमें से कोई भी पदार्थ शान्तसुधारस का धारण नहीं करते, और अधिक समय तक देखने पर नेत्रों को कष्ट देते हैं। इसलिए उनमें अरुचि पैदा होजाती है, जवकि आपकी देहाकृति में परमकरुणामय शान्तसुधारस छलक रहा है। इस कारण कोई भी सम्यग्दृष्टि आपको देखता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती वल्कि आपके वारवार दर्शन करने वाले को आनन्द होता है। इसी भाव को; द्योतित करते हुए भक्तामरस्तोत्र में कहा है—[1]शान्तरस में रंगे हुए जिन पर-

---

१. देखिये 'भक्तामरस्तोत्र' में—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं।
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानपरं नहि रूपमस्ति ॥

माणुओं से आपका शरीर बना है, वे परमाणु जगत् में उतने ही थे। अतः तीनों भुवन में एकमात्र सुन्दर हे जिनवर! आपके जैसा किसी दूसरे का रूप नहीं है। आपका कोई उपमेय ही नहीं है। [1] क्योंकि गम्भीरता समुद्र के साथ घटित हो सकती है। स्थिरता=धैर्य में पर्वत की उपमा दी जाती है। निर्मलता=स्वच्छता के लिए शरदऋतु के दिन की उपमा दी जाती है। मनोहरता की चन्द्र के साथ, विशालता की पृथ्वी के साथ, तेजस्विता की सूर्य के साथ एवं बलिष्ठता की पवन के साथ उपमा घटित हो सकती है। परन्तु आप (तीर्थंकरप्रभु) के अपरिमित माहात्म्य के साथ तुलना की जा सके ऐसा कोई उपमान ही जगत् में प्रतीत नहीं होता। उपमा समान गुणों वालों की दी जाती है। परन्तु जो गुणों में हीन हो, वह समान कैसे बन सकता है? अतः आपके साथ गुणों में समानता (बराबरी) कर सके, ऐसी कोई वस्तु दुनिया में नजर नहीं आती। तो फिर आपसे अधिकता रखने वाली वस्तु जगत् में और कोई हो सकती है? नहीं हो सकती, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। और हीन के साथ तो उपमा दी ही नहीं जा सकती। इसलिए आप अनुपम हैं।" इसी भाव को व्यक्त करने लिए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—'**उपमा घटे न कोय।**' साथ ही यह भी कह दिया है कि '**निरखत तृप्ति न होय।**' मतलब यह है कि आपकी देहरचना मानो अमृत का सार निकाल कर बनाई गई हो, इस कारण उसे किसी भी पदार्थ से उपमा नहीं दी जा सकती और ऐसा मालूम होता है कि उसे एकटक देखता ही रहूँ। उसे देखते-देखते नेत्रों को तृप्ति ही नहीं होती। शान्तसुधारस से ओतप्रोत आपकी अमृतमयी देहाकृति देख कर तीनों लोक के इन्द्र-नरेन्द्र आदि आपके चरणकमलों में झुक कर अपने आप में परमशक्ति अनुभव करते हैं।

स्थूलदर्शन के दूसरे प्रकार की दृष्टि से इसका अर्थ कई विवेचनकार यों करते हैं—आपकी मूर्ति (आपके देह की प्रतिकृति) अमृत से परिपूर्ण बनाई गई

---

१. देखिये सिद्धसेनदिवाकरसूरिकृत पञ्चमी द्वात्रिंशिका में—

"गम्भीरमम्बुनिधिनाऽचलैः स्थिरत्वं, शरद्दिवा-निर्मलमिष्टमिन्दुना।
भुवा विशालं, द्युतिमद् विवस्वता, बलप्रकर्षः पवनेन वर्ण्यते ॥ ३ ॥
गुणोपमानं न तवात्र किञ्चिदमेय—माहात्म्यसमञ्जसं यत्।
समेन हि स्यादुपमाऽभिधानं, न्यूनोऽपि तेनाऽस्ति कुतः समानः ॥ ४ ॥"

है और इतनी सरस बनाई गई है कि दुनिया में किसी (मूर्ति) के साथ उसकी तुलना नहीं की जा सकती। उस वीतराग-प्रतिमा की दृष्टि अमृतरस से मानो तरबतर है। जिसे देखते हुए नेत्रों को कभी तृप्ति नहीं होती।" मतलब यह है कि आपकी (तीर्थंकरदेव की) मूर्ति अमृत से भरपूर बनाई गई है, जिसके हाथ में हथियार नहीं है, इस कारण रौद्ररूप नहीं है। जिसे देखते ही शान्ति हो जाती है। दुनिया में तीर्थंकर या वीतराग के सिवाय किसी भी देव की मूर्ति देखें तो आपको प्रतीत होगा कि या तो उससे हाथ में कोई भयंकर शस्त्र-अस्त्र होगा, अथवा उसका रूप भयंकर होगा; खुल्ली आँखें और भयावने रूप को देख कर ही मनुष्य घबरा जाता है। आपकी मूर्ति तो पर्यंकासन में स्थित है, किन्तु कामदेव आदि की मूर्ति के समान आपके बगल में कोई स्त्री नहीं होती। बल्कि वह शान्तरस में निमग्न हो, इस प्रकार की भाववाहिनी बनाई गई है। भोजराजा के दरबार में प्रसिद्ध जैनपण्डित कवि धनपाल ने तीर्थंकर (देवाधिदेव) की मूर्ति के लिए उद्‌गार निकाले हैं—

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमङ्कः कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्धवन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव॥

अर्थात्—" जिसकी दोनों आखें प्रशमरस में निमग्न हैं, जिसका वदनकमल प्रसन्न है, जो स्त्रीसंग से रहित है, हाथ शस्त्र के सम्बन्ध से रहित हैं; हे वीतराग प्रभो! जगत् में ऐसा वास्तविक देव, तू ही है।" तात्पर्य यह है कि वीतराग देव ही आदर्श एवं पूज्य हैं। वही अनुपमेय है। मेरी आँखें आपके इस अनुपम को देख कर तृप्त ही नहीं होतीं।

परन्तु ध्यान रहे, स्थूलदर्शन के द्वितीय प्रकार की दृष्टि से यह अर्थ तभी संगत होता है, जब वीतराग-दर्शन के समय सम्यग्दर्शनयुक्त भावधारा मन में प्रवाहित हो रही हो। भावधारा के बिना यह अर्थ बिलकुल संगत नहीं हो सकता।

अब इस स्तुति का उपसंहार करते हुए श्री आनन्दघन जी वीतरागदेव से एक परमभक्त सेवक के रूप में प्रार्थना करते हैं—

एक अरज सेवक तणी, अवधारो जिनदेव।
कृपा करी मुज दीजिये रे, 'आनन्दघन'-पद-सेव॥

॥ विमल० ॥७॥

अर्थ

जिनदेव ! सेवक की सिर्फ एक अर्ज है, जिस पर आप ध्यान दें (लक्ष्य में लें। वह यह है कि कृपा करके मुझे आनन्दघन-परमात्मपद की सेवा दीजिए।

भाष्य

आनन्दघनपद-सेवा की प्रार्थना क्या और क्यों ?

श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति की पूर्वगाथाओं में **'साहेब, समरथ तु धणीरे'** तथा **'धींगधणी माथे कियो रे'** कह कर वीतरागप्रभु को स्वामी व नाथ के रूप में स्वीकार किया है; तब यह स्वाभाविक है कि वह उनके समक्ष सेवक के रूप में (स्वामी से) उचित याचना या प्रार्थना करे। इसलिए श्री आनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सिर्फ एक अर्ज करते हैं।

कोई कह सकता है कि वीतरागप्रभु तो किसी को कोई पदार्थ देते-लेते नहीं हैं, वे तटस्थभाव में, स्वभाव में (रागद्वेषरहित हो कर) स्थित हो कर सबका कल्याण चाहते हैं, फिर ऐसे वीतरागप्रभु से किसी चीज की याचना करना कहाँ तक उचित है ? क्योंकि प्रत्येक प्राणी को अपने शुभाशुभकर्मानुसार इष्ट या अनिष्ट वस्तु फल के रूप में मिलती है; परमात्मा या कोई भी देव किसी के शुभकर्मों के फल को अशुभ में परिणत नहीं करते और न ही अशुभकर्मों के फल को शुभ में बदल सकते हैं। इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी स्वयं आध्यात्मिक साधुपुरुष हैं, वे कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली किसी भी वस्तु की याचना वीतरागप्रभु से नहीं करते और न ही वीतरागोपासक कोई ऐसी याचना कर सकता है। वे शरीर-सम्पत्ति, पुत्र, परिवार, धन्यधान्य, भूमि, स्त्री, स्वर्गादि की ऋद्धि, सिद्धि, मणि, मंत्र या औषध आदि कर्मफलजन्य भौतिक पदार्थों की याचना नहीं करते, वे अन्य सेवकों की तरह लोभी नहीं हैं, और न ही मिथ्यादर्शन या अज्ञान से युक्त हैं। वे वर्तमान में अपनी आत्मशक्ति कम होने के कारण आध्यात्मिक शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए वीतरागदेव से सिर्फ एक ही, और वह भी आध्यात्मिक याचना करते हैं कि "प्रभो ! इस भव में तथा परभव में मुझे आप (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) की पदसेवा =चरणसेवा मिले।" इसे ही वे भक्ति की भाषा में कह देते हैं-'कृपा करी

मुज दीजिए रे' इसके लिए वे भगवान् का ध्यान खींचते हैं कि मेरी एक ही अर्ज है, और वह भी आध्यात्मिक है, उस पर तो आपको ध्यान देना ही होगा। क्योंकि मैं आपका सेवक बना हूँ। आपके आदेश-निर्देश के अनुसार मैं चलता आया हूँ और चलने का प्रयत्न करूंगा। वह अर्ज क्या है?—**परमात्मपद की सेवा**। इसी तरह की प्रार्थना [1]अन्य आचार्यों एवं साधकों ने भी की है। यह प्रार्थना सिर्फ आत्मविकास की सूचक है।

यद्यपि वीतरागप्रभु किसी को कोई आध्यात्मिक शक्ति भी देते नहीं, किन्तु जिसका उपादान प्रबल हो, उसे वे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होने में निमित्त बन सकते हैं। जैसे गुरु शिष्य में ऊपर से ज्ञान उड़ेलता नहीं; किन्तु योग्य शिष्य हो, जिज्ञासु हो और आराधना-साधना के लिए उद्यत हो तो गुरु उसकी ज्ञानवृद्धि या ज्ञान की अभिव्यक्ति में निमित्त बन जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ श्रीआनन्दघनजी की परमात्मा इस आध्यात्मिक शक्ति की याचना के पीछे भी यही रहस्य है कि परमात्मा की चरणसेवा के लिए पुरुषार्थ तो वे स्वयं करेंगे ही; इसीलिए इस स्तुति में पहले वे परमात्मा के चरणों की भव्यता, निर्मलता एवं उनके अनुपमेय व्यक्तित्व की महिमा का कथन कर चुके हैं। इसी से आकर्षित हो कर वे संसार की समस्त आकर्षक व मनोज्ञ वस्तुओं को तुच्छ और हेय समझ कर एकमात्र परमात्मा के चरण गहने को तैयार हुए हैं। हृदय की प्रबल उर्मियों से उद्भूत उद्गार हैं ये! ऐसी प्रबल भक्तिभावना से की गई प्रार्थना सफल भी होती है। परमात्मा जब अपने आध्यात्मरसिक आत्मसाधकभक्त की पुकार को अपने ज्ञान में जानते हैं तो प्रायः उनके निमित्त से जिज्ञासु भक्त के अंतर में ज्ञान का महाप्रकाश प्रकट हो जाता है। भगवद्गीता की भाषा में कहूँ तो यह प्रार्थना एक ज्ञानी भक्त की प्रार्थना है, जिसमें भगवान् से और किसी चीज की याचना न हो कर परमात्मपद (निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप में रमणता

१- 'मम हुज्ज सेवा भवे. भवे तुम्ह चलणाणं' (आपकी चरणसेवा मुझे भव भव (जन्म-जन्म) में मिला करे), 'तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूयाः' (एकमात्र आपकी शरण में आये हुए शरण लेने योग्य प्रभो! आपकी शरण (सेवा) प्राप्त हो), सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु'। २ क्योंकि पद या चरण कहा जाता है।

=लीनतारूप चारित्र) की सेवा=प्राप्ति की प्रार्थना है। अथवा परमात्मपद (वीतरागपद मुक्तिपद) प्राप्त करने की यह प्रार्थना है। तात्पर्य यह है कि आनन्दघनजी व्यवहारदृष्टि से निरतिचार चारित्र-पालन करके, निश्चयदृष्टि से स्वरूपरमण-रूपचारित्र-पालन करके 'तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्' के अनुसार परमात्मा की आज्ञाराधनारूप सेवा करना चाहते हैं।

सारांश

विमलनाथ तीर्थंकर (परमात्मा) की इस स्तुति में परमात्मा को स्वामी (आदर्श) मान कर दिव्यनेत्रों से उनके सर्वांगीण दर्शन के रूप में उनके नयन, चरण, मन, दीदार, आत्मा, आकृति आदि समस्त अंगों की सेवा करके श्रीआनन्दघनजी एक अध्यात्मरसिक सेवक का दायित्व और कर्तव्य सूचित करते हैं। इसीलिए अन्त में परमात्मा की सांगोपांग सेवा प्राप्त होने की याचना करते हैं।

१४ : श्रीअनन्तनाथ-जिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा की चरणसेवा

(तर्ज-विमल कुलकमलना हंस तु जीवड़ा, राग, कड़खा, रामगिरि)

धार तरवारनी सोहली दोहली, चउदमा जिनतणी चरणसेवा ।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवनाधार पर रहे न देवा ।।धार०।।१।।

अर्थ

तलवार की धार पर चलना सरल (सुगम) है, किन्तु चौदहवें जिन (वीतराग प्रभु) की चरणसेवा दुर्लभ (दुष्कर) है। तलवार की धार पर नाचते हुए कुशल बाजीगर दिखाई देते हैं। किन्तु वीतराग की चरणसेवा की धारा पर भवनपति आदि देव भी नहीं टिक सकते, मनुष्यों का तो कहना ही क्या ?

भाष्य

परमात्मा की चरणसेवा का रहस्य

तेरहवें तीर्थंकर परमात्मा की स्तुति के अन्त में श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से चरणकमल की सेवा की याचना की है, इसमें किसी को शंका हो सकती है, कि आखिर उन्होंने ऐसा क्या माँग लिया ? प्रभु की सेवा तो माँगे बिना ही मिल सकती है। इस शंका के निवारण करने के लिए चौदहवें तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति में बताया गया है कि वीतरागप्रभु की चरणसेवा आसान नहीं है। वह तलवार की धार पर चलने से भी बढ़कर दुष्कर है।

वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा[1] का अर्थ वास्तव में व्यवहारदृष्टि से सामायिक आदि चारित्रपालन की आज्ञा का परिपालन है। संक्षेप में कहें तो भगवान् की आज्ञा की आराधना ही उनकी सेवा है। स्वयं तीर्थंकर महावीर

---

१. वीतराग-स्तुति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा—'तव सपर्यास्तवाज्ञा-परिपालनम्' (आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी सेवा है)

ने अतिदुर्लभ चार बातों में से एक संयम (चारित्रपालन) में आत्मा के पुरुषार्थ को [1] दुर्लभ कहा है।

सवाल यह होता है कि ऐसी प्रभु-चरणसेवा इतनी दुष्कर—दुर्लभ क्यों है ? इसका समाधान यद्यपि अगली गाथाओं में स्वयमेव श्रीआनन्दघनजी ने किया ही है, तथापि संक्षेप में इसके उत्तर में यों कहा जा सकता है कि आत्मा अनादिकाल से आत्मस्वरूप में रमण (परमात्म-चरण) की धारा पर अखण्डित—अविच्छिन्नरूप से चलने में भूल करती आ रही है। वह भूल क्यों होती है ? कैसे होती है?, इस विषय में वास्तविक जिम्मेवार तो आत्मा स्वयं ही है, निमित्तरूप से जिम्मेवार द्रव्यकर्म, परपदार्थ आदि कारण बताये जाते हैं। जो भी हो, आत्मा के पुरुषार्थ की कमी ही परमात्म-चरणसेवा में बाधक कारण हैं। असावधानी (प्रमाद) ही आत्मा को नीचे गिराती है, ११ वें गुणस्थान पर पहुँची हुई उत्तम आत्मा का ठेठ दूसरे गुणस्थान तक पतन होने में वही कारण है। पूर्णतया आज्ञाराधना—यथाख्यातचारित्र में—बारहवें गुणस्थान में होती है, वही प्रभुचरणसेवा है, वहाँ तक पहुँचना कितना दुर्लभ है? इसे प्रत्येक साधक जानता है। उसके बीच में कभी सम्यग्दर्शन में, कभी सम्यग्ज्ञान में और कभी सम्यक्चारित्र में अन्तरायभूत कितने ही बाधकतत्व आते हैं, मोह उन सबमें प्रधान है। राग,द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय आदि को जीत कर ही भगवच्चरणों के समीप पहुँचा जा सकता है। इनके जीतने का मार्ग भी पकड़ लिया, साधक का वेष भी धारण कर लिया, और महाव्रतों का स्वीकार भी कर लिया, किन्तु इतने मात्र से इन बाधकतत्वों को जीता नहीं जा सकता। इन्हें जीतने के लिए सतत सावधानी, सदा आत्मस्वरूपलक्ष्यी क्रिया, आत्मलक्ष्यी ज्ञान और मोक्षमार्ग या परमात्मतत्व पर अखण्ड अविचल श्रद्धा रखनी आवश्यक होती है। जरा-सा भी चूकने पर झट से ये बाधक तत्व आत्मा को दबा देते हैं, पीछे या नीचे धकेल देते हैं; क्योंकि तलवार की धार पर नाचते हुए कदाचित् गिर भी जाय तो उसके हाथ-पैरों को ही चोट

---

१. देखिये उत्तराध्ययन सूत्र में—

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥

पहुँचती है, मगर चारित्रसेवनारूपी असिधारा से गिर जाय यानी आज्ञाविराधना हो जाय तो अनन्तदुःखमयसंसार के जन्ममरण प्राप्त होने की पूरी सम्भावना है।

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी अपनी बात स्पष्ट कह देते हैं— **धार तरवारनी सोहली दोहली**..........मतलब यह है कि यद्यपि तलवार की धार (नोक) पर नाचना अत्यन्त कठिन है। इसमें जरा-सी असावधानी होते ही प्राण खतरे में पड़ जाते हैं। किन्तु कोई सधा हुआ, कुशल-नटों द्वारा बाजीगरी की कला में प्रशिक्षित एवं निपुण तलवार की तीक्ष्ण धार पर भी चल सकता है। उसके लिए तब तलवार की धार पर चलना कोई मुश्किल बात नहीं होती, वह आसान चीज हो जाती है, परन्तु पहले बताए अनुसार वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा की धारा पर चलना अत्यन्त दुष्कर है। वह क्यों दुष्कर है ? यह हम पहले संक्षेप में कह आए हैं।

मनुष्यों के लिए तो ऐसी चरणसेवा दुष्कर है ही, पर जिन्हें संसार के सभी साधन सुलभ हैं, उन चारों प्रकार के देवों के लिए भी यह अत्यन्त दुष्कर है। यदि चरण-सेवा का अर्थ धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य आदि द्वारा प्रभु की बाह्य द्रव्यपूजा होता तो यह देवों और मनुष्यों के लिए क्या कठिन था ? और तब श्रीआनन्दघनजी को यह नहीं कहना पड़ता कि **सेवनाधार पर रहे न देवा**। इसलिए चरणसेवा का अर्थ बाह्य द्रव्यपूजा कथमपि संगत नहीं है। हाँ, भावपूजा या प्रतिपत्तिपूजा अर्थ कथंचित् सगत हो सकता है। इसी प्रकार चरणसेवा का अर्थ प्रभु के स्थूलचरणों की सेवा भी व्यवहारानुकूल नहीं है। क्योंकि वीतराग के स्थूलचरण तो तीर्थंकर अवस्था में उनके जीवितकाल में ही प्राप्त हो सकते हैं। और मान लो, कोई तीर्थंकर भगवान् के जीवनकाल में भी मौजूद हो, और प्रभु के चरणों को छू लेता है या उनके चरण दबा कर उनकी बाह्य-सेवा मान लेता है; किन्तु अगर उनकी चारित्राराधनारूप आज्ञा का पालन नहीं करता है, बल्कि उनकी आज्ञा के विपरीत आचरण, प्ररूपण या श्रद्धान करता है तो उस हालत में वह चरणों की यथार्थ बाह्यसेवा भी कैसे मानी जा सकती है ? और स्थूलसेवा का वह प्रदर्शन (दिखावा) कैसे उसका बेड़ा पार कर सकता है ? इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि तीर्थंकर-अवस्था में प्रभु की चरण-सेवा भी उनकी आज्ञा के परिपालन से चरितार्थ हो सकती है, अन्यथा नहीं।

अन्ततोगत्वा चरणसेवा के सब अर्थों का पर्यवसान तो वीतराग के आज्ञानुरूप चारित्रपालन में ही होता है।

यही कारण है कि वीतराग की चरणसेवा देवों के लिए भी दुर्लभ बताई है; नहीं तो स्थूलचरणसेवा या बाह्य द्रव्यपूजा देवों के लिए क्या दुर्लभ थी ? किन्तु देवों के लिए प्रभुचरणसेवा इसलिए दुर्लभ है कि वे मोक्षमार्ग की आराधना के लिए वीतरागदेव द्वारा प्ररूपित (आज्ञप्त) रागद्वेष, विषय-कषाय आदि को जीतने हेतु व्रत, तप, जप, संयम आदि व्यवहार चारित्र तथा आत्म-स्वरूपरमणतारूप निश्चय चारित्र का परिपालन नहीं कर सकते। देवता अव्रती होते हैं। उनसे व्रतनियमों का पालन नहीं हो सकता। इन्द्रियों के वैषयिक सुख में मग्न देवों के लिए चारित्राराधनरूप आज्ञापरिपालन यानी प्रभुचरणों की सेवा दुष्कर है। इसीलिए कहा है—'सेवनाधार पर रहे न देवा'। अवाचक (मूक) तिर्यंचों के लिए भी चरणसेवा लगभग अशक्य है और नारकों के लिए लिए सदैव नाना दुःखों में मग्न रहने के कारण सेवाधार पर चलना अशक्य है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त चरणसेवा मनुष्यों में जो सर्वविरति, आज्ञा के सर्वथा आराधक, अप्रमत्त महामुनि हैं, उनके लिए सुशक्य है।

अब अगली गाथाओं में बताते हैं कि वीतरागचरणसेवा की धार (आज्ञा-परिपालनके पथ) पर चलना क्यों दुष्कर है—

एक कहे-'सेविये विविध किरिया करी, फल अनेकान्तलोचन न पेखे।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा रड़बड़े चारगति मांहि लेखे॥
॥धार० ॥२॥

अर्थ

कई लोग कहते हैं कि "वीतराग परमात्मा की चरणसेवा (आज्ञापालन) में क्रिया भी आती है, इसलिए (भावशून्य या ज्ञानशून्य अथवा विकृतभाव से) व्रत, जप, तप, अनुष्ठान, द्रव्यपूजा आदि क्रियाएँ करके हम वीतरागप्रभु की सेवा आज्ञा का पालन करते है। परन्तु वे उसका नतीजा, (फल) जो विभिन्न प्रकार का है, आँखों से नहीं देखते (नहीं सोचते)। वे बेचारे अपनी आशा के अनुकूल अनेक फल की कल्पना करके (अथवा वे अनेक फल देने वाली) क्रिया (अज्ञानवश) करते हैं जिसके कारण वे चार गति में भटकते हैं, चक्कर लगाते फिरते हैं।

भाष्य

वीतरागचरणसेवा के अज्ञानजनित प्रकार

बहुत-से लोग ऐसा सोचते हैं कि वीतरागदेव की चरणसेवा हमारे लिए कुछ भी कठिन नहीं है। वीतरागप्रभु की आज्ञा जपादि विविध क्रियाएँ करने में हैं। क्रियाएँ करने से ही प्रभुसेवा हो जायगी। क्योंकि यह एक सिद्धान्त है–**'या या क्रिया सा सा फलवती'** जो जो क्रिया होती है, उसका कुछ न कुछ फल होता ही है। ऐसे लोग या तो अज्ञानवश लोक-परलोक की किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर कोई न कोई अनुष्ठान या क्रिया भगवान् के नाम की ओट में करते रहते हैं, अथवा क्रिया का मर्म समझे विना ही क्रिया के साथ शुद्ध आत्मस्वरूप का लक्ष्य चूक कर शुद्धभाव से शून्य क्रिया परमात्मा का नाम ले कर करते रहते हैं। कई दफा तो वे बहुत कठोर (जप, तप, कष्टसहन आदि की) क्रिया करते हैं, परन्तु उसके पीछे कोई विचार या ज्ञान नहीं होता, वे क्रियाएं केवल वृथाकष्ट बन जाती हैं। साधक समझता है कि मैं इन क्रियाओं को भगवान् के नाम से करता हूँ, इसलिए भगवान् प्रसन्न हो जायेंगे; इस प्रकार प्रभु की चरणसेवा हो जायगी। परन्तु उन्हें यह समझ नहीं कि क्रियाएँ करने मात्र से प्रभुसेवा नहीं हो जाती या निर्धारित अभीष्टपरिणाम। नहीं आ सकता जो क्रियाएँ किसी इहलौकिक या परलौकिक कामना के वश हो कर की जाएँगी, उनका फल तो मिलेगा; पर उन क्रियाओं जैसा फल नहीं मिलेगा, जो किसी भी स्वार्थ या इहलौकिक परलौकिक कामना से रहित हो कर की जाती हैं। वे **अभीष्टमोक्षफलदायिनी** होती हैं, परन्तु शुभ अथवा अशुभ परिणामों के साथ की जाने वाली क्रियाएँ संसारफलदायिनी होगी। किसी प्रकार का विचार किये विना अंधाधुंध अज्ञानपूर्वक भगवान् का नाम ले कर यन्त्रवत् क्रिया करने से भी जो उन क्रियाओं का अभीष्टफल (कर्ममुक्तिरूप) मिलना चाहिए, वह नहीं मिलता। उसका अनेकान्त १(व्यभिचारी) फल मिलता है, जो क्रिया के ईष्टप्रयोजन के विरुद्ध होता है, इस बात की वे ज्ञानशत्रु क्रियावादी अपनी विवेक की आँखों से नहीं देखते, यानी वे क्रिया के नतीजे पर सोचे-विचारे विना ही प्रभु का नाम ले कर अंधाधुंध क्रियाएँ करते हैं। ऐसे लोग भगवान् की आज्ञापालन का दम भरते हैं, लेकिन यथार्थ में वह संसार की सेवा होती है।

अथवा अनेकान्त का अर्थ एकान्त न होना भी है। कई वार क्रिया का फल मोक्षमार्ग की प्राप्ति होता है, कई वार संसारवृद्धि होता है। यानी क्रिया का फल एकांत (एक ही प्रकार का) नहीं होता। इस बात को क्रियावादी नहीं देखते नहीं विचारते। कुछ लोग क्रिया के अनेक (विभिन्न) फलों को तो जानते-मानते हैं, पर वे इस भव या परभव में सुखसुविधाएँ, वैभवादि की प्राप्ति की आशा से क्रियाएँ करते रहते हैं। वे क्रियाएँ फल तो अवश्य देती हैं, पर उसे हम सच्चे माने में फल नहीं कह सकते, स्थायी सुख देने वाले फल को ही हम वास्तविक फल कह सकते हैं। अस्थायी फलवाली क्रियाओं से तो वे वेचारे एक से दूसरी गति में, दूसरी से तीसरी गति में भ्रमण करते रहते हैं। देवगति या मनुष्यगति में मिलने वाले पौद्‌गलिक सुखरूप फल भी क्षणिक और अस्थायी होते हैं। कई वार तो ऐसा पौद्‌गलिक सुख भी नहीं मिलता। ऐसा क्रियाफल तो चारगतियों में भटकाने वाला और संसारवृद्धि का कारण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिए वह क्रिया उपादेय नहीं हो सकती।

पहले हम पांच प्रकार की क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं। वे इस प्रकार हैं—विषक्रिया, गरलक्रिया, अननुष्ठानक्रिया, तदहेतुक्रिया और अमृतक्रिया। इन में से प्रथम तीन क्रियाएँ चारों गतियों में भ्रमण कराने वाली हैं। शेष दो क्रियाएँ मोक्षप्राप्ति की कारणभूत हैं। ज्ञानशून्य क्रियावादी प्रथम की तीन क्रियाओं से देव-नरकादि चारों गतियों में भटकता रहता है। अतः प्रभुचरण—सेवारूप क्रिया शुद्धात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति का फल देने वाली हो, वही उपादेय है।

निष्कर्ष यह है कि संसार में प्रायः एकान्तक्रियावादी लोगों की पूर्वोक्त मान्यता के कारण प्रभुचरण-सेवा दुर्लभ है।

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी तत्त्वज्ञाननिष्ठ लोगों के झूठे ममत्वयुक्त व्यवहार के कारण प्रभुचरण-सेवा को दुर्लभ बताते हुए कहते हैं—

---

१. अनेकान्त का अर्थ यहाँ व्यभिचारी हेत्वाभासरूप दोष है, जिसका लक्षण है- माने हुए कारण से तदनुसार कार्य न होना या माने हुए हेतु के अनुसार साध्य का न होना। यहां कार्य...फल के साथ विसंवादी कारण होने से व्यभिचार (अनेकान्त) दोष है।

गच्छना भेद बहु नयण निहालतां तत्त्वनी वात करतां न लाजे।
उदरभरणादि निजकाज करतां थकां, मोहनडिया कलिकाल राजे ॥
धार० ॥३॥

अर्थ

गच्छों (उपसम्प्रदायों) के बहुत-से भेद प्रत्यक्ष देखते हुए भी अफसोस है, इन लोगों को तत्त्व की बातें बघारते हुए जरा भी शर्म नहीं आती। ऐसा मालूम होता है, उदरभरण, वगैरह (बढ़िया खाने-पीने, पहनने का सामान और रहने के लिए आलीशान भवन, एवं सम्मान आदि अपने मनमाने (स्वार्थ) कार्य करते हुए ये कदाग्रही लोग कलियुग में मोह से घिरे हुए सुशोभित हो हो रहे हैं।

भाष्य

तत्त्वज्ञान बघारने वालों की परमात्मसेवा

पूर्वगाथा में ज्ञानहीन क्रियावादी लोगों के द्वारा परमात्मसेवा का निराकरण किया था, इसमें ज्ञानवादी लोगों द्वारा परमात्मसेवा के ढोंग की कलई श्रीआनन्दघनजी ने खोल दी है। परमात्मसेवा कितनी दुर्लभ है ? यह गच्छों, पंथों और सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् भेदों को देखते हुए स्पष्ट मालूम हो जाता है। जिनमें परमात्मसेवा की सच्ची लगन है, उनमें गच्छ, मत, पंथ और सम्प्रदाय के विभिन्न भेद पैदा करने, भोली जनता के सामने अपने गच्छ, मत, पंथ या सम्प्रदाय की बड़ाई और सच्चाई की डींग हांकने और दूसरों के इन गच्छादि की निन्दा और उन्हें मिथ्या कहने और लोगों को अपने गच्छादि में खींचने का झूठा आग्रह हो ही नहीं सकता। जहाँ इस प्रकार की खींचातान है, मताग्रह है, मेरा ही मत, पंथ या गच्छ सच्चा है, हमारे मत, गच्छ, या पंथ के साधक भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलते हैं, हमारा पंथ या गच्छ ही प्रभु का पंथ या गच्छ है, इस प्रकार अपने गच्छ या पंथादि की महत्ता जमाने के लिए आकाश-पाताल एक किया जाता है, ऐसे साधकों के मुंह से तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नहीं देतीं। उन्हें शर्म नहीं आती है कि हम एक ओर तो अनेकान्त की बातें बघार कर सब धर्मों, पंथों, मतों एवं दर्शनों में परस्पर समन्वय, सापेक्षता और सहिष्णुता पैदा करके विरोध मिटाने और

कदाग्रह छोड़ने की बड़ी-बड़ी बातें करते हैं किन्तु दूसरी ओर से हम ही गच्छों, पंथों आदि के भेदों से चिपटे हुए हैं, सम्प्रदायमोहवश एक दूसरे में परस्पर, भेद डाल कर अथवा अनुयायियों के मन में अपने से भिन्न मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि की निन्दा करके घृणा पैदा करते हैं। जहाँ तत्त्वज्ञान हो, वहाँ ममत्व की वृत्ति शोभा नहीं देती। जहाँ तत्त्व हो, वहाँ ममत्व नहीं और जहाँ ममत्व हो, वहाँ तत्त्व नहीं होता। परन्तु इन कलियुगी साधकों की तो बात ही निराली है। इनका ऊपर का साधु-वेष और वचनाडम्बर देख कर भोले-भाले लोग उनके वाग्जाल में फँस जाते हैं, वे इनकी ढोल में पोल को जान नहीं पाते। किन्तु वास्तव में ऐसे साधक दम्भी हैं, वे थोथे तत्त्वज्ञान द्वारा ही परमात्मचरणसेवा हो जाना मानते हैं, पर ऐसा मालूम होता है कि ये सब बातें केवल पेट भरने, प्रतिष्ठा पाने, वस्त्रादि अन्य साधन लेने एवं अपना स्वार्थ सिद्ध करने की हैं; और इस कलियुग में वे अन्दर से मिथ्यात्व-मोहनीय कर्म के चंगुल में फँसे हुए हैं; केवल बाहर से शोभायमान लगते हैं, अन्दर से तो मोह की मजबूत गाँठ से जकड़े हुए हैं।

वास्तव में श्रीआनन्दघनजी ने आज के तथाकथित तत्त्वज्ञानवादी लोगों को कड़ी चेतावनी इसमें दे दी है। ऐसे कलियुगी गुरुओं के कारण ही परमात्मा की यथार्थसेवा इस युग में दुर्लभ हो रही है। आज के युग में तथाकथित साधक आचार्य, सूरिसम्राट्, मुनिपुंगव, प्रखरवक्ता, अध्यात्मयोगी, योगीराज, आत्मार्थी आदि बन कर लच्छेदार भाषा में तात्त्विक बातें बघारते रहते हैं, परन्तु उनके व्यवहार को देखा जाय तो वे अत्यन्त संकीर्ण, अनुदार, दूसरे सम्प्रदाय, या, पंथ (गच्छ) के साधुओं से घृणा, छुआछूत या भेदभाव करने वाले, दूसरों को मिथ्यात्वी समझने वाले प्रतीत होते हैं। मन.कल्पित क्रियाकांड, वेष, पंथ, मत, या गच्छ की थोथी महत्ता की डींग हाँकने वाले के मुख से आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नहीं देतीं। मोह के शिकंजे में फँस कर ऐसे लोग तत्त्वज्ञान छाँट कर पूँजीपतियों को अपने भक्त बना लेते हैं, वे इनके बढ़िया खानपान, आवश्यकताओं मानप्रतिष्ठा आदि स्वार्थ की पूर्ति कर देते हैं, ये उन्हें पुण्यवान् भाग्यशाली, सेठ, दानवीर आदि विशेषणों से सत्कृत-सम्मानित कर देते हैं। इस प्रकार इनके तत्त्वज्ञान का उपदेश परमात्मा की चरणसेवा का प्रयोजन सिद्ध करने वाला नहीं होता; वह एक प्रकार से मोहलिप्त स्वार्थसेवा करने वाला हो जाता है।

आगे की गाथा में परमात्मसेवा की फिर दुर्लभता सूचित की है—

वचननिरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचनसापेक्ष व्यवहार साचो॥
वचननिरपेक्ष व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कोई राचो॥
धार० ॥४॥

अर्थ

जिन प्रवचन (परमामा की आज्ञा की, निश्चय दृष्टि में आत्मतत्त्व की अपेक्षा से रहित, विसंगत व्यवहार (धार्मिक आचार) मिथ्या हैं; परमात्मवचन से साथ वचन (आत्मतत्त्व) से निरपेक्ष व्यवहार संसाररूप फल का प्रदायक है। ऐसा सुन कर उसे आदर क्यों देते हो? उसमें क्यों फँसते हो?

भाष्य

वचननिरपेक्ष और वचनसापेक्ष व्यवहार

वीतराग परत्मामा के अनेकान्तवाद से सने वचन या प्रवचन अथवा आत्मतत्त्वलक्ष्यी वचन से सापेक्ष व्यवहार ही वास्तव में जिनाज्ञा का अनुसरणकर्त्ता होने से सच्चा है। यहाँ व्यवहार का अर्थ व्यवहारचारित्र यानी धार्मिक आचार-विचार से है।[1] जो व्यवहार धर्मार्जित एवं तत्त्वज्ञपुरुषों द्वारा इहलोक में सदा आचरित होता है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ साधक निन्दा का भागी नहीं बनता। जैनागमों में पांच प्रकार का व्यवहार बताया है—आगम-व्यवहार, श्रुतव्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणाव्यवहार और जीतव्यवहार। ये पाँचों व्यवहार जैनसाधुवर्ग के बाह्याचारों तथा विधानों से सम्बद्ध हैं। ऐसे साध्वाचार-सम्बन्धी विधानों का वर्णन व्यवहार सूत्र आदि में मिलता है। पांचों में से कोई भी व्यवहार सूत्रचारित्ररूप-धर्म से अनुप्राणित हो वही वचन सापेक्ष व्यवहार कहलाता है, जो व्यवहार जिनप्रवचन, वीतराग-सिद्धान्त या निश्चयनय से सम्मत न हो; वह निरपेक्षव्यवहार है।

समग्र जैनदर्शन नयवाद पर आधारित है। एक बात एक दृष्टिबिन्दु से सच्ची होती है, वही दूसरे दृष्टिबिन्दु से बिलकुल उलटी प्रतीत होती है।

---

१. जैसे कि उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है—

धम्मज्जियं च व्यवहारं, बुद्धेहाऽयरियं सदा।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई॥

इस अपेक्षावाद को यथार्थरूप से समझ कर जो आचरण, प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उसका वह व्यवहार वचनसापेक्ष होने के कारण सच्चा व्यवहार (नय) है। परन्तु इसके विपरीत जो अपेक्षा या दृष्टिबिन्दु को ठीकतौर से न समझ कर एकान्त एक ही दृष्टि से आचरण, प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उसका वह व्यवहार वचननिरपेक्ष होने के कारण मिथ्या है।

इस प्रकार का वचननिरपेक्ष व्यवहार अथवा आत्मतत्त्व की अपेक्षारहित परमार्थमूलहेतुभूतरहित व्यवहार (निश्चय को लक्ष्य में न रख कर की हुई व्यवहारक्रिया) का फल तो चारगति में भ्रमण-रूप संसार ही है। यहाँ जैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को संसारवृद्धिरूप फलदाता कहा है, वैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को छोड़ कर एकान्त निश्चय भी उपलक्षण से संसार वृद्धिरूप फलदाता समझ लेना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि योगी आनन्दघनजी उस युग के मतवादी (मताग्रही) गच्छ (पंथ) वासियों अथवा क्रियाकाण्डियों के मोक्षफल को तथा आत्मज्ञान की अपेक्षा रहित कथन-श्रद्धान-आचरण देख कर या अनुभव करके कहते हैं, जो लोग मनगढंत अटपटी क्रियाओं को धर्म या भगवान् के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा आदि के ममत्व से सापेक्ष जिनप्रवचन का व्यवहार करते हैं, वे भी एकान्तवादी या अपने ही कल्पित मत को सच्चा मानने वाले साधक संसार की वृद्धि करते हैं। जिसे गच्छ, मत, पंथ या अपने माने हुए तथाकथित सावद्य अनुष्ठान का आग्रह नहीं है, जो सम्यक् (आत्म) ज्ञान की वृद्धि की अपेक्षा रख कर जिनप्रवचन-अनेकान्तवाद का व्यवहार करता है, वह आत्मकल्याण की अपेक्षा (मद्देनजर) रखते हुए अनेकान्तवचन बोलता या कहता है, वही संसारसागर से पार उतरता है।

यही कारण है गच्छ-मतादि के आग्रह के कारण जो आत्मस्वरूप-निरपेक्ष आचरण करते हैं, उन्हें देख कर श्रीआनन्दघनजी को व्यथित मन से कहना पड़ा—**'सांभली आदरी कांई राचो'** इस बात को भलीभांति सुन लेने पर भी उसको अपना कर क्यों उसमें मशगूल हुए हो ?"

उसी व्यवहार की ओट में देवगुरु-धर्म पर श्रद्धा न रख कर जो क्रिया की जाती है ; उसके परिणाम को बताने के लिए अगली गाथा में कहते हैं—

देव-गुरु-धर्मनी शुद्धि कहो रहे केम रहे शुद्धश्रद्धान आणो ,
शुद्ध श्रद्धानविण सर्वकिरिया करी, छार पर लीपणु तेह जाणो ।,
धार० ।।५।।

अर्थ

ऐसे निरपेक्षवचनवादी लोगों से देव, गुरु और धर्म की शुद्धि (पवित्रता) या शुद्धिभक्ति कैसे सुरक्षित रह सकती है ? और इस तत्त्वत्रयी की शुद्धि या शुद्धभक्ति के बिना शुद्ध श्रद्धान कैसे लाया जा सकता है ? तथा शुद्ध श्रद्धा के बिना यह समझ लो कि समस्त क्रियाएँ राख (धूल) के ढेर पर लीपने के समान है ।

भाष्य

देव-गुरु-धर्म पर शुद्ध श्रद्धा से रहित क्रिया का फल

वहुत से मत-पंथवादी या नास्तिक विचारधारा वाले लोग अपने-अपने पंथों, गच्छों, सम्प्रदायों या मतों की विचारधारा का आग्रह रख कर अपनी परम्परा (फिर चाहे वह संसार बढ़ाने वाली क्रिया या प्ररूपणा से सम्वन्धित हो) से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटना चाहते । अपनी लौकिक या भौतिक फलाकांक्षा के वशीभूत हो कर वे अपने माने हुए देवी-देवों या अवतारों को भी उसी रंग में रंग लेते हैं ; देवीदेवों या अवतारों को भगवान्-भगवती या विश्वमाता का रूप दे कर उन्हीं के नाम से सभी तत्फलावलम्बी क्रियाएँ करते रहते हैं, वैसी ही लौकिक संसारवृद्धि करने वाली प्ररूपणा करते हैं या श्रद्धा रखते हैं, तव जो वीतराग वीतदोष देव हैं, कंचनकामिनी के त्यागी महाव्रती सच्चे गुरु (साधु) हैं, अथवा मोक्षमार्गदर्शक अथवा कर्ममुक्तिदर्शक शुद्धात्मरमणरूप धर्म है, उन पर शुद्ध श्रद्धा कैसे रह सकती है ? या उनकी विचारधारा, श्रद्धा, प्ररूपणा या क्रिया में जो दोष हैं, उसकी शुद्धि कैसे होगी ? वहुत-से लोग अपने अशुद्ध विचारों का निरूपण करते हुए सच्चे देव, सद्‌गुरु और सद्धर्म पर आस्था उखाड़ने की कोशिश करते हैं । वे सामान्य लोगों को भी इन सवसे ऊपर उठ कर सोचने की, इनको हृदय से निकालने की जोर-शोर से प्रेरणा करते हैं । इसका नतीजा यह होता है कि वे वेचारे या तो चमत्कारों या उक्त विचारकों के मायाजाल में फंस जाते हैं, या लौकिक

फलाकांक्षावादी बन कर फिर उन्हीं को भगवान् पैगम्बर या गुरु मान बैठते हैं। इस प्रकार न तो वे उच्च भूमिका (गुणस्थान) पर पहुँच पाते हैं, जहाँ देव-गुरु-धर्म की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उनमें स्वतः देवत्व, गुरुत्व और शुद्ध धर्मतत्त्व प्रगट हो जाता है। किन्तु वे भोलेभाले लोग तो इतनी उच्च भूमिका को छू नहीं पाते और न ही सच्चे देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा रख कर चल पाते हैं। वे त्रिशंकु की तरह अधबीच में ही लटके रह जाते हैं। इसलिए परमात्मतत्व को प्राप्त करने के लिए जो बुनियादी तीन तत्त्व हैं—सम्यग्देव, सम्यग्गुरु, और सद्धर्म ; उनकी शुद्धि यानी दर्शनविशुद्धि वे नहीं कर पाते। इसका नतीजा यह होता है कि वे विविधमत-पंथवादियों के पास इधर-उधर भटकते रहते हैं, बाह्य दृष्टि से भी और आत्मिक दृष्टि से भी वे जन्ममरणरूप संसार में भटकते रहते हैं। वे देवगुरुधर्मतत्त्व की शुद्धि जो सद्व्यवहार की मुख्य आधारशिला है, उसे हृदय में नहीं जमा पाते। वास्तव में उस शुद्धि का आधार शुद्ध श्रद्धा है, उससे भी वे हट जाते हैं।

जब व्यक्ति के जीवन में शुद्ध श्रद्धा (उक्त त्रिवेणी पर) नहीं होती, तो वह जो भी श्रद्धा, प्ररूपणा या क्रिया करता है, वह सब राख के ढेर पर लीपने के समान व्यर्थ श्रम होता है। उन क्रियाओं या प्ररूपणाओं से सिवाय संसारपरिभ्रमण के और कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उन क्रियाओं आदि में लगाया हुआ समय, श्रम, शक्ति और दिमाग सब कुछ अपने ही हाथों व अपने ही पैरों पर कुल्हाणी मारने सरीखा होता है। साधकजी गये थे मुक्ति की साधना करने और फंस गये संसार (भोग) की साधना में, ऐसा ही कुछ हो जाता है।

श्रद्धा, सम्यक्त्व, श्रद्धान, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन, ये सब एकार्थवाचक हैं। जो वचनसापेक्ष व्यवहार का आदर करना चाहता है, उसे शुद्ध गुरु और सद्धर्म का शरण लेना ही होगा। तभी उसका शुद्ध श्रद्धान टिक सकेगा। यानी उसे व्यवहारदृष्टि से सम्यक्त्व प्राप्त हो कर टिक सकेगा। सम्यक्त्व के बिना जितनी भी क्रिया (चाहे वह भगवान् का नामजप, गुणगान या स्तुति अथवा बाह्यपूजा, भक्ति भी क्यों न हो) की जायेगी, भले ही वह वचनसापेक्ष व्यवहारयुक्त हो, तो भी राख पर लीपने के समान निष्फल होगी। मतलब यह है कि सम्यक्त्व के बिना सब वृथा है, एक अंक के बिना बिंदियों के समान

है। जैसे गंदी, ऊबड़खाबड़, विगड़ी और कूड़ाकर्कट से भरी जगह साफ किये विना उस पर कोई गोबर का लेपन करता है, तो वह फिजूल जाता है, किन्तु साफ की हुई, शुद्ध समभूमि पर किया हुआ लेपन ही सार्थक होता है। वैसे ही श्रद्धा से साफ की हुई शुद्ध आत्मभूमि (या चित्तभूमि) पर देवगुरुधर्म की लगन से की हुई शोध भी तभी फलित होती है, और तभी आत्मभूमि पर किया हुआ क्रिया का लेपन स्थायी और कारगर होता है।

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने एक अध्यात्मसाधक को अध्यात्म की बुनियाद पक्की करने का स्पष्ट संकेत किया है और उसके लिए उसे प्रतिक्षण यह चिन्तन करने के लिए बाध्य किया है कि विशुद्ध देव-गुरु-धर्म कैसे मिल सकते हैं ? इनकी सेवाभक्ति उसे कैसे प्राप्त हो सकती है ? शुद्ध और अशुद्ध देव के, पवित्र और अपवित्र गुरु के तथा सद्धर्म और कुधर्म के क्या-क्या लक्षण हैं ? इन्हें कैसे पहिचानें ? इनकी शुद्धता और शुद्ध श्रद्धा कैसे टिक सकती है ? गुरु के लक्षण तो 'आतमज्ञानी श्रमण कहावे, आदि पदों द्वारा श्रीआनन्दघनजी पहले बता चुके हैं, देव के विषय में भी आगे एक स्तुति में विस्तार से कहा जाएगा ।

अगली गाथा में शुद्ध चारित्र की पहिचान के लिए श्रीआनंदघनजी निर्भीक हो कर स्पष्ट सत्य कह देते हैं—

पाप नहीं कोई उत्सूत्र-भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्रसरीखो।
सूत्र-अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनो शुद्ध चारित्र परीखो।

अर्थ

जगत् में उत्सूत्रभाषण (श्रुत या सिद्धान्त से विरुद्ध प्ररूपण) जैसा कोई भी पाप (अशुभफल) नहीं है, इसी तरह सूत्रानुसार प्ररूपण-आचरण के सरीखा कोई धर्म नहीं है। वास्तव में सूत्रानुसार जो भव्य साधक क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझो। उसके शुद्धचारित्र की इसी प्रकार परख लो।

भाष्य

साधक के शुद्धचारित्र की परख

संसार में बहुत-से साधक ऐसे हैं, जो मताग्रही हैं, पंथ-गच्छवादी हैं या सम्प्रदायवादी हैं, अथवा स्वकपोलकल्पित देव-गुरु-धर्म की मान्यता की

प्ररूपणा करते हैं, या फिर वे अपना मनमाना विचार-आचार बना लेते हैं। ये और ऐसे लोग अपनी मानी हुई बात पर शास्त्र की छाप लगाते हैं, शास्त्र की दुहाई देते हैं, शास्त्र का प्रमाण देते हैं और शब्दों की खींचतान करके अपनी अयथार्थ बात को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं, ऐसे महानुभाव उत्सूत्रभाषी हैं, वे सिद्धान्तविरुद्ध, सूत्रों (श्रुतों) से विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा और आचरण करते हैं। उनका यह कार्य पाप है, जो बहुत ही घोर है जिसका फल भी भयंकर अशुभ है।

उत्सूत्रभाषण का रहस्यार्थ है—सिद्धान्त या वीतरागवचन (श्रुत) से निरपेक्ष प्ररूपण करना, सूत्रनिरपेक्ष आचरण एवं श्रद्धान करना। वास्तव में शास्त्र या सूत्रसाधक के लिए कार्य-अकार्य का निर्णय देते हैं। जब साधना में कोई उलझन, वहम, शंका या संशय आ पड़े, तब शास्त्र ही उस अंधेरे में प्रकाश का काम करता है। [1]भगवद्गीता में भी कहा है कि तुम्हारे लिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं। जो शास्त्रोक्त विधि-विधान को छोड़ कर अपनी स्वच्छन्दता से मनमामी प्रवृत्ति करता है, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस दृष्टि से जो व्यक्ति शास्त्रविहित सिद्धान्त-सम्मत बातों की उपेक्षा करते हैं या उनकी मखौल उड़ाते हैं और मनमाना प्रचार करते हैं, मनमाना आचरण करते हैं, वे पाप करते हैं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सूत्र-सिद्धान्त से विरुद्ध प्ररूपण को पाप और सूत्रसम्मत प्ररूपण व आचरण को धर्म कहते हैं। प्राणातिपात आदि १८ पापस्थानों में सबसे बड़ा पाप मिथ्यादर्शनशल्य है। सबसे बड़ा धर्म सूत्र-चारित्रधर्म है।

नयप्रमाणयुक्त जिनप्रवचन सूत्र कहलाता है, जो कथन नयों और प्रमाणों से अनुप्राणित अनेकान्तदृष्टि से निश्चय-व्यवहार दोनों को मद्देनजर रख कर किया जाता है, उसे भी जिनवचनसापेक्ष (सूत्रसम्मत) भाषण कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उक्त गाथा का भावार्थ यह होता है कि जिनवचन-

---

१ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति······

निरपेक्ष, नयप्रमाणयुक्तसूत्र से विरुद्ध, न्यून या अधिक कथन, भाषण या आचरण करने से बढ़कर और कोई पाप नहीं और जिनवचनसापेक्ष नयप्रमाणयुक्त सूत्रानुसार यथार्थ प्ररूपण, कथन या आचरण करने के समान कोई धर्म नहीं है। जो भव्य साधक उपर्युक्त विधि से सूत्रानुसार क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जो भव्य जीव वीतराग परमात्मा की आज्ञा (वचन) का अनुसरण करते हुए क्रिया (धर्माचरण करता है, ज्ञानयोग से समन्वित क्रियायोग की साधना करता हुआ आत्मविकास का पथ तय करता है, उसका चारित्र शुद्ध है। इसके विपरीत जो मनमाना चलता है, वह चाहे जितना बड़ा तपस्वी हो, क्रियाकाण्डी हो, महंत हो, या आडंबरों और चमत्कारों से प्रभावित कर देता हो, उसका चारित्र शुद्ध नहीं कहा जा सकता ; क्योंकि उसका सारा आचरण सूत्रनिरपेक्ष या आज्ञावाह्य होने से सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण सम्यक्चारित्ररूप नहीं है।

अब अन्तिम गाथा में वीतरागपरमात्मा की चरणसेवा के लिए बताये हुए उपायों को हृदय में संजो कर भक्तिभावपूर्वक जो साधनापथ पर चलता है, उसका फल बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

एह उपदेशनो सार संक्षेपथी, जे नरा चित्तमां नित्य ध्यावे।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज पावे।
॥धार०॥७

अर्थ

इस पूर्वोक्त उपदेश का सार जो व्यक्ति प्रतिदिन हृदयंगम करके ध्यान में रखते हैं, वे भक्तिशील व्यक्ति चिरकाल तक दिव्य (देवलोक के) सुखों का अनुभव करके अन्त में अवश्य (निश्चित) ही आनन्दघन (परमात्मा) का राज्य--मोक्षराज्य प्राप्त करते हैं।

भाष्य

इस स्तुति में वीतराग परमात्मा की चरणसेवा के लिए श्रीआनन्दघनजी ने उन सब बाधकतत्वों की ओर से सावधान रहने का संकेत किया है, जो बाहर से तो परमात्मा की सेवा मालूम होती है; परन्तु वास्तव में सेवा की ओट में वे संसार में परिभ्रमण कराने वाली हैं। उनमें से मुख्यतया निम्नलिखित बातें ये हैं—१—क्रिया के विविध संसारपरिभ्रमणजनक फलों का विचार

किये बिना परमात्मा की सेवाभक्ति के नाम पर नामकामना वश विविध अनुष्ठान करना-कराना।

२—किसी लौकिक या भौतिक फल प्राप्ति की आशा से जानबूझ कर भगवान् के नाम की ओट में क्रिया करना, जो मोक्षप्राप्ति के बदले संसार में भटकाने वाली हों।

३—गच्छ, मत, पंथ, सम्प्रदाय आदि का कदाग्रह, कलह बढ़ाना, जनता में भगवान् के नाम पर सम्प्रदायपोषण, परस्पर कलह, झगड़े, विद्वेष आदि पैदा करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना।

४—तत्त्वज्ञान की बातें बघार कर भोलेभाले लोगों को भगवान् के नाम से सम्प्रदाय, मत, पंथ, चला कर उसमें फँसाना, कट्टरता बढ़ाना, और उनसे स्वार्थ सिद्ध करना, अथवा स्वयं मोहजाल में फँसना।

५—अनेकान्तवादयुक्त कथन से ओतप्रोत जिनवचन या कथन की उपेक्षा करके मनमाना व्यहार—धार्मिक आचार-विचार प्रचलित करना, और वह भी परमात्मा के नाम की ओट में। अथवा ऐसे स्वच्छन्द धर्माचार एवं विचार का वीतराग के नाम से पोषण करना, जिससे सिवाय संसारफल के और कुछ पल्ले न पड़ता हो।

६—देव, गुरु धर्म पर शुद्धश्रद्धा व शुद्ध विचार न रखना, अथवा इनके नाम से मिथ्या देव, गुरु, धर्म को पकड़ लेना अथवा इन्हें अनावश्यक बता कर स्वच्छन्द जीवी, पुद्गलानन्दी बनना-बनाना।

७—सूत्रविरुद्ध प्ररूपण, श्रद्धान, आचरण एवं अनुष्ठान करना-कराना।

ये सब बातें परमात्मा की चरणसेवा में बाधक हैं, इनसे बच कर मोक्षप्राप्तिजनक निःस्वार्थ क्रियाएँ करना, लौकिक फलाकांक्षा से कोई भी अनुष्ठान न करना, न लौकिक फल प्राप्त करने की अभिलाषा रखना एवं गच्छ-मत पंथादि के कदाग्रह एवं झगड़े छोड़कर, समभावपूर्वक जिनाज्ञानुसार श्रद्धा, प्ररूपणा और संयमसाधना करनी चाहिये। आत्मा एक है, मोक्षमार्ग एक है, मोक्ष भी एक है भव्यमुमुक्षु के लिए उचित है, कि एकात्मक सुखप्राप्ति के निरवद्य पथ को अपना कर संवर-निर्जरापूर्वक तपसंयम की क्रिया करे। विविध भौतिक फल की इच्छा से की गई क्रिया के फलस्वरूप अनेक गतियों में बार बार जन्म लेना पड़ता है

उससे आत्मसुख की हानि होती है। अतः संसार की मूलरूप क्रियाओं का परित्याग करना चाहिये। मोहममता के अधीन हो कर या सूत्र-सिद्धान्त के आशय को छोड़ कर मनमानी देव-गुरु-स्थापना, वेशभूषा, क्रियाकाण्ड को ले कर बने हुए गच्छ या सम्प्रदाय के भेदों की पुष्टि के लिए आदेश-उपदेश करना तथा अपनी सुखसुविधा तथा भौतिक सुख व सम्मान के लिए तत्त्वचर्चा करना आत्मार्थी के लिए शोभास्प्रद नहीं है। आत्मधर्म की अपेक्षा से रहित असत्य वचन-व्यवहार का त्याग करना चाहिए। सूत्रविरुद्ध प्ररूपण का भी त्याग करना आवश्यक है। साधारण जनता राग-रंग के विषयों के प्रति लुब्ध हो कर संयम से चलित हो तथा उसमें सिर्फ धन, पुत्र एवं सांसारिक सुख की एषणा बढ़े, इस प्रकार के उत्सूत्रभाषण का त्याग करना चाहिए।

ये और इस प्रकार के उपदेश-वचनों का सार सुन कर जो इनसे हृदय में आदर्शरूप में धारण करेंगे, उनका बार बार चिन्तन करेंगे, आदरपूर्वक उसका अमल करके जो तन्मय बनेंगे, वे भव्य नर-नारी चिरकाल तक दिव्य- अद्वितीय चित्तसमाधिरूप, सातावेदनीय सुख का अनुभव करके आत्मगुण में एकरस हो कर निश्चित ही मोक्ष में जायेंगे, यानी सच्चिदानन्दरूप परमात्मपद में लीन हो जायेंगे। निष्कर्ष यह है कि परमात्मा की चरणसेवा का जो मूल प्रयोजन है, उसे ऐसे मुमुक्षु सिद्ध कर लेंगे।

श्रीआनन्दघनजी का वचन उत्तराध्ययन-सूत्र एवं सिद्धान्त से पूर्णतः सम्मत है कि पूर्वोक्त गाथाओं में बताए हुए उपदेश के अनुसार चलने से छठे गुणस्थान में रहे हुए साधक को कभी-कभी सातवां गुणस्थान प्राप्त होने से देवगति का आयुष्य बँध जाता है। वहाँ से दिव्यसुखों का अनुभव करने के बाद च्यव कर मनुष्यगति में आ कर जाति आदि से समृद्ध कुल में पैदा होता है, यहाँ उसे १० बोलों की प्राप्ति होती है। तदन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और

---

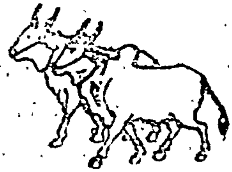
१. तत्थ ठिच्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए ॥१८॥
भुच्चा माणुस्सए भोए, अप्पडिरूवे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहि बुज्झिया ॥१९॥
....तवसा धमं यकम्से, सिद्धे हवइ सासए ॥२०॥

तप, संवर एवं भावनाओं के बल से संसार का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यानी जघन्य तीसरे भव में, मध्यम पांच भव में और उत्कृष्ट आठ भव में तो उसका मुक्ति—परमात्मपद प्राप्त करना निश्चित है।

सारांश

इस स्तुति में प्रभु की चरणसेवा को तलवार की धार पर चलने से भी दुर्लभ बता कर बीच की गाथाओं में उसके अनेक कारणों का उल्लेख किया है। यद्यपि परमात्मा की चरणसेवा का तात्पर्य तो शुद्ध आत्मस्वभावरमणरूप चारित्र की साधना से है, अथवा व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से है, किन्तु बीच में जो भ्रांतियाँ, अटपटी घाटियाँ, भय, प्रलोभन, स्वार्थ, लोभ आदि के रूप में रुकावटें या देवादि के प्रति श्रद्धा की स्खलना या विकृत श्रद्धा आदि विघ्नबाधाएँ आ जाती हैं, उनसे निपटना टेढ़ी खीर है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने प्रत्येक मुमुक्षु साधक को सावधान रहने के लिए सच और साफ-साफ बातें कह दी हैं। और अन्त में सच्चे माने में प्रभुचरणसेवा का फल दिव्यसुख-प्राप्ति और अन्त में मोक्षप्राप्ति बता दी है।

ऐसी चरणसेवा परमात्मा के पास पहुँच कर ही की जा सकती है। परन्तु परमात्मा और आत्मा के बीच की दूरी है, उसे काटने के लिए धर्म की आराधना जरूरी है। इस बात को १५वें तीर्थंकर धर्मनाथ की स्तुति के माध्यम से श्री आनन्दघनजी बताते हैं।



१५: श्रीधर्मनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मभक्त का अभिन्नप्रीतिरूप धर्म

(तर्ज—रसिया, सारंग, राग गौड़ी)

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं भंग म पडशो हो प्रीत, जिनेश्वर !
'बीजो मनमन्दिर आणुं नहीं, ए अम कुलवट-रीत, जिनेश्वर !
धर्म० ॥ १ ॥

अर्थ

इस अवसर्पिणी काल के १५वें जिनेश्वर श्रीधर्मनाथ-स्वामी (परमात्मा) का गुणगान आत्मभाव के रंग में रंग कर करता हूँ। प्रभो ! मेरी आपके साथ जो प्रीति है, उसमें भंग न पड़े, यही चाहता हूँ। मैं आप (वीतराग) के सिवाय अन्य किसी को अपने मन-(मनोयोगरूपी) मन्दिर में प्रविष्ट नहीं कराऊंगा; यह हमारे (सम्यग्दृष्टि के) कुल की कुलीनता (टेक) की रीति (परम्परा) है।

भाष्य

परमात्मा के साथ अभिन्नप्रीतिरूप धर्म

पूर्वस्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग-प्रभु की चरणसेवा का व्यवहारधर्म बताने का उपक्रम किया है, इस स्तुति में उन्होंने परमात्मा के साथ अभिन्नता स्थापित करने के लिए निश्चयधर्म बताने का प्रयत्न किया है। वास्तव में आत्मा और परमात्मा के बीच में जो दूरी है, उसे मिटाने के लिए धर्म ही एकमात्र पुल है। परन्तु परमात्मा के साथ सदैव अभिन्नता टिकाये रखने वाला धर्म स्वरूपसिद्धिरूप धर्म है, जिसे परमात्मा के भक्त को अपने जीवन में अमूल्य रत्न की तरह सुरक्षित रखना है, उसे आत्मस्वरूप के दीपक की लौ सदा प्रज्वलित रखनी है। धर्म गया तो सब कुछ गया। जैसे पतिव्रता स्त्री अपना धर्म अपने प्राणों की तरह सुरक्षित रखती है, समय आने पर वह प्राणों को होम देती है, मगर धर्म को जरा भी आँच नहीं आने देती; वैसे ही परमात्मा का भक्त

अपने अभिन्नप्रीतिरूप धर्म को जरा भी आँच नहीं आने देता; भले ही उसके लिए उसे सर्वस्व होमना पड़े। पतिव्रता स्त्री उमंग में आ कर पति के गुणगान अन्तर से करती है, वह किसी के द्वारा गुणगान के लिए मजबूर नहीं की जाती और न ही किसी प्रकार का प्रलोभन दे कर उसे गुणगान के लिए तैयार किया जाता है; उसी प्रकार प्रभुप्रीतिरूपी धर्म का पालक भक्त भी किसी के दवाब, भय, या प्रलोभन में न आकर स्वत.प्रेरणा से उमंग में आ कर प्रभु के गुणगान करता है। जिस प्रकार पतिव्रतास्त्री अपने पति के सिवाय दूसरे किसी पुरुष को (दाम्पत्यप्रेम की दृष्टि से) स्वप्न में भी मन में नहीं लाती; यही उसकी कुलीनता की रीति है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतनावान भव्यात्मा की भी श्रद्धा दृढ़ ऐसी हो जाती है कि धर्मनाथ सिद्धप्रभु की और मेरी आत्मा में तुल्यता है, इसी कारण से प्रभु के साथ मेरी प्रीति जुड़ी है, उसमें शुद्ध देव के सिवाय दूसरे किसी रागी और द्वेषी देव को मनमन्दिर में जरा भी नहीं लाना। जैसे पतिव्रतास्त्री को हरदम खटका रहता है कि कहीं मेरी और पति की अभिन्नप्रीति में कोई भंग न पड़ जाय, कोई विघ्न न डाल दे; वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक में के मन भी यह खटका रहता है कि मेरे और परमात्मा की जुड़ी हुई प्रीति में बीच में कोई भंग न डाल दे। इसलिए मस्त योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते हैं—'भंग म पड़शो हो प्रीत, जिनेश्वर !

स्वरूपसिद्धि में विघ्नरूप है—अन्तःकरण में अन्य रागी, द्वेषी सस्त्रीक देव का ध्यान और बहिर्मुखी बनाने वाले अनात्मतत्त्वों पर राग। परन्तु जब साधक इन दोनों का परित्याग कर देता है, तब साधक कहता है—'मेरा आत्मभाव और परमात्मा का स्वभाव एक है, पृथक् नहीं है, इसलिए उनका और मेरा कुल एक ही है। जिस मार्ग से प्रभु को मुक्ति या सिद्धि मिली है, उसी मार्ग से मैं भी चलूं और प्रभु के साथ अखण्ड प्रीति के लिए उनका सान्निध्य प्राप्त करूं। प्रभु की तरह मुझे भी मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए कर्मों पर विजय पा कर मुक्त या सिद्ध प्रभु का गुणगान करूं।"

'ए अम कुलवटरीत' कह कर तो साधक के द्वारा अनन्य-समर्पण का भाव अभिव्यक्त किया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने भक्ति में मन को एकाग्र करने के लिए

जिस धर्म का समर्थन किया गया था, उस धर्म के सम्बन्ध में अगली गाथा में जगत् के लोगों की मनःस्थिति प्रगट करते हैं—

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर॥
धर्म० ॥ २॥

अर्थ

संसार में सब लोग अलग-अलग नामों से पकड़े हुए विभिन्न तथाकथित धर्मों को धर्म धर्म कह कर पुकारते हैं, परन्तु वीतराग प्रभो ! यही दुःख है कि वे धर्म का रहस्य नहीं जानते। आत्मधर्ममय श्री धर्मनाथ वीतरागप्रभु के चरण (आत्मस्वभावरमणरूप धर्म) का ग्रहण कर लेने पर भवभ्रमण कराने वाले कर्मों का बन्ध कोई भी भक्त नहीं करता।

भाष्य

विविध सांसारिक लोगों की धर्म की रट

कई लोग कहते हैं कि कर्ममुक्त करने वाले (सूत्र-चारित्ररूप या आत्मरमणतारूप) धर्म का आचरण तो बहुत ही आसान है; इस में कुछ भी करने-धरने की क्या जरूरत है ? इसी कारण बहुत-से लोग धर्म-धर्म चिल्लाया करते हैं। वे बात-बात में ईमान, धर्म आदि की सौगन्ध खाते है; जब भी कोई दूसरे धर्म का व्यक्ति प्रसिद्धि या तरक्की पा जाता है, तब ऐसे धर्मवादी लोग सहसा चिल्ला उठते हैं—'धर्म खतरे में' है। और सिर्फ बाह्यक्रियाकाण्डों या साम्प्रदायिक कदाग्रहों में रचेपचे लोग अमुक धर्मस्थान में जा कर क्रियाएँ करके या कुछ पुण्य की प्रवृत्ति करके अपने आपको आश्वासन दे लेते हैं कि हमने धर्म कर लिया।' और इसी धर्म की ओट में वे दूसरों को ठगते हैं, चकमा दे देते हैं। परन्तु वीतराग परमात्मा के प्रति अभिन्नप्रीतिरूप सच्चा वीतरागतारूप धर्म तो आत्मधर्म है, जिसका लक्षण 'वस्तु का स्वभाव बताया गया है। इसी प्रकार जगत् के प्रायः सभी लोग धर्म-धर्म चिल्लाते हैं, कोई कहता है—मैं जैन हूँ, कोई कहता है—मैं बौद्ध हूँ। कोई अपने को शैव बताता है, यों तो प्रायः सभी कहते हैं, और ऐसे सम्प्रदायगत धर्म के लिए लड़ने-मरने को तैयार हो जाते हैं। परन्तु वे प्रायः धर्म के मर्म को नहीं जानते, और न वे वास्तविक धर्म की

आराधना करते हैं। वे यथार्थ धर्म से लाखों कोस दूर हैं। या तो वे लोग धर्म की कोरी बातें करते हैं; या धर्म का दिखावा करते हैं। आत्मधर्म की बात तो विरले ही जानते हैं। धर्म की आत्मा को यथार्थरूप से पहिचानना तथा आत्मिक धर्म कौन-सा है, जो परमात्मा के निकट पहुँचा गये ; इसे भी कोई-कोई माई का लाल जानता है। खाना, पीना, मौज उड़ाना; इस शरीर के कार्य को ही वे धर्म मानते हैं। आत्मा शरीर से अलग है, इत्यादि बातें वे जब तक नहीं समझते, तब तक सच्चा आत्मिक धर्म या परमात्मा के साथ अभिन्नतारूपी धर्म को वे नहीं समझते।

धर्म शब्द से यहाँ आत्मधर्म (स्वरूपाचरण-चारित्र) समझना चाहिए। उस चारित्र (धर्म) के बल से व्यक्ति नये कर्मों को नहीं बांधता और उसके पुराने कर्म समय पर परिपक्व हो कर भुगत लेने से खिर जाते हैं। और अन्तिम परिणाम यह आता है कि धर्मनाथजिनेश्वर जिस स्वरूप में स्थिर हैं, उसी स्वरूपधर्म को वह उपलब्ध कर लेता है। और यह धर्म ही वीतरागपरमात्मा के चरण ग्रहण करने वाला हो जाता है।

जब तक आत्मा को यह अनुभव नहीं हो जाता कि मैं परमात्मा हूँ, तब तक कर्मबन्ध होता रहता है, परन्तु धर्मजिनेश्वर (परमात्मा) के चरण पकड़ने पर उनकी शरण में जाने पर यानी परमात्मा के साथ अभेदरूप हो जाने पर अथवा अपनी आत्मा परमात्मस्वरूप प्रतीत हो जाने पर कोई कर्म बांध ही नहीं सकता; क्योंकि कर्मबन्धनों का रुकना ही धर्मप्राप्ति का प्रयोजन या फल है। धर्म के आते ही कर्मबन्ध रुकने लगता है, इस रहस्य को तथाकथित धर्म-वादी नहीं जानते।

आगामी गाथा में यथार्थ धर्म की प्राप्ति से क्या लाभ होता है ? इसे बताते हैं—

प्रवचन-अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान, जिनेश्वर !
हृदयनयन निहाले जगधणी, महिमा मेरुसमान, जिनेश्वर !
धर्म० ॥ ३ ॥

---

१. 'वत्थुसहावो धम्मो'—वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मद्रव्य का स्वभाव धर्म है।

अर्थ

साक्षात् आत्मानुभवी (आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता) सद्गुरुरूपी सद्वैद्य यदि प्रवचन (पारमार्थिक सर्वहितकारी, सर्व जीवों के प्रति उच्च कोटि का भावकरुणारूप उपदेश=आप्रवचन)रूपी दिव्य अंजन ले कर हृदयरूपी नेत्रों में आंजें तो शिष्यरूप जिज्ञासु साधक का दर्शनमोह-मिथ्यात्वरूप नेत्रान्धत्वरोग दूर हो जाता है, और वह परमोत्कृष्ट आत्मधर्मरूप या आत्मगुणरत्नों का अविनाशी निधान (धन का खजाना) को प्रत्यक्ष देखने लगता है। साथ ही ऐसे खुले हुए हृदयचक्षु (दिव्यनयन) से मेरुपर्वत जैसी महिमा वाले जगत् के स्वामी=परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो जाता है।

भाष्य

धर्मप्राप्ति का फल : परमात्मसाक्षात्कार

इस गाथा में आत्मधर्म का फल बताया गया है। जो व्यक्ति इस आत्मधर्म को प्राप्त कर लेता है, उसके हृदय की आंखों में यदि आत्मस्वरूप के ज्ञाता गुरुदेव प्रवचनरूपी अंजन आंज दें तो अपनी आत्मा ही गुणरत्नों की निधि के रूप में दिखाई दे सकती है। साथ ही मेरुगिरि-सदृश महिमावान् वीतराग भग- के भी साक्षात्कार होने लगता है।

संसार में बहुत-से स्थूल बुद्धि वाले लोग परमात्मा एवं आत्मा को प्राप्त करने के लिए पहाड़, नदी, गुफा, तीर्थ आदि में जाते हैं, परन्तु सद्गुरु के सत्सिद्धान्त को हृदयंगम किये बिना इनके वास्तविक दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते; और न ही परमात्मधन मिल सकता है। प्राचीन काल में तान्त्रिकविद्या के प्रभाव से अंजन लगा कर जमीन में गड़ी हुई वस्तु या निधि को देख सकते थे, वर्तमान में भूगर्भवेत्ता जमीन के गर्भ में पानी आदि का पता लगा लेते हैं। इसी प्रकार सद्गुरु भी प्रवचनरूपी अंजन हृदयचक्षु में ओज दें तो उसके महाप्रकाश से साधक भी आत्मा की महामूल्य गुणनिधि तथा तीन लोक के स्वामी आत्मदेव तथा आत्म-परमात्मधन, एवं लोकालोक-स्वरूपयुक्त ज्ञानधन जान-देख सकता है।

इस गाथा में चार बातें सूचित की गई हैं—(१) समदर्शीसद्गुरु को ढूंढ कर उनकी सेवा करना, (२) निर्ग्रन्थप्रवचन=आत्मलक्षी आप्तवचन का श्रवण-मनन करना, (३) सद्गुरु के उपदेशरूप अंजन से हृदयनेत्र में दिव्यप्रकाश

प्राप्त करना, (४) आत्मा-परमात्मा की स्वरूपनिधि का देखना। इन चारों के द्वारा परमात्मप्रीतिरूप धर्म का पालन करके धर्मनाथ भगवान् के साथ अभिन्नता स्थापित करना-परमात्मस्वरूप बन जाना ही इसका वास्तविक फल है।

अब अगली गाथा में इससे आगे की प्रक्रिया बताते हैं—

दोड़त दोड़त दोड़त दोड़ियो[1], जेती मननी दोड़, जिनेश्वर !
प्रेमप्रतीत विचारो, ढूंकड़ी गुरुगम ले जो जोड़, जिनेश्वर ॥
धर्म ॥४॥

अर्थ

प्रभु से प्रीति जोड़ने के लिए मैं खुब दौड़ा, खुब दौड़ा, मन की जितनी दौड़ (पहुंच) थी, उतने तक दौड़ा। परन्तु किसी ने कहा-अपनी बुद्धि के साथ गुरुदेव से मिले हुए निर्धारित मार्गदर्शन (गुरुगम) को जोड़ कर समझो-देखो तो तुम्हें प्रभु के साथ निकट ही प्रीति है इस बात की प्रतीति हो जायगी।

भाष्य

प्रभु से प्रीति जोड़ने का आसान तरीका

योगी श्रीआनन्दघनजी ने यहाँ परमात्म-प्रीतिरूप धर्मपालन के बारे में साधक की उलझन और उसको सुलझाने का आसान तरीका अभिव्यक्त किया है। क्योंकि जगत् में प्रभुप्रीतिरूप धर्म भव्य प्राणी को तब तक प्राप्त नहीं होता, जब तक उसे सद्गुरु का मार्ग-दर्शन न मिले, परमात्मा के प्रति निःस्वार्थ या निष्काम प्रेमभाव से उत्कट श्रद्धा-प्रतीति न हो। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक भव्यात्मा को सम्यग्दर्शन और गुरु-मार्गदर्शन, ये दोनों प्राप्त नहीं,होते वहाँ तक शुद्धात्मा या धर्मदेवरूप परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति नहीं होती। जिसे ये दोनों प्राप्त हो जाते हैं, वह साधक अपनी ज्ञानचेतना के बल से अपना अनुभव प्रगट करता है—"प्रभो ! मैं अपनी बात क्या कहूँ ? मैं धर्म-धर्म रटता फिरा, धार्मिक होने का दावा किया, धार्मिक होने का दिखावा या

१. कहीं कहीं 'दोड़ियो' का अर्थ किया गया है—दौड़ना। यानी मन की जितनी दौड़ है, वहाँ तक खूब दौड़ लगा लो।

दम्भ किया, इसके लिए मैं जलतीर्थ, वृक्षतीर्थ पर्वततीर्थ, मूर्ति या मन्दिररूपतीर्थ आदि अनेक स्थानों पर परमात्मा के दर्शन करके परमात्मप्रीतिरूप धर्माचरण की दृष्टि से बहुत भटका, जहाँ-जहाँ मेरा मन, पहुँच सकता था, वहाँ-वहाँ दौड़ लगाई। अर्थात्—मेरे मन ने जहाँ जाने का संकल्प किया, वहाँ दौड़ा गया। सांख्य, न्याय, मीमांसा, वेदान्त आदि दर्शनों में बताई हुई कल्पनाओं के वश हो कर सभी साधनाएँ कीं। बहुत-सी दफा अमुक तीर्थ में परमात्मा होंगे, यह सोच कर वहाँ चक्कर लगा आया; और पूर्वोक्त धर्म को भी अनेक जगह व्यर्थ ही खोजा; फिर भी सफलता न मिली। मुझे अन्तर्मुखी हो कर[1] आत्मतीर्थ में स्वस्वरूपदर्शन में डुबकी लगानी थी, जो कि मेरे पास ही था; मगर वहाँ नहीं लगाई। जो वस्तु अत्यन्त निकट थी उसे पहिचान न सका और जहाँ-तहाँ दौड़धूप की, उसे ढूंढने के लिए आकाश-पाताल छान डाला।" किन्तु श्रीआनन्दघनजी उक्त जिज्ञासु भव्यप्राणी से कहते हैं—'इस प्रकार बाहर भटकने की तुम्हें जरूरत नहीं। जिसे तुम बाहर ढूंढ रहे हो, वह विभूति तुम्हारे अपने अन्दर है, तुम्हारे साथ है, तुम्हारे पास है, वह तो तुम (स्व-आत्मा) ही हो। अतः पहले अपने (आत्मा) को जानो, फिर उसके बारे में तत्त्वदर्शन करो, तत्पश्चात् आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का मार्गदर्शन लो, उनके व आप्तपुरुषों के वचनों का श्रवण-मनन और ध्यान करो, गुरु के उपदेश को आत्मा के साथ जोड़ दो। यही क्रमशः प्रेम, प्रतीत, विचारो' गुरु, गम लेजो, इन पदों के साथ अर्थसंकेत है, प्रेम के साथ सामायिकादि चारित्र, का प्रतीत के साथ सम्यग्दर्शन का, 'विचारो' के साथ सम्यग्ज्ञान या ध्यान का, गुरु के साथ आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का, 'गम' के साथ जिन-प्रवचन के श्रवणमनन या मार्गदर्शन का 'ले जो जोड़' पदों के साथ स्वज्ञान-स्वदर्शन-स्वचारित्र, और सद्गुरु की सेवा-उपासना करके उनके द्वारा आत्म-परमात्मसिद्धान्त का श्रवण-मनन करके आत्मा में ही इस उपदेश को जोड़ो। इसी तरीके से धर्ममय शुद्धात्मा (परमात्मा) से अखण्ड प्रीति होगी। आत्मा-परमात्मा की स्वरूपप्राप्ति (अखण्डप्रीति) का असली साधन व आलम्वन

---

१. कहा भी

"इदं तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जनाः,
आत्मतीर्थं न जानन्ति, सर्वमेव निरर्थकम् ॥

[1] गुरु, शास्त्र एवं गुरुगम ही है। गुरुप्रेरणा में परतन्त्रता की कल्पना बिलकुल न करो। गुरुदेव तुम्हें युक्तियुक्त सुझाव, परामर्श, मार्गदर्शन, कई उलझनों के हल द्वारा तुम्हारी गुत्थियों को सुलझाने की कोशिश करेंगे। इसके कारण प्रभुप्रीतिरूप धर्म की प्रतीति तुम्हारे लिए अत्यन्त आसान और निकट हो जायगी। इसीलिए कहा—"प्रेमप्रतीत विचारो ढूंकड़ो, गुरुगम लेजो जोड़।"[2]

निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु उक्त साधन को छोड़ कर अपने मनःकल्पित साधनों में दौड़ न लगाए, तथा यथार्थ उपासना और यथार्थ ज्ञान से स्वरूपानुसंधान करे।

परन्तु परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन के लिए श्रीआनन्दघनजी साधक को एकपक्षी प्रीति छोड़ कर उभयपक्षी प्रीति-सम्पादन के लिए अगली गाथा में प्रेरणा करते हैं—

एकपखी किम प्रीति परवड़े, उभय मिल्यां होय संधि, जिनेश्वर !
हुं रागी, हुं मोहे फंदीयो, तुं नीरागी निरबन्ध, जिनेश्वर ॥
धर्म० ॥५॥

अर्थ

जिनेश्वर प्रभो ! अब मैं समझा कि एकतरफी प्रीति कैसे पोसा सकती है, सही जा सकती है ? क्योंकि मेल (सन्धि-जोड़) दो के मिलने पर ही होता है; क्योंकि मैं रागी (कषायवान) हूँ, मोह के फंदे में फँसा हुआ हूँ और आप वीतराग (द्वेषादिदोषरहित) एवं कर्मबन्धरहित हैं।

---

१. जैसा कि आचारांगसूत्र में कहा है—'सहसन्मियाए पयवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा।'

२. दोड़ियो का अर्थ दौड़ना करने पर मतलब निकलता है कि जगन्नाथ परमात्मा को अन्तश्चक्षु से देखते ही तुरन्त गुरुगम साथ में ले कर तुम्हारी आत्मा में जितना विकास हुआ हो, उसके बलानुसार जितने जोर से दौड़ा जा सके, उतने जोर से परमात्मा तक पहुँचने के लिए दौड़ते ही रहना, अर्थात् आत्मविकास में आगे बढ़ते ही रहना। ऐसा करने पर तुम्हारी ओर से परमात्मा में हुई प्रीति की प्रतीति तुम्हें अविलम्ब ही समझ में आ जायगी। अगर साथ में गुरुगम नहीं रखोगे तो आगे चल कर भूल होते ही उपशमश्रेणी के पथ पर चढ़ जाओगे, जहाँ से वापिस लौटना होगा। अतः एक बार अप्रमत्तभाव पाते ही भाव-मन-आत्मा की जितनी शक्ति और तीव्रता हो, तदनुसार दौड़ लगाओगे तो आगे बढ़ कर परमात्मपद-प्रीति कर सकोगे, अन्यथा प्रमत्तभाव में आना पड़ेगा।

भाष्य

परमात्मा के साथ अभिन्न प्रीति कैसे ?

श्रीआनन्दघनजी औपचारिक रूप से परमात्मा के साथ बातचीत करने की रीति प्रगट करते हैं; क्योंकि पूर्वगाथा में प्रभुप्रीति का अत्यन्त आसान और निकटवर्ती रास्ता बताया था, उससे परमात्मा अत्यन्त नजदीक हो जाते हैं। अतः मुमुक्षु अपने अन्तर में प्रभु के साथ बातचीत करता है—प्रभो ! धर्म जिनेश्वर ! मैं आपके साथ प्रीति तो करना चाहता हूँ, आपसे साथ मेरी प्रीति होगी कैसे ? और होगी तो भी निभेगी कैसे और कितने दिन ? क्योंकि प्रीति उभयपक्षी होती है, एकपक्षी नहीं। दूसरी बात यह है कि [1]समान प्रकृति, एकसरीखे शील, स्वभाव और आदत वालों की प्रीति (मैत्री) जुड़ती है। मेरी और आपकी प्रकृति (स्वभाव) में व्यवहारनय की दृष्टि से बहुत ही अन्तर है। मैं रागी-द्वेषी हूँ, मोहग्रस्त हूँ। मैं बात-बात में राग, द्वेष, और मोह से घिर जाता हूँ और आप किसी पर भी, यहां तक कि आपकी वर्षों से सेवा करने, एवं आपके प्रति अनुराग रखने वाले पर जरा भी राग नहीं करते और न ही आपसे प्रतिकूल चलने वाले दुष्टजन या विरोधी पर द्वेष या घृणा करते हैं, संसार की किसी भी मनोज्ञ से मनोज्ञ चीज के प्रति भी आपका मोह (आसक्ति) नहीं है। मैं अभी तक कर्मबन्ध से युक्त हूँ; प्रतिक्षण विभिन्न कर्मों से युक्त होता हूँ। जबकि आप कर्मबन्ध से रहित हैं, अथवा घातीकर्मों से बिलकुल दूर हैं। अतः आपकी और मेरी प्रकृति, आदत और स्वभाव में रात-दिन का अन्तर होने से आपके साथ मेरी प्रीति हो ही कैसे सकती है ?"

"माना कि निश्चयनय की दृष्टि से आपके और मेरे स्वरूप, और स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। परन्तु निश्चयनय तो आदर्श की बात कहता है। आदर्श और व्यवहार में बहुत बड़ी दूरी होती है। अगर दोनों में इतनी दूरी न होती तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा के निकट पहुँच गई होती। अतः इस अन्तर को दूर करने पर ही आपकी और मेरी प्रीति हो सकती है। यह एक लौकिक तथ्य है कि एक व्यक्ति तो दूसरे के साथ स्नेह सम्बन्ध जोड़ने या रखने के लिए उसके हेतु तन, मन, धन सर्वस्व होमने, यहाँ तक कि पतंगे की तरह मर मिटने तक को तैयार है, परन्तु दूसरे की ओर तैयार है, से कोई जवाब नहीं

---

१. 'समान-शीलव्यसनेषु सख्यम्'—नीतिकार

मिलता, उपेक्षा या उदासीनता ही वरती जाती है। अतः उसके मन में स्नेह की ऊर्मि न हो, तव वहाँ एकतरफी प्रीति कैसे जम सकती है ? इस दृष्टि से मैं आपसे प्रीति करना चाहता हूँ, उसके लिए प्रयत्न भी करता हूँ, आप से बात-चीत करने का; किंतु आप वीतराग होने के कारण कोई जवाव ही नहीं देते, किसी प्रकार का स्नेह ही नहीं दिखाते; आपके मन में भी मेरे स्नेह की कोई कीमत नहीं है, आप उदासीन हैं, तव आपके और मेरे वीच में मैत्री कैसे जम सकती है या टिक सकती है ? इसलिए कहा है—**'उभय मिल्यां होय संधि'** दोनों के मिलने बातचीत करने पर ही सन्धि (मेल या सुलह) हो सकती है।

अतः अब तो मैं आपकी सेवा में जवरन पड़ा हूँ, और आपसे बातचीत करने को उत्सुक हूँ।

इस प्रकार दौड़ते-दौड़ते परमात्मा के निकट पहुँचते ही साधक के मन में विचार आया—"अब मैं आपके स्वरूप को समझ गया हूँ कि आप मेरे साथ प्रीति क्यों नहीं जोड़ते ?" मैं अभी तक राग-द्वेष-मोह के चंगुल में फँसा हुआ हूँ—मुझे अभी तक संज्वलन कषायों और नोकषायों ने घेर रखा है ; जिससे पुराने कर्म तो वहुत ही कम क्षीण होते हैं, नये अधिक बंधते जाते हैं। जवकि आप राग-द्वेष-मोह से विलकुल परे हैं, किसी भी प्रकार के कर्मवन्धन से जकड़े हुए नहीं हैं। अतः अब यदि मुझे आपसे प्रीति जोड़ना हो तो आपके समान (राग-द्वेष-मोहरहित एवं नूतन (कर्मबन्धन से रहित) हुए विना कोई चारा नहीं। परमात्मा के साथ प्रीति में भंग (विघ्न) डालने वाले तो राग-द्वेषादि कषायभाव हैं, इन्हें मुझे अवश्य दूर करना ही होगा। यही परमात्मा के साथ एकता—प्रीति-मैत्री करने का रामवाण उपाय है।"

निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में प्रकारान्तर से पर-मात्मा के साथ समानता (प्रीति) स्थापित करने के हेतु सूचित कर दिया है कि अभी से निर्भीक और साहसी वन कर व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र (तप, जप, व्रत, संयम) के पालन में या निश्चयनय से आत्मस्वरूप में रमण का सत्पुरुषार्थ कर, घवरा मत। इसी पर सतत चलते रहने से तेरे रागद्वेषादि भाग जायेंगे और तू स्वयं निर्वन्ध हो जायगा। फिर देखना, धर्मजिनेश (परमात्मा) और तुममें समानता आती है या नहीं ? वस, अप्रमत्तभाव में प्रवेश कर। सावधान रह कर आत्मदर्शन में आगे वढ़।

इसलिए श्री आनन्दघनजी संसार के अधिकांश प्रमादी, सम्यग्दृष्टि की ज्योति से विहीन, असावधान, लापरवाह और अन्धाधुंध चलने वाले लोगों की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते हैं—

परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उल्लंघी जाय, जिने० !
ज्योति बिना जुओ जगदीशनी, अंधोअंध पुलाय; जिनेश्वर !धर्म०॥६॥

अर्थ

अपने मुंह के सामने प्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ महानिधि शुद्ध आत्मा या परमात्मा प्रगट है, फिर भी जगत् के जीव उसे लांघ कर आगे बढ़ जाते हैं; जैसे अंध के पीछे दूसरा अंधा दौड़ता है, वैसे ही अनन्तचतुष्टयवान परमात्मा की ज्ञानरूपज्योति के बिना जगत् के जीव अंधे की तरह जगत् के लोगों का अनुसरण व अनुकरण करते हुए चलते हैं।

भाष्य

परमात्मज्योति से रहित जीव की दशा

खजाना ढूंढने के लिए जैसे दीपक या प्रकाश की जरूरत पड़ती है, वैसे ही गाढ़ मिथ्यात्वान्धकार से ढकी हुई महामूल्य आत्मनिधि या परमात्मनिधि को देखने के लिए भी परमात्मा की ज्योति (सम्यग्ज्ञान-दर्शन की ज्योति) की जरूरत होती है। वह ज्योति जिसके पास नहीं होती, वह सामने निकट पड़ी हुई महामूल्य वस्तु, (जो कि एकप्रदेशभर भी दूर नहीं है) परमज्ञानादि गुणरत्ननिधिरूप धर्ममूर्ति आत्मा को देख नहीं पाता, वह उसे लांघ कर आगे बढ़ जाता है, और दूर-सुदूर वनों, पर्वतों, गुफाओं, जड़तीर्थों या अन्य स्थानों में ढूंढता फिरता है। **"अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः"** वाली कहावत के अनुसार परमात्मा की सम्यग्ज्ञानज्योति से विहीन वह व्यक्ति सांसारिक मिथ्यात्वान्ध लोगों के नेतृत्व में उनके पीछे-पीछे चलता है, उनका अनुसरण करता है। वह यह नहीं जानता कि जिस आत्मनिधिरूप खजाने की वह खोज कर रहा है, वह स्वयं ही है, स्वयंरूप है। इसलिए कहीं भी दूर या परदेश जाने की आवश्यकता नहीं। अखण्ड, अविनाशी, परमज्ञाननिधि आत्मगुणनिधान आत्मधन तो प्राणिमात्र में ही प्रकाशमान है। वह अत्यन्त निकट है। उसे ढूंढने के लिए किसी स्थूल दीपक की जरूरत नहीं, सिर्फ अन्तरात्मा में वीतराग परमात्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। वास्तव में जगत्पति परमात्मा की जगमगाती आत्मदर्शनरूपी

ज्योति के प्रकाश के बिना यह जगत् मिथ्यात्वान्धकार में अंधा हो कर भटक रहा है। आत्मदर्शन का रहस्य है—स्वयं स्वयं को जाने, पहिचाने, अन्दरअन्दर ही जो ज्ञानादि गुणरत्नों का खजाना भरा पड़ा है, जो कि बिल्कुल नजदीक है, उसे भलीभांति समझे। जिसे आत्मदर्शनरूपी ज्योति का प्रकाश मिल जाता है, उस ज्ञानज्योति वाले को आत्मधन भलीभाँति दिखाई देता है, वह दूसरों को बता भी सकता है, वह इन्द्रियों के विषयों को आत्मा से भिन्न जानता-मानता है। वह आत्मा के अव्याबाध सुख को वैषयिकसुख से बिलकुल पृथक् समझता है।

आत्मधन का अभिलाषी मुमुक्षु जब आत्मज्ञ और सम्यग्दृष्टि निःस्पृह गुरु के पास आता है, तब गुरु उसे अपूर्ववाणी द्वारा कहता है—'तू जिसे चाहता है, वह तो तेरे पास ही है। तीर्थ, धाम आदि बाह्य साधनों को छोड़ कर तू अपने आत्मस्वरूप में स्थिर हो जा और ज्ञानदृष्टि से देख) तेरी परमनिधि (आत्मनिधि) तेरे पास ही है।'

जगदीश (सारे जगत् पर आध्यात्मिक आधिपत्य जमाए हुए परमात्मा) वीतराग ने भी ज्ञानज्योति द्वारा ही अनन्तचतुष्टयरूप परमनिधि प्राप्त कर जड़ (भौतिक पदार्थ की) उपासना छोड़ दी और आत्मचेतन की उपासना की एवं उन्होंने ज्ञानज्योति से अपने पास ही परमनिधि को देख ली; वैसे ही हे भव्य! तेरे लिए भी यही उपाय है। परमात्मा के लिए जो कार्य-कारण था, वही कार्य-कारण तेरे लिए भी है।

श्रीआनन्दघनजी उस युग के मोहान्ध और पुद्गलानन्दी सांसारिक जनों की गतानुगतिकता लकीर के फकीर बनने की वृत्ति) देख कर निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट कहते हैं—अधिकांश लोग ऐसे लोगों के चक्कर में पड़ जाते हैं, जो बाहर से तो आत्मज्ञानी, आत्मार्थी और मुमुक्षु होने का दंभ, दिखावा और ढोल करते हैं, आत्मा-आत्मा की ही रट लगाते हैं, और आत्मा के विषय में लच्छेदार भाषण एवं वाणी-विलास से लोगों को प्रभावित कर देते हैं, परन्तु अंदर से वे काले होते हैं- उनमें कषायों की अग्नि प्रज्वलित रहती है, विषयों की आसक्ति में और भौतिक जड़ पदार्थों के मोह में वे जकड़े रहते हैं; भोलेभाले जिज्ञासु लोग भी स्वार्थलिप्सा एवं जड़ासक्तिवश ऐसे लोगों के पास भटकते हैं, जो जड़तीर्थों,

जड़पदार्थों एवं भौतिक आडम्बरों से युक्त बाह्यपूजा के चक्कर में डाल देते हैं। भला, ऐसे लोगों को उन नकली तथाकथित आत्मज्ञानियों, किन्तु जड़ोपासकों से क्या मिलेगा, जो स्वयं ही आत्मदर्शन के यथार्थ प्रकाश से वंचित हैं? इसलिए वे कहते हैं—'ज्योति विना जुओ जगदीशनी०"

आत्मिक प्रकाश और परमात्मप्रकाश दोनों में अभिन्नता है। एक हो, वहाँ दूसरों का अस्तित्व होता ही है। अतः परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन द्वारा परमात्मा के साथ अभिन्नता साधने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन (प्रभु-ज्योति) के प्रकाश में उस परमनिधि को ढूंढने का कार्य सर्वप्रथम करना चाहिए। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

जिन्होंने पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन के प्रकाश द्वारा आत्मनिधि दृष्टिगोचर कर ली है, उनका स्वरूप अगली गाथा में बता कर उन्हें व उनसे सम्बन्धित क्षेत्र-काल-द्रव्यादि को धन्यवाद देते हैं —

निरमल गुणमणिरोहण-भूधरा, मुनिजनमानसहंस, जिनेश्वर!
धन्य ते नगरी,धन्य वेला घड़ी, मात-पिता-कुल-वंश, जिनेश्वर!
॥ धर्म० ॥ ७ ॥

अर्थ

प्रभो! आप रोहणाचलपर्वत में उत्पन्न (जिन भगवान्=धर्मजिन या शुद्धात्मा), निर्मल=शुद्धरत्नों के समान जिनाज्ञा समतादि गुणरत्नयुक्त हैं; मुनिजनों पालक के शुभ मनरूपी मानसरोवर के हंस के समान हैं। वह नगरी (रत्नपुरी या जिनभगवान् की जन्मभूमि) धन्य है। वह समय और घड़ी जब जिनेश्वर का जन्म हुआ था धन्य हैं। तथा वह माता. पिता (सुव्रता माता और भानुराजा पिता) कुल (इक्ष्वाकु) और वंश (क्षत्रिय) भी धन्य है, जहाँ भगवान् ने जन्म लिया था।

भाष्य

परमात्मा का स्वरूप एवं उनके क्षेत्रकालादि की धन्यता

इस गाथा में महात्मा आनन्दघनजी ने आत्मनिधि का सर्वथा साक्षात्कार करने वाले परमात्मा (धर्मनाथ-जिन या प्रत्येक वीतराग) का स्वरूप और उनसे सम्बन्धित क्षेत्रकालादि की महिमा बताई है। जब व्यक्ति आत्मदर्शन करने के

लिए उत्सुक होता है, तब वह यह देखता है कि आदर्श कैसा है, बिना आदर्श के व्यवहार के लिए व्यक्ति तैयार नहीं होता। आदर्श के बिना व्यक्ति निरुत्साहित एवं हताश हो कर यों कह कर बैठ जाता है कि ऐसा व्यक्ति तो कोई है नहीं, फिर हम किसके पीछे चलें, किस साध्य को सिद्ध करें या किस ध्येय को प्राप्त करें? इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतराग-प्रभु के गुणों (आत्मगुणों) का वर्णन करते हुए कहते हैं—प्रभु धर्मनाथ (अथवा कोई भी वीतरागी पुरुष) निर्मल (जिनके ज्ञानादि गुणों में किसी प्रकार का मल या दोष नहीं है), गुणरूपी रत्नों के रोहणाचल हैं। कहते हैं, रोहणाचल नामक पर्वत सिलोन (श्रीलंका) में है, जिसमें अनेक रत्न होते हैं, वह पर्वत ही रत्नमय है। अतः जैसे रोहणाचर्य अनेक रत्नों का उद्गमस्थान है, वैसे ही जिनप्रभु भी अनेक गुणरत्नों के उदगमस्थान है। तथा वे मुनियों एवं मुमुक्षुओं के शुभ मन-रूपी मानसरोवर के हंस हैं। जैसे हंस मानसरोवर पर आ कर विश्राम लेता है, वैसे ही वीतरागप्रभु परमहंस (जलदुग्धवत् हेयोपादेय का विवेक करने वाले) मुनिजनों के पवित्र मनरूपी सरोवर पर आ कर विराजते हैं। परमात्मा का परम ज्ञानप्रकाश मुनिजनों के मानस में ही स्थिर होता है। अथवा मानसरोवर के हंससदृश मुनियों के पवित्र मन जहाँ क्रीड़ा करते हैं, वह प्रभु ही मेरे लिए सर्वस्व हैं, वे ही मेरे आदर्श, ध्येय और साध्य हैं। असंख्य गुणों और पवित्रता के धामरूप बने हुए प्रभु मेरे आधार हैं। ऐसे परमात्मा के साथ प्रीतिधर्म व सेवाभक्ति के पालन द्वारा अभिन्नता स्थापित करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। आपमें दानशीलता, निर्भयता, निर्लोभता; नीरोगता आदि अनेक गुण हैं, कितने गिनाऊँ! आपके अनेक गुण ही मुझे बरबस आपसे भक्ति, सेवा, एवं प्रीति करके अभिन्न एवं तन्मय होने को प्रेरित करते हैं।

इसी कारण आपके प्रति भक्तिविभोर बनी हुई वाणी सक्रिय हो उठती है कि वह नगरी, वह वेला, वह घड़ी धन्य है, जहाँ और जब आपका जन्म हुआ था। वे माता-पिता भी धन्य हैं, जिन्होंने आपको जन्म दिया। वे कुल और वंश भी धन्य हैं, जिन्हें आपने पावन किया। व्यक्तिगत दृष्टि से अर्थ करें तो धर्मनाथप्रभु की जन्मभूमि रत्नपुरी (अयोध्या के पास) थी। उनके जन्मसमय की वेला व घड़ी भी शुभ थी। उनकी माता का नाम सुव्रता और पिता का

नाम भानुराजा था। उनका कुल इक्ष्वाकु और वंश क्षत्रिय था। ये सब आपके पावन अवतरण से, स्पर्श से धन्य हो उठे। सामान्यतया अर्थ करें तो सभी वीतराग परमात्माओं की नगरी, वेला, घड़ी, माता-पिता और कुल-वंश धन्य हैं। प्रभु (धर्मनाथ) का शरीर रोगरूपी मल से रहित, निर्मल, कंचनवर्ण है। वह दिव्य औदारिक शरीर रोहणाचल पर्वत की उपमा से उपमेय है। तथा वह दिव्यशरीर स्वस्तिक आदि एक हजार लक्षणों रूप मणियों का तथा सौम्यता, आह्लादकता आदि उत्तमगुणों का धाम—पर्वतरूप है। इस शरीर का अधिष्ठाता अथवा शरीधर आत्मा मुनिजनों के मनरूपी कमल को सुशोभित करने वाले राजहंस के समान है और प्रसन्नता का कारणभूत है। अथवा शुद्ध शाश्वत वीतरागदेव परमात्मा (शुद्धात्मा) की दृष्टि से अर्थ करें तो—परमात्मा निर्मल—क्षायिकभावी, केवलज्ञानादि गुणमणियों के आधाररूप हैं, भव्यात्माओं के हृदयसरोवर में सम्यग्ज्ञानादि गुणमणियों को उत्पन्न करते हैं, वे अपने स्वभाव से अचल मेरुपर्वत सरीखे हैं और सावद्य क्रियानुष्ठानादि से निवृत्त मुनियों के मानसरोवर के राजहंस हैं। वे योगी मुनिजन आपके स्वरूप का मनन करते हैं, उनके अन्तर ध्वनि और विचार उटते हैं-अहं+सः या सः+अहम्=सोऽहम्=हंसः। अज्ञात् वीतराग प्रभु जैसा ही मैं हूँ। नगरीपद का रूप 'नकरी' होता है, अतः सिद्धत्व की अपेक्षा से न+करी=नकरी यानी जो हस्तपादादि शरीरांगों से रहित होते हैं। अथवा सिद्धत्वपदप्राप्त परमात्मा स्थूलसूक्ष्मशरीर से रहित शुद्धात्मा को नगरी (नकरी) समझना। वही आत्मा धन्य है। उस वेला व घड़ी को भी धन्य है, जिस समय केवलज्ञान-केवलदर्शन-रूप आत्मा का प्राकट्य होता है। परमात्मा या शुद्धात्मा की माता अष्ट-प्रवचनमाता हैं और क्षायिकभावरूप पिता सर्वथा धन्य हैं—प्रशंसनीय हैं। अनन्त-वीर्यादि गुणसमूह और प्रतिसमय अव्याबाध आत्मसुख पैदा होना, यही तो परमात्मा का कुल और वंश है, जो प्रशस्य हैं।

परमात्मा से अभिन्न प्रीतिसम्पादन के लिए उनके चरणों में निवास आवश्यक है, यही सोच कर श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

मन-मधुकरवर कर जोड़ी कहे, पदकज निकट निवास, जिनेश्वर !
घननामी आनन्दघन सांभलो, ए सेवक अरदास, जिनेश्वर !

॥ धम० ॥ ८ ॥

अर्थ

मेरा मनरूपी श्रेष्ठ भ्रमर हाथ जोड़ कर कहता है कि आपके चरणकमल के पास मेरा निवास हो; कर्मशत्रुओं को अत्यन्त नमा देने वाले या बहुत ही नामी (प्रसिद्ध) आनन्द के समूहरूप परमात्मा ! सेवक की इस प्रार्थना (विनति) को सुनिये ।

भाष्य

प्रीतिसम्पादनहेतु चरणकमलों के निकट निवास की प्रार्थना

इस स्तुति की अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का सर्वांशतः पालन करने वाले हेतु कहते हैं कि हे प्रभो ! आप तो अनेकों को झुका देते हैं या आप अनेक नामों से प्रसिद्ध हैं, आपको किस-किस नाम से पुकारूँ ? अभिन्नता के लिए नामरूप (जो भिन्नता प्रगट करने वाले हैं) की आवश्यकता नहीं रहती । अतः प्रभो ! आपके उत्तमोत्तम गुणों से आकृष्ट हो कर मेरा मनरूपी मधुकर, जो कि शुभभावों से ओतप्रोत है, प्रार्थना करता है, अथवा मेरा मन आपके चरणकमलों में गुणरूपी पराग का रसपान करने हेतु उत्कृष्ट भाववाला भ्रमर बन कर आपके चरण-शरण में रहना चाहता है । मेरी आर्तभाव की इस विनति को आप मान लें । जब आपकी मेरे प्रति प्रीति (शुद्ध वत्सलता) होगी, तभी मैं और आप एक बनेंगे । फिर कोई भी विघ्न आ कर हमारी प्रीति में रोड़ा नहीं अटका सकेगा ; न कोई भी आ कर हमारे बीच में दूरी पैदा कर सकेगा ।

प्रश्न है—क्या वीतराग परमात्मा भक्त की इस प्रार्थना को सुनेंगे ? या ऐसी याचना पूरी करेंगे ? वास्तव में जैनदृष्टि से वीतरागप्रभु के साथ यह बात घटित नहीं होती, मगर भक्ति की भाषा में भक्त परमात्मा को अभिन्न आत्मीय मान कर ऐसा कहता है और आत्मस्वरूपनिष्ठ बन कर स्वरूपाचरण (यथाख्यातचारित्र) रूपी चरणकमल में निवास करना चाहता है तो कोई अनुचित भी नहीं है । तभी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का पालन हो सकेगा ।

सारांश

इस स्तुति की सभी गाथाओं में वीतराग परमात्मा के साथ अभिन्न, निर्वि-

घन, अद्वैत, प्रीतिरूप धर्म के आचरण (निश्चयनय से स्वरूपाचरण) करने की बात की अथ से इति तक पुष्टि की गई है। साथ ही यह बता दिया है, इस प्रीतिधर्म के पालन में बाधक और साधक तत्त्व कौन-कौन से हैं? प्रीति की प्रतीति, एकपक्षीय प्रीति का निराकरण, प्रीति के लिए परमात्मनिधि का दर्शन, उसका स्वरूप, और वैसा क्षेत्र, काल और पात्रता प्राप्त होने पर धन्यता तथा परमात्मचरणों में निवास आदि बातों का भलीभाँति समावेश भी वखूबी से अध्यात्मपयोगी श्रीआनन्दघनजी ने किया है।

१६ : श्रीशान्तिनाथ-जिन-स्तुति—

परमात्मा से शान्ति के सम्बंध में समाधान

(तर्ज—चतुर चोमासु पडिकमी, राग मल्हार)

शान्तिजिन ! एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवनराय रे !
शान्ति-स्वरूप किम जाणीए, कहो मन किम परखाय रे ?
॥ शान्ति० ॥ १ ॥

अर्थ

सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ जिन (परमात्मा) ! मेरी आप से एक विनति है, हे त्रिभुवन के राजा ! उसे सुनिये ! वह यह है कि शान्ति का स्वरूप क्या है ? उसे कैसे जाना जाय ? और यह भी बताइए कि उस शान्ति की परख मन से कैसे हो सकती है ?

भाष्य

शान्ति के सम्बन्ध में प्रश्न क्यों ?

यह स्तुति वीतराग शान्तिनाथ परमात्मा की है। प्रभु का नाम शान्तिनाथ है; इसलिए श्रीआनन्दघनजी को शान्ति का स्मरण हो आया और उन्होंने इस स्तुति से माध्यम से शान्ति के विषय में विविध प्रश्न उठा कर उनका समाधान ढूंढने की कोशिश है।

श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक साधकों के प्रतिनिधि हैं। जगत् में समस्त प्राणी शान्ति चाहते हैं। मनुष्यों में सभी वर्ग और कोटि के लोग अपनी-अपनी भूमिका और कल्पना के अनुसार शान्ति की चाह रखते हैं। कई लोग इष्ट भौतिक पदार्थों या इन्द्रियविषयों की प्राप्ति में शान्ति मानते हैं, परन्तु आगे चल कर जब उनका वियोग हो जाता है या प्राप्त होने पर भी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण या दुर्बल हो जाती है तो शान्ति दूरातिदूर होती चली जाती है; या अमुक इष्ट वस्तु स्वयं को न मिल कर दूसरे को मिल जाती है, या दूसरे को उपभोग करते देखता है तो मन ईर्ष्या और द्वेष से अशान्त हो जाता है, इसलिए कभी आधिदैविक, कभी आधिभौतिक और कभी आध्यात्मिक इन

तीनों दुःखों में से किसी भी प्रकार के दुःख से, विपत्ति से, चिन्ता से मन अशान्ति के झूले में झूलता रहता है। अतः वस्तुनिष्ठ शान्ति की मिथ्या मान्यता के कारण सामान्यसाधक ही नहीं, बड़े-बड़े साधक अशान्त होते रहते हैं।

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सभी साधकों की ओर से शान्ति के सम्बन्ध में विविध प्रश्न पूछते हैं। बहुत से साधक भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न होते हुए भी शान्ति नहीं पाते, वे सांसारिक स्वार्थों, लालसाओं, पुत्र, धन एवं लोक की एषणाओं से लिप्त हो कर बेचैन रहते हैं। बाहर शान्ति की झलक होते हुए भी उनके अन्दर अशान्ति की आग धधकती रहती है। अध्यात्म-साधक के जीवन में उसके तन, मन, नयन पर अशान्ति की जरा भी छाया नही होनी चाहिए, कोई भी कष्ट, आफत, विषम प्रसंग, इष्टवियोग-अनिष्टसंयोग हो, फिर भी साधक मस्त, शान्त और कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। साधकजीवन के किसी भी क्षेत्र में, किसी भी कोने में अगर अशान्ति होगी तो उसकी सारी साधना गड़बड़ में पड़ जायगी ; साधना का मजा किरकिरा हो जायगा, प्रभु-भक्ति और प्रभुप्राप्ति के लिए किया गया धर्माचरण बेकार हो जायगा। इन्हीं सब कारणों को ले कर साधक के जीवन में कैसी शान्ति होनी चाहिए ? उस शान्ति का स्वरूप क्या है ? उस शान्ति की पहिचान क्या है ? शान्तव्यक्ति के मन की परख कैसे हो सकती है? ये सब शान्तिविषयक प्रश्न शान्तिनाथ प्रभु के सामने श्रीआनन्दघनजी ने प्रस्तुत किये हैं।

शान्तिनाथ भगवान् के सामने ये प्रश्न क्यों ?

प्रश्न होता है कि शान्तिनाथ प्रभु से ये प्रश्न क्यों पूछे गये ? उत्तर में निवेदन है कि जो जिस बात का विशेषज्ञ, अनुभवी, अभ्यासी या अधिकारी हो, वही दूसरे अनभिज्ञ, जिज्ञासु और उत्सुक व्यक्ति को उस सम्बन्ध में बता सकता है। एक तो शान्तिनाथ प्रभु का नाम ही शान्ति का नाथ—शान्ति के स्वामी है। दूसरे, शान्तिनाथ प्रभु अपनी माता अचिरारानी के गर्भ में थे, तभी उस सारे प्रदेश में महामारी का उपद्रव चल रहा था। आपकी माताजी ने आपका स्मरण व ध्यान किया, जिससे समग्र प्रदेश में शान्ति हो गई। सारा उपद्रव समाप्त हो गया। इसी कारण जन्म से पहले ही आपके माता-पिता ने आपका नाम शान्तिनाथ रखा था। अतः शान्तिनाथ प्रभु के सामने सर्वांगपूर्ण शान्ति

के विषय में जिज्ञासा प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है। शान्तिनाथ प्रभु संसार के अकारण, निस्वार्थ व निष्काम वन्धु हैं, वे शान्तिमंत्र के विशेषज्ञ, विश्वशान्ति के पुरस्कर्ता और अनुभवी हैं, अतः उनके सामने शान्तिविषयक प्रश्न प्रस्तुत करना चाहिए, यह सोच कर ही इस स्तुति में ये प्रश्न प्रतुत किये गये हैं। शान्तिनाथ प्रभु यद्यपि वीतराग एवं सिद्ध-बुद्ध मुक्त-निराकार होने के कारण किसी जिज्ञासु साधक से सीधी बातचीत नहीं करते, तथापि जिज्ञासु और भावुकहृदय आत्मसाधक मुमुक्षु जब शुद्ध अन्तःकरण से शान्ति से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर शान्तिनाथ प्रभु के आदर्श को समक्ष रख कर तथा उनके जीवन के शान्तिप्रदायक मधुर संस्मरणों से प्रेरणा ले कर गहराई से विचार करता है तो उसके शुद्ध और सम्यग्दर्शनयुक्त मानस में यथार्थ समाधान अंकित हो जाता है, उसका भावविभोर अन्तःकरण शान्ति के सभी पहलुओं पर समाधान पा जाता है।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी ने शान्तिनाथ (शान्तिमय वीतराग) प्रभु के समक्ष विनति की है। निश्चयनय की दृष्टि से देखें तो अनन्तशान्तिमय शान्ति के नाथ आत्मदेव के सामने उनके द्वारा प्रस्तुत यह शान्ति-विषयक प्रार्थना है।

शान्तिनाथ प्रभु (अथवा शान्तिनाथ आत्मदेव) को 'त्रिभुवनराय' इसलिए कहा गया है कि ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक, और अधोलोक यानी त्रिभुवन के सभी जीव उन्हें अपने कल्याणकर्ता मानते हैं, शक्रस्तव में लोगनाहाणं' इत्यादि विशेषण इसी बात को सिद्ध करते हैं।

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी शुद्ध आत्मलक्षी बन कर शान्तिनाथ भगवान् से उपर्युक्त प्रश्नों की जिज्ञासा के विषय में आश्वासन एवं धन्यवाद प्रस्तुत कराते हैं—

धन्य तुं आतम जेहने, एहवो प्रश्न-अवकाश रे।
धीरज मन धरी सांभलो, कहुं शान्ति- प्रतिभास रे ॥ शान्ति॥२॥

अर्थ

हे आत्मन् ! तू धन्य है, जिसे इस प्रकार के प्रश्न करने का अवकाश मिला, विचार आया। अतः अब तुम इन प्रश्नों का उत्तर मन में धैर्य धारण करके-सुनो। मैं तुम्हें शान्ति का प्रतिभास—स्वरूप-प्रकाश या उपाय कहता हूँ।"

भाष्य

प्रश्नकर्ता को धन्यवादज्ञापन

धर्मशास्त्रों या आध्यात्मिक ग्रन्थों की विशिष्ट नीति है—जिज्ञासु का आदर करना, जिससे धर्म और धर्मी का महत्व बढ़े, विशिष्ट ज्ञानप्राप्ति के लिए जिज्ञासु प्रयत्नशील हो। यहाँ भी उसी नीति का अनुसरण किया गया है।

हे आत्मन् ! तुम धन्य है कि तुम्हें शान्तिनाथ भगवान् की आदर्श शान्ति का स्वरूप जानने की इच्छा हुई। तुम्हारे मन में ऐसा प्रश्न उठा, यह भी सौभाग्य की बात है। तुम बड़े भाग्यशाली हो कि ऐसा गम्भीर सवाल तुम्हें सूझा। जो आत्मा भव्य और सम्य ग्दृष्टि होता है, अथवा अध्यात्मरसिक तत्व-जिज्ञासु होता है, या जिसे शान्ति प्राप्त करनी होती है, उसके मन में ही ऐसे प्रश्न उठते हैं। बहुत से लोग जिज्ञासु बन कर कोई शंका उठाते हैं, उन्हें कई अध्यात्मज्ञान से अनभिज्ञ या आत्मिक चारित्र दौर्बल्ययुक्त व्यक्ति सहसा दबा देते हैं, उसे नास्तिक, शंकाशील या अज्ञानी कह बैठते हैं; और उसको अध्यात्मज्ञान से वंचित कर देते हैं। परन्तु सम्यग्दृष्टि, तत्वज्ञ एवं समत्वयोगी पुरुष जिज्ञासु की जिज्ञासु को प्रोत्साहन देते हैं, कि तुमने बहुत ही अच्छा सवाल उठाया। वे मानते हैं कि इससे हमारे ज्ञान में वृद्धि ही होगी, दूसरे व्यक्ति भी इस ज्ञान से लाभान्वित होंगे। ऐसे जिज्ञासु अपने मन में अनेक प्रश्नों को स्थान देते हैं।

जिज्ञासु श्रोता के दो गुण : एकाग्रता और धैर्य

आध्यात्मिक दृष्टि से शान्ति के विषय में जो सुनना चाहता है, उस जिज्ञासु श्रोता में दो गुण होने आवश्यक हैं–एकाग्रता और धैर्य। वक्ता जब कोई बात कहता है या किसी गम्भीर विषय का प्रतिपादन करता है, तब श्रोता अगर एकाग्रता पूर्वक न सुन कर अन्यमनस्क हो कर सुनता है तो वह विषय को भलीभाँति ग्रहण नहीं कर सकता, न समझ सकता है। अधूरी समझ से कई बार श्रोता उटपटांग बातें कह कर या तर्क-वितर्क करके भ्रान्ति फैलाता है या मनगढंत बातें करता फिरता है। श्रोता का दूसरा गुण है— धैर्य। यदि श्रोता में किसी प्रतिकूल बात के सुनने का धैर्य नहीं होता तो वह बीच में

ही उखड़ जायगा, अधूरी बात सुन कर निन्दा करेगा, लोगों में गलतफहमी फैलाएगा, खण्डन के लिए प्रवृत्त होगा ।अतः इन दोनों दुर्गुणों से श्रोता और वक्ता दोनों की मानसिक वाचिक शान्ति खत्म हो जायगी । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिमय आत्मदेव (शान्तिनाथजिनदेव से कहलाते हैं----'**धीरज मन धरी सांभलो**' तुम मेरी बात को धैर्य और एकाग्रचित्त हो कर सुनो ।

शान्ति-प्रतिभास क्या और कैसे ?

श्री शान्तिनाथ भगवान् ने जिस रूप में शान्ति प्राप्त की थी, उसी शान्ति का प्रतिभास (झलक, स्वरूप-प्रकाश या उपाय) सुनाने-समझाने के लिए वे प्रवृत्त होते हैं।

शान्ति-प्रतिभास का अर्थ----शान्तिनाथ-प्रभु की झलक भी होता है, आत्म-शान्ति की प्रतीति या उपाय भी होता है, अथवा शान्ति-स्वरूप प्रतिभास या झलक भी होता है । जो भी हो, अब क्रमशः शान्ति के सम्बन्ध में अगली गाथाओं में कहते हैं—

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवरदेव रे ।
ते तेम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शान्तिपदसेव रे ॥शान्ति०३॥

अर्थ

वीतराग-देव (शान्तिनाथ) परमात्मा ने औपशमिक आदि भाव, जो शुद्ध नहीं हैं अथवा जो भाव शुद्ध हैं, उन पर उस-उस प्रकार से उस उस रूप में वे जैसे हैं, वैसे (यथातथ्य) ही श्रद्धा करे, सर्वप्रथम यही स्थान या पद शान्तिनाथ भगवान् के चरणकमल की अथवा शान्ति की आराधना व सेवा है।

भाष्य

शान्ति का प्रथम सोपान : यथार्थ श्रद्धा

कई बार व्यक्ति किसी वस्तु का केवल बाह्यरूप देख कर उसके अन्तरंगरूप की उपेक्षा करके वस्तु को या तो विपरीत रूप में मानता है, गलत वस्तु को, जिसका परिणाम भयंकर है, आपातरमणीय देख कर उसे बढ़िया अथवा मनोज्ञ मान कर उसके वियोग में दुःखी हो कर हायतोबा मचाता है, उसके कारण (यानी इष्ट वियोग-अनिष्ट संयोग को कारण वह व्यक्ति अशान्त हो जाता है । अतः सर्वप्रथम जिस वस्तुका जैसा स्वरूप, स्वभाव या परिणाम है ;

उसे उसीरूप में उसी स्वभाव या परिणाम वाला माने, उसके वियोग या अनिष्ट संयोग में मेरी आत्मा का कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं, इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा, यथार्थ विश्वास, वीतराग-आप्त- वचन पर पूर्ण आस्था रख कर चले; तभी शान्ति-मानसिक शान्ति हो सकती है। अन्यथा, अश्रद्धा मानव को बेचैन कर देती है। अश्रद्धा से मानव-मस्तिष्क में ऊलजलूल विचारों के तूफान उठते हैं। अथवा निश्चयदृष्टि से इसका अर्थ है-औपशमिकादि जो भाव विशुद्ध नहीं हैं, तथा जो भाव (पदार्थ या तत्व) विशुद्ध बताये हैं। यानी अच्छे और बुरे जो भाव (तत्त्व या पदार्थ) जिस जिस रूप में आप्त-वीतरागदेव ने कहे हैं, उन्हें उसी रूप में समझे, उन पर श्रद्धा रखे और वैसे ही हैं, यों जाने, यह सबसे पहली शान्तिपद-प्राप्ति की शर्त है।

भाष्य

तीर्थंकरदेव द्वारा प्ररूपित भाव

वीतराग अर्हद्देव आप्तपुरुष हैं, वे राग, द्वेष एवं मोह, पक्षपात आदि दोषों से रहित होने के कारण वस्तु का स्वरूप विपरीतरूप से बताएँ, ऐसा असम्भव है। अतः[1] जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्व जीव के सम्बन्ध में विचार, तथा दूसरे अनेक भाव या पदार्थ, षड्द्रव्य आदि तीर्थंकरदेवों ने मूलसूत्रों में बताये हैं, वे उसी रूप में यथार्थ हैं, इस प्रकार की श्रद्धा उन पर रखें।

वस्तु को अपने असली स्वरूप में —अन्तरंग-बहिरंग दोनों रूपों में देखना और उस पर विश्वास जमाए रखना, शान्तिप्राप्ति की पहली शर्त है। वीतरागप्रभु ने आगमों में कई जगह खराब भावों का भी वर्णन किया है। पापी जीव कर्म के किस-किस प्रकार के फल भोगते हैं, उनके चरित्र भी बताए हैं। कर्मों के अच्छे-बुरे फल भी मिलते हैं, सृष्टिकर्ता ईश्वर या और

---

१. जीवाजीवा य बंधो य, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो, संतेए तहिया नव॥
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स समत्तं तं वियाहियं॥

संसारत्था य सिद्धा य इमे जीवा वियाहिया।
रुविणो चेवारूवी य अजीवा दुविहा विय॥
इमं जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सद्धाणनाणमणुमए रमेज्ज संजमे मुणी॥ —उत्तरा०

कोई है या नहीं ? इस पर भी मूलसूत्र में स्पष्टीकरण दिया है कि समस्त पदार्थ जिनदेव ने कहे हैं उन्हें निःसंकोच वैसे ही रूप में माने। 'पुरुषविश्वासे वचनविश्वासः' इस न्याय के अनुसार उन पदार्थों या भावों के मूल वक्ता आप्तपुरुष पर विश्वास हो, तो उनके द्वारा कथित या प्ररूपित वचनों पर भी श्रद्धा या विश्वास जम जाता है। इस प्रकार देव (वीतराग) तत्त्व के सम्बन्ध मे उसके मन में जरा भी शंका-कुशंका नहीं रहती। यह शान्तिस्वरूप की पहली शर्त है। ऐसी श्रद्धा रखने वाला ही वास्तविक धर्म और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। बहुत-सी बातें अतीन्द्रिय तथा अमूर्त्त होने के कारण अदृश्य होती हैं, अनिर्वचनीय भी होती हैं, जैसे लोक-अलोक भी जो दूर हैं, वे नहीं दिखाई देते ; देवलोक या नागलोक दूर हैं, वे दृष्टिगोचर नहीं होते। मगर ये सब उसी प्रकार हैं, जिस प्रकार से भगवान् ने बताए हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण-देव को देव के रूप में जाने, देवकथित बात को भी उसी रूप में समझे व कबूल करे, यह शान्ति की प्राथमिक भूमिका है।

निश्चयनय की दृष्टि से स्वभाव-परभाव अथवा स्वभाव-विभावरूप आत्मा-अनात्मा आदि का जैसा रूप है, अच्छा या बुरा, उसे वैसा ही, उसी रूप में माने।

अब शान्ति के दूसरे सोपान के बारे में कहते हैं—

आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे !
सम्प्रदायी-अवंचक सदा, शुचि अनुभवाधार रे !

॥ शान्ति० ॥ ४ ॥

अर्थ

जो आगमों का ज्ञाता (धारक) हो, सम्यग्दृष्टि हो, संवरप्रधान शुद्ध धर्म-क्रिया करने में तत्पर हो, सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाले धर्मसंगठन का सदस्य हो, अवंचक = निष्कपटभाव से प्रवृत्ति करता हो, सदा पवित्र अन्तःकरण वाला हो, शुद्ध आत्मानुभवी हो, ऐसे गुरु का आधार शान्ति-पद के लिए आवश्यक है। यह शान्ति की दूसरी शर्त है।

भाष्य

योगाऽवंचक गुरु का योग : शान्ति का द्वितीय सोपान

पूर्वगाथा में शान्तिपद के लिए शुद्ध देव के प्रति श्रद्धा आवश्यक वतलाई, अव पवित्र गुरु के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता का संकेत करके गुरु का लक्षण वताते हैं। वास्तव में शान्ति का स्वरूप और शान्ति के लिए मार्गदर्शन हेतु 'गुरु' की महती आवश्यकता है; परन्तु भूमण्डल में आज अनेक नामधारी गुरु घूम रहे हैं। वे शिष्य को सन्मार्ग दिखाना तो दूर रहा, उल्टे कुमार्ग पर चढ़ा देते हैं ; जिस पर चल कर वह अपने जीवन का नाश कर लेता है, शान्ति के वदले अशान्ति के गर्त में गिर जाता है, कर्म-मुक्ति के वदले कर्मवन्धन करके नाना योनियों और गतियों में भटकता रहता है। इसी कारण वहुत-से लोग तो यहाँतक कहने लगे—"ऐसे कुगुरुओं से तो गुरु न वनाना अच्छा है।" परन्तु सभी गुरु ऐसे नहीं होते और सभी लोग गुरु के विना रह नहीं सकते। सद्गुरु से वंचित रहना एक अलभ्य लाभ को खोना है। इसी दृष्टि से शान्तिप्रदायक या शान्तिस्वरूपदर्शक सच्चे गुरु की पहिचान के लिए श्रीआनन्दघनजी गुरु के लक्षण वताते हुए कहते हैं—'आगमधर गुरु०'........

सद्गुरु के लक्षण

आगमधर गुरु—सद्गुरु की पहिचान के लिए सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि वह आगमों व सिद्धान्त का ज्ञाता हो, ज्ञाता ही नहीं, आगमों के गूढ़ रहस्यों, पूर्वापरविरुद्ध वातों, उत्सर्ग-अपवाद के मर्मों एवं द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अनुसार युगानुकूल संयोजन करने का अनुभवी हो। क्योंकि जिसको शास्त्रों का रहस्यपूर्वक ज्ञान होगा, वह कैसी भी परिस्थिति के समय आत्म-समाधि में स्थिर रह सकेगा, दूसरों को भी शास्त्रज्ञान दे कर समाधिस्थ कर सकेगा। पाप एवं प्रमाद से वचने के लिए आगम दीपक के समान है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—कि[1] 'शास्त्र (सूत्र) ज्ञान से चित्र एकाग्र होता है, उसकी आत्मा स्वयं स्वधर्म-स्वभाव में स्थिर हो कर दूसरों को सूत्रज्ञान से स्वधर्म में स्थिर करती है सूत्रों (श्रुतों) का अध्ययन करके साधक श्रुत-

---

१- देखिये दशवैकालिक सूत्र (अ. ८ उ. ४) का वह पाठ—

'नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ य ठावई परं।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए॥

समाधि में रत (लीन) हो जाता है। बहुत से साधक आगमों की बात तो दूर रही, सामान्य नीतिधर्म के ज्ञान से भी रहित होते है, वे सिर्फ वेपधारी या व्यसनी होते हैं।

सम्यक्त्ववान गुरु—बहुत से लोग अक्षरज्ञान या भाषाज्ञान के पण्डित होते हैं, वे प्रत्येक शास्त्र की व्याख्या बहुत ही बारीकी से कर सकते हैं, परन्तु उनके अन्तर में सम्यग्दर्शन नहीं होता, वे या तो पैसा या प्रसिद्धि कमाने के लिए शास्त्रज्ञान करते-कराते हैं, या दूसरों के साथ साम्प्रदायिक संघर्ष में उतरने के लिए ऐसा करते हैं। ध्यान रहे, मिथ्यादृष्टि भी ६ पूर्व से कुछ कम तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः गुरु का सम्यग्दृष्टि होना बहुत आवश्यक है। गुरु सम्यग्दृष्टि होगा तो वह मिथ्याश्रुतों या पूर्वापरविरुद्ध बातों में से भी अपनी समन्वयी, अनेकान्ती एवं सापेक्ष दृष्टि से तत्त्व निकाल लेगा; शास्त्रों, धर्मों, एवं क्रियाकाण्डों के कारण होने वाले झूठे संघर्षों को वह मिटा सकेगा; उनमें परस्पर सामंजस्य स्थापित कर सकेगा। इस प्रकार सम्यक्त्वीगुरु पारस्परिक संघर्षों एवं विवादों को मिटा कर शान्ति स्थापित कर सकता है।

संवरप्रधान क्रियावान् गुरु—जो समिति-गुप्ति एवं संवर से युक्त क्रिया करता है, वह गुरु प्रत्येक क्रिया में ध्यान रखेगा कि वह संसारवृद्धि की कारण न हो। बहुत से गुरु अपनी महिमा बढ़ाने के लिए संसारवर्द्धक (आश्रव-पोषक) क्रिया करते-कराते रहते हैं, उन क्रियाओं में आत्मस्वरूप या कर्म-मुक्ति का लक्ष्य कम होता है, आडम्बर या शुभाश्रव का भाग ज्यादा होता है। इसलिए क्रियाविधिज्ञ एवं संवरप्रधान (कर्मों को आते हुए रोकने की) क्रिया करने वाला होना चाहिए। अन्यथा, बहुत-से ऐसे गुरु होते हैं, जो आरम्भ-समारम्भ से ग्रथित सावद्य क्रियाकाण्डों के भंवरजाल में स्वयं भी फँसे रहते हैं, अनुयायियों को भी फँसा देते हैं। परन्तु क्रियावान गुरु प्रत्येक क्रिया मोक्षदायिनी करेगा, इहलोक-परलोकलक्षी नहीं, तथा उसके साथ उसे कर्तृत्व का अभिमान नहीं होगा, उसकी क्रिया स्वेच्छाचारी नहीं होगी, अपितु शास्त्रानुसार निरवद्य होगी। इस प्रकार की निरवद्य क्रिया करने-कराने वाला गुरु ही शान्तिप्रदाता हो सकता है।

सम्प्रदायी गुरु—सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाला धर्म-संगठन सम्प्रदाय है। गुरु ऐसे सम्प्रदाय से सम्वद्ध होना चाहिए। ऐसे सम्प्रदाय में रहने वाला सुगुरु स्वयं आत्मानुशासित होता है और संघ को भी अनुशासन में रखता है। सम्प्रदायी गुरु मनमाने ढंग से चलने वाला स्वेच्छाचारी नहीं होगा। परन्तु सम्प्रदायी का यह मतलब नहीं हैं कि वह सम्प्रदाय के मोह से या साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हो कर सम्प्रदाय में चलने वाली गलत बातों का समर्थन करेगा या अपने अनुयायियों को उकसा कर दूसरे सम्प्रदायों से लड़ायेगा-भिड़ायेगा या संघर्ष करायेगा। वह सम्प्रदायी गुरु सदाग्रही होगा, दुराग्रही नहीं, वह द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को देख कर युगानुकूल क्रांति (परिवर्तन-संशोधन) करेगा। चूँकि सम्प्रदाय सुन्दर संस्कारों से जीवन का निर्माण करता है, व्यक्ति को अनुशासित रखता है, उच्छृंखल नहीं होने देता; अतः सम्प्रदाय में रहना बुरा नहीं, साम्प्रदायिकता या सम्प्रदाय-मोह से ग्रस्त होना बुरा है। गुरु पूर्वोक्त व्याख्यानुसार सम्प्रदायी होगा।

वह सरलमना, सरल स्वभावी, चालढाल, व रहनसहन में सरल और दम्भ, धूर्तता, वंचकता या ठगी से बिलकुल दूर होगा, जो बात जैसी होगी वैसी ही कहेगा, या करेगा। अन्दर-बाहर एक होगा, धर्म-ध्वजीपन से वह दूर होगा। वह प्रभु की साक्षी से गुरु के मार्गदर्शन में अपनी आत्मा की वफादारीपूर्वक धर्माराधना करेगा। अथवा स्वरूपलक्ष से वंचित नहीं होने वाला गुरु हो।

शुचिगुरु—वह पवित्र स्वभाव, पवित्र, निष्पाप, निष्कलुष, कषायभाव की क्लिष्टता से दूर एवं मर्यादित वेषभूषाधारी होगा। पवित्र गुरु से ही जनता शान्ति का पाठ सीख सकती है।

अनुभवाधार गुरु—आत्मगुण तथा व्यावहारिक एवं आध्यात्मिक अनुभवों का आधाररूप गुरु ही स्वयं तर सकता है, दूसरों को तार सकता है। अपने अनुभव के सहारे वह अशान्त वातावरण को शान्त वातावरण में बदल सकता है। अथवा निश्चयदृष्टि से वह शुद्ध आत्मानुभवी हो।

अतः शान्ति का स्वरूप जानने का या शांति-प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति उपर्युक्त सातों गुणों से युक्त साधक को ही अपना गुरु बनाए, उसी का आश्रय ले, जैसे-तैसे ऐरेगैरे को गुरु बनाने से तो शान्ति के बदले अशान्ति ही पल्ले

पड़ेगी। सद्गुरु ही शान्ति का स्वरूप प्राप्त करा सकता है। इस कारण श्रीआनन्दघनजी ने योगाऽवंचक गुरु के योग को शान्ति का स्थान बताया है।

सद्गुरु का योग पाने के बाद सद्धर्मप्राप्ति के हेतु शुद्ध आलम्बन शान्ति के लिए आवश्यक है, इसी बात को अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी बताते हैं—

शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरे, भजे सात्त्विक साल रे॥
शान्ति० ॥५॥

अर्थ

शान्तिकांक्षी साधक अन्य सभी प्रपंच-जाल (खटपट) या रागीद्वेषी देव-गुरु का जाल छोड़ कर शुद्ध (शास्त्रोक्त) या आत्मस्वरूप के आलम्बनों को अपनाए। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, दंभ, ईर्ष्या, छल, स्वार्थ, इन्द्रियविषयासक्ति आदि समस्त तामसीवृत्तियों का त्याग करे और सात्त्विक ज्ञानयुक्त आनन्ददायी वृत्ति धारण करे।

भाष्य

सद्धर्मप्राप्ति के लिए शुद्ध आलम्बन : शान्ति का कारण

देव और गुरु के योग के बाद सद्धर्मप्राप्ति के लिए क्रियाऽवंचक योग बतलाया गया। क्रियावंचकयोग में पुष्ट और शुद्ध आलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न होता है कि शुद्ध आलम्बन किसे कहा जाय? जो आलम्बन शुद्ध स्वरूपलक्ष्यी, परमात्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी हो, उसे ही शुद्ध आलम्बन कहा जा सकता है। जिस आलम्बन से साधक दुर्गतियों में भटकता हो, जिससे जीवन पतन की ओर जाता हो, अथवा जो आलम्बन मनुष्य को सदा परावलम्बी बनाए रखता हो, उस आलम्बन को शुद्ध आलम्बन कैसे कहा जा जा सकता है? शुद्ध आलम्बन में किसी प्रकार का आडंबर, प्रपंच, स्वार्थ-साधन, धोखा या मायाजाल नहीं होना चाहिए। वह आलम्बन राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि के परिणामों से रहित होना चाहिए। अतः निश्चयदृष्टि

से तो शुद्ध आलम्बन एकमात्र शुद्धस्वरूपलक्ष्यी आत्मा ही हो सकता है, जिसमें अन्य विकल्पों का जाल न हो। वह आलम्बन सदा अखण्ड आत्मस्वरूप में रमणरूप चारित्र, आत्मज्ञान और आत्मस्वरूपदर्शन हो सकता है। वही स्वावलम्बन है। इस दृष्टि से किसी दूसरे का, यहाँ तक कि देव, गुरु और धर्म का भी आलम्बन परावलम्बन है। आत्मा का आलम्बन लेने में किसी दूसरे से याचना करने की, दूसरे को रिझाने की दृष्टि से गुणगान करने की जरूरत नहीं रहती। परन्तु जहाँ तक शरीर साथ में है, वहाँ तक किसी न किसी दूसरे का आलम्बन लेना पड़ता है। और यों देखा जाय तो आलम्बन शब्द ही परसापेक्ष—परापेक्षित है। आत्मशक्ति की अल्पता ही आलम्बन की अपेक्षा रखती है। साधक में जब तक अपूर्णता है; जब तक संसारसमुद्र से वह पार नहीं हो जाता, तब तक उसे नौका की तरह शरीर, संघ, देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि का आलम्बन लेना ही पड़ता है। आलम्बन मनुष्य तभी तक लेता है, जब तक वह पूर्णता के शिखर पर नहीं पहुँच जाता। शास्त्र में बताया गया है कि[1] धर्माचरण करने वाले साधु के लिए पाँच स्थानों (आधारों) के निश्राय (आलम्बन) बताए हैं—संघ, धर्माचार्य, गृहस्थ, छह काया (संसार के प्रत्येक कोटि के जीव), और शासक। यह तो हुई व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से आलम्बन की बात। व्यवहारदृष्टि से शुद्धदेव, सद्गुरु और सद्धर्म का आलम्बन लेना अपूर्णसाधक के लिए आवश्यक होता है। परन्तु इन और ऐसे ही अन्य आलम्बनों को ग्रहण करते समय यह विवेक करना होगा कि मैं जिन देव-गुरु-धर्म आदि का आलम्बन ले रहा हूँ, वे वीतरागभाव-पूर्णशान्ति-शुद्धात्मभाव की ओर ले जाने वाले हैं, या परस्पर साम्प्रदायिकता, सम्प्रदायमोह, कदाग्रह, राग-द्वेष, कषाय, संघर्ष आदि बढ़ाने वाले हैं? अगर वे आलम्बन तथाकथित देव-गुरु-धर्म के नाम से झगड़े, उपद्रव, सिरफुटौव्वल, छलछिद्र, दम्भ आदि पैदा करने वाले हों तो उन्हें व्यवहारदृष्टि से भी शुद्ध आलम्बन कहना अनुचित है। इसी प्रकार व्यवहारदृष्टि से मोक्षलक्ष्यी आलम्बन के रूप में व्यवहार सम्यग्दर्शन,

---

१. धम्मस्स णं चरमाणस्स पंच ठाणा निस्सिया पण्णत्ता—छकाया, गणे, राया, धम्मायरिए, गाहावई। —स्थानांगसूत्र पंचम स्थान

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ग्रहण किये जाते हैं; लेकिन वे भी वीतरागता और समता के पोषक हों, तभी उपादेय हो सकते हैं। यदि तथाकथित सम्यग्दर्शन के नाम से कलह, कदाग्रह, एकान्त एवं अन्धश्रद्धायुक्त मिथ्या मान्यताएँ आलम्बन के रूप में स्वीकार करने का कोई कहे; सम्यग्ज्ञान के नाम से उन्मार्गगामी, अन्धविश्वासयुक्त, अथवा भौतिकज्ञान या मिथ्याज्ञान अथवा अनिष्ट सावद्यमार्ग पर ले जाने वाले विषमतावर्द्धक ज्ञान या शास्त्रों को आलम्बन के रूप में थोपना चाहे अथवा सम्यक्चारित्र के नाम से कोई युगबाह्य, निरर्थक,संवर प्रतिपक्षी, सद्धर्म से विपरीत, वृथाकष्टकारी क्रियाएँ आलम्बन के रूप में लादना चाहे तो वह शुद्ध (व्यवहारदृष्टि से) आलम्बन नहीं हो सकता। यद्यपि पूर्णतः शुद्ध एवं उपादेय आलम्बन तो आत्मस्वरूपलक्ष्यी स्वरूपरमण ही हो सकता है; क्योंकि वही नित्य है, शुद्ध और अभिन्न आलम्बन है। इस प्रकार का प्रतिपादन स्वयं आनन्दघनजी अगली गाथाओं में करेंगे। किन्तु जब तक शरीर है, तब तक व्यवहारदृष्टि से जल-सन्तरण के लिए नौका की तरह सुदेव, सुगुरु या सद्धर्म आदि मोक्ष, परमात्मा या शुद्धस्वरूप की ओर ले जाने वाले पुष्ट या पवित्र आलम्बन भी कथंचित् शुद्ध एवं उपादेय हो सकते हैं। परन्तु वे आलम्बन नदी पार होने के बाद नौका को छोड़ देने की तरह वीतरागचारित्र की भूमिका पर या उच्च गुणस्थान में आरूढ़ हो जाने पर त्याज्य होते हैं। जैसे एम० ए० पढ़े हुए विद्यार्थी के लिए उससे पहले की कक्षाएँ या पाठ्यपुस्तकें छोड़ देनी होती हैं, वैसे ही उच्चश्रेणी पर पहुँचे हुए साधक को नीची श्रेणी के समय लिये जाने योग्य आलम्बन छोड़ देने चाहिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कहा है—**'शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे'**। तात्पर्य यह है कि आलम्बन के नाम से प्रपंचमय, रागद्वेषवर्द्धक, मायाजाल में फंसाने वाले, वीतरागता से विमुख करने वाले आलम्बन, चाहे जितने पवित्र नाम से कोई थोपना चाहे, उन्हें जंजाल समझ कर छोड़ दो।

अथवा शुद्ध आलम्बन का व्यवहारदृष्टि से यह अर्थ भी हो सकता है—शुद्धरूप से आलम्बन मानी देव, गुरु, धर्म आदि भी सच्चे हों, लेकिन उन्हें गलत रूप से, स्वार्थ, दम्भ, छलछिद्र, आडम्बर एवं यशोलिप्सा, पदलिप्सा

आदि किसी विपरीतभाव से, या क्रोध-द्रोह-ईर्ष्या-अभिमानवश ग्रहण करना अशुद्ध आलम्बन है। शुद्धरूप से इन चार बातों के साथ देवगुरुधर्म आदि का आलम्बन लेने में ४ स्थितियाँ आती हैं—इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि।

निश्चयदृष्टि से आत्मस्वरूपलक्ष्यी शुद्धआत्मा का आलम्बन भी पूर्वोक्त अशुद्धरूप से न ले कर शुद्धरूप से लेना भी शुद्धालम्बन का अर्थ हो सकता है।

तामसीवृत्ति छोड़ कर सात्त्विकवृत्ति का आश्रय

अशुद्ध आलम्बनरूप प्रपंच छोड़ कर शुद्ध आलम्बन लेना शान्तिप्राप्ति का मूल कारण है, परन्तु साथ ही व्यवहारदृष्टि से देवगुरु आदि पवित्र आलम्बनों के लिए पवित्र वृत्ति भी होनी आवश्यक है। आलम्बन तो व्यवहार के नाम से तथाकथित शुद्ध अपना लिए, लेकिन वृत्ति अभी तक तामसी बनी हुई है, मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानान्धकारमयी है, वह शरीर को ही आत्मा समझ कर उसी का पोषण करने, उसी को स्वस्थ रखने आदि की चिन्ता करता है या उसी को आत्मा समझ कर उसके चिन्तन में डूबा रहता है। अथवा रागी-द्वेषी, मोही, क्रूर, शस्त्रपाणि, मदिरापायी, मांसाशी अथवा श्रापदाता देव, भंगेड़ी-गंजेड़ी, दुर्व्यसनी अथवा मिथ्यादृष्टि गुरु एवं वामाचार मार्ग-प्रेरक व्यभिचारोत्तेजक धर्म में उसी तामसी वृत्ति से ओतप्रोत रहे तो वह उसके लिए शान्तिदायक या शान्तिस्वरूप का परिचायक कैसे हो सकेगा? इसीलिए श्रीआनन्दघनजी को कहना पड़ा—"**तामसी वृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्त्विक साल रे।**" सात्त्विक में—समता, दया, क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्यता, संयमपरायणता, तपश्चर्या, ब्रह्मचर्य अकिंचनता, त्याग आदि का समावेश हो जाता है। संक्षेप में, आत्मधर्म या सूत्र-चारित्ररूप धर्म सात्त्विक वृत्ति में आ जाता है। इसीलिए साधक को भ-महावीर ने निर्देश किया है—१ धैर्यवान, धर्मसारथी, इन्द्रियरूपी अश्वों का दमन करने वाला एवं धर्मोद्यान में रत भिक्षु धर्मरूपी बगीचे में विहरण करे, ब्रह्मचर्य-आत्मस्वरूप में रमण—विचरण करना ही उसके लिए समाधि है।"

१. धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बंभचेर-समाहिए॥
—उत्तराध्ययन अ. १६

इस प्रकार शुद्ध आलम्बन ले कर सात्त्विक वृत्ति से युक्त होने से साधक आध्यात्मिक शान्ति को पा लेता है; शान्ति उसकी सहचरी बन जाती है, शान्तिस्वरूप को वह हृदयंगम कर लेता है और दूसरों को भी शान्ति प्रदान करता है।

अब इससे आगे के शान्ति के सोपान के बारे में कहते हैं—

फल-विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ-सम्बन्धी रे।
सकलनयवाद व्यापी रह्यो, ते शिवसाधनसन्धि रे।
शान्ति ॥६॥

अर्थ

जिसके मन में मोक्षरूप फल [कार्य] के सम्बन्ध में कोई विसंवाद [दुविधा] नहीं है, जिसके कहे हुए शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं है; जिसके वचनों में सर्वत्र समस्त नयवाद [सापेक्षता] व्याप्त है, ऐसे आप्तपुरुष के वचन मोक्षप्राप्ति की साधना में कारणरूप हैं।

भाष्य

शान्ति-सहायक मोक्षफलावञ्चकयोग : आप्तवचन

पूर्वगाथा में शुद्ध आलम्बन की बात कही गई थी। परन्तु शुद्ध आलम्बन तभी शुद्ध रह सकता है, जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के पालन से विषय में निःशंक, निर्विवाद, सापेक्ष, सार्थक-शब्दयुक्त आप्तवचनों का आलम्बन लिया जाय। वही शान्तिदायक, शान्तिसंचारक हो सकता है।

शान्ति के लिए फल के प्रति अविसंवादिता आवश्यक

ज्ञानादि की अथवा आत्मस्वरूपलक्ष्यी जो भी साधना की जाय, उसमें फल के प्रति शंका या असंगति मन में नहीं होनी चाहिए। जहाँ फलाकांक्षा या फल के विषय में शंका या भ्रान्ति मन में होती है, वहाँ साधना का रस खत्म हो जाता है, साधना के साथ जो श्रद्धा, भक्ति का आनन्द है, उसका स्थान बेगार ले लेती है। अतः शान्ति के अभिलाषी साधक को यह शंका नहीं होनी चाहिए कि इस साधना का फल मिलेगा या नहीं, फल नहीं मिला तो

क्या होगा ? क्योंकि फल तो क्रिया के अनुसार मिलता ही है। 'या या क्रिया सा सा फलवती', जैसी कारण-सामग्री होगी, वैसा ही फल होगा, वैसा ही कार्य होगा; परन्तु जैसा फल सोचा हो, वैसा फल न आए तो अपने कारण के साथ फल का अविसंवाद कहलाता है। इसलिए शान्तिकांक्षी के मन में फल की की असंगति या शंका नहीं होती कि शान्ति की साधना का फल मिलेगा या नहीं ?

शान्ति के लिए आत्मार्थप्राप्तिसूचक सापेक्ष वचन

आप्तपुरुष के सापेक्ष (नयवाद से युक्त) वचनों में शान्ति के इच्छुक व्यक्ति को शंका नहीं होती; या उसके भावार्थ के सम्बन्ध में उसे शंका नहीं होती, उसके मन में ऐसी शंका नहीं होती कि ऐसा अर्थ होगा या दूसरा होगा ? आप्तपुरुष के जो वचन (शब्द) होते हैं, उनका जो अर्थ होता है, वह उसे बिना किसी विरोध या आपत्ति के समझता है और स्वीकार करता है। उन शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में उसके मन में जरा भी उलझन नहीं होती। ऐसा साधक[1] नयवाद (सापेक्षत्व) की दृष्टि के परस्पर अविरोधीरूप से निःशंक हो कर समाधान कर देता है ; क्योंकि वह शब्दों में अविरोधता जानता है। इसलिए उसके निर्मल मन में शंका-कुशंका को स्थान नहीं होता। इस प्रकार का निर्मल अन्तःकरण शान्ति के उपासक का होता है। वह शब्दों का

---

१. उदाहरणार्थ-मोक्षरूपफल में भी विविध नयों की अपेक्षा से धर्मरूप साधन की व्यवस्था (संधि) इस प्रकार होती है—**नैगमनय की अपेक्षा** से जो जीव मोक्षपद में अवश्य जाएगा, उसमें निहित तथारूप भव्यता को अथवा अपुनर्बन्धकभाव को धर्म कहा जा सकता है। **संग्रहनय की अपेक्षा** से मोक्ष के छोटे-बड़े अनेक कारणों को धर्म कहा जा सकता है। **व्यवहारनय की अपेक्षा** से तमाम धार्मिक अनुष्ठानों को धर्म कहा जा सकता है। **ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा** से देशविरति-सर्वविरति को धर्म कहा जा सकता है। **शब्दनय की अपेक्षा** से उच्चदशा की निर्विकल्प अवस्था को धर्म कहा जा सकता है। **समभिरूढ़नय की अपेक्षा** से सयोगी केवलज्ञानी अवस्था को धर्म कहा जा सकता है। **एवंभूतनय की अपेक्षा** से शैलेशीकरण की अवस्था को धर्म कहा जा सकता है, जिसके बाद तत्काल ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

अपेक्षावाद (नयवाद) की दृष्टि से रहस्यार्थ समझता है, कि अमुक पदार्थ का अमुक अपेक्षा से अस्तित्व भी है, अमुक अपेक्षा से नास्तित्व भी है। इस प्रकार के सापेक्ष वचन ही मोक्ष (शान्तिरूप) की साधना के कारण हैं। ऐसा शान्ति-साधक पृथक्-पृथक् दृष्टिबिन्दुओं को समझता-समझाता है। इस प्रकार यह फलावंचकयोग रूपशान्ति हुई।

शान्ति के लिए किन चीजों का ग्रहण और किन चीजों का त्याग करना चाहिए ? इस सम्बन्ध में श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

विधि-प्रतिषेध करी आतमा पदारथ अविरोध रे।
ग्रहणविधि महाजने परिग्रह्यो इस्यो आगम-बोध रे॥

शान्ति० ॥७॥

अर्थ

ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समाधि, समता, वैराग्य, भक्ति-क्षमा आदि आत्मप्राप्ति के या आत्मा में घटित होने वाले साधनों, गुणों, स्वभावों या धर्मों आदि का निरूपण (विधि) तथा मिथ्यात्व, मिथ्याग्रह, काम, क्रोध, हिंसादि प्रमाद, स्वच्छन्दता, इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति, आसक्ति वगैरह आत्मगुण के घातक या या आत्मा में घटित न होने वाले गुणों, अभावों या विभावों आदि का प्रतिषेध निषेध, त्याग या प्रत्याख्यान) है। आत्मा को इस प्रकार विधि-निषेधरूप (करणीय कार्य को विधिरूप व अकरणीय को निषेधरूप) वाक्य द्वारा यथार्थ एवं अविरोधरूप से जान कर महापुरुषों (ज्ञानीजनों) ने उन्हें जानने (ग्रहण करने) की योग्य पद्धति से आत्म-पदार्थ का स्वीकार किया (अपनाया)। आगमों [शास्त्रों] में इस प्रकार का बोध है, जो शान्ति का कारण है।

भाष्य

शास्त्रयोग से आत्मा का विधि-निषेधरूप में ग्रहण : शान्ति का सोपान

आत्मप्राप्ति के साधन के रूप में अमुक कार्य, जो कि आत्मगुणों, आत्मस्वभावों, या आत्मधर्मों के लिए अनुकूल है, उस रूप में करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त विधि है, तथा उसके विपरीत आत्म-गुण के घातक व अमुक दुर्गुणों, विभावों,

अधर्मो या अभावों का द्योतक कार्य है, उसका त्याग, प्रत्याख्यान, या निषेध करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त प्रतिषेध है। यानी (आत्मदृष्टि से) अमुक कार्य करना और अमुक नहीं करना चाहिए, इस प्रकार के विधिनिषेध में इस अपेक्षावाद के कारण जरा भी विरोध नहीं दिखाई देता। शान्तिवाञ्छुक साधक की कुशलदृष्टि विधि का स्वीकार करती है और निषेध का त्याग करती है। उसे विधि-निषेध में पृथक्-पृथक् दृष्टिबिन्दु के ज्ञान के कारण जरा भी उलझन नहीं होती।

आगमों में भले ही अनेक पदार्थों, तत्त्वों या अनुयोगों का वर्णन या निरूपण हो, लेकिन प्रत्येक का अन्तिम तात्पर्यार्थ—महावाक्यार्थ आत्मा-पदार्थ का मोक्ष (शाश्वत शान्ति) के लिए निरूपण करना है। इस दृष्टि से आगमों में दो प्रकार से बोधनिरूपण हैं—विधिवाक्य और निषेधवाक्य। आत्मा विभावदशा में रह कर आत्मगुणबाधक तत्वों का ग्रहण करके अपना मूलस्वरूप भूली, जिससे वह शान्ति-स्वरूप से वंचित रही। राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि सब पुद्‌गलभावों की ओर ले जाने वाली क्रियाओं को **प्रतिषेध** कहा जाता है, इन क्रियाओं का कर्ता आत्मा है, जो इन वैभाविक क्रियाओं के कारण अशुद्ध बना हुआ है, इसी कारण वह योग-आत्मा या कषायात्मा के नाम से पुकारा जाता है। इन्हीं क्रियाओं के कारण आत्मा को इस अशान्त—दुःखमय वातावरण में बारबार परिभ्रमण करना पड़ता है। जब यही आत्मा स्वबोध या सद्‌गुरु या आगम के बोध से स्वभावदशा में आ कर आत्मगुणसाधक विधितत्व को ग्रहण करता है, तब यह शुद्धात्मा बनता है, जिससे उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा वैराग्यादिभावों में स्थिरता आती है।

इसलिए आत्मा के दुःख और अशान्ति के कारणरूप प्रतिषेधक (बाधक या घातक) तत्त्वों को दूर करना—उनका त्याग करना और अन्तःसुख तथा शान्ति के कारणरूप विधितत्त्व का पालन करने या अपनाने के लिए तत्पर रहना; यही है शान्ति प्राप्त करने का राजमार्ग, जिसे आगमों में यत्र-तत्र बोध (उपदेश या प्रेरणा या आज्ञा) के रूप में बताया है। जिन्हें पूर्वकाल में ऋषभ-देव से ले कर भ. महावीर तथा उनके साधुसाध्वियों अथवा विश्व के समदृष्टि संत-पुरुषों ने भी इसी रूप में विधि से शुद्ध आत्मपद या परमात्मपद ग्रहण किया है। न्यायशास्त्र में विधि यानी अन्वय और निषेध यानी व्यतिरेक का उपयोग किया

जाता है। जहां विधि-(अन्वय) तत्व से ग्राह्य विषय आता है, वहाँ निषेध (व्यतिरेक) तत्त्व से अग्राह्य विषय अपने आप हट जाता है। जैसे शास्त्र वाक्य है— उपशम से क्रोध-विजय होता है, यह अन्वय वाक्य है, उपशम के अभाव (क्रोध) से क्रोधविजय नहीं होता, यह व्यतिरेकवाक्य हुआ।[1] नौ तत्त्व, द्रव्य-क्षेत्र काल-भाव, द्रव्य-गुण-पर्याय, सात नय, पंच अस्तिकाय, पाँच ज्ञान, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, क्षायिकादि पाँच भाव, सूत्र-अर्थ, षट् द्रव्य, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, कर्म और उसके भेद आदि जो कुछ बोध आगमों में है, उस सबका मुख्य तात्पर्य पात्रजीवों को आत्मा का स्वरूप समझाना है; क्योंकि जानने का फल आत्मा को ही मिलेगा; अन्यथा जानने की जरूरत क्या थी! विभिन्न प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा का स्वरूप समझाना ही शास्त्रों का मुख्य कार्य है। इसीलिए महापुरुषों ने आत्मपदार्थ को भलाभाँति समझ कर उसका जिस रूप में जो स्वरूप है, उसका यथार्थरूप से आगमों में संग्रह किया है। अतः आगमों के द्वारा आत्मा को अविरोधरूप से वास्तविक रूपमें समझ लेना ही शास्त्रयोग है; जो एक तरह से शान्ति का कारण है। आत्मा गुण नहीं, क्रिया नहीं, कल्पना से कल्पित वस्तु नहीं, अभाव-रूप पदार्थ नहीं, तथा सांयोगिक पदार्थ नहीं, अपितु वह साक्षात् भावरूप अमूर्त, अविनाशी पदार्थ है, इस प्रकार विधि-निषेधरूप से प्रमाणरूप में (गतानुगतिकता से नहीं) आत्मा का विधिवत् स्वीकार करना भी शान्ति का कारण है।

---

१ देखिये आगमों में विधि-निषेधक विभिन्न पाठ—

(अ) अप्पणा सच्चमेसेज्जा मित्तिं भूएहिं कप्पए'—उत्तराध्ययन

(आ) कोहं माणं च लोभं च मायं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसा उ, इच्छंतो हियमप्पणो ॥—दशवैकालिक

(इ) अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य॥

—उत्तराध्ययन

(ई) 'न लोगस्सेसणं चरे'—आचारांग

[उ] सुयाणि य अहिज्जित्ता, तओ झाइज्ज एगओ। —उत्तरा०

आगामी गाथाओं में आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए विविध उपाय बताए हैं—

दुष्टजनसंगति परिहरे, भजे सुगुरुसन्तान रे।
जोग सामर्थ्य चित्तभाव जे, धरे मुगतिनिदान रे ॥ शान्ति० ॥८॥

अर्थ

आत्मशान्ति में विघ्न डालने वाले मिथ्याग्रही, अभिनिवेशी, मिथ्याभाषी, मिथ्यादृष्टि, निर्दय आदि दुष्ट विचार-आचार से दूषित) लोगों अथवा मिथ्यात्व, कषाय, विषयसक्ति आदि दोषों का संसर्ग छोड़ कर निष्पक्ष यानी आत्मार्थी गुरु अथवा उनके निश्राय में रहे हुए शिष्यों की संगति करे। इस प्रकार जो मुमुक्षु मुक्ति [शान्ति] के कारणरूप सामर्थ्ययोग [आत्मवीर्य] को चित्त में भावोल्लासपूर्वक [या आत्मा के उच्चस्वभावपूर्वक] धारण करता है, वह मोक्षसिद्धि—शान्तिलाभ प्राप्त करता है।

भाष्य

दुष्ट-संगतिवर्जन शान्ति के लिए जरूरी

मुमुक्षु और शान्तिस्वरूपप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को दुराग्रही, दुष्टस्वभावी एवं वितण्डावादी[1] दुर्जन लोगों की सोहबत से दूर रहना चाहिए, क्योंकि 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' इस न्याय से हलकी एवं नीच प्रकृति के लोगों के साथ रहने से लाभ के बजाय हानि ही अधिक होती है। उनके दोष सद्गुणी आत्मार्थी साधक में आने सम्भव हैं। क्रूर कदाग्रही आदि दुष्टों या दोषों की संगति १ से मन में संक्लेश पैदा होता है, अशान्ति और बेचैनी बढ़ती है।

सुगुरु-सन्तान की सेवा में रहे

अगर संगति करनी ही हो तो सद्गुरु —(निःस्पृह, अनासक्त, त्यागी, एवं आत्मार्थी गुरु) की सेवा में रहे। ऐसा करने से आत्मविकास की सुन्दर प्रेरणा मिलेगी, आत्मकल्याण का उपदेश मिलेगा, कषाय-रुचि और विषयासक्ति मन्द होगी। अगर वे सद्गुरु महापुरुषों की शिष्य-पर-

---

१. कहा भी है—

'खुड्डेहिं सह संसग्गिं, हासं कीडं च वज्जए'

—उत्तरा, अ. १

म्परा के होंगे तो ब्रह्मचर्य के उत्तम संस्कारों से ओतप्रोत[1] गुरुकुल में रह कर उन्होंने अपना जीवन-निर्माण किया होगा; इससे भव्य जिज्ञासु को शान्ति की प्राप्ति अनायास ही होगी। मतलब यह है कि कुसंग का त्याग और सुसंग का आश्रय लिया जाय, जिससे शास्त्रयोग प्राप्त हो, सिद्ध और सफल हो।

सामर्थ्य-योग का धारण : शान्ति का कारण

इसी प्रकार शान्तिवाञ्छुक साधक ऊपर चढ़ता-चढ़ता सामर्थ्य- योग चित्त में धारण करे, जो मुक्ति का प्रबल कारण है। सामर्थ्ययोग का अर्थ है—आत्मा में इतनी शक्ति (सामर्थ्य) प्रगट करे, जिससे अप्रमत्त साधक हो कर आत्मा में असंख्यकाल से निहित विषयकषायादि दुष्ट भावों को छोड़े। यही कारण है कि सामर्थ्ययोग उच्चगुणस्थानों में प्राप्त होता है। इसके मुख्यतया दो भेद—धर्मसंन्याससामर्थ्ययोग और योगसंन्याससामर्थ्ययोग। ७वाँ गुण-स्थान छोड़ने से ८वाँ गुणस्थान प्राप्त होने पर धर्मसंन्यास-सामर्थ्ययोग आता है, जिसमें सातवें गुणस्थान तक करने के बाह्य धर्मानुष्ठान छोड़ देने होते हैं; जबकि योगसंन्याससामर्थ्ययोग में १३ वें गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तब मन-वचन-काया के निरोध करने की क्रिया शुरू होती है। वहाँ से ठेठ शैलेशीकरण के अन्तिम समय तक की अवस्था होती है। अथवा यहाँ 'योगसामर्थ्य' शब्द भी हो तो उसका अर्थ होता है— मन, वचन, काया के योगों पर काबू करना या इन तीनों का सामर्थ्य बताना। अपने संयोग, सामर्थ्य, उत्साह और आरोग्य को देख कर साधक जितना हो सकता है, उतना आत्मशक्ति प्रगट करने में तत्पर होता है।

---

१. वसे गुरुकुले निच्चं (सदा गुरु के निकट निवास करे)—उत्तरा० १अ०

२ कहा भी है—

> बलं थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
> खित्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निउंजए।—दश० अ० ८
> जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो धुवं।
> जुत्तो अ समणधम्मम्मि अट्ठं लहइ अणुत्तरं॥ दश० अ ८

साधक अपना बल, उत्साह श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल देख कर अपनी आत्मा को साधना में जुटा दे। साधक आलस्यरहित हो कर सदा श्रमणधर्म में अपने योगों को लगाए। श्रमणधर्म में लगे हुए साधक की आत्मा अवश्य ही अनुत्तर सुख (शान्ति) का अर्थ (लाभ) को प्राप्त करती है।

योगसामर्थ्य का एक अर्थ यह भी है कि मुमुक्षु साधक अपने मन को व्यर्थ के अनिष्ट चिन्तन में, वचन को वृथा विवाद में, निन्दा-चुगली करने में तथा काया को व्यर्थ की चेष्टाओं या फिजूल कामों में अथवा दूसरों के साथ लड़ाई-झगड़े में न लगा कर शुद्ध आत्म-चिन्तन में, आत्मगुण की चर्चा में, अथवा परमात्म-गुणानुवाद में, तथा दूसरों की सेवाशुश्रूषा, त्याग आदि में लगाए। अपने समय का दुरुपयोग न करे, अपितु समय का अच्छे विचार, वचन एवं कार्य में सदुपयोग अथवा स्वयं को जो समय या साधन प्राप्त हुए हैं, उनका उपयोग अच्छी प्रवृत्ति में करे। इस प्रकार के योगसामर्थ्य से स्वतः ही शान्ति प्राप्त होती है, आत्मा में समाधि रहती है।

अगली दो गाथाओं में महाशान्ति के लिए समतायोग के विषय में कहते हैं—

मान-अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक-पाषाण रे।
वन्दक-निन्दक सम गणे, इस्यो होय तुं जाण रे ॥शा० ६ ॥
सर्व जगजन्तु ने सम गणे, सम गणे तृण-मणि भाव रे।
मुक्ति-संसार बेऊ सम गणे, मुणे भवजलनिधिनाव रे ॥शा० १०॥

अर्थ

शान्तिवाञ्छुक साधक का कोई सम्मान करे या अपमान करे, दोनों अवस्थाओं को मन में सम समझे (दोनों में सम रहे)। सोना और पत्थर दोनों को समान समझे, तथा उसकी वन्दना (भक्ति-पूजा) करने वाले और उसकी निन्दा (आलोचना) करने वाले दोनों को सम समझे। जब तू इस प्रकार का समभावी हो जायगा, तभी समझना कि मैं मुमुक्षु या शान्तिपिपासु हूँ। जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मद्रव्य की दृष्टि से समान समझे, तिनके और मणि दोनों को पुद्गल की दृष्टि से समान माने; मुक्ति (कर्मों से मुक्ति) में निवास हो या संसार में, प्रतिबुद्ध [वीतराग] भाव से दोनों को समान समझे, इस प्रकार की समतारूप शान्तिवृत्ति को वह साधक संसारसमुद्र तरने के लिए नौका समझे।

भाष्य

समतायोग : महाशान्ति का कारण

पूर्वगाथाओं में बताये हुए शान्ति के उपायों से आगे की भूमिका के रूप में श्रीआनन्दघनजी समतायोग बताते हैं, जो शास्त्रयोग,

ज्ञानयोग, क्रियायोग और सामर्थ्ययोग से भी उच्चकथा का है। क्योंकि [1] शास्त्र का ज्ञान तो समता की ओर दिशासूचन ही कर सकता है, वह समता के सागर में ठेठ दूर तक नहीं ले जा सकता; मगर सामर्थ्ययोग नामक स्वानुभव समतासागर के सामने वाले किनारे तक आत्मा को पहुँच सकता है, बशर्ते कि समतारूप नौका पर आत्मा आरूढ़ हो जाय। बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा जब देश-सर्वविरति की भूमिका से आगे निर्विकल्पदशा की उच्चभूमिका (सातवां गुणस्थान) पर पहुँच जाता है, तब वह इस प्रकार का समतायोग प्राप्त करता है। इस प्रकार का सामर्थ्ययोगी धर्मसंन्यस्त होने से परम तृप्त हो कर परम निश्चय में स्थित हो जाता है। वह रत्नत्रयी का आत्मा के साथ अद्वैत—अभेद करके केवल आत्मद्रव्यमय स्वानुभवमय पर्यायदृष्टिरूप विकल्प से रहित निर्विकल्प ध्यानस्थ (समाधिस्थ=कूटस्थ बन जाता है। वह आत्मस्वभाव का ज्ञाता, आत्मरमणकर्ता आत्मार्थी पुरुष जब सामर्थ्ययोग के बल से समता में प्रवेश करता है, तब यदि कोई गुणग्राहकतावश कल्याणकारी, धर्मदेव, ज्ञानी इत्यादि शब्दों द्वारा उसकी प्रशंसा करता है, उसका सत्कार-सम्मान करता है अथवा कोई द्वेष या पूर्वाग्रहवश उसका अपमान, तिरस्कार या निन्दा करता है, कोई उसका विरोध करता है तो कोई समर्थन; वह दोनों स्थितियों में हर्ष-शोक या तोष-रोष नहीं करता; अपितु दोनों को पौद्गलिकभाव मान कर समता और आत्मशान्ति में स्थिर रहता है। आत्मार्थी पुरुष तो केवल आत्मगुण में ही रमण करता है, वह महानिर्जरा करता रहता

१- अध्यात्मसार में कहा है—

> दिङ्.मात्रदर्शने शास्त्रव्यापार : स्यान्न दूरगः ।
> अस्याः स्वानुभावः पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते ॥२८॥

२- गीता में कहा है-समत्वं योग उच्यते— समत्व को योग कहा जाता है।

३-
> जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
> शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥७॥
> ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
> युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्ठाश्मकांचन : ॥८॥
> सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
> साधुस्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥९॥ -भगवद्गीता अ. ६

है, वह जानता है कि सम्मान या अपमान से मेरे आत्मगुण में कोई वृद्धि या हानि होने वाली नहीं है। इसलिए किसी के द्वारा वन्दन या सम्मान करने से वह प्रसन्न या तुष्ट नहीं होता, तथैव किसी के द्वारा निन्दा या अपमान करने से वह खिन्न या रुष्ट नहीं होता। अलवत्ता, गुणग्राहकतावश वन्दन, सम्मान करने वाले को शुभ- पुण्य अवश्य मिलता है, तथा अज्ञान या द्वेषवश अपमान निन्दा या तिरस्कार करने वाले को अशुभ- पाप लगता है। किन्तु ज्ञानी आत्मार्थी सम्मान या अपमान तथा वन्दना और निन्दा दोनों ही अवस्थाओं में समतारस के सागर पर तैरता रहता है। क्योंकि ऐसा समतायोगी सम्मान और अपमान के समय दानान्तराय का उदय और उपशम तथा वन्दक और निन्दक के समय उपभोगान्तराय का उदय-उपशम समझ कर दोनों ही अवस्थाओं में संतुलित रह सकता है। इस प्रकार से शान्ति रखना वहुत ही कठिन है। यह कहना जितना आसान है, उतना करना आसान नहीं। वड़े-वड़े साधक इसमें हार खाजाते हैं। यों कहने का दिखावा तो प्रायः सभी करते हैं, पर जव हजारों आदमी आ कर उनकी प्रशंसा करते हैं, तो मन गुदगुदाने लगता है और जव वे ही उनकी निन्दा करने लगते हैं तो मन तिलमिला उठता है। प्रशंसा और निन्दा सुन कर वे एकरस नहीं रह सकते। भगवान् पार्श्वनाथ पर एक ओर कमठ मूसलधार पानी वरसाता है, दूसरी ओर धरणेन्द्र उन पर छत्र धारण करके उनकी सेवा में हाजिर रहता है, ऐसी स्थिति में दोनों को समान मानने की वृत्ति वनाना वहुत ही कठिन है। परन्तु परम शान्ति के लिए ऐसा अत्यन्त जरूरी है।

कई लोग ऐसा कह देते हैं कि जव वन्दक और निन्दक, सम्मानकर्ता और अपमानकर्ता दोनों को जो एक सरीखा मानते हैं, वे दोनों के साथ एक सरीखा व्यवहार क्यों नहीं करते? वात यह है कि वे तो अपनी आत्मा में रमण करते हैं, ज्ञानी होने से वे दोनों के वस्तुस्वरूप को अवश्य जानते हैं, मगर दोनों में से किसी के साथ वर्ताव नहीं करते, इसलिए समदर्शी के लिए तद्योग्य वर्ताव या व्यवहार करने का तो सवाल ही नहीं उठता। विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, श्वपाक (चांडाल); इन सवके प्रति पण्डित (ज्ञानी=समतायोगी) समदर्शी होते हैं, समवर्ती नहीं। कुत्ते को अपने आत्मतुल्य मान कर क्या ज्ञानीपुरुष कुत्ते के साथ भोजन करने वैठ

जाएगा ? या गाय को आत्मतुल्य मान कर उसका दूध [1]नहीं दूहेगा या पीएगा ?

इसी प्रकार समतायोगी आत्मार्थी को ऋद्धि-सिद्धि आदि अनेक लब्धियाँ प्राप्त होना सम्भव है; वह परन्तु आत्मगुणलीन के लिए तो सोना और पत्थर दोनों समान हैं। वह वस्तुस्वरूप जानता हैं कि सोना पृथ्वी का शुभविकार है और पत्थर पृथ्वी का अशुभ विकार है। अतः ज्ञानी की दृष्टि में दोनों एक-सरीखे हैं।

इसी तरह तिनका, जो एक तुच्छ नगण्य चीज है, उससे घृणा नहीं होती; और रत्न, जो बहुमूल्य पदार्थ है, उसे देख कर मोह-ममता नहीं होती। ज्ञानी की दृष्टि में दोनों पौद्गलिक हैं। इससे भी एक कदम और आगे बढ़ती है कि वह शत्रु मित्र पर ही नहीं, संसार के समस्त प्राणियों के प्रति आत्मौपम्य भाव आत्मतुल्य दृष्टि रखता है। आत्मद्रव्य के एकत्व की दृष्टि से वह समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा के समान—एकसरीखे मानता है। इससे भी आगे बढ़कर आत्मार्थी ज्ञानीपुरुष समता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है। [2] उसकी दृष्टि में मुक्तिनिवास या संसार निवास दोनों बराबर हैं। क्योंकि वह समझता है कि मैं मुक्ति में रह कर जो स्वरूपरमण वहाँ रखूँगा वह स्वरूपरमण यहाँ (संसार में) रह कर कर भी रखूँगा। इसलिए मेरे लिए कोई फर्क नहीं पड़ता – मुक्ति और संसार का। साधक कई बार मुक्ति के लिए उतावला हो उठता है, कई कच्चे साधक तो सांसारिक पद-प्रतिष्ठा, सम्मान-सत्कार एवं बढ़िया खानपान एवं विषयसुखों में प्रलुब्ध हो कर मुक्ति की साधना छोड़ कर संसारनिवास की कामना करने लगते हैं। परन्तु समता-योगी साधक ज्ञानदशा में रहना है, इसलिए वह न तो शीघ्र मुक्तिप्राप्ति की...

१- इसीलिए गीता में कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शूनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

२ निममो निरहंकारो निःसंगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ॥—उत्तराध्ययन-२८

अभिलाषा करता है और न ही संसारप्राप्ति की इच्छा करता है, क्योंकि इच्छा, कांक्षा, अभिलाषा और लालसा ये सब मोहनीयकर्मजनित हैं। इसलिए वह किसी भी प्रकार की इच्छा, वासना या अभिलाषा, यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा को भी त्याज्य समझता है। ज्ञानी आत्मा संसारसमुद्र पार करने हेतु समता को नौका मान कर मोक्ष—सिद्धस्वरूप (शुद्धात्मस्वरूप) प्राप्त करने का सतत पुरुषार्थ करता है। उसके लिए व्यवहारदृष्टि से तप, संयम, स्वाध्याय, ध्यान आदि का आलम्बन लेता है। इसीलिए शास्त्र में कहा है—[1] षट्काय के रक्षक, परमशान्त महर्षि पूर्वकर्मों का संयम और तप से क्षय करके, समस्त दुःखों को क्षीण करने के लिए आत्मभावरमण का पुरुषार्थ करते हैं। इस प्रकार आत्मसिद्धि प्राप्त करके वे अनादि-अनन्त शान्तिस्वरूप को प्राप्त कर लेते हैं।

इस प्रकार का समतायोगी जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसकी सर्वस्व स्वभावनिष्ठा आत्मा में ही परिनिष्ठित हो जाती है। आत्मा के सिवाय उसके समक्ष कोई भी द्रव्य नहीं रहता, कोई भी विकल्प नहीं रहता, [2]एकमात्र आत्मा, आत्मैकत्व, उसके समक्ष रहता है, इसी बात को आगामी गाथा में बताते हैं—

आपणो आतमभाव जे, एक चेतनाऽऽधार रे।
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे॥
शान्ति० ॥ ११ ॥

अर्थ

अपना (स्वयं का) सक्रिय शुद्ध आतमभाव (आत्मत्व) ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप

१-खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य ।
सिद्धिमग्गमणुपत्ता ताइणो परिणिव्वुडा ॥ —दशवैकालिक अ. ३
(सव्वदुक्खपहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो) —उत्तरा० अ. २८

२. एगे आया-ठाणांग सूत्र 'आया सामाइए आया सामाइयस्स अट्ठे-भगवतीसूत्र
एक आत्मा है। जगत् में समस्त प्राणियों की एक सरीखी आत्मा है।
आत्मा ही समय=सामायिक है सामायिक द्वारा प्राप्तव्य अर्थ है।

की प्राप्ति का आधार है। आत्मा के सिवाय सभी अनात्म (कर्म आदि) पदार्थ आत्मा के साथ संयोगसम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। वास्तव में आत्मा का चेतना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र. सुख आदि ही निजपरिकर (अपना आत्मसम्बन्धी परिवार) है, वही सारभूत एवं शाश्वत हैं, साथ में आने वाला है।

भाष्य

शुद्ध आत्मभाव ही परमशान्तिरूप है

शुद्ध आत्मा अमूर्त और निराकार होने से मनुष्य अपने आसपास के दृश्यमान जगत्-शरीर, स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, परिवार, समाज, सम्प्रदाय, मकान, धन, धान्य आदि को अपना मान कर उनसे ममत्व करता है, और इष्ट-अनिष्ट के वियोग-संयोगों में दुःखी और अशान्त हो जाता है। परन्तु उसे यह पता नहीं कि ये सब पदार्थ परभाव हैं, इनसे ममत्वसम्बन्ध बांधने से अशान्ति ही बढ़ती है। स्वचेतनाधारक आत्मत्व अथवा चैतन्यगुण का आधारभूत आत्मद्रव्य का आत्मभाव ही परमशान्तिरूप हैं। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए श्री आनन्दघनजी कहते हैं—'आपणो आतमभाव जे....' इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ने विभावदशा में अज्ञानदशा से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्माण आदि शरीर धारण किये हैं। इसी प्रकार शरीर से संलग्न बाल्य, यौवन, बुढ़ापा, रूप, कान्ति, नाम, आकार आदि तथा शरीर से सम्बन्धित एवं शरीर के उपभोग में आने वाले अन्न, जल, धन, मणि, माणिक्य, सोना-चाँदी, मकान, दूकान आदि एवं माता-पिता, भाई-भगिनी, पत्नी, पुत्र आदि परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय, नौकर-चाकर आदि सब संयोगों से उत्पन्न या प्राप्त हैं। इसी प्रकार काम, क्रोध, मान, माया. लोभ, हास्य, रति आदि और अष्टकर्म की मूल प्रकृति आदि सब अनात्मपदार्थ हैं; ये सब संयोगजन्य हैं। इनके संयोग से आत्मा को पूर्ण शान्ति न तो हुई, न होगी और न ही होती है।

सामायिक पाठ में बताया गया है—

संयोगतो दुःखमनन्तभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥

अर्थात्—जन्मरूपी वन में आत्मा संयोग के कारण अनन्त प्रकार के दुःख भोगता है। इसलिए अपनी परमशान्ति प्राप्त करने के अभिलाषी आत्मा को मन-वचन-काया तीनों से संयोग का त्याग करना चाहिए।

अतः पूर्णशान्ति के लिए आत्मा के साथ इस दृश्यमान जगत् का संयोग छोड़ना अनिवार्य है। उसे छोड़े विना वास्तविक एवं स्थायी शान्ति की सम्भावना नहीं है। अतः पूर्ण शान्ति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए अपना चेतनात्मक आत्मभाव ही आधार है। आत्मा का परिवार चेतना, ज्ञान, दर्शन, आदि आत्म-गुणों को ही समझो, अन्य कोई परिवार आत्मा का नहीं है। आचारांग सूत्र, में बताया है—'अप्पा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ? अर्थात् हे आत्मन् ! तू ही तेरा मित्र है। बाहर के मित्र की अपेक्षा क्यों रखता है ? वास्तव में बाहर का परिवार तो आकस्मिक संयोगजन्य है, इस जन्म या इस शरीर को ले कर है। उसे तो एक दिन छोड़ कर चलना होगा, अतः आत्मा या आत्मगुण ही एकमात्र आत्मा का परिवार है।[1] आत्मा ही आत्मा का नाथ है, आत्मा ही आत्मा का मित्र और शत्रु है; आत्मा का आत्मा से ही उद्धार करे किन्तु उसका पतन न करे। इसी आत्मैकत्वभावना को ले कर चलने से पूर्ण शान्ति का साक्षात्कार साधक के जीवन में हो सकता है। दशवैकालिक सूत्र में कहा है—'शरीरादि के साथ सम्बन्ध को त्याज्य समझ कर छोड़ने वाले साधक को शाश्वत शान्ति का स्थान—मोक्षपद प्राप्त होता है।'[2]

इस प्रकार शान्ति के उत्तरोत्तर क्रमशः उत्कृष्ट उपाय एवं सोपान बता-कर अब उपसंहार करते हैं—

प्रभुमुखथी एम सांभली, कहे आतमराम रे।
ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुज सिद्धां सवि काम रे ॥शान्ति॥१२॥

अर्थ

वीतराग प्रभु 'शान्तिनाथ' के मुख से निःसृत वाणी सुन कर मेरा आत्माराम (आत्मारूपी बगीचे में विहरण करने वाला) कहता है कि आपके शान्ति-रूप प्रभु) के दर्शन--स्वरूप पा कर मेरा संसार-सागर से निस्तार हो चुका है और मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं।

---

१. अत्ता हि अत्तनो नाथो.........धम्मपद ।
अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ ।
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥ —भगवद्गीता

२. "तं देहवासं असुइं असासयं सया चए निच्चहि अट्ठिअप्पा ।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गईं ॥

भाष्य

परमात्मा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश

श्री आनन्दघनजी ने शान्ति प्राप्त करने के विविध उपाय जो श्रीशान्तिनाथ, प्रभु के द्वारा प्राप्त हुए, उनका उल्लेख अब तक की गाथाओं में किया। किन्तु अब वे आत्माराम की ओर से उल्लासपूर्वक कृतज्ञतप्रकाशन करते हैं—'ताहरे दरिसणे'........'

वास्तव में पिछली कुल ६ गाथाओं में अतिसंक्षेप में श्रीआनन्दघनजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से शान्तिस्वरूप और शान्ति के उपायों पर प्रकाश डाल कर कमाल कर दिखाया! आध्यात्मिक शान्ति के विषय में शास्त्रों में बहुत ही विस्तार से कहा गया है, जैसा कि वे स्वयं उल्लेख करते हैं, परन्तु उन बातों का सार ले कर बहुत ही संक्षेप में कहना रचनाकार की अत्यन्त कुशलता का परिचायक है। यह तो श्रोता पर निर्भर है कि वह संक्षेप में कथित बात को विश्लेषणपूर्वक ब्यौरेवार समझे।

जिज्ञासु साधक का यह कर्तव्य है जब उसकी उलझनें सुलझ जांय, मन में उठते हुए विविध प्रश्नों का समाधान प्राप्त हो जाय, अन्तर में ज्ञान का प्रकाश जगमगा उठे, बुद्धि को तृप्ति और संतुष्टि हो जाय तो आह्लादपूर्वक वक्ता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी शान्ति-साधक आत्माओं की ओर से कृतज्ञता, विनम्रता एवं भक्ति प्रदर्शित करते हैं।

शान्तिप्रभु के सिद्धान्त से अविरुद्ध वाणी

प्रश्न हो सकता है कि यहाँ तो श्री शान्तिनाथ प्रभु ने कोई बात अपने मुख से कही नहीं, फिर यह कैसे कहा गया कि 'प्रभुमुख थी एम सांभली....' इसका समाधान यह है कि जैनशास्त्रों की रचना के विषय में एक सिद्धान्त है—कि [1]अर्थ (मूलवचन) के रूप में पहले अर्हन्त भगवान् तीर्थंकर देशना या उपदेश देते हैं। फिर गणधर उसे सूत्र का रूप देते हैं, उस भगवदुक्त वाणी का व्यवस्थित संकलन करते हैं। इस दृष्टि से हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि यहाँ शान्ति के विषय में जो कुछ भी बातें कही गई हैं, वे तीर्थंकर के वचनों से कहीं भी विरुद्ध नहीं है। हाँ, यह बात जरूर है कि 'तीर्थंकर भगवान्

---

१. 'अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंत्थइ गणहरा'

की वाणी विविधसूत्रों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। परन्तु परमात्मवाणी सिद्धान्त से अविरुद्ध है; और उन्हीं के मुख से निःसृत वचन हैं। यही कारण है कि इन्हें सुन कर आत्माराम अत्यन्त भावुकतावश हो कर शान्तिनाथ प्रभु के प्रति आभार प्रकट करता है। क्योंकि उसे वह अलभ्य लाभ मिला है, जो सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिल सकता।

शान्तिनाथ प्रभु की शान्ति के दर्शन से निस्तार

पहला आभारवचन आत्मा में रमण करने वाला आत्मार्थी एवं शान्त्यर्थी यह प्रगट करता है कि शान्तिनाथ प्रभो ! आप के नाम में ही कोई जादू है, जिससे मेरी आत्मा (भावान्तःकरण) में शान्ति के विविध उपाय स्फुरित हुए। मेरी बुद्धि आपको शान्तिस्वरूप का सम्यग्दर्शन पा कर तृप्त हो उठी। मेरी आत्मा वर्षों से शान्ति के सम्बन्ध में मिथ्यादर्शन से ग्रस्त थी, सांसारिक पदार्थो या विविध कामनाओं की पूर्ति में ही शान्ति की इतिश्री मानती आ रही थी, परन्तु वह कल्पित शान्ति मिथ्या, क्षणिक और आभासमात्र निकली। उससे अशान्ति ही बढ़ी। किन्तु अब आपने जो आध्यात्मिक शान्ति के सूत्र दिये हैं, उनसे मुझे कहीं धोखा होने वाला नहीं। ये शान्ति के ठोस एवं स्थायी उपाय हैं। अतः शान्तिनाथप्ररूपित शान्तिदर्शन पा कर मैं वास्तव में संसारसागर से तर गया समझो। जब किसी कठिन कार्य का सही उपाय मिल जाता है, तो आधा कार्य तो वहीं हो जाता है, फिर तो बस सक्रिय होने की देर होती है कि चट से काम बन जाता है। यही बात यहाँ आध्यात्मिक शान्ति के विषय में है। शान्ति के जो नुस्खे बताये हैं, उनसे अब चटपट कार्य हो सकता है, सिर्फ शान्ति के उपाय के लिए जुटने की देर है। शान्तिदर्शन हो जाना भी बहुत दुष्कर कार्य था, वह अत्यन्त आसान हो गया, इसलिए एक बहुत ही पेचीदा प्रश्न हल हो गया।

शान्ति-दर्शन से कार्यसिद्धि

दूसरा अमूल्य लाभ शान्तिनाथ प्रभु के चरण से वह हुआ कि अशान्ति के कारण पहले सारे किये कराये काम बिगड़ जाते थे। कार्य बनने में देर लगती है, बिगड़ने में नहीं। जितने भी सांसारिक या तथाकथित शान्तिवादी मिलते थे या मिले, वे सब ऊपर-ऊपर से शान्ति का रास्ता बता देते थे, जो आगे चल कर बंद हो जाता। क्योंकि उस तथाकथित मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ, विघ्न अड़चनें और सांसारिक स्वार्थ आ कर अड़ जाते और वे शान्ति को चौपट कर,

देते; लेकिन प्रभु द्वारा उक्त शान्ति का मार्ग ठोस, निर्विघ्न, स्थायी और अद्वितीय है। इसलिए अब मुझे इतनी तसल्ली हो चुकी कि जो काम कई वर्षों में क्या, कई जन्मों में नहीं हो पाए, वे आपसे शान्तिमार्ग सुन कर सिद्ध हो गए। एक अटपटा प्रश्न हल हो जाने से कई कार्य हो जाते हैं, इसी प्रकार एक बड़ी उलझन मिट जाने से मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए। मैं कृतकृत्य हो गया। मैं निहाल हो गया।' यह सब भक्ति की भाषा में निकाले हुए हर्षोद्गार हैं। इसी कारण **'ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुझ सिध्यां सवि काम रे'** इन दोनों वाक्यों में भविष्यकालीन प्रयोग के बदले भूतकालीन प्रयोग हुए हैं। मैं संसार-सागर से पार हो जाऊँगा और मेरे सब काम सिद्ध होंगे' ये ही उन दोनों के उपचार से अर्थ हैं।

पहले आत्मभाव को ही एकमात्र आधार मान कर महाशान्ति का एक मात्र कारण उसी को ही मानना, उसी में रमण करना और उसी के गुणों को प्रगट करना बताया है, जब साधक ने इस बात को हृदयंगम कर लिया और निश्चयदृष्टि से एकमात्र शुद्ध आत्मा ही आराध्य रहा, यह याद आते ही अत्यन्त प्रसन्नता से वह झूम उठा और अगली गाथा में उसकी वाणी फूट पड़ी—

अहो अहो हुं मुज ने कहूँ, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेंट थई तुजरे॥

शान्ति ॥१३॥

अर्थ

ओहो! मेरे अन्तर्हृदय में शान्ति का अपूर्वमंत्र—'आत्माराधन' जम गया, अतः अब मैं अपनी अन्तरआत्मा से कहता हूँ, मुझ आत्मा को नमस्कार है, मुझे नमस्कार है, जिसे आप सरीखे असीम फल (शाश्वत शान्तिरूप फल) के दाता से भेंट हुई।

भाष्य

आत्मा को आत्मा के द्वारा नमन

जब मनुष्य को किसी अलभ्य या दुर्लभ वस्तु के लिए जगह-जगह भटकना पड़ता है या जगह-जगह खुशामदी या जैसे-तैसे व्यक्ति को वन्दन-नमन करना पड़ता है, तो उसकी आत्मा का स्वत्व, तेज या स्वबल मर जाता है; किन्तु अब जबकि आपके शान्तिदर्शन को पा कर मैं धन्य हो उठा। मेरे जन्म-जन्म के

बंधन कट गए। और मुझे आश्चर्य हुआ कि मुझे विश्व का सर्वोत्तम बहुमूल्य आत्मशान्तिरूपी धन आत्मा में ही असीम-फलदाता आप सरीखे समर्थ दानी प्रभु से मिल गया, तब मैं अपने आपको ही नमन करता हूँ, जिसकी आप जैसे परम शक्तिमान पुरुष से भेंट हुई। वास्तव में देखा जाय तो निमित्त अच्छे से अच्छा, ऊँचे से ऊँचा मिल जाने पर भी उपादान (स्वयं की आत्मा) यदि शुद्ध या या अनुकूल न हो तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता। शान्तिस्वरूप के प्ररूपक शान्तिनाथ तीर्थंकर से होते हुए भी जिज्ञासु, विनीत, कृतज्ञ और स्वरूपग्राहक आत्मा न हो तो यथेष्ट फल नहीं मिलता। इसी दृष्टि से यहाँ अपनी आत्मा को प्रफुल्लित हो कर साधुवाद दिया है कि उसने शान्तिस्वरूप की चाबी पा ली। इसलिए वह स्वयं को ही नमन करता है, भाग्यशाली एवं कृतकृत्य मानता है। अपरिमित फल वास्तव में मोक्षरूप फल है, संसार से मुक्ति है; जिसे पा कर कुछ भी पाना बाकी नहीं रहता। वास्तव में परमात्मा कोई मोक्षरूप फल उठा कर हाथ में नहीं देते। वे तो मार्ग बता देते हैं, उपादान को शुद्ध और ग्रहण-शील रखना अपनी आत्मा का काम है, यह बड़ा कठिनतम काम है। इसी प्रकार साधक आत्मा को ही नमन करता है।[१] परमात्मा के साथ आत्मा का इस प्रकार का द्वैत व्यवहारनय में होता है। निश्चयनय की दृष्टि से स्वयं आत्मा स्वयं को समझने वाले अन्तरात्मा को ही नमस्करणीय समझ कर बार-बार नमन करता है। वास्तव में तत्वज्ञ की दृष्टि में आत्मा–परमात्मा दोनों अभिन्न होने से दोनों ही नमस्करणीय हैं। जब आत्मा में बहिरात्मभाव मिट कर अन्तरात्मभाव प्रगट होता है, तब स्व-आत्मा पर ही निम्नोक्तरूप से षट्कारक घटित हो सकते हैं—

१ कर्त्ता—मेरे आत्मगुणों का कर्त्ता मैं ही हूँ।

२ कर्म—मेरे स्वाभाविक गुण-कर्म की क्रिया—(कर्म) का कर्ता मैं ही हूँ। और वैभाविक कर्म का विच्छेद करने की क्रिया (कर्म) का कर्त्ता भी मैं हूँ।

३ करण—मेरे स्वाभाविक ज्ञानदर्शन-चारित्र द्वारा मेरे से ही आत्मस्वरूप प्रगट होता है।

---

१ अहमेव मयाऽऽराध्यः —यह भी कहा है।

४ सम्प्रदान - मेरे लिए मेरा आत्मा ही नमस्करणीय है, मैं अपने को ही नमस्कार करता हूँ।

५ अपादान—मेरे विभाव से मेरे स्वभाव में आने वाला मैं ही हूँ।

६ अधिकरण –मेरी आत्मा के अत्यन्त गुणों का स्थान (आधार) मेरा आत्मा ही है।

इस गाथा में 'तुज' और 'मुज' आत्मा हैं, वे दोनों अन्तरात्मा को अन्तरात्मा के सम्बोधन के सूचक हैं।

अब उपसंहार करते हुए श्रीआनन्दघनजी अपनी बात कहते हैं—

शान्तिस्वरूप संक्षेपथी, कह्यो निज-पर-रूप रे।
आगममांहे विस्तार घणो, कह्यो शान्तिजिन-भूप रे ॥
शान्ति०॥१४॥

अर्थ

इस स्तुति में आध्यात्मिक शान्ति का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में बताया है। निज (प्रवचनकर्ता) और पर (श्रोता) दोनों ही भव्यप्राणियों के स्वभाव (रूप) को ले कर अथवा पररूप दोनों की अपेक्षा से शान्तिनिजराज और तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों में इसका शान्तिस्वरूप बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

भाष्य

शान्तिस्वरूप वर्णन : स्वपररूप से

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी स्वयं अपनी ओर से कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान द्वारा स्व और पर दोनों अपेक्षा से प्ररूपित शान्ति का स्वरूप मैंने अंकित किया है। अथवा निज=आत्मा का रूप, पर=परमात्मा के रूप में अथवा आत्म—रूप की प्राप्ति के लिए तथा पर=परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति के लिए शान्ति का स्वरूप कहा है। यद्यपि आगमों में बहुत ही विस्तृतरूप से शान्तिजिन-राज एवं अन्य तीर्थंकरों द्वारा आत्म-वर्णन है। इसमें दो बातें विशेषरूप से फलित होती हैं—एक तो यह है कि वाचनाभेद होते हुए भी तीर्थंकरों के आगम (सिद्धान्त-ज्ञान) समान होते हैं, क्योंकि प्रत्येक की सर्वज्ञता एकसरीखी होने से सर्वज्ञों का ज्ञान एक सरीखा होता है। जगत् में मोक्षमार्ग अनादिसिद्ध होने से प्रत्येक तीर्थंकर इसी का उपदेश देते हैं।

इसलिए विभिन्न तीर्थंकरों के तीर्थ अलग-अलग होते हुए भी उन्हें सर्व तीर्थंकरों के कहने में कोई आपत्ति नहीं। इसके अनुसार वर्तमान आगम को श्री शान्तिनाथ प्रभु के द्वारा उपदिष्ट कहने में कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि शान्ति स्वरूप का वर्णन आगमों में बहुत ही विस्तृतरूप में किया है, यहाँ तो संक्षिप्त वर्णन है। जिन्हें अत्यन्त विस्तार से पढ़ना हो, इस विषय में पूर्णरूप से अवगाहन करना हो, उन्हें मूल आगम-ग्रन्थ पढ़ने चाहिए। और वहाँ से शान्ति का विवरण प्राप्त करके उसे समझना, फिर तदनुसार आचरण करना आवश्यक है।

इस स्तुति में संक्षेप में शान्तिस्वरूप बताने का उद्देश्य यह है कि संक्षेप में कथन से मनुष्य को उसमें रुचि रहती है और विस्तार से पढ़ने की रुचि भी जागती है; जिससे ज्ञानवृद्धि हो सकती है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के अन्त में अपनी नम्रता प्रगट करते हुए कहते हैं कि—'कह्यो श्रीशान्तिजिनभूप रे' अर्थात्—मैं इस शान्ति का स्वरूप अल्पज्ञ होने के कारण पूर्णतया कहने में समर्थ नहीं हूँ, यह जो शान्ति-स्वरूप का वर्णन किया है, उसे आगमों में शान्तिजिनेश्वर ने कहा है।

शान्तिनाथ भगवान् ने अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया, जिनागम में उनका अनेक प्रकार से वर्णन हैं। जैसा उनका शान्तस्वरूप है, वैसा ही प्रत्येक (शुद्ध) आत्मा का है। श्रीशान्तिनाथप्रभु ने ममताभाव का त्याग करके समताभाव को ग्रहण किया और तपसंयम की निरवद्य करणी या स्वरूप-रमण के सातत्य से शान्तस्वरूप प्राप्त किया, उसी मार्ग का आगमों में विस्तृत वर्णन है। इस स्तुति में तो उसका बहुत ही संक्षिप्त कथन है।

शान्तिस्वरूप भलीभाँति जान कर उस पर चिन्तन करके आचरण करना चाहिए, अन्यथा अनुभवहीन शुष्क ज्ञान से मति-भ्रम पैदा होगा, विसंगति एवं उलझन होगी। इस दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—

शान्तिस्वरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघनपद' पामशे ते लहेशे बहुमान रे॥
शान्ति० ॥१५॥

अर्थ

इस (पूर्वोक्त) प्रकार से शुद्ध प्रणिधानपूर्वक जो शान्ति के स्वरूप पर विचार

करेगा; यानी उसके पालन से भावित करेगा, संस्कारों में सुदृढ़रूप से जमा लेगा, वह आनन्दघन (परमात्मा) का पद प्राप्त करेगा और जगत् में बहुत ही बहुमान प्राप्त करेगा ।

भाष्य

शान्ति पर मनन, प्रणिधान और आचरण का सुफल : परमात्मपद

इस गाथा में शान्तिस्वरूप के पूर्वगाथाओं में बताए हुए उपायों और सिद्धान्तों पर मनन, चिन्तन और शुद्ध प्रणिधान के लिए जोर पर दिया गया है। चूंकि बहुत-से लोग किसी महत्त्वपूर्ण बात या सिद्धान्त को पहले तो सुनते ही नहीं, सुनते भी हैं तो सूने मन से सुनते हैं, जिससे उस सुने हुए पर वे कोई चिन्तन मनन नहीं कर सकते। जब चिन्तन-मनन नहीं होता है तो उस बात में कई प्रकार की भ्रान्तियाँ और गलतफहमियाँ होती हैं। यह भली-भाँति श्रवण-मनन न करने का ही परिणाम है कि इतने-इतने सम्प्रदाय खड़े हो गए। फिर उनकी अपनी-अपनी मान्यताओं की खींचातान, शब्दों की अपने-अपने दृष्टिकोण से अर्थघटना, कदाग्रह और अन्त में संघर्ष ! इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप के श्रवण या पठन के बाद उस पर भावन — चिन्तन-मनन, चर्चाविचारणा, और अन्त में उसके अर्थ को हृदयंगम करने पर जोर दे रहे हैं। क्योंकि धर्माचरण की कोई भी बात तभी गले उतरती है, या संस्कारों में बद्धमूल हो सकती हैं, जब उस पर मन-वचन-काया की एकाग्रता (प्रणिधान) पूर्वक चिन्तन-मनन-निदिध्यासन किया जाय। तभी उसका यथेष्ट फल आ सकता है । यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप (पूर्वोक्त प्रकार से) पर मनन-चिन्तन करके संस्कारों में भावित करने का कहते हैं; वह भी शुद्धप्रणिधानपूर्वक । शुद्धप्रणिधान के तीन अर्थ होते हैं= १—शुद्ध आलम्बन में मन-वचन-काया की एकाग्रता, २—मोक्ष, मोक्ष-साधक, मोक्ष के साधन उपादेय हैं, इनके सिवाय सर्व हेय हैं, ऐसा निश्चय; ३-स्वयं आध्यात्मिक विकास की जिस भूमिका पर चल रहा हो, उस भूमिका में रह कर उसके योग्य कर्तव्यों का एकाग्रतापूर्वक पालन करना । शान्ति के परम दर्शन की बात कोई उपन्यास या कहानी नहीं है कि झटपट पढ़ी और फैंक दी, इसे तो एकाग्रतापूर्वक पढ़-सुन कर चिन्तन-मननपूर्वक जीवन में

पचाने और उतारने से ही लाभ होगा । वह लाभ कोई सांसारिक लाभ नहीं, अपितु आनन्दघनरूप परमात्मपद की प्राप्ति और जगद्वन्दनीयता-पूजनीयता, तीर्थंकर के समान उत्कृष्ट सम्माननीय पद से सम्मानित होने की सम्भावना भी है ।

सारांश

इस स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने वीतराग श्रीशान्तिनाथ प्रभु से शान्ति-स्वरूप के ज्ञान, एवं उसकी पहिचान के बारे में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करके प्रभु के श्रीमुख से (निःसृत आगमों द्वारा) संक्षेप में शान्ति का समग्र दर्शन ६ गाथाओं में प्राप्त किया है । बल्कि यों कहना चाहिये कि उनकी अन्तरात्मा में शान्ति का समग्र स्वरूपदर्शन अन्तःस्फुरित हुआ है अन्त में, कृतज्ञता-प्रकाशन के बाद उन्होने परमात्मा के साथ अद्वैत स्थापित करके परम-शान्ति के अधिष्ठान स्वात्मा को नमस्कार किया है और अन्तिम गाथा में उसका फल बताया है—शान्तिस्वरूप-दर्शन पर चिन्तन, मनन, शुद्धप्रणिधान करके जो उसे संस्कारबद्ध कर लेगा, उसे परमात्मपद-प्राप्ति तथा बहुपूज्यता प्राप्ति होगी ।



१७ : श्रीकुंथुजिनस्तुति—

मनोविजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना

(तर्ज-अंबर देहु मुरारि! हमारो····राग-गुर्जरी व रामकली)

कुंथुजिन ! मनडुं किम ही न बाझे हो, कुंथुजिन, मनडुं०
जिम-जिम जतन करीने राखुं, तिम-तिम अलगुं भाजे हो॥कुंथु०॥१॥

अर्थ

हे कुंथुनाथ (१७ वें तीर्थंकर) परमात्मन् ! मेरा मन किसी भी उपाय से वश (काबू) में नहीं आता, एकाग्र हो कर एक विषय में नहीं लगता। इसे ज्यों-ज्यों प्रयत्न करके इसे वश में रखने जाता हूँ, त्यों-त्यों यह दूर-अतिदूर भागता है।

भाष्य

प्रभु के समक्ष मनोवशीकरण का निवेदन

पूर्वस्तुति में शान्ति के स्वरूप और उपायों का सांगोपांग विश्लेपण किया गया था, परन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिक शान्ति के पथ पर पैर रखते ही, तथा शान्ति के लिए समता, स्वरूपरमणता एवं आत्मा-परमात्मा की अद्वैत-साधना करने के लिए प्रवृत्त होने ही मन सामने आ कर विघ्नरूप में खड़ा हो है। मन किसी भी तरह शान्ति के पूर्वोक्त उपायों को अजमाने नहीं देता। शान्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक आत्मबल को मन निर्बल कर देता है, जिसके कारण साधक कषाय, मोह एवं प्रमाद के वश हो जाता है। साधना के उच्च शिखर पर उसका पहुँचना बहुत ही कठिन हो जाता है।

साधक जब-जब आत्मस्वरूपलक्ष्यी साधना करने लगता है, तब-तब मन उसमें विघ्न डाल देता है। वह इन्द्रियों को साधक बनने के बजाय बाधक बनने को यानी उलटी दिशा में प्रेरित कर देता है। इसी कारण साधक कई बार स्वयं भी भ्रम में पड़ जाता है या दूसरों को भ्रम में डाल देता है कि वह आत्मा-परमात्मा की इतनी बातें करता है, शास्त्रों का अहर्निश स्वाध्याय

करता है, विविध क्रियाएँ करता है, ज्ञान वघारता है और यह समझ लेता है कि मैं महान् पुरुष हो गया, जनता भी उसे महापुरुष समझने लगती हैं। किन्तु बाहर से महापुरुष दिखाई देता हुआ भी मन से वह बहुत ही निकृष्ट दशा में होता है। उसका मन इतने निम्नस्तर का हो जाता है कि कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि वह इतना कषायाविष्ट या इन्द्रिय-विषयासक्त कैसे हो गया ?

वस्तुतः बात यह है कि पहले गुणस्थानक में रहा हुआ चरमावर्ती यानी सम्यक्त्व प्राप्त करने की भूमिका तक पहुँचा हुआ जीव, अन्तिम यथाप्रवृत्ति-करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणों को करता है और इससे प्रथम समय में उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसके बाद सातवें गुणस्थान के अन्त करने पर चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम करने की शुरूआत होती है। इस प्रकार उपशम करते-करते वह दशवें गुणस्थान के सिरे तक आ कर तमाम मोहनीय कर्मों के उपशान्त हो जाते ही उपशान्तमोह नामक ११ वें गुणस्थान को प्राप्त करता है। जो प्रबल (मनोबल) आत्मा होती है वह तो ९वें गुणस्थान से सीधी क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करती है, जो सीधे केवल-ज्ञान प्राप्त करके (क्षीणमोह नामक १२ वें गुणस्थान पर पहुँच कर) सीधी मोक्ष पहुँच जाती है; परन्तु निर्बल (मनोबल में मन्द) आत्मा उपशमश्रेणी का प्रारम्भ करती है तो वह ११ वें गुणस्थान तक पहुँच कर अवश्य ही नीचे गिर जाती है। क्योंकि ११ वें गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उपशम होता है, क्षय नहीं। उपशम अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं टिकता। कारण यह है कि नीचे दबा हुआ मल (मोहनीय कर्मजनित कषायादि) ऊपर आए बिना रहता नहीं। उसके ऊपर (उदय में) आते ही आत्मा आध्यात्मिक भूमिका पर से क्रमशः नीचे (छठे, पाँचवें, चौथे गुणस्थान पर अथवा चौथे से दूसरे हो कर पहले तक आ जाती है, अथवा दशवें, नौवें यों क्रमशः नीचे) उतर जाती है। इस प्रकार उच्चभूमिका से नीची भूमिका तक पतन होने में मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मों का उदय है। इसमें व्यवहारदृष्टि से जीव जब तक संसारी है, तब तक अशुद्ध आत्मा (योग-आत्मा और कषायात्मा) मानी जाती है, योग और कषाय की क्रिया से मोहनीयकर्मबन्धन होता है। खासतौर से मोहनीयकर्म का उदय अपना प्रभाव मन द्वारा ही (व्यवहारदृष्टि से) बताता है। इसलिए मन

ो सर्वप्रथम साध लिया जाय तो ये सभी सध सकते हैं; इसी दृष्टि से
ु थुनाथ परमात्मा (जो मनोविजेता हो गए थे, इसलिए रागद्वेष, कषाय या
ज्जनित बन्ध का नामोनिशान नहीं था) के समक्ष श्रीआनन्दघनजी प्रार्थना
रते हैं—"प्रभो ! यह मन इतना चंचल है कि यह किसी भी तरह से पकड़
 नहीं आता। मेरी तमाम की-कराई वर्षों की साधना को क्षणभर में
टियामेट कर देता है। मन में शान्ति हो, तभी आत्मा में शान्ति हो सकती
। [1] मन पर विजय हो, तभी इन्द्रियों पर विजय हो सकती है; इन्द्रियाँ
ीत लेने पर कर्मों का क्षय हो सकता है और कर्म नष्ट होते ही मोक्ष प्राप्त
ो सकता है, आत्मा परमात्मा बन कर सिद्ध परमात्मा के साथ एकरूप
ो सकती है, परमशान्ति के धाम में आत्मा पहुँच सकती है। इसलिए मन का
शीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह वश में ही नहीं होता, किसी
ी तरह।" सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा के पतन का मुख्य
कारण मोहनीय कर्मों का उदय होता है। परन्तु कर्मबन्धन का कारण कषाय
है। उस कषाय की चाबी मन के हाथ में है। [2]'कषायों या विषयों के साथ
न का योग होने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, तभी कर्म-
न्ध होता है।' इसीलिए कहा है कि मन चाहे तो कषायों से आत्मा को
ाँध भी सकता है और मन चाहे तो कषायों से मुक्त भी करा (छुड़ा)
सकता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर से बड़े भद्र, शान्त, उत्तम और ध्यानक्रिया में लीन उच्च साधक दिखाई देते थे, किन्तु उनके मन में जो भयंकर युद्ध का दौर चल रहा था, जिसके कारण विकट मोहनीयकर्मों के बन्धन का चलचित्र तेजी से घूम रहा था, और जिस समय सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने भ० महावीर से उस उत्तम मुनिवर की आयु के बारे में प्रश्न किया और उसका उत्तर जब उन्हें सातवीं नरक में गमन का मिला तो वह आश्चर्य में डूब

---

१. कहा भी है—

'मणमरणेंदिय मरणं, इंदियमरणे मरंति कम्माइं।
कम्ममरणेण मोक्खो, तम्हा य मणं वशीकरणं॥'

२. 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः'

गया। लेकिन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मनोभावों की धारा एकदम बदली और कुछ ही क्षणों में उसे सर्वार्थसिद्ध देवलोक में पहुँचने योग्य बना दिया। और एक ही झटके में उनके मन ने तमाम घातीकर्मों का क्षय करके केवलज्ञान पा लिया। यह सारे ही बन्ध और मोक्ष का खेल मन-मदारी के हाथ में था। इसलिए मन ही कर्मों के नाटक का सूत्रधार बनता है।[1]

मन, वचन और काया का योग कषायजन्य पुत्र है; योगों और कषायों (पिता-पुत्र) की क्रिया से कर्मबन्धन होता है और कषाय से योग व योग से कषाय, इस प्रकार कर्मजनित संसारचक्र चलता रहता हैं। इसी कारण जीव को जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, भय, आधि-व्याधि आदि कष्ट सहने पड़ते हैं।

मन, वचन और काया इन तीनों योगों को मुमुक्षु शिष्य जब गुरुचरणों में समर्पित कर देता है, तभी उसे विशेष लाभ होता है। लेकिन मुमुक्षु शिष्य जब देखता है कि उसका काययोग तो उसके कहे अनुसार (जबरन भी) गुरु-सेवा में लग जाता है, वचनयोग को भी वह जबरन गुरुस्तुति में लगा सकता है, लेकिन मन इतना भोला और निर्बल नहीं है। वह मुमुक्षु की आत्मा (चेतन) की आज्ञा का पालन नहीं करता। बड़ा चंचल है, नटखट है, इधर से उधर कूदफांद करता रहता है। वह साधक को बारबार हैरान कर बैठता है। वह शरीर और वचन की तरह गुरु या भगवान् के चरणों में झटपट नहीं लग जाता। और जब तक मन परमात्मा में लीन या स्वरूपसाधना में एकाग्र नहीं हो जाता, तब तक किसी भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए कर्मयोगी श्रीकृष्ण के समक्ष एकदिन अर्जुन जैसे साधक को भी कहना पड़ा—'हे कृष्ण मन अत्यन्त चंचल है, जबर्दस्त है, बलवान है और सुदृढ़ है। उसका निग्रह तो मैं वायु की तरह अतिदुष्कर मानता हूँ।[2]

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे मुमुक्षु साधक को कहना पड़ा—'मनडु किम ही न बाझे हो, कुंथुजिन ·· "प्रभो! इस मनको मैंने देव-गुरु-धर्म तीनों में

---

१. 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

२. चंचलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥—भगवद्गीता

लगाना चाहा, आपके तथा निजात्मा के स्वरूप में भी लगाना चाहा, लेकिन किसी भी तरह न लगा। मैंने इसे स्वाध्याय, शास्त्रचिण्तन, जप, ध्यान आदि साधना में लगाना चाहा, पर यह इनमें किसी तरह भी एकाग्र न हो सका। इसी प्रकार मैंने धर्माचरण, विविध स्तुतियों, विविध धर्मक्रियाओं वगैरह में लगाने का प्रयत्न किया, लेकिन वहाँ से भी वह उखड़ गया, मौन रह कर या कायागुप्ति से शरीर को कायोत्सर्ग से निश्चेष्ट बना कर भी देख लिया, मगर वहाँ से भी मन भाग छूटा। मेरे सामने एक ओर गुरु का आदेश था, पर दूसरी ओर मन किसी भी तरह काबू में आने से इन्कार कर रहा था। इसीलिए मुमुक्षु साधक घबरा कर कुंथुनाथ के समक्ष उपर्युक्त आत्मनिवेदन करता है। दयालु प्रभो! मैंने चाहे जितने प्रयत्न कर लिये, परन्तु मन एक जगह किसी भी पदार्थ में एकाग्र होता ही नहीं। यह एक नटखट बालक की तरह किसी एक वस्तु में अपने को संलग्न नहीं कर सकता। इधर-उधर दौड़धूप किया ही करता है। ऐसे तूफानी शैतान मन को कैसे वश में करूँ? आप मेरे स्वामी हैं, परमात्मा हैं, मुझे आप में अपने मन को एकाग्र करना चाहिए, आपका ध्यान करना चाहिए, उसमें स्थिर होना चाहिए, आपकी सेवाभक्ति करनी चाहिए, परन्तु मेरा यह मन आप में या कहीं भी एकाग्र नहीं होता। मैं ज्यों-ज्यों उसे एक जगह बाँध कर रखने का प्रयत्न करता हूँ, त्यों-त्यों उल्टा वह दूर भागता जाता है, यह मेरे हुक्म में जरा भी नहीं चलता; मेरी सभी प्रयासों को निष्फल बना देता है। जब भी मैं इसे एकाग्र करने का प्रयास करता हूँ, तब भी यह शैतानी करके दूर चला जाता है। मैं जानता हूँ कि आप मेरे तारक हैं, उद्धारक हैं, इसलिए आपके सामने यह प्रार्थना कर रहा हूँ,—मन की शिकायत के रूप में।

यहाँ मन को वश में करने के माध्यम से मोह, कषाय विषय, रागद्वेष आदि को वश करने की बात लक्षणा से गतार्थ हो जाती है। साधारण जनता इन सबको मन का ही पारिवारिक विकार समझती है, इसलिए मन शब्द का प्रयोग किया गया है। साथ ही मन कुंथुआ जैसा बहुत ही बारीक है। जैन-दर्शन में इसे शरीरव्यापी परमाणुओं के जत्थे के रूप में माना गया है, जबकि विश्व के नैयायिक आदि अन्य दर्शन या मत मानते हैं कि अणु-परमाणु जितना सूक्ष्म मन अपने विषयों की ओर सर्वव्यापक आत्मा में दौड़धूप करता रहता है। अणु जितने मन की उपमा कुन्थु नामक सूक्ष्म जन्तु के साथ की गई है।

कुन्थु शब्द में श्लेषालंकार का योजन करके कवि ने कुंथु के समान मन के पति (स्वामी) कुंथुनाथ (१७ वें तीर्थंकर) के समक्ष मन को वश करने में सहायक होने की पुकार की है।

श्री आनन्दघनजी को मन ने किस-किस प्रकार से परेशान कर डाला, यह वे अगली गाथाओं में वीतराग प्रभु के समक्ष निवेदन करते हैं —

रजनी, वासर, वसति, उजड़, गयण, पायाले जाय।
सांप खाये ने मुखडुं थोथुं, एह उखाणो न्याय हो, कुंथु०॥२॥

अर्थ

रात हो, चाहे दिन हो, मनुष्यों की वस्ती में हो, निर्जन वीरान प्रदेश में हो, आकाश में हो या पाताल में, यह सर्वत्र चला जाता है। जैसे साँप जिस किसी भी भक्ष्य को खाता है, उसे उसमें किसी प्रकार का स्वाद नहीं आता। उसका मुंह फीका का फीका (थोथा) ही रहता है, वैसे ही मन सब जगह भटकता है फिर भी उसके हाथ में कुछ नहीं आता। अथवा साँप जब किसी को खाता है तो उसका मुंह तो थोथा का थोथा ही रहता है, उसके मुँह पर खून का एक भी दाग नहीं लगता, मन भी 'साँप खाए और मुँह थोथा' की कहावत की तरह अतृप्त है, वह भोगों से तृप्त नहीं होता।

भाष्य

मन की दौड़धूप

इस गाथा में श्रीआनन्दघनजी मन की सर्वत्र अबाधगति का अनुभव बताते हुए प्रभु से निवेदन करते हैं कि प्रभो ! आप सोचते होंगे—मन दिन-दिन में ही विचरण करता होगा, रात को तो विश्राम ले लेता होगा; यह ऐसा पाजी है कि रात और दिन का विचार किये बिना भटकता रहता है। इसके लिए तो अंधेरी रात और उजला दिन एक सरीखे हैं। कुछ लोग दिनभर के काम से थक कर रात को विश्राम ले लेते हैं, पर मन रात को भी विश्राम नहीं लेता। यह तो किसी समय शान्त व स्थिर होकर बैठता ही नहीं। यह तो मुझे यहीं छोड़ कर किसी भी वस्ती या उजड़े निर्जन प्रदेश में भी घूम आता है। क्षण-भर में अमेरिका में और दूसरे ही क्षण सहारा के रेगिस्तान में घूम आता है।

एक पल में यह आकाश में (स्वर्ग में) चला जाता है, दूसरे ही पल पाताल (अधोलोक=नरक) में दौड़ जाता है। अथवा लक्षणा से यह अर्थ भी हो सकता है कि क्षणभर में यह उच्चविचार पर आरूढ़ हो जाता है और दूसरे ही क्षण यह नीच से नीच विचार करने पर उतारू हो जाता है। मैंने मन की गति का अनुभव कर लिया कि यह रात में, दिन, में, बस्ती में जंगल में स्वर्ग में या पाताल में, पर्वतशिखरों पर या जल-स्थल-नभ में सर्वत्र बेखटके भटकता रहता है। इसके लिए कहीं रोकटोक या किसी भी देश, काल, क्षेत्र या पात्र का प्रतिबन्ध नहीं है। यह सर्वत्र अप्रतिबद्धविहारी है। यह अपनी कल्पना के बल से नाना प्रकार की भोगोपभोग-सामग्री में ललचाता रहता है। इसे किसी भी जगह तृप्ति हुई हो, ऐसा मैंने देखा-जाना नहीं। दुनिया में एक कहावत प्रचलित है कि किसी मनुष्य को साँप ने काट खाया। तब साँप ने कहा कि "मुझे क्यों बदनाम करते हो ? मेरा मुँह तो जैसा का तैसा खाली है, जरा-सा भी खून का दाग नहीं लगा।" अथवा कई लोग कहते हैं—'जिसे साँप काट खाता है, वह मर जाता है; परन्तु साँप को तो उससे कुछ भी लाभ नहीं हुआ। इससे उसकी भूख तो मिटती ही नहीं। उसका मुँह तो खाली का खाली रहता है। मेरा मन भी साँप के मुख की तरह जैसा था, वैसा ही अतृप्त रहता है। भोगों से कथमपि तृप्त नहीं होता। न वह आपके चरणों में लगता है। इतनी जगहों पर यह दौड़धूप करता है, मगर किसी भी तरह तृप्त नहीं होता, भूखा का भूखा रहता है।

बड़े-बड़े मुमुक्षुजनों एवं तपस्वियों के काबू में भी मन आता नहीं, मेरी तो बिसात ही क्या है ? इसी बात को बताने के लिए अगली गाथा में कहते हैं—

मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान-अभ्यासे।
वैरीडुं कांई एहवुं चिंते, नाखे अवले पासे; हो कुंथु० ॥३॥

अर्थ

मुक्ति के अभिलाषी, तपस्वी, ज्ञानाभ्यास में रत साधक, ध्यान के अभ्यासी ये सब उच्चसाधक अपनी-अपनी साधना में प्रवृत्त होने के लिए जब प्रयत्नशील होते हैं तो यह महाशत्रु कुछ ऐसा हलका (नीच) चिन्तन करता है कि उन्हें चारों खाने चित्त कर देता है।

भाष्य

बड़े-बड़े साधकों को मन पछाड़ देता है

मोक्षमार्ग के अभिलाषी जन अपने मन को एकाग्र करने के लिए शास्त्रों का स्वाध्याय अध्ययन एवं चिन्तन-मनन, चर्चा विचारणा करते हैं। कई लोग भगवान् के भजन में समय निकालने का अभ्यास करते हैं। ऐसे ज्ञानी और ध्यानी ज्ञान में तथा ध्यान में मशगूल रहने का प्रयत्न करते हैं, वे समझते हैं कि ज्ञान -ध्यान में तथा ईश्वरप्रणिधान में, भजन-पूजन में तथा तपश्चरण में समय व्यतीत हो जाय तो अच्छा। परन्तु वे ज्यों ही ज्ञान, ध्यान, तपजप का अभ्यास करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, त्यों ही मनरूपी दुश्मन कुछ ऐसा विचार करने लगता है कि बड़े-बड़े ज्ञानी और ध्यानी-जनों को चारों खाने चित्त कर देता है। ज्ञानी ज्ञान में मस्त होने लगते हैं, या ध्यानी ध्यान में एकाग्र होने लगते हैं, तभी वैरी मन चाहे जहाँ चला जाता है, ज्ञानियों और ध्यानियों के हाल-बेहाल कर डालता है। ऐसे ही मोक्षमार्ग के अभ्यासी और तपस्वी साधकों को मनरूपी शत्रु बचाता नहीं, प्रत्युत उन्हें पछाड़ देता है और इधर-उधर भटका करता है। भगवन् ! आप जानते हैं कि मेरा मन ऐसा है। दूसरों को तो उनका मन भटकाता है सो भटकाता है। मुझे भी अपना मन बहुत ही उलटे मार्ग में भटकाता है। जहाँ सुख की गन्ध भी न हो, वहाँ यह भटका करता है। मैं चाहता हूँ कि मुझे मोक्ष मिले, इसके लिए मैं ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना करता हूँ, पूर्वसंचित पापों को भस्म करने के लिए-निर्जरा के लिए-मैं ज्ञान, ध्यान, और योग का अभ्यास करता हूँ, बाह्य-आभ्यन्तर तप भी करता हूँ, परन्तु मेरे से ही बना हुआ, मेरे साथ ही रहने वाला मेरा मन कुछ ऐसा खराब चिन्तन करने लगता है, जिससे मेरा सन्मार्ग छूट जाता है, मैं दुःखमय संसार में धकेल दिया जाता हूँ। मैं तो मन को अच्छा मानता हूँ मगर यह तो मेरा वैरी बन गया है। मानो, मेरे साथ वैर लेने की इच्छा से ही मुझे चतुर्गतिरूप संसार में भटकाया करता है। यह तो मैंने अपने साथ मन की शत्रुता की बात कही, परन्तु यह किसी के साथ रियायत नहीं करता बड़े-बड़े ज्ञानियों, ध्यानियों, और तपस्वी साधकों के साथ भी यह ऊपर कहे अनुसार दुश्मनी करता है।

प्रभो ! ऐसे मन को कैसे वश में करूँ ? कैसे उसे आप में एकाग्र करूँ ? यही मैं रह-रह कर विचार करता हूँ। अभी तो मैं और अधिक वर्णन करके मन की कहानी बताऊँगा। मैं सोचता था कि सामान्य साधकों के काबू में यह नहीं आता होगा, परन्तु यह तो विशिष्ट और उच्च साधकों के भी काबू में नहीं आता, इसी बात को श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में बताते हैं—

आगम आगमधर ने हाथे, नावे किण विध आंकुं ।
किहाँ कणे जो हठ करी हटकुं, तो व्यालतणी पेरे वांकुं, हो ॥
कुन्थु० ॥ मनडुं०॥४॥

अर्थ

नाथ ! यद्यपि पूर्व या आचारांगादि आगम—सूत्रग्रन्थ बड़े-बड़े आगमधरों (या पूर्वधारियों) के हाथ में हैं, तथापि यह मन किसी भी तरह से उनके अंकुश में नहीं आया। [पूर्वधारी या आगमधारी आगमादि सूत्र पढ़ कर बड़े आगमधर होते हैं, तथापि उन जैसों के हाथ में किसी भी तरह से यह मन नहीं आता, इसे कैसे अंकुश में लाऊँ ? अथवा मन की आंक-थाह किसी भी तरह नहीं मिलती] यदि मैं तप-जप आदि के स्थान पर आग्रह (हठ) करके इसे जबरन धकेल देता हूँ (या रोकता हूँ) [किसी समय हठ करके तान कर रखता हूँ] तो यह सर्प की तरह टेढ़ा हो कर निकल जाता है (साँप की तरह वक्र हो जाता है, उलटा फल देता है, ठिकाने नहीं आता), ऐसा यह मेरा मन है।

भाष्य

आगमधरों के भी वश में मन नहीं आता

यद्यपि मन को वश में करने के लिए आगमों=आचारांग आदि ११ अंगों, औपपातिक आदि १२ उपांगों, उत्तराध्ययन आदि ४ मूलसूत्रों, दशाश्रुतस्कन्ध आदि ४ छेदसूत्रों, इनसे भी आगे बढ़कर १४ पूर्वों का अध्ययन आगमज्ञ मुनिवर एवं आचार्यादि साधक करते हैं, ऐसे बहुश्रुत विद्वान् आगमों में मन का अधिकार पढ़ते हैं, उनके हाथ में विविध आगम (प्रवचन) हैं, फिर भी यह मन उनके भी (दशपूर्वधारियों तक के भी) अंकुश में नहीं आता। आगमधर आगमों में मन को वश में करने के अनेक उपाय पढ़ते हैं, विविध उपाय वे

अजमाते भी हैं, फिर भी यह मन उनके हाथ में नहीं आता। बड़े-बड़े आगमधारी आगम (में मन का वर्णन) पढ़ कर भी इस मन की किसी भी तरह थाह नहीं पाते। अथवा आगमधारी पुरुष आगम ले कर मेरे पास में (हाथ-बगल में) बैठे हों, फिर भी मेरा मन अंकुश में नहीं आता। सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या, बड़े-बड़े आगमधारी या दशपूर्वधारी तक भी मन पर अंकुश नहीं लगा सकते, जबकि मन पर काबू करने के अनेक उपाय उनके हाथ में होते हैं, उनके कण्ठस्थ भी होते हैं, तथापि मन उनके अंकुश (वश) में नहीं आता। मैं इसे कह कह कर थक गया कि ऐसे आगमधारी पूज्य साधकों की उपस्थिति में तो हे मन ! तू मेरे काबू में आ जा, परन्तु यह मेरा कहना नहीं मानता। ग्यारह अंग के पाठक अनेक साधुसाध्वी तक भी मन को अंकुश में न रख सकने के कारण पतित हुए हैं। राजीमती साध्वी के रूपलावण्य को देख कर रथनेमि जैसे उच्च साधक का मन डाँवाडोल हो गया था, वह संयम से भ्रष्ट होने को उद्यत हो गया था, किन्तु साध्वी राजीमती की युक्तिसंगत वाणी सुन कर वह पुनः यथापूर्वस्थिति में आया, परन्तु एक बार तो मन अंकुश से बाहर हो ही गया था। पूर्व-विद्या के धारक अनेक उच्च साधकों के मन ने भी उन्हें पछाड़ा है। इतने-इतने आगमों के पाठ भी मन के निरंकुश हो जाने पर उनके काम नहीं आए, अंकुश करने में मददगार नहीं बने। आचार्य रत्नाकर ने आलोचना करते हुए अपने मन की बात खोल कर रख दी—[1] चंचलनेत्र वाली नारियों के मुख को देख कर मानस में राग का जो अंश लग गया, वह शुद्ध-सिद्धान्त (आगम) रूपी समुद्र में धो लेने पर या अवगाहन करने पर भी नहीं गया; हे तारक प्रभो ! क्या कारण है इसमें ?" पण्डितराज जगन्नाथ जैसे उद्भट विद्वान् भी मन के आगे हार खा कर कहते हैं—"उपनिषदों का अमृतपान जीभर कर लिया, भगवद्गीता भी बुद्धि में जमा ली, तथापि वह चन्द्रवदना मेरे मानसरूपी सदन से नहीं निकलती।"[2] मतलब यह है कि हाथी पर अंकुश

---

१. लोलेक्षणावक्त्र-निरीक्षणेन, यो मानसे रागलवो विलग्नः।
न शुद्धसिद्धान्त पयोधिमध्ये, धौतोऽप्यगात् तारक ! कारणं किम् ?
—रत्नाकर-पंचविंशति

२. उपनिषदः परिपीता, गीताऽपि च हन्त मतिपथं नीता।
तदपि सा विधुवदना, नहि मानस सदनाद् बहिर्याति ॥—भामिनीविलास

लगा कर उसे वश में करना सरल है, किन्तु मन पर विविध अंकुश लगाने पर भी उसका वश में होना कठिन है।

मन के साथी जबर्दस्ती करने पर भी छिटक जाता है

कोई कह सकता है कि आसान तरीकों से अगर मन वश में न हो तो हठयोग या कठोर उपाय से जबरन उसे वश में करना चाहिए। उसे जरा भी ढील नहीं देनी चाहिए। जरा-सा भी मन को पपोला कि वह सिर चढ़ जाता है; इसके उत्तर में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं— **किहाँ कणे जो हठकरी हटकुं, तो व्यालतणी पेरे वांकुं०** अर्थात्-मन को हठाग्रह पूर्वक यदि किसी जप, तप, भजन, सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान आदि उत्तम क्रियाओं में रोक देता हूँ या किसी समय उसे जबर्दस्ती खींचातानी करके काबू में करने की कोशिश करता हूँ, यानी मन के साथ जोर-अजमाई करता हूँ तो वह सांप की तरह चट से टेढ़ा हो कर सरक जाता है, अथवा जैसे दबाया हुआ सर्प हाथ से छटक कर टेढ़ा-मेढ़ा हो कर झटपट भाग जाता है, वैसे ही यह भी चट से भाग छूटता है। अथवा पहले तो मेरा मन ही वक्र है, सर्प की तरह छेड़ने या उत्तेजित करके काबू में रखना चाहूँ तो यह और ज्यादा वक्र हो जाता है। कुत्ते की पूंछ को कितने ही वर्षों तक तेल लगा कर सीधी करने का प्रयत्न करने पर भी वह टेढ़ी की टेढ़ी ही रहती है, वैसा ही हाल मन का है। जितना-जितना मैं इसे एक स्थान पर स्थिर हो कर बैठने की बात कहता हूँ, उतना उतना तेजी से यह उद्दण्डता (वक्रता) करके भागने की कोशिश करता है। हर प्रयत्न का उलटा फल आता है, मन किसी तरह ठिकाने नहीं आता।

किसी गृहस्वामी ने मन को एकाग्र करने के लिए सामायिक की। सामायिक में माला के मन के घूमा रहा था, पाठ भी कर रहा था, परन्तु उसका मन मोचीवाड़े में अमुक मोची के यहाँ कर्ज की वसूली के लिए चला गया था। किसी ने उसकी पुत्रवधू से पूछा—"सेठजी कहाँ गए हैं ?" पुत्रवधू ने अपने ससुर के मन की गतिविधि को भांप कर कह दिया—'वे तो मोचीवाड़े में गये हैं।' सेठ ने सुना तो मन में फिर उथल-पुथल मची। सामायिक पूर्ण होते ही सेठ ने अपनी पुत्रवधू से पूर्वोक्त जवाब के लिए स्पष्टीकरण माँगा तो उसने ससुरको उनके मन की गतिविधि का विवरण दिया। इसी प्रकार मन को किसी भी अनुष्ठान, धर्मक्रिया या साधनामें जबर्दस्ती रोकने पर भी वह छिटक जाता है। बड़े-बड़े

आगमवलियों की भी यह परवाह नहीं करता, तो सामान्य साधकों की बात ही क्या ? आर्द्रकुमार, नन्दीषेण, आषाढ़भूति आदि मुनियों की जीवनी इस बात की साक्षी है। इसी कारण उपाध्याय यशोविजयजी को भी कहना पड़ा कि [1] "मनरूपी चंचल बंदर चारित्र और योगरूपी घड़ों को एकदम उलटा करके सारा का सारा शमरूपी रस नीचे गिरा देता है, तब बेचारा मुनिरूपी समतारसवणिक् क्या कर सकता है ? वह भी मन के आगे लाचार बन जाता है। इसीलिए तो अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी मन की थाह न पा सकने की अपनी आप बीती सुनते हैं—

जो ठग कहूँ ता ठगतो न देखूँ, शाहूकार पण नांहि।
सर्वमांहे ने सहु थी अलगुं, ए अचरज मन मांहि, हो॥
कुन्थु० ॥ मनडुं०॥५॥

अर्थ

अगर मन को में [किसीवक्त] ठग या धूर्त कहूं, तो इसे किसी को ठगते हुए देखता नहीं, परन्तु जहाँ तक मेरा अनुभव है, यह ईमानदार साहूकार भी नहीं है। आश्चर्य है यह सब बातों में अपनी टाँग अड़ाता है, परन्तु रहता है सबसे अलग, अथवा प्रत्येक कार्य में भाग लेता है, परन्तु अलग का अलग है। अथवा जैनतत्त्वज्ञान की दृष्टि से मन श्रोत्रादिक सभी इन्द्रियों में है और इन सभी इन्द्रियों से अलग भी है, ऐसी विरोधी गतिविधि देख कर मेरे मन में आश्चर्य होता है,

भाष्य

मन की परस्पर विरोधी आश्चर्यजनक गतिविधि

पूर्वगाथा मे मन के वशीकरण की बात वड़े-वड़े श्रुतधरों के लिए अशक्य बता कर यह शंका पैदा कर दी कि आखिर मन ऐसा कौन सा पदार्थ है, जो

---

१. चरणयोगघटान् प्रविलोठयन् शमरसं सकलं विकिरत्यधः।
चपल एव मनःकपिरुच्चकै रसवणिक् विदधातु मुनिस्तु किम् ?
—अध्यात्मसार

वश में होना दुष्कर है। इसी बात को इस गाथा में प्रस्तुत की गई है। मन की थाह पाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

अगर मन को ठग, लुच्चा या धूर्त कहूँ तो उस पर यह सहसा आरोपण उचित न होगा, क्योंकि स्थूल आँखों से तो यह किसी को ठगता देखा नहीं गया, इसलिए इसे लुच्चा, लफंगा या ठग कैसे कहा जा सकता है ? किसी को आँखों से भलीभाँति देखे बिना ही उस पर मिथ्या-आरोप लगाना नहीं ; क्योंकि खुल्ले रूप में तो सभी काम इन्द्रियाँ ही करती हैं, मन खुल्ले रूप में कोई काम करता देखा नहीं जाता। अतः मन को ठगाई करता प्रत्यक्ष न देख लूँ, तब तक इस पर झूठा इल्जाम कैसे लगाया जाय ? यह ऐसी सिफ्त से पर्दे के पीछे काम करता है कि इसे ठग नहीं कहा जा सकता।

तब यह प्रश्न उठता है कि जब मन ठग नहीं है, तब इसे साहूकार कहना चाहिए; क्योंकि ठग और साहूकार के बीच में और कोई विकल्प नहीं है। इसके उत्तर में कहते हैं—**शाहुकार पण नांहि**। यानी इस मन को साहूकार, ईमानदार सख्स भी नहीं कहा जा सकता। ईमानदार साहूकार तो इसे तब कहा जाय, जब यह प्रामाणिक साहूकार की तरह एक बात पर दृढ़ रहे। पर मन अपनी बात का धनी नहीं है। एक क्षण में तो यह फूल के घोड़े पर बैठ कर महाज्ञानी महात्मा बन जाता है, और दूसरे ही क्षण अधम में अधम विकल्प कर बैठता है। तथा जो साहूकार होता है, वह उलटे रास्ते में या खतरनाक स्थिति में पड़े हुए को बचा लेता है ; परन्तु मन के कारनामों को देखते हुए इसे ऐसा साहूकार नहीं कहा जा सकता। बेचारे चेतनराज के शुभ अध्यवसायरूप और श्रेष्ठ पुरुषों की संगति से पाये हुए जप-तप-ज्ञान-भक्ति-रूप खजाने को यह ठग मन लूट लेता है या चौपट कर देता है। बेचारे जीव की पुण्यरूपी पूँजी को यह मन सफाचट कर देता है। बताइए, ऐसी हालत में विश्वासघात करने वाले तथा अंदर ही अंदर इस प्रकार की ठगी करने वाले मन को साहूकार कहने का साहस भी कैसे हो सकता है ?

यों देखा जाय तो मन का स्थान हृदय (अन्तःकरण) में है। दूसरी तरफ से देखें तो यह सारे शरीर में व्यापक है। इन्द्रियों का स्थान तो निश्चित रूप से मुख आदि पर दिखाई देता है। इन्द्रियों और मन के स्थान अलग-अलग

होने के साथ इनके कर्तव्य भी अलग-अलग हैं। इस तत्त्व पर विचार करते हुए तो मन को सहसा ठग नहीं कहा जा सकता; किन्तु जब हम देखते हैं कि मन धूर्त की तरह इन्द्रियों को उलटे रास्ते ले जाता है, विपरीत और अहितकर पथ की ओर प्रेरित करता है या गुमराह कर देता है बड़े-बड़े साधकों को, तब इसे साहूकार की कोटि में भी नहीं गिना जा सकता।

तब यह सवाल होता है कि मन को किस कोटि में समझा जाय? इसका स्थान कहाँ माना जाय? इसी का रहस्योद्घाटन श्रीआनन्दघनजी करते हैं—**'सर्वमांहे ने सहुथी अलगु'**, आश्चर्य इस बात का है कि मन के लिए कोई खास विशेषण प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह सब में है और सब से दूर भी रहता है। यह इन्द्रियों द्वारा सब काम करता है, इसलिए सर्वत्र सब में है, और वैसे किसी में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। यही इसकी विचित्रता है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्हें पूछे बगैर या उनके हुक्म के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, परन्तु वे अपने आढ़तिये या एजेंट के द्वारा ऐसी सिफ्त से काम लेते हैं कि यह पता नहीं लगता कि अमुक काम उसने किया है। इसी प्रकार मेरा मन भी ऐसा ही युक्तिबाज है कि वह इन्द्रियों द्वारा सब काम करा लेता है, पर खुद अलग का अलग रहता है। नाम इन्द्रियों का होता है, काम होता है, सब मन का। अमुक वस्तु मीठी है या नहीं? अमुक पदार्थ दर्शनीय है या नहीं? अमुक चीज कर्णप्रिय या सुगन्धयुक्त है या नहीं? इन सबका निर्णय मन करता है, पर काम सब इन्द्रियों के मारफत लेता है। इसीलिए मन को तत्वज्ञों ने 'नो इन्द्रिय' कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयों में मन सभी इन्द्रियों को प्रेरित करता है। जब इन्द्रियाँ शब्दादि काम-भोगों का उपभोग करती हैं, तब मन उनके साथ मिल कर उनका अनुभव करता है। ज्यों-ज्यों मन अनुकूल विषयों का अनुभव-क्षणिक रसास्वाद लेता है, त्यों-त्यों इन्द्रियों को अधिकाधिक प्रेरणा देता रहता है। यों इन्द्रियों के साथ मिल कर मन चेतन को हैरान कर देता है। इसीलिए कहना कि मन सब में है, फिर भी सबसे दूर रहता है, ठीक है। आश्चर्य होता है कि मन सभी इन्द्रियों का प्रेरक भी बना रहता है और सबसे अलग भी है। यानी यह प्रत्येक कार्य में भाग लेता है, फिर भी सबसे अलग रहता है। इसलिए मन को क्या कहा जाय?, इसके सम्बन्ध में कौन-से विशेषण

का प्रयोग किया जाय? इसकी भी कोई सूझ नहीं पड़ती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु के दरबार में मन की शिकायत करते हुए अगली गाथा में कहते हैं—

जे जे कहूँ ते कान न धारे, आप मते रहे कालो।
सुर-नर-पंडितजन समजावे, समझे न मारो[1] सालो, हो ॥
कुन्थु० ॥ मनडुं० ॥६॥

अर्थ

मैं (किसी समय) जो जो (भक्ति, वैराग्य, या परमात्मसाधना की) बातें कहता हूँ, उन्हें यह कान में ही नहीं पड़ने देता, सुनता ही नहीं और अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से मतवाला (मस्त) बना रहता है। अथवा कुविकल्प करने से काला (मलिन = दूषित) बना रहता है। हे नाथ! इस मन को देवता, मनुष्य या पण्डितजन या विद्वान् और भक्तजन (अथवा देवों के पण्डित, मनुष्यों के पण्डित) समझाते हैं, पर मेरा साला (कुमतिरूपी स्त्री का भाई) कुछ समझता ही नहीं। (अथवा महाक्रोधी मेरा मन समझता ही नहीं), मेरे सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।

भाष्य

प्रभु से मन की उद्धतता की शिकायत

श्रीआनन्दघनजी ने मन की गतिविधि का रहस्य न समझने की बात कही थी। किन्तु जो ठग भी नहीं है और साहूकार भी नहीं है, वह सुधर भी सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—कि मन को सुधरने के लिए, उसे अपनी आदत बदलने के लिए जो जो बातें भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जप, तप, परमात्मपद-साधना या आत्मस्वरूप रमण आदि के सम्बन्ध में कहता हूँ या समझाता हूँ, उसे वह सुनी-अनसुनी कर देता है, इस कान से सुन कर उस कान से निकाल देता है। शास्त्रों में कहा है—"एकाग्रतारूप शुद्ध मन, वचन, और काया आदि कारण से (तीनों की एकता से) निश्चय ही परमात्मपद प्राप्त होता है, और ये तीनों जब अशुद्ध बन जाते हैं, तब अवश्य ही दुर्गति भी प्राप्त होती है।' ये बातें मन को समझा

कर जब मैं उसे शुद्ध, एकाग्र, परमात्मपद में तन्मय बनने को कहता हूँ, तब वह उन्हें एक दम ठुकरा देता है। जब मैं उसे यह शिक्षा देता हूँ कि तू मुझे सहायता कर, अपने दुर्विकल्प छोड़ दे, और सुविकल्पों को स्थान दे, मुझे अपने साध्य में स्थिर होने दे; परन्तु ऐसी बातों में तो वह जरा भी ध्यान नहीं देता; बल्कि सदा-सर्वदा से प्रचलित अपनी स्वच्छन्द मति-प्रकृति (आदत) के अनुसार चलता है। उसके सामने हित की हजारों बातें कहता हूँ, किन्तु वह अपने वज्रमय हठी स्वभाव को छोड़ता नहीं, अपने ही मत में काला (कुविकल्पों से कलुषित) अथवा मस्त (मदमत्त) या मुग्ध रहता है। वह अपना मनमाना करता है, मेरे अभिप्राय की जरा भी परवाह नहीं करता। इसे समझाना कोई बच्चों का खेल नहीं है। कोई कह सकता है कि साधारण आदमी मन की भाषा और प्रकृति न जानता हो, इस कारण मन शायद न समझता हो, किसी विद्वान् या देवता द्वारा समझाने पर कदाचित् मान जाय; इसी शंका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'**सुर-नर-पण्डित-जन समझावे, समझे न मारो सालो !**' अर्थात् मन को मैंने ही नहीं, बड़े-बड़े देवों ने, मनुष्यों ने, पण्डितों ने भक्तजनों ने, समझा कर देख लिया, लेकिन यह मेरा साला समझता ही नहीं, इसको बड़े-बड़े आदमियों ने ठिकाने लाने का प्रयास किया, लेकिन यह किसी की भी नहीं मानता, नहीं सुनता। सभी इसे समझा-समझा कर थक गए।

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने 'साला' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। जीवात्मा की दो स्त्रियाँ मानी गई हैं—एक सुमति और दूसरी कुमति। अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा की दो चेतनाएँ-स्त्री के रूप में मानी गई हैं—शुद्धचेतना और अशुद्धचेतना। कुमति का भाई कुमन है, जो कुविकल्प से काले पापकर्म करने के कारण काला है। अथवा मन अशुद्धचेतना का भाई है। इस दृष्टि से मन जीवात्मा का साला हुआ। इसी कारण यहाँ उसका प्रयोग किया गया है। यहाँ साला शब्द का प्रयोग तिरस्कारसूचक है। बड़े-बड़े पण्डित, ज्ञानी, विद्वान्, भक्त और देव भी इसे समझाते हैं कि तू हठ

---

१. कहीं कहीं 'माहरो सालो' के बदले 'महारोशालो' पाठ भी मिलता है इसका अर्थ होता है—महाक्रोधी।

मत कर, जीवात्मा के अनुकूल रह कर मोक्षसाधना में सहयोगी बन; परन्तु कुमतिस्त्री का भाई यह मन (साला) सारी समझाहट पर पानी फिरा देता है।

यहाँ फिर एक शंका होती है कि मन ऐसा कौन सा जवाँमर्द है, जो बड़ों-बड़ों को पानी पिला देता है, इसी शंका को ले कर श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

में जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले ।
बीजो बाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेले ;हो०॥

कुन्थु० ॥मनडुं०॥७॥

अर्थ

मैंने तो समझा था कि मन नपुंसकलिंग (नामर्द) है, परन्तु यह तो सारे मर्दों को पीछे ठेल देता है ! मनुष्य और सब बातों में समर्थ है, पर इस मन को कोई समर्थ पुरुष भी पकड़ है नहीं सकता।

भाष्य

नपुंसक होते हुए मर्दों को मात कराने वाला मन

पूर्वगाथा में मन के आगे सभी हार खा जाते हैं, यह बात बताई थी, लेकिन श्रीआनन्दघनजी को फिर खयाल आया कि मन तो संस्कृत और गुजराती दोनों भाषाओं में नपुंसकलिंग है, इसमें क्या ताकत होगी, नामर्द जो ठहरा ! नपुंसक व्यक्ति सबसे गयाबीता और कायर होता है, वह कोई भी साहस का काम नहीं कर सकता। न वह किसी मर्द से भिड़ सकता है ! उसमें दमखम नहीं होता। वह तो एक ही धक्के से गिर जाता है। इतना सब कुछ होते हुए भी आखिर मन नपुंसक है, इसलिए मर्दों को यों ही बंदरघुड़की दे रहा होगा कि "मैं यों कर दूंगा, त्यों कर दूंगा।" परन्तु जब इसकी ताकत का अनुभव किया तो मेरा अन्तर भी कह उठा—नपुंसकलिंग में इसका प्रयोग भले ही होता हो; परन्तु ताकत में यह नपुंसक नहीं है, और न किसी मर्द से पीछे हटने वाला है, बड़े-बड़े ज्ञानियों, ध्यानियों तक को यह चेलेंज देता है, बड़े-बड़े पुरुषों को यह बात की बात में छठी का दूध याद दिला देता है। चाहे जैसे बहादुर आदमी को मन मिनटों में हरा सकता है। इसलिए मुझे मन की खासियत का

अब पता लगा कि व्याकरण की दृष्टि से भले ही इसका प्रयोग नपुंसकलिंग में होता हो, लेकिन यह नपुंसक किसी भी तरह नहीं है, यह मर्दों का भी मर्द है। मेरी जानकारी मन के बारे में यथार्थ न थी, मेरा अनुमान गलत निकला। मैं नासमझी से इसे कमजोर समझ रहा था, लेकिन अब समझ में आया कि जिन वीरनरों ने बड़े-बड़े पहाड़ों से टक्कर ली, नदियों के प्रवाहों को हाथ से रोक लिये, कुश्ती में बड़े-बड़े पहलवानों को हरा दिया, अकेले ने बड़ी से बड़ी शत्रु-सेना को पराजित कर दिया, वे ही नरवीर बलिष्ठ मन के गुलाम बन गए। यह इतना जबर्दस्त है कि बड़ों बड़ों की पकड़ में नहीं आता। और सब बातों में समर्थ मनुष्य मन के आगे हार खा जाता है। यह किसी की गिरफ्त में नहीं आता। कदाचित् थोड़ी देर के लिए कोई इसे बहला कर पकड़ भी ले तो भी यह झट छटक कर चला जाता है। क्रिकेट के खेल में जैसे अमुक खिलाड़ियों के हाथ में आया हुआ बॉल छटक जाता है, वैसे ही मन भी छटक कर दौड़ जाता है।

अतः हे भगवन्! जिन महापुरुषों ने मन को जीता है, उन्होंने आपके बताये हुए मार्ग से ही जीता है, अथवा आपने जिन जिन उपायों से मन को जीता था, उन्हीं उपायों से वे महापुरुष इस काले मन से मुक्त हुए हैं। इसीलिए मैं आप से पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि मैं इस मन को कैसे जीतूं?

अतः श्रीआनन्दघनजी निराश हो कर अन्त में अपने अनुभव का निचोड़ अगली गाथा में अंकित करते हैं—

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह बात नहिं खोटी।
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक ही बात छे मोटी; हो०॥
कुन्थु० ॥मनडुं ॥८॥

अर्थ

जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया, विश्व में प्रचलित यह कहावत गलत नहीं है। यह एक अटल सत्य है। फिर भी मन को साधे बिना ही कोई यों दावा करे कि मैंने मन को साध लिया है; मैं उसकी बात मानने को तैयार नहीं। क्योंकि एक (मन को वश में करने की बात ही सबसे बड़ी (दुर्गम) बात है।

भाष्य

मन को साधने से समस्त साधनाएँ सफल

दुनियाँ के सभी धर्म, सभी दर्शन, समस्त विचारधाराएँ समस्त मनोवैज्ञानिक, सकल मत, इस बात को एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि 'जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया।' इसीलिए एक विचारक ने कहा है –'**मनोविजेता जगतो विजेता**' जिसने मन को जीत लिया, उसने सारे जगत् को जीत लिया। क्योंकि मन को एकाग्र कर लेने पर सभी साधनाएँ आसान हो जाती है। सभी धर्मक्रियाएँ मन को वश कर लेने पर सीधी और आसान हो जाती उनमें जान आ जाती है। मन की एकाग्रता से बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसने मन-रूपी भुजंग को वश में कर लिया, मानो परमात्मपद तो उसके सामने हाथ जोड़े खड़ा है। अष्टसिद्धियाँ और नौ निधियाँ मन के विजेता के सामने चेरी बन कर खड़ी हो जाती है। व्रत, नियम, संयम, जप आदि सब मन पर विजय प्राप्त करते ही सिद्ध हो जाते हैं।

कोई कह सकता है कि मन को जीतने की क्या जरूरत है? उच्चक्रिया या तप करते जाओ, उसी से ही सब कुछ हो जायगा; परन्तु आध्यात्मिक जगत् में ये बातें मिथ्या सिद्ध हो चुकी हैं। मनुष्य चाहे जितनी क्रिया करे, ग्रीष्मऋतु में भयंकर आतापना ले, शीत-ऋतु में ठंड सहन करे, कायक्लेश करे अथवा विविध प्रकार के तप या जप करे, मन पर काबू किये बिना ये सब निष्फल हैं। चाहे जितने रजोहरण, मुखवस्त्रिका या अन्य वेष धारण कर ले, परन्तु मन को वश में नहीं किया तो ये सब निरर्थक हैं। उसी की साधना, या क्रिया सफल होती है, जो मन को वश में कर लेता है। मन को जीते बिना ये सब कोरी कष्टक्रियाएँ हैं। इसलिए यह बात सत्य से परिपूर्ण है कि जिसने अपने मन को नियंत्रण में कर लिया, उसने सब कुछ साध लिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'**एह बात नहिं खोटी**'।

जगत् में मन को वश में करने की बात सबसे बड़ी है

कई लोग झूठमूठ दावा करते हैं कि 'मैंने अपना मन वश में कर लिया है।' परन्तु उनकी कोरी बातों पर से सच नहीं माना जा सकता। यों तो कोई भी रास्ते चलता आदमी कह देगा—''अजी! मन को वश करने में क्या धरा है?

बाद में इस भाषा को क्षम्य माना जाता है। जब अपना कोई वश न चलता है, तो भक्त प्रभु का ही आश्रय लेता है। वह जानता है कि वैसे प्र दूसरों के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नहीं बनते, किन्तु अगर मेरे पुण्य प्रबल हों, मे शुभ कर्मोदय हो तो कदाचित् प्रभु प्रबल निमित्त बन सकते हैं। मनको वश करने का पुरुषार्थ मुझे ही करना है, मेरे बदले प्रभु पुरुपार्थ नहीं करेंगे, न मे हाथ पकड़ कर प्रभु मेरा मन वश में करायेंगे, लेकिन मैं जो कुछ पुरुपार्थ कर उसमें वे प्रबल निमित्त, प्रेरक एवं सहायक तो बन ही सकते हैं। क्योंकि प्र अनन्तशक्तिमान हैं, आनन्दघनमय हैं, इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा तो ही सकते हैं, मेरे अन्दर अन्तःस्फुरणा तो जगा ही सकते हैं। मेरे परोक्ष सह यक तो बन ही सकते हैं, मेरे प्रबल पुरुषार्थ में प्रोत्साहनरूप आशीर्वाद उनकी अन्तरात्मा से मिल सकते हैं। इसलिए व्यवहारदृष्टि से इस पंक्ति अर्थसंगति यों की जा सकती है कि मेरे मन को वश (अधीन) करने में आ सहायक बनें, प्रेरक बनें, मुझमें इस प्रकार की आत्मशक्ति जगा दें कि मैं अप मन को वश में कर सकूं। अथवा मैं अपने मन को आपके स्वरूप में ली करना चाहता हूँ, आप कृपा करके मेरे अन्दर कोई अन्त.स्फुरणा या आत्मश जगा दें कि मेरा मन आपके स्वरूप में लग जाय, जिससे मेरा जन्ममरण चक्कर समाप्त हो जाय।

निश्चयदृष्टि से इस प्रकार की अर्थसंगति हो सकती है—'हे आनन्दघ प्रभो! मेरा चंचल मन आपके शुद्धस्वरूप में लग जाय औ मैं भी आत्मानन्द परमानन्दघन बन जाऊँ और सदा-सर्वदा अन आनन्द [सुख] में रमण करता रहूँ। आपकी कृपा से (य मेरे पुरुषार्थ से) मेरा आत्मलक्ष्य न छूटे, आपके स्वरूप में लगा हुआ मेरा म विषयों में इधर-उधर न भटके, वह मेरी आत्मा में ही लीन हो जाय, तभ यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जायेगा कि मैंने आपकी आराधना की और दुराराध मन को भलीभाँति साध लिया। वस्तुतः निश्चयदृष्टि से ऐसा निवेदन अपन आत्मा के प्रति अतीव संगत है कि श्रीआनन्दघनजी अनन्तशक्तिमान अपनी आत्म से प्रार्थना करें कि 'आत्मा! तू अनन्त शक्तिमान है, आनन्दघन है, इसलि अपनी आत्मशक्तियों के पुंज पर विचार करके समस्त पौद्गलिक आसक्ति का त्याग कर अपने दुराराध्य मन को अपने वश में करके बता। तभी तेरी अनन्तशक्तिमत्ता को मैं प्रत्यक्ष जान सकूंगा, आगमप्रमाण से तो मैं तेरी

अनन्तशक्तिमत्ता को जानता ही हूँ। मन को वशमें करने का उपाय अब तेरे ही हाथ में है। अपने आपको इतना सक्षम, इतना शक्तिशाली, आत्मबली बना कि मन तेरे आगे स्वयमेव झुक जाय, तेरा दास बन जाय, तेरे इशारों पर चले।'

सारांश

इस महत्वपूर्ण स्तुति में श्रीकुन्थुनाथ वीतरागप्रभु से मनोविजय के लिए लिए प्रारम्भ से ले कर अन्त तक जोरशोर से प्रार्थना की गई है। शुरूआत में मन की शिकायत प्रभु से की है, अपने साथ मन के होने वाले विविध संघर्षों का बयान किया है— रात-दिन, आकाश-पाताल, वस्ती-उजाड़ सर्वत्र मन की अबाधगति है। बड़े बड़े मुमुक्षु, साधक, तपस्वी, ज्ञानी, ध्यानी मन को वश में करने के लिए पच पच कर थक गये, परन्तु मन किसी के काबू में नहीं आता। यहाँ तक कि बड़े बड़े आगमबली भी मन को अंकुश में न ला सके, जबरदस्ती करने पर भी मन काबू में नहीं आता, न किसी भी बात को सुनता-मानता है, यहाँ तक कि देव, मानव, पण्डित सभी ने समझा लिया, फिर भी स्वच्छन्दकारी मन किसी की एक नहीं मानता, नपुंसकलिंगी होते हुए भी बड़े-बड़े जवाँमर्दों को यह पछाड़ देता है, अन्य बातों में समर्थ भी मन के आगे असमर्थ हो जाते हैं। इसलिए अन्त में वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सर्वप्रथम और सबसे बड़ी बात है— मन को साधना। इसको साध लेने से सभी बातें सधजायेगी। अतः वे वर्तमान स्थितिमें मनको वश में करने में अपने आपको दुर्बल जान कर प्रबल अनन्तशक्तिधर वीतराग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपने अपने मन को पूर्णतया वश में कर लिया; आगम-प्रमाणित यह बात तभी सच्ची मानी जा सकती है, जब मेरे मन को वश में ला दें, या वश करने में आप प्रबल निमित्त बन जाँए। इस प्रकार आध्यात्मिक साधना में सर्वोपरि मनोविजय पर श्रीआनन्दघनजी ने जोर दिया है और इसके लिए प्रबल पुरुषार्थ करने की बात भी ध्वनित कर दी है।

१८ : श्री अरहनाथ-जिन-स्तुति —

वीतराग परमात्मा के धर्म की पहिचान

(तर्ज— ऋषभंनो वंश रयणायरो, राग-परज या मारू)

धरम परम अरहनाथनो किम जाणु भगवंत रे।
स्व परसमय समझावीए, महिमावंत महंत रे ॥ धरम०॥१॥

अर्थ

हे भगवन् ! मैं श्री अरहनाथ नामक वीतराग-परमात्मा का जो उत्कृष्ट (स्वभावस्वरूप) धर्म है, उसे किस प्रकार समझूँ-कैसे जान सकता हूँ ? उसके लिए महामहिम महान् प्रभो ! आप मुझ पर कृपा करके स्वसमय (स्वधर्म) और परसमय) परधर्म या केवलज्ञान से पहले की निर्विकल्प ध्यानस्थ आत्मा की दशा=स्वसमय और इससे अतिरिक्त दशा=परसमय अथवा आत्मा का जिनेश्वरों द्वारा प्रकाशित निर्ग्रन्थ सिद्धान्त एवं निर्ग्रंथेतर सिद्धान्त, दोनों के बारे में समझाइए।

सर्वोत्कृष्ट वीतरागधर्म की जिज्ञासा

पूर्वस्तुति में मन को वश में करने की प्रार्थना परमात्मा से की थी, किन्तु मन को वश में करने का एक कारण धर्म है। धर्म को भलीभाँति जाने-समझे बिना उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती और प्रवृत्ति के बिना सफल परिणाम नहीं आ सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के धर्म को जानने-समझने की दृष्टि से कहते हैं—'धरम परम अरहनाथनो किम जाणु भगवन्त रे !'

संसार में अनेकविध धर्म हैं। कई धर्म तो परस्पर इतने विरोधी हैं कि उनमें पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा धर्म यथार्थ, सच्चा, हित-कारक और सुखदायक या तारक है और कौन-सा अन्यथा, वर्तमान में अहित-कर, व क्षणिक सुखदाता है ? संसार में धर्मों का जंगल इतना लंबा-चौड़ा है कि उसमें पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा धर्म औषधरूप है, संजीवनी

बूटी के समान संयमायु की वृद्धि करने वाला है, चारित्ररूपी प्राणों को धारण कर सकता है? दुर्गति में गिरती हुई आत्मा को बचा सकता है, उत्तम सुख में या सुगति में आत्मा को पहुँचा सकता है? क्योंकि जब तक धर्म की यथार्थ पहिचान न हो, जीवनयात्रा में धर्म के उपयोग की सही जानकारी न हो, वीतराग-परमात्मा के द्वारा बताये हुए या पाले हुए धर्म का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक धर्म का शुद्ध आचरण नहीं हो सकता। जिस व्यक्ति को धर्म का शुद्ध ज्ञान नहीं होगा, वह धर्म के नाम पर विविध धर्म-सम्प्रदायों में प्रचलित युगबाह्य क्रियाकांडों, कुरूढिपोषक आचारों, विकासघातक परम्पराओं, दम्भ-वर्द्धक विधि-विधानों, हानिकारक कुरूढ़ियों और समाज की अकल्याणकारी कुप्रथाओं को ही प्रायः धर्म समझ कर उन्हीं का पालन करने में धर्मपालन की इतिश्री समझ लेगा। ऐसी स्थिति में वह यथार्थ धर्म को भी सीधे रूप में न पकड़ कर उलटे रूप में ही पकड़ेगा, जिससे विकास के बदले उसकी आत्मा का पतन एवं ह्रास ही अधिक होगा। ऐसे व्यक्ति की स्थिति भ. महावीर की दृष्टि में विपरीत हो जाती है—'जिस प्रकार कोई कालकूट विष को पी कर जी नहीं सकता, उलटे रूप में पकड़ा हुआ शस्त्र उसे पकड़ने वाले को ही मार डालता है, किसी को वैताल लग जाने पर वह उसके प्राणों का नाश कर डालता है, वैसे ही विषयों या विषमरूप से युक्त धर्म को स्वीकार कर लेने पर वह आत्मा का विनाश कर डालता है।"[1] कई बार यह देखा जाता है कि गुरु-परम्परा या सम्प्रदायपरम्परा से प्रचलित किसी रीति-रिवाज या व्यवहार अथवा घातक गतानुगतिक प्रथा को ही धर्म समझा जाता है। जैसे अमुक समाज में शराब पीना, मांसाहार करना, स्त्रियों का पर्दा रखना, अमुक ढंग से चौकेबाजी करना, जनेऊ या चोटी रखना, अमुक तरह का तिलक लगाना आदि को धर्म समझा जाता है, अथवा अमुक मनमाने आचार-विचार को या विकासघातक क्रियाकाण्डों के पालन को धर्म समझा जाता है। यह तो दूर रहा, जो सच्चा और व्यापक धर्म माना जाता है, वीतरागता, अनेकान्त, समता एवं सरलता को

१—विसंतु पीयं जह कालकूडं, हणाइ सत्थं जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओ (मो) ववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो॥
—उत्तराध्ययन० अ० २० गा. ४४

धर्म का प्रधान अंग समझा जाता है, उसी धर्म के अनुयायी-गण सम्प्रदायभेद, परम्पराभेद, या आचार-विचार के जरा से भेद को ले कर दूसरे से लड़ने झगड़ने और गालीगलौज करने लग जाते हैं, एकांत आग्रही एवं आचार-विचार में सर्वथा असहिष्णु बन कर एक दूसरे पर मिथ्या-आरोप लगाने लगते हैं, सरलता को ताक में रख कर कुटिल राजनीति का आश्रय ले लेते हैं, समता के बदले जाति, वर्ग, रंग, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि के नाम पर वे विषमता फैलाने लगते हैं, जरा-जरा-सी बात से उनके कषाय और राग-द्वेष का पारा चढ़ जाता है, वे स्वयं विषम बन जाते हैं, उनके वीतराग-विज्ञान का सिद्धान्त उस समय न जाने कहाँ गायब हो जाता है? उस समय वे आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के बदले शरीर व शरीर से सम्बन्धित कषायों व राग-द्वेष आदि विकारों को ही मानो अपने मान कर अपना लेते हैं। ऐसे गोरखधंधे में साधारण व्यक्तियों को पता ही नहीं चलता कि कौन-सा वीतराग-परमात्मा का धर्म है, कौन-सा पर धर्म है? बहुधा धर्म के नाम से भक्तिवाद के नशे में या सम्प्रदायवाद की धुन में अथवा गुरु-परम्परा की ओट में आमजनता विविध आडम्बरों की चकाचौंध में सच्चे मार्ग से भटक जाती है। वह कई दफा ऐसा गलत रास्ता अपना बैठती है, जिसे बाद में छुड़ाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ये और इनके जैसे अन्य कारणों को देख कर श्रीआनन्दघनजी स्वयं सच्चे धर्म की जिज्ञासा को ले कर वीतराग-परमात्मा के सामने उपस्थित हुए हैं कि वीतराग-परमात्मा (श्रीअरहनाथ) का उत्कृष्ट और यथार्थ धर्म कौन-सा है? कौन-सा यथार्थ धर्म है, जो जीवन और जगत् के लिए परमकल्याणकारी, आत्मविकासक, स्वपरहितकर, चार गतियों और ८४ लक्ष जीवयोनियों से छुटकारा दिलाने वाला, व कर्मों को निर्मूल करने में समर्थ है?

धर्म की जिज्ञासा का दूसरा पहलू

धर्म के विषय में जिज्ञासा का एक और पहलू है। वह यह है कि आत्मा के लिए कौन-सा धर्म उत्कृष्ट है, और कौन-सा निकृष्ट है? कौन-सा आत्मा का धर्म है, और कौन-सा अनात्मा = आत्मा से पर मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा पुद्गलों का धर्म है? अथवा कौन-से आत्मा के निखालस धर्म हैं यानी आत्मा के अनुजीवी (निजी) गुण (धर्म) हैं और कौन-से आत्मा से पर के, किन्तु आत्मा के साथ संयोग-सम्बन्ध से संश्लिष्ट होने से आत्मा के वैभाविक गुण (काम-

क्रोधादि धर्म) हैं ? अथवा निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से जब हम इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो श्रीआनन्दघनजी वीतराग-परमात्मा के सामने सीधा ही प्रश्न पूछते हैं— प्रभो ! मैं तो अज्ञान हूं, संसार में फँसा हुआ हूं, मैं स्पष्टरूप से जान नहीं सकता कि आपका अपना (आत्मा का) धर्म कौन-सा है ? और परकीय धर्म कौन-सा है ? अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा का शुद्ध धर्म कौन-सा है, व्यवहारदृष्टि से कौन-सा धर्म है ? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भगवान् से प्रार्थना है कि 'स्वपरस-समय समझावीए' प्रभो ! आपकी महिमा अपार है। आप अणिमा-महिमा आदि योगसिद्धियों से सम्पन्न हैं, आप महान् त्यागी-महनीय-पूजनीय पुरुष हैं। अतः आप मुझ पर कृपा करके समझाइए कि स्वधर्म क्या है, परधर्म क्या है ? अथवा स्वसमय=स्वसिद्धान्त और परसमय=पर सिद्धान्त (पूर्वोक्त अर्थों के अनुसार) क्या है ? अथवा इन दो वाक्यों को एक करके ऐसा अर्थ भी घटित हो सकता है कि—'महिमामय प्रभो ! स्वसमय-परसमय की दृष्टि से यह समझाइए कि वीतराग-परमात्मा का धर्म कौन-सा है ?

जैनधर्म में तत्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रश्नोत्तर-शैली प्रसिद्ध है। भगवतीसूत्र में गणधर गौतम द्वारा महावीर से पूछे गये ३६ हजार प्रश्न और उत्तर हैं। अगली गाथा में इसी प्रश्न का समाधान किया जाता है—

शुद्धातम अनुभव सदा, स्वसमय एह विलास रे।
परवड़ी छांहडी जे पड़े, ते परसमय-निवास रे ॥धरम०॥२॥

अर्थ

जहां पर्यायार्थिक नय को गौण रखकर द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से शुद्ध आत्मा का सदा साक्षात् अनुभव हो, वहां स्वसमय (मेरा धर्म) है। वहां स्वात्मा का ही विलास (स्वात्मरमणता) है। जहां कभी-कभी वार त्यौहार पर देर से छाया पड़ती हो, उसका आत्मानुभव हो, वहां परसमय (मेरे सिवाय पर का धर्म) है, अथवा पर=आत्मा से पर अनात्मभाव वाली - बहिरात्मभाव वाली जो आत्मा की बड़ी छायामात्र जिन जिन ग्रन्थों में पड़ती है, वहां परसमय =अन्यतीर्थीय सिद्धान्तों का निवासस्थान है। अथवा पर की=अन्य आत्मा की या दूसरे द्रव्यों की, द्रव्य के सिवाय गुणों या पर्यायों की प्रतिच्छाया जहाँ जहां पड़ती है, वहां वहां परसमय का स्थानक है। अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय

की दृष्टि से विचारणा हो, वहाँ शुद्ध स्वसमय तथा परद्रव्य की या पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, उसे परसमय समझो।

भाष्य

स्वसमय-परसमय का लक्षण और रहस्य

पूर्वगाथा में परमात्मा के धर्म को समझने के लिए स्व-परसमय की जिज्ञासा प्रस्तुत की गई थी। इस गाथा में उसी का समाधान किया है। वास्तव में '**समय**' शब्द अनेकार्थक और रहस्यमय है। अमरकोष के अनुसार '**समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः**' समय का अर्थ शपथ, आचार, काल (समय या प्रसंग), काल का एक सूक्ष्मविभाग, सिद्धान्त एवं धर्म तथा द्रव्यात्मा (आत्मा) इत्यादि है।

यहाँ प्रसंगवश तीन अर्थ '**समय**' के हो सकते हैं— आत्मा, सिद्धान्त (आगम) और काल। इन तीनों की पृथक-पृथक व्याख्या इस प्रकार से है-विशुद्ध (कर्ममल से रहित) आत्मा का जहाँ अनुभव होता है, जिसमें आत्मानुभव की बातें की गई हैं। यानी आत्मा निश्चय से कर्मरहित, परभाव से रहित, अपने गुणों से परिपूर्ण, अनादि अनन्त, प्रकट ज्ञायक ज्योतिस्वरूप, एक, नित्य, सम्पूर्ण ज्ञानघन है; इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव जहाँ होता हो, वहाँ स्वसमय समझना। इसे विस्तृतरूप में यों कहा जा सकता है कि मोक्ष में आत्मिक दशा कैसी होती है? अर्थात आत्मा मोक्ष में अपनी असली स्थिति में कैसा रहता है, इसके अनुभव करने की जो बातें हों, वे सब स्वसमय की बातें हैं। यानी आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से वह बात इसके अनुभव की होती है। आत्मा की अलग-अलग कौन-कौन सी दशाएँ होती हैं? वह मूल स्वभाव में कैसा रहता है? ये उन्नतगामी (ऊर्ध्वगामी) सब बातें स्वसमय की हैं। इसकी मूल विशुद्ध अवस्था में आत्मानुभव कैसा होता है? उसका जहाँ-जहाँ वर्णन किया जाय, वहाँ-वहाँ स्वसमय की बात है, यह समझ लेना चाहिए। शुद्ध निर्मल आत्मा के सम्बन्ध में जितनी भी बातें कही जाती हैं, वे सब

१—किसी किसी प्रति में 'पर-पडिछांयडी' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है- जहां पर की प्रतिच्छाया (परछांई) पड़ती है।

स्वसमय की बातें हैं। आत्मा कर्ममलरहित दशा में कैसा निर्मल होता है ? यह कैसे रहता है ? इस सम्बन्ध में हुई अनुभव की बातें जहाँ हों, वहाँ स्वसमय (स्वधर्म=परमात्मा का धर्म) है, यह जान लेना चाहिये। मतलब यह है कि आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और पुद्गल का स्वभाव है—अधोगामी। जहाँ आत्मा के मूल गुणों का अनुभव होता हो, यानी आत्मा निर्मल हो, तब कैसा होता है क्या करे ?) ये सब बातें स्वसमय की है। इस प्रकार के शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचार या कथन स्वसमय हैं। तथा शुद्ध आत्मा का सदा के लिए जो साक्षात् अनुभव हो, वही स्वसमय है, वही स्वात्मा का अपना विलास है, आमोद-प्रमोद है, मौज है। कारण यह है कि शुद्ध आत्मानुभवरूप =आध्यात्मिक विकासरूप महाधर्म की सम्भावना आत्मा में ही हो सकती है आत्मार्थियों के लिए उसी की विचारणा आवश्यक है, अन्यथा विचारणा करने की आवश्यकता ही क्या है ? (२) ऐसा ही आत्मकथन करने वाला शास्त्र स्वसमय=स्वशास्त्र=स्वसिद्धान्त कहलाता है, (३) समस्त परद्रव्यों से निवृत्त हो कर आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अपने स्वभाव में एकत्वरूप से जिस समय प्रवृत होता है, उसे भी स्वसमय कहते हैं। (आ) १. आत्मा के अतिरिक्त जो परवस्तु, पुद्गल या भौतिक सुखों का जिसमें विधान हो, अथवा आत्मा से भिन्न दूसरे द्रव्यों की या द्रव्य से अतिरिक्त गुणों या पर्यायों की (पर की) प्रतिछाया (परछांई) जहां पड़ती हो, अर्थात् अनादि अविद्यारूप लता के मूलमोह के उदय से आत्मा अपने ज्ञानदर्शनादि स्वभाव से च्युत हो कर मोह-राग-द्वेष आदि परभावों में एकत्वरूप से प्रवृत हो, उसे परसमय कहते हैं। अथवा परद्रव्य की पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो; वहां परसमय का निवास है। (२) ऐसे शास्त्र जिसमें आत्मा के अतिरिक्त बहिरात्मभाव की लौकिक बातें हों, ऐसे सिद्धान्त या शास्त्र परसमय कहलाते हैं, इनमें पर्व या किसी विशिष्ट दिवस या प्रसंग पर कभी कभी छाया की तरह आत्मानुभाव की बातें आ जाती हों या की जाती हों, वहाँ परसमय का निवास समझना चाहिये। परसमय या परधर्म में आत्मानुभव की बातें कभी कभी होती हैं, उसमें पौद्गलिकभाव की बातें ही अधिक होती हैं। मतलब यह है कि जिनमें मुख्यतया आत्मानुभव की बातें नहीं होती, कभी कभार जरा आत्मानुभव की बात आ जाती है, उस सिद्धान्त, शास्त्र या धर्म को परसमय ही समझना चाहिए, जैसे बृहस्पति जैसे

चार्वाक परलोक को नहीं मानते, उसमें आत्मस्वभाव से विपरीत बातें है। (३) आत्मा जिस समय परभाव मे एकत्वरूप से प्रवृत्त हो, उस समय को पर-समय कहते हैं।

इस प्रकार इन तीन अर्थों के अनुसार स्वसमय-परसमय को पहिचानने की कुंजी प्रस्तुत गाथा में बता दी है। परसमय को जाने बिना स्वसमय की विशुद्ध जानकारी नहीं हो सकती और जब तक स्वसमय का विशुद्ध ज्ञान न हो, तब तक साधक स्वसमय में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अमुक तत्त्वज्ञान स्वसमय है या परसमय, इसके जानने का तरीका इसमें बताया गया है, वह दोनों मुख्य नयों की दृष्टि से है, इसलिए नयों का ज्ञान भी होना आवश्यक है।

इसलिए अगली गाथा में प्रसंगवश स्वसमय=विशुद्ध आत्मा के अनुभव की बात विविध नयों की दृष्टि से कही जा रही है—

तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी ज्योति दिनेश मोझार रे।
दर्शन-ज्ञान-चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे ॥धरम०॥३॥

अर्थ

जिस प्रकार तारों, मंगल आदि ग्रहों, अश्विनी आदि नक्षत्रों और चन्द्रमा की ज्योति (कान्ति) सूर्य (सौरमण्डल) में अन्तर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन सबकी शक्ति अपनी आत्मा में जानो।

भाष्य

शक्ति का केन्द्र : आत्मा

पिछली गाथा में स्वसमय और परसमय का अन्तर बता कर स्वसमय को अपनाने की बात ध्वनित कर दी है। इस गाथा में प्रकारान्तर से स्वसमय की बात की पुष्टि की गई है। सूर्य की उपमा दे कर इस बात को स्पष्ट किया गया है कि शुद्ध आत्मा (परमात्मा) में स्वधर्मरूप अनन्त शक्ति छिपी हुई है, पर बाहर में वह अलग-अलग रूप में दृष्टिगोचर होती है, मगर है वह शुद्ध आत्मा की ही, और उसी में वह अन्तर्हित हो जाती है। जगत् में ऐसी प्रसिद्धि है कि तारा, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा वगैरह प्रकाशमान पदार्थों में सूर्य का ही प्रकाश संक्रमित होता है। जब सूर्य प्रकाशित होता है, तो इन

सबका प्रकाश सूर्य में समाविष्ट हो जाता है। वर्तमान विज्ञान का भी यह मत है कि ग्रहों और चन्द्रमा का प्रकाश स्वतंत्र नहीं है, वे सूर्य के प्रकाश के बल से प्रकाशित होते हैं। यही कारण है कि सूर्य के उदय होते ही इन सबका प्रकाश फीका पड़ने लगता है। इसीलिए कहा गया—जिस प्रकार आकाश के ग्रह, नक्षत्रादि की ज्योति सूर्य के प्रकाश में है, उसी प्रकार सामान्य ज्ञानरूप दर्शन (अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन), विशेषज्ञानरूप ज्ञान और सामायिकादि चारित्र, सबमें आत्मा की शक्ति ही है। इन सबकी शक्ति का समावेश भी आत्मा में हो जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से देखें तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी आत्मा से अभिन्न हैं; ये सब आत्ममय ही हैं, एक आत्मा ही भासमान होता है। मतलब यह है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह के अनेक पर्याय होते हैं। दर्शन से निराकार ज्ञान होता है, 'यह मनुष्य है या पशु?' वगैरह विशेष बातें ज्ञान से जानता है। सामायिक चारित्र से ले कर यथाख्यातचारित्र तक अनेक पर्याय जानता है। परन्तु वे सब एक ही आत्म-द्रव्य को बताते हैं, उसे ही उद्देश्य करके होते हैं। जैसे पर्याय अनेक हैं, आत्मिक द्रव्य एक ही है। उसी के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनेक पर्याय होते हैं। वे अन्त में एक आत्मा में ही समा जाते हैं। ये सब एक आत्मिक द्रव्य के ही परिणाम हैं, आत्मा के गुण हैं, आत्मा के ही ये सब पर्याय हैं, यह भलीभांति जान लो। आत्मा न हो तो उसके पर्याय भी नहीं होंगे, यों समझ कर एक आत्मिक द्रव्य की महत्ता समझ लो। जैसे सभी प्रकार के तेज—फिर वे चाहे तारों के हों, चन्द्रमा के हों, सूर्य के तेज में समा जाते हैं, वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अनेक पृथक्-पृथक् पर्याय होते हैं, पर उन सबका समावेश एक आत्मानुभव में हो जाता है। इससे यह भी द्योतित हो जाता है कि ज्ञानदर्शन-चारित्र की शक्ति शुद्धात्मानुभव=स्वसमय में समाविष्ट हो जाती है, किन्तु अपर-ज्योतिरूप परसमय का उसमें समावेश नहीं होता। पर्याय चाहे जितने हुआ करें, पर वे मूल द्रव्य एक आत्मा से सम्बन्धित हैं, यह बात भलीभाँति हृदयंगम कर लेनी चाहिए। आत्मा एक है, पर्याय अनन्त हैं। आत्मा के अनन्त पर्याय होते हुए भी उसे एक ही द्रव्य समझना, यही आत्मानुभव (स्वसमय) की, आत्मा को भलीभाँति पहिचानने की कुँजी है।

अगली गाथा में इसी बात को और स्पष्ट कर रहे हैं—

भारी पीलो चीकणो कनक, अनेक तरंग रे ।
पर्यायदृष्टि न दीजिए, एक ज कनक अभंगरे ॥ धरम० ४ ॥

अर्थ

वजन में भारी-रंग से पीला, गुण से चिकना (स्निग्ध) सोने के ऐसे अनेक प्रकार दिखाई देते हैं, परन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि न दें। द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह अभंग (अखण्ड=अभेदरूप) द्रव्यरूप में एक सोना ही दिखाई देता है ।

भाष्य

सोना एक : प्रकार अनेक

पूर्वगाथा में कही हुई बात को दूसरी तरह से सोने का दृष्टान्त दे कर आनन्दघनजी समझाते हैं— सोने के साथ पर्यायरूप में तीन गुण निहित हैं- भारीपन, पीलारंग और चिकनापन। मतलब यह है कि सोना तौल में वजनदार धातु होता है। सोने की यह विशेषता है कि वह दूसरे धातुओं की अपेक्षा वजन में भारी होता है। उसका रंग भी विशिष्ट प्रकार का पीला है, जो दूसरे किसी धातु से मिलता नहीं है। और वह दूसरे धातुओं की अपेक्षा चिकना भी अधिक होता है, सोना दूसरे धातुओं के बजाय नरम और लचीला होता है। इसी कारण उसके परमाणु एक दूसरे से चिपक जाते हैं; जल्दी टूटते नहीं। एक ही सोने के हार, करधनी, कंकण आदि अनेक आभूषण बनाये जाते हैं। जिनके नाम और आकार भिन्न-भिन्न होते हैं; परन्तु उन सबमें जो सोना होता है, उसे देख-परख कर ही सबकी कीमत आँकी जाती है। सोने के व्यापारी की सोने के विषय में द्रव्यार्थिक दृष्टि है, मगर आभूषण बनाने वाले सुनार या उन्हें पहनने वाले की दृष्टि में आभूषण मुख्य होने से पर्यायार्थिक दृष्टि होती है। कुम्भार घड़ा, कोठी, सुराही वगैरह बनाने के लिए जंगल से मिट्टी लेने जाता है, तब वह घड़े, कोठी आदि को मिट्टी ही देखता है, मिट्टी ही उसके खयाल में बसी रहती है। मगर कुम्हार के यहाँ से बर्तन खरीदने वालों की दृष्टि में मिट्टी नहीं आती, घड़ा आदि बर्तन ही आते हैं। इसलिए कुम्हार की दृष्टि द्रव्यार्थिक होती है, जबकि ग्राहक की दृष्टि पर्यायार्थिक होती है। इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड़ कर एक और अखण्ड सोना ही है, इसके भेद

नहीं हो सकते। सोना तीनों काल में सोना ही रहता है। अतः सोने में भारीपन, पीलेपन या चिकनेपन अथवा विभिन्न गहनों की कल्पना करना पर्याय दृष्टि है। पर्यायदृष्टि को गौण कर दें, उसका इस समय उपयोग न करें तो वही सोना सबमें एकरूप अभेदरूप प्रतिभासित होगा।

पदार्थ के असली स्वरूप को समझने की कुंजी

किसी भी पदार्थ के वास्तविक वस्तुस्वरूप को समझने के लिए द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि को मुख्य रखें तो उसके पर्यायों की दृष्टि गौण हो जायेगी। ऐसा करने से पर्याय भी उस द्रव्य में समाविष्ट हो कर द्रव्यरूप ही गिने जायेंगे। इसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि को मुख्य रख कर देखें तो द्रव्य गौण हो जायेगा, वह प्रतिभासित नहीं होगा। ऐसा करने से द्रव्यत्व भी पदार्थ के एक प्रकार के पर्यायरूप में गिना जायेगा। द्रव्यार्थिक दृष्टि को सामान्य, शक्ति, द्रव्य, अभेद इन शब्दों से समझा जाता है, जब कि पर्यायार्थिक दृष्टि को विशेष, व्यक्ति, स्वभाव, गुण, धर्म, पर्याय, भेद आदि शब्दों से समझा जाता है, भारीपन, चिकनापन या पीलापन सोने से अलग वस्तु नहीं है। कोई सोना खरीदता है तो उसके साथ उसके ये गुण आ ही जाते हैं। यह सोने के विषय में स्वसमय है। सोने के तौल, रंग, गुण की दूसरे के गुणों के साथ तुलना करते समय सोना गौण हो जाता है। परन्तु सोने के गुण मुख्यतया ध्यान में रखे जाते हैं। पर्यायार्थिक दृष्टि की मुख्यतया के समय द्रव्यार्थिक दृष्टि गौण होती है, परन्तु उपचार से उसमें गौणरूप से द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि भी होती है, इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि के समय गौणरूप से उपचार से पर्यायार्थिक नय की दृष्टि मुख्य होती है। अगर ऐसा न हो तो वे दोनों नय एकान्त होने से नयाभास बन कर मिथ्या साबित हो जाते हैं। अतः एक नय में गौण रूप से उपचार से दूसरा नय होता ही है, तभी नय की सापेक्षता टिकती है और वे सुनय बनते हैं। इस प्रकार आत्मार्थी को द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि भलीभाँति समझ लेनी चाहिये।

आगे की गाथा में इसी विषय को आत्मा पर घटाते हुए कहते हैं —

दर्शन-ज्ञान चरण थकी अलखस्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे॥ धरम०॥५॥

अर्थ

उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से आत्मा को देखें तो उसके लक्ष्य में न आ सकें, ऐसे (अलक्ष्य) अनेक स्वरूप प्रतीत होते हैं, क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण हैं। द्रव्य-पर्याय के भेदरहित (अभेद) रूप में देखें तो सर्वविकल्पों का विलय हो कर आत्मा का ज्ञानादिक भेदरहित, एक, अखण्ड, शुद्ध, निर्लेप, निरंजन, चैतन्य रूपमें अनुभव होता है। आत्मा के सिवाय दूसरा कुछ भी द्वैतरूप भासित नहीं होता, ऐसे आत्मा का शान्त-स्वभावरूप निर्विकल्परस पीजिए।

भाष्य

पर्यायदृष्टि से अनेक आत्मा, द्रव्यदृष्टि से एक

पूर्वोक्त गाथा में सोने का दृष्टान्त देकर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय का तत्व समझा गया है। उसी बात को आत्मा पर घटित किया है, जैसे सोने के अनेक प्रकार (तरंगें) होते हैं, वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अलक्ष्य (अरूप) आत्मा के अनेक तरंगे=पर्यायें होती हैं। सामान्य उपयोग से वह जातियों को देखता है। उनमें वह तन्मय हो जाता है, वही उसका दर्शन बन जाता है। उसमें वह मनुष्यों, जानवरों या पक्षियों को एवं सुख-दुःख को सामान्य प्रकार से देखता है। फिर जरा ज्ञान-उपयोग होता है, तब वह अधिक ब्योरेवार तथ्यों को देखता है। मनुष्य के नाम, उनका रंग, उनकी जातियाँ और अनेक विवरण उसके जानने मे आता है। यह सब ज्ञान का परिणाम है। इसी प्रकार चारित्र में उपयोग लगाता है, उनकी चर्चा करता दिखाई देता है, वह सामायिक में स्थिर होता है तो उसमें तथा यथाख्यात आदि चारित्र में रमण करता दिखाई देता है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विविधता में वह जैसा उपयोग लगाता है, वैसा उसका पर्याय दिखाई देता है। यानी आत्मा जब ज्ञानक्रिया में होता है, तब वह ज्ञानात्मा है, जब दर्शनक्रिया में होता है, तब वह दर्शनात्मा है और जब वह चारित्रक्रिया में होता है, तब चारित्रात्मा है। उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध पर्याय सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि हैं। उनके क्रियाकारण ही भले ही भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, परन्तु एक ही शुद्ध आत्मद्रव्य का कार्य तो एक ही सिद्ध होता है।

एक तरह से शुद्ध पर्याय की दृष्टि से अलक्ष्य, अरूपी, निरंजन, निराकार आत्मा के दर्शनोपयोगयुक्त, ज्ञानोपयोगयुक्त और चारित्रोपयोगयुक्त आदि अनन्त आत्मगुण के विकल्प से आत्मा का ज्ञानावधान करने से वह अनेक प्रकार का अनंत पर्याय वाला है, इसके उपरान्त कर्मों के संयोग से अनेक अशुद्ध पर्याय होते हैं। उसके एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक की प्राप्ति तथा देव, मनुष्य तिर्यञ्च, नारक आदि गति की प्राप्ति आदि अनेक पर्याय होते हैं। इसी अलख आत्मा को जब निर्विकल्पभाव से देखते हैं, शान्तभाव से निहारते हैं। तो सोने की तरह अकेला ही प्रतीत होता है। आत्मा के ज्ञानादिभाव से या कर्मसंयोग से अनेक पर्याय हो सकते हैं, पर संकल्प-विकल्प छोड़ कर शान्तभाव से अकेले आत्मा को देखें तो निरावरण ही दीखेगा। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—**"निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरँजन एक रे"** अर्थात जब अकेले द्रव्य का ही ध्यान करना होता है, एक निर्विकल्प आत्मा के ध्यान का अमृतरस पीना होता है, उसका आनन्द भी अनोखा होता है। उस समय आत्मा एकरूप शुद्धरूप एवं निरंजनरूप प्रतिभासित होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने पातंजल योगदर्शन पर टिप्पणी में भी यही लिखा है—निर्विकल्पध्यान में शुक्लध्यान के दूसरे पाद में एक स्वात्मद्रव्य का-पर्यायरहित द्रव्य का शुद्ध ध्यान होता है। और वह इसलिए वह स्वसमयनिष्ठा है। उस अवस्था में द्रव्यार्थिक प्रधान शुद्धनिश्चयनय की मुख्यता होती है।

अगली गाथा में निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों दृष्टियों से आत्मा का कथन स्पष्ट करते हैं—

परमापथ-पंथ जे कहे, ते रंजे एकतंत रे।
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनन्त रे॥

धरम० ॥६॥

अर्थ

परमार्थरूप (निश्चयात्मक आत्मद्रव्य की सिद्धि के) मार्ग का जो कोई सत्पुरुष कथन करता है, वह (निश्चयदृष्टिप्रकाशक वक्ता या श्रोता) एक निश्चयात्मक तत्त्व की विचारणा करके (या एक ही तन्त्र में) प्रसन्न होता है। किन्तु जो व्यवहारनय की दृष्टि से लक्ष्यरूप आत्मा में रहते (रमण करते) हैं,

उनकी दृष्टि में आत्मा के अनन्तपर्यायों की अपेक्षा से अनन्तभेद प्रतिभासित होते हैं।

भाष्य

निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से आत्मा का कथन

पूर्वगाथा में भी आत्मा के अनेक और एक भेद बता कर अन्त में निर्विकल्प-दशा प्राप्त करके आत्मा के आत्मैक्त्व का ध्यान करने और उसे प्राप्त करने की बात पर जोर दिया गया है। उससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि आत्मा के ये जो अनन्त पर्याय इस समय दिखाई दे रहे हैं, इन्हें दूर करके इसकी असली स्थिति से निरावरण, एकाकी आत्मा का ही सोने की तरह विचार करना और अन्त में उसे ही प्राप्त करना चाहिए। अब इस गाथा में पुनः दोनों दृष्टियों से आत्मा का प्रतिपादन करते हैं। वास्तव में निश्चय और व्यवहार दोनों अपनी-अपनी जगह पर ठीक हैं। कोरे निश्चय से भी काम नहीं चल सकता ; क्योंकि साधक को चलना व्यवहार की धरती पर है। निश्चय के आकाश में उड़ने के लिए व्यवहार की धरती पर पहले पैर जमाना आवश्यक है। निश्चय के पर्वत-शिखर पर चढ़ने के लिए व्यवहार की तलहटी से ही आगे कदम बढ़ाना होता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि साधक की आँखें निश्चय की ओर टिकी हों, और उसके पैर टिके हों—व्यवहार की धरती पर। एकान्त निश्चय की ओर देखते रह कर व्यवहार को दृष्टि से ओझल नहीं करना है, तथैव एकान्त व्यवहार की धरती पर चलते रहने की धुन में निश्चय को आँखों से ओझल नहीं करना है। साधक जब तक संसार-दशा में है, तब तक दोनों दृष्टियों का उसे उपयोग करना है, किन्तु प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने और आध्यात्मिक गगन में ऊँचे उड़ने के लिए उसे निश्चय-दृष्टि को मुख्यता देनी होगी, क्योंकि वास्तविक सद्भूतार्थ मार्ग निश्चय की पगडंडी को पकड़ने से ही प्राप्त होगा।

वास्तविक दृष्टि से आत्मा एकरूप भी है और अनेकरूप (अनन्तरूप) भी है। परन्तु परमार्थदृष्टि के साधक उसे एक रूप में देखते हैं, वे उसे एकतन्त्र में—आत्मा के एकत्व में—देख कर प्रसन्न होते हैं, जबकि व्यवहारदृष्टि के साधक उसे अनन्तरूप में देखते हैं। परमार्थपथ (निश्चयनय) के साधक विकल्प-

रहित शुद्धस्वरूपी अनन्तगुण सम्पन्न आत्मा को एकरूप में प्रतिपादन करते हैं, जबकि व्यवहारमार्गी लोग आत्मा के अनन्त विकल्पों को ले कर अनन्तभेद बताते हैं। एक दूसरे की दृष्टि में एक दूसरा नय गौण होता है। अपेक्षावाद (स्याद्वाद) की दृष्टि से दोनों मार्ग अपने-अपने ध्येय के अनुसार ठीक हैं। एकान्तरूप से निश्चय का कथन करना और व्यवहार का निषेध (अपलाप) करना ठीक नहीं, तथैव निश्चय को बिलकुल अनुचित मान कर एकान्तरूप से व्यवहार का आग्रह रखना भी ठीक नहीं। सात नयों में से भी प्रथम के तीन या चार नय व्यवहारनय के नाम से परिचित हैं, तथा पिछले तीन नय पारमार्थिक रूप के प्रतिपादनकर्त्ता होने से निश्चयनय के नाम से प्रसिद्ध हैं। किन्तु एक बात निश्चित है कि उच्चभूमिका पर आरूढ़ जीवों का विकासक्रम परमनिश्चयनय की मुख्यता (व्यवहारनय की गौणता) से ही आगे बढ़ता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने 'अध्यात्मोपनिषद्' तथा 'अध्यात्मसार' में इसी बात की ओर अंगुलिनिर्देश किया है—[1] "जो पर्यायों में ही रत हैं, वे परसमय में स्थित हैं, और जो आत्मस्वभाव में लीन हैं, उनकी स्वसमय में ही निश्चलतापूर्वक स्थिरता होती है।" २ "इस प्रकार शुद्धनय का अवलम्बन लेने से आत्मा में एकत्व प्राप्त होता है, क्योंकि पूर्णवादी (परमार्थवादी) आत्मा के अंशों (पर्यायों) की कल्पना नहीं करते। (पर्याय जितने जानते हैं, उतनों से पूर्णद्रव्य ज्ञात नहीं होता। सिर्फ अंश ही प्रतीत होते हैं।)स्थानांग आदि सूत्रों में **'एगे आया'** (एक आत्मा) के कथन का जो पाठ है, उसका आशय भी यही माना गया है।" अतः जब व्यवहारनय का आश्रय ले कर कोई बात करता है तो आत्मा के अनन्त भेद हो जाते हैं, यह हम सोने के दृष्टान्त पर से पहले जान चुके हैं। सोने की जैसे अनेक चीजें बनती हैं, वैसे ही व्यवहारनय से हम प्रत्येक वस्तु के

---

१. **ये पर्यायेषु निरतास्ते ह्यन्यसमयस्थिताः।**
आत्मस्वभावनिष्ठानां ध्रुवा स्वसमयस्थितिः ॥२६॥

—अध्यात्मोपनिषद्

२. **इति शुद्धनयायत्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि।**
अंशादिकल्पनाऽप्यस्य, नेष्टा यत्पूर्णवादिनः ॥३१॥
एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाऽऽशयो मतः ॥

—अध्यात्मसार

अनेक प्रकार जानते हैं। परन्तु वस्तु (आत्मा) तो मूल में एक ही है, ये सब उसके अलग-अलग रूप हैं। जब आत्मा के विषय में शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कोई बात करता है, तो आत्मा के विभिन्न पर्यायों और विकल्पों को गौण करके मुख्यतया एक शुद्ध निरंजन आत्मतत्त्व को ही देखता है। अगर कोई व्यक्ति एकान्त एक ही दृष्टि का आग्रह रख कर दूसरे का बिलकुल निषेध करता है, वहाँ यथार्थनय नहीं, नयाभास है, यह बात छह अन्धों के दृष्टान्त पर से समझ लेनी चाहिए। अन्धों ने हाथी कभी देखा नहीं था, अतः जिसके हाथ में कान आए, उसने झट कह दिया—हाथी सूप जैसा है, जिसके हाथ में सूंड आई, उसने दूसरे को झूठा कह कर कह दिया—हाथी मूसल जैसा है, तीसरे के हाथ में पेट आया, तो उसने कहा—"हाथी तो कोठी जैसा है। चौथे के हाथ में पैर आए तो वह बोला—हाथी तो स्तम्भ जैसा है। पांचवें के हाथ में हाथी के दांत आए तो उसने कहा—"हाथी भूंगले की तरह है, छठे के हाथ में पूंछ आई तो उसने कह दिया—हाथी तो रस्से जैसा है। इस प्रकार छहों अपने-अपने आग्रह पर दृढ़ थे, सभी दूसरों को झूठे व अपने को सच्चा बता रहे थे। इसी प्रकार जो एकान्तरूप से एक बात को ही पकड़ कर जिद्द ठान कर बैठ जाय, दूसरों को झूठा बताए, वह नयाभासी है, वह दूसरे का निषेध करता है। परन्तु जो पूर्णांश को बता कर एकरूप को गौण रखता है, अथवा एकरूप को बता कर अनेक पर्यायों को गौण रखता है, वह सापेक्षवादी यथार्थनयवादी है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय की उपयोगिता पात्र के भेद से अलग-अलग समझनी चाहिए।

इतनी बात स्पष्ट होने के बाद अब निश्चयनय और व्यवहार नय के लाभा-लाभ के विषय में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

व्यवहारे लख दोहिलो, कांई न आवे हाथ रे।
शुद्धनय-थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे॥
धरम०॥७॥

अर्थ

व्यवहारनय का आश्रय लेने पर लक्ष्यस्वरूप को प्राप्त करना अत्यन्त कठिन

हो जाता है, क्योंकि इसमें कुछ भी हाथ नहीं आता ; जबकि शुद्ध (निश्चय) नय की स्थापना (अभेदस्थापना) के सेवन करने से (आत्मसाक्षात्कार हो जाता है), किसी प्रकार की दुविधा (संशय) (कर्ममलरहित) आत्मा के साथ नहीं रहती ।

भाष्य

व्यवहारनय और निश्चयनय से लाभालाभ

पूर्वगाथा में व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों के पात्र कौन-कौन हैं तथा वे इनका उपयोग किस-किस तरह से करते हैं ? दोनों की अपने-अपने स्थान में गौण-मुख्यरूप से क्या उपयोगिता है ? यह द्योतित किया गया है, लेकिन दोनों नयों से क्या-क्या लाभ-अलाभ हैं ? इस जिज्ञासा का समाधान नहीं हुआ, वह इस गाथा द्वारा किया गया है ।

वस्तुतः गम्भीरता से सोचा जाय तो व्यवहारनय का अवलम्बन लेने पर साधक नाना पर्यायों और विकल्पों में इतना भटक और वहक जाता है कि मूल लक्ष्य छूट जाता है, साधक आत्मा के विविध पर्यायों के भंवरजाल में फँस कर आत्मा के अभेद-एकत्व को पाना ही भूल जाता है । न ही वह आत्मा को व्यवहारनय के द्वारा पूर्णरूप से साध पाता है । उसके पल्ले केवल ऊपर के छिलके ही हाथ आते हैं, आत्मारूपी फल का जो असली तत्त्व या सारभूत पदार्थ है, वह हाथ नहीं आता । इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे अध्यात्मयोगी को कहना पड़ा—"व्यवहारे लख दोहिलो" अर्थात् व्यवहारनय का आधार लेने पर लक्ष्य मिलना दुर्लभ हो जाता है । व्यवहारनय से शुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार व कर्मपरमाणु से रहित आत्मा की सिद्धि नहीं होती । व्यवहार से चाहे जितनी क्रियाएँ की जांय, चाहे जैसा वेश पहना जाय, चाहे जितने कर्मकाण्ड किये जांय, उससे आत्मलक्ष्य सिद्ध नहीं होता । कारण यह है कि व्यवहारदृष्टि में मन, वचन, काया के योगों की चपलता रहती है, और योग कर्मबन्ध का कारण है ; इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले आखिरकार अपने आप को केवल शारीरिक कष्ट में ही डालते हैं, क्योंकि उससे कर्मबन्ध सर्वथा समाप्त न होने से भले ही देवलोक आदि सुगति में मनुष्य गया, उनमें उसे अनेक सुखसुविधाएँ मिलीं, खूब ऐश-आराम मिला, लेकिन उससे जन्म-

मरण का चक्कर मिटा नहीं। केवल एक खड्डे में से निकल कर दूसरे खड्डे में पड़ने सरीखी बात हुई। यों तो व्यवहारचारित्रपालक साधक ने मेरुपर्वत जितने रजोहरण-मुखवस्त्रिका, पात्र आदि ढेरों अपना लिए, परन्तु उससे कोई वास्तविक लाभ—जन्ममरण से मुक्तिरूप फल नहीं मिला। इसीलिए कहा गया—"कांई न आवे हाथ रे" व्यवहारनय की दृष्टि से चाहे जितनी क्रिया की जाय, आत्मसाक्षात्कार नहीं होता, कुछ पल्ले नहीं पड़ता। अलवत्ता, उसे सांसारिक लाभ तो मिलता है, अच्छी गति और सुखसुविधाएँ मिल जाती हैं, पर उसे जो पारमार्थिक लाभ मिलना चाहिए, उसके अनुपात में तो यह लाभ बिलकुल नगण्य है। कोई भी दीर्घद्रष्टा मनुष्य ऐसे तुच्छ लाभ के लिए काम नहीं करता, वह तो किसी स्थायी लाभ के लिए ही प्रयास करता है। जैसे किसी मजदूर को सारे दिन मेहनत करने पर एक पैसा मिले, वैसे ही बात सारी जिंदगीभर बिना समझ के क्रिया करने की है। इस तरह तो एक नहीं, अनेकों जिंदगियाँ बीत जाँय, फिर भी कुछ वास्तविक लाभ नहीं होता। यही कारण है कि व्यवहार के आश्रय से लक्ष्य—शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार—प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। क्योंकि जब तक आत्मा के साथ कर्म का एक भी परमाणु होगा, तब तक आत्मा संसारी कहलाएगा, इस परमार्थ को लक्ष्य में रख कर कहा गया है,-'**व्यवहारे लख दोहिलो**'। निष्कर्ष यह है कि व्यवहार से द्विधाभाव मिटता नहीं, लक्ष्य—आत्मा का लक्ष्य पाना कठिन हो जाता है। जबकि शुद्धनय=निश्चयनय की स्थापना को स्वीकार करने पर किसी प्रकार की दुविधा नहीं रहती, आत्मदशा=स्वस्वरूप का सेवन करने से आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है, आत्मा कर्मपरमाणु से रहित हो कर सदा के लिए शुद्ध बन जाता है। द्वैतपन या भिन्नत्व जरा भी नहीं रहता, अद्वैत या एकत्व का अनुभव होता है। फिर यह सवाल नहीं रहता कि पौद्गलिक भाव और आत्मिक भाव दोनों में से किसको स्वीकार किया जाय? निश्चयनय के आश्रय से ही साधक मोक्ष के समीप हो सकता है।

इस गाथा के परमार्थ पर विचार करने वाले मुमुक्षुओं को आगम-प्रतिपादित धर्म-शुक्लध्यान पर विचार करना चाहिए। शुक्लध्यान के चतुर्थ भेद के विषय में कहा है—'**समुच्छिन्नक्रियानिवृत्तिः**' अर्थात् जब आत्मा केवल

आत्मस्वरूप के ध्यान में आरूढ़ हो जाता है, तब शरीर की श्वास-प्रश्वास क्रिया आदि सूक्ष्मक्रिया भी बंद हो जाती हैं। इस दशा को परम निर्विकल्प भी कहते हैं, क्योंकि इस दशा में कोई भी स्थूल, सूक्ष्म, कायिक, वाचिक या मानसिक क्रिया नहीं की जाती। इस आत्म-स्थिति को प्राप्त कर लेने के बाद उसका परिवर्तन नहीं होता। सम्भव है, इसी अर्थ का अनुसरण करते हुए इस गाथा में कहा गया है—'शुद्धनय-स्थापना सेवतां नवि रहे दुविधा साथ रे'

निष्कर्ष : दोनों का उपयोग

परन्तु साधक जब तक संसारी है, अथवा इतनी उच्चभूमिका तक नहीं पहुँचा है, वहां तक वह व्यवहार को बिलकुल फैंक नहीं देगा। उसे अपनाये विना कोई चारा ही नहीं है, परन्तु कोरे व्यवहार को पकड़ कर चलेगा तो उससे कोई लाभ नहीं है, जब साधक (छद्मस्थ) शुद्ध निश्चयनय को ले कर चलेगा तो उसे यह निर्णय करना पड़ेगा कि आत्मा का मोक्ष (कर्मबन्धन से छुटकारा) कैसे हो?, और उसी प्रकार का व्यवहार अपनाना पड़ेगा। **'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः'** इस सूत्र के अनुसार समझ-(ज्ञान) पूर्वक जो क्रिया मोक्षसाधक होगी, संसारपोषक नहीं होगी, उसे ही अपनाएगा। अन्यथा, बिना ज्ञान के केवल क्रियाएँ करने से संसार में जन्ममरण का चक्कर नहीं मिटेगा। मतलब यह है कि केवल व्यवहार की रक्षा के लिए चाहे जितनी क्रियाएं की जाएँ, उनसे वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। आत्मिक दृष्टि से यथार्थ एवं स्थायी लाभ नहीं होता। वह तो ज्ञानपूर्वक क्रिया की जाय, तभी मिलता है। अतः शुद्ध निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों का समन्वय करना चाहिए। इस प्रकार आत्मस्वरूप का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए निश्चयदृष्टि के साथ ज्ञानपूर्वक व्यवहार का संयोजन कर लेना चाहिए। पौद्गलिकभाव और आत्मिक भाव इन दोनों में अन्तर को ध्यान में रखते हुए निश्चयनय से सिर्फ आत्मिकभाव ही उपादेय समझना चाहिए; ताकि किसी प्रकार की दुविधा या गड़बड़ न रहे और अन्त में अपना कार्य सिद्ध हो। इस पर से श्रीआनन्दघनजी अन्त में प्रभु से शुद्ध निश्चयदृष्टि की प्रार्थना करते हैं—

एकपखी लख प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे।
कृपा करी ने राखजो, चरणतले ग्रही हाथ रे ॥धरम०॥८॥

अर्थ

हे जगन्नाथ प्रभो ! आपके साथ मेरी प्रीति का वर्तमान में लक्ष्य एक-पक्षीय (एकतरफी) है, व्यवहारनय तक है; अथवा आपके साथ मेरा प्रेम एक-तरफी है, इसे देख कर भी मुझ पर कृपा करके मेरा हाथ पकड़ कर आप अपने चरणकमल के नीचे रखना, अथवा आप अपने चरण (सामायिक आदि चारित्र-भाव) में पकड़ कर रखना, वहाँ से जरा भी खिसकने न देना।

भाष्य

परमात्मा के साथ एकपक्षीय प्रीति

श्री आनन्दघनजी पूर्वगाथा में निश्चयनय का लाभ समझने के बाद निश्चयनय के साक्षात्प्रतीक वीतराग प्रभु के साथ एकत्व साधना चाहते हैं, लेकिन अपनी निर्बलता को भी वे प्रकट कर देते हैं कि श्रीअरहनाथ प्रभो ! मेरी प्रीति तो आपके साथ एकतरफी है। उसका कारण यह है कि आपके और मेरे बीच में काफी अन्तर है। मैं निश्चयदृष्टि को मानता हुआ भी व्यवहारदृष्टि को मुख्यता देता हूँ, जबकि आप तो एकमात्र निश्चयनय के मूर्तिमान प्रतीक हैं, व्यवहार से बिलकुल दूर, अतिदूर ! इसलिए आपकी और मेरी प्रीति कैसे टिकेगी ? **'समानशीलव्यसनेषु सख्यम्'** इस नीतिसूत्र के अनुसार आपकी और मेरी मैत्री या प्रीति टिकनी कठिन है। क्योंकि समान शील और समान स्वभाव वालों में आपस में मैत्रीभाव शोभा देता है, और मैं अपनी बात आप से क्या कहूँ ? आप तो जानते ही है कि मैं अभी तक रागी-द्वेषी हूँ, आप वीतराग, द्वेषरहित हैं। मैं हास्य-रति आदि में फँसा हुआ हूँ, आप इनसे बिलकुल रहित हैं, मैं वेदी हूँ, आप निर्वेद हैं, ऐसी परस्परविरुद्ध मेरी आपके प्रति प्रीति है। इनके बावजूद भी मैं आपके प्रति चाहे जितना प्रेम करूँ, फिर भी वह एकपक्षीय है, क्योंकि आप तो राग-द्वेषरहित होने के कारण किसी के प्रति प्रेम करते नहीं, इस दृष्टि से भी आपके प्रति मेरी प्रीति एक-पक्षीय है, मैं व्यवहारदृष्टि से आपके व मेरे बीच में कई पर्यायों व विकल्पों का फासला देख रहा हूँ. परन्तु आप चाहे जितने बड़े जगत् के नाथ हों, निश्चयनयदृष्टि से तो मैं भी आपके जैसा ही हूँ, शुद्ध-बुद्ध हूँ। इसलिए आप मेरी एक प्रार्थना अवश्य स्वीकार करना—"हे जगन्नाथ (अरहनाथ) भगवन् ! आप जगत् के प्राणिमात्र के हितकर्त्ता हैं, सबका क्षेम-कुशल करने वाले हैं,

आपका धर्म, आपका स्वरूप आदरणीय है, क्योंकि निर्दोष और परम उदार स्वामी का शरण किसे प्रिय न होगा ? मैं सद्गुरु की कृपा से स्वसमय-परसमय का एवं परमात्मा के धर्म का सत्तत्व समझा हूँ। इसीलिए मैं आपके साथ प्रीति करता हूँ। यद्यपि मेरी प्रीति एकपक्षीय है, तथापि मुझे विश्वास है कि मैं आपके आदर्श का सेवन कर रहा हूँ, वह वारबार मुझे मिला करे, इस प्रकार की कृपा करना। **'मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुह्म चलणाणं'** —आपके चरणों की सेवा मुझे भव-भव मिला करे। निश्चयदृष्टि से मैं आपके जैसा शुद्ध आत्मा हूँ, इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूँ कि आप मेरा हाथ पकड़ कर मुझे अपने चरण-कमलों की सेवा अवश्य दे, मेरे जीवन को अपने चरणों (चारित्रगुणों) में लगाए रखें। मैंने जब आपको आदर्श, आपके परमधर्म का स्वीकार किया है, और आपके आदर्श के अनुरूप होने का निश्चय किया है। मैं अभी तक सिद्धदशा में नहीं आया, साधकदशा में ही हूँ। अतः उससे मेरा पतन न हो, इसलिए आप मेरा हाथ पकड़ कर अपने चरणों में रखने की कृपा करें, ताकि भविष्य में मैं परमार्थ प्राप्त कर सकूँ। अगर आप सरीखे समर्थ पुरुष मेरा हाथ पकड़ेंगे और आपकी चरणसेवा का लाभ मिला करेगा, तो जो इस समय मेरी एकपक्षीय प्रीति या सेवा है, उसका लाभ मुझे जरूर मिलेगा और सभी कार्य सिद्ध हो जायेंगे।

परमात्मा के प्रति एकपक्षीय प्रीति क्यों ?

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि जब परमात्मा किसी से प्रीति नहीं करना चाहते, तब एकपक्षीय प्रीति करने से क्या लाभ है ? इसका समाधान यों किया जा सकता है कि वर्तमान में साधक भले ही रागद्वेषादि से लिपटा है, लेकिन अगर वह दोषी वृत्ति वालों के साथ ही प्रीति करता रहेगा तो उसके दुःखों का कभी अन्त ही नहीं आएगा। उसके विभावभाव में परिवर्तन नहीं होगा, न कभी स्वभावभाव का अनुभव होगा और न आत्मानन्द का ही। काम, क्रोधी, लोभी, रागी और द्वेषी देवादि के साथ तो इस जीव ने अनन्तवार प्रीति की है, उन्हें अपने स्वामी माने, लेकिन इससे उसका दुःख बढ़ता ही गया, जन्ममरण कम न हुआ। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी पहले अपने आपकी असलियत को स्पष्ट कर देते हैं—

'एकपखी लख प्रीतनी तुम साथे जगनाथ रे'। अर्थात् यद्यपि आप वीतराग हैं, मैं रागद्वेषवान हूँ, तथापि एक वस्तु अवश्य विचारणीय है कि मैं आपके साथ जो प्रीति कर रहा हूँ, एकपक्षीय होते हुए भी उसे कृपा करके आपको निभानी है। क्योंकि भक्त के हृदय में जब भावभक्ति जागृत हो जाती है, तब भगवान् स्वयं भक्त का हाथ पकड़ कर अपने चरणकमल में रख लेते हैं। और आपके चरणकमल में रहने वाले में रागद्वेष की वृत्तियाँ रहेगी ही कहाँ? वे दुर्वृत्तियाँ तो अपने-आप भाग जाएँगी। राग-द्वेष या तो रागी-द्वेषी की सोहबत से बढ़ते हैं या राग-द्वेष के कार्यों से बढ़ते हैं। आपके पास तो रागद्वेष का अंश भी नहीं है, और रागद्वेष बढ़ाने वाला कोई पदार्थ भी नहीं, आप तो परम वीतरागी हैं, तब रागद्वेष बढ़ेगा ही कैसे? आपके पास तो सिर्फ आत्मानन्द है। भक्त जब बारबार इसी का लक्ष्य रख कर आपके चरण (सामायिकादि चारित्र) का सेवन करेगा तो वह अवश्य ही आपके जैसा बन जाएगा। इसलिए मैं अन्तःकरणपूर्वक आपके साथ प्रीति करने की भावना प्रगट कर रहा हूँ। अतः हे जगत्पति! आप मुझे हाथ पकड़ कर अपने चरणकमलों में रख लें, मैं इससे अवश्य ही कृतकृत्य हो उठूँगा। इसलिए एकपक्षीय प्रेम होते हुए भी निश्चय-नय की दृष्टि से शुद्धात्मा का शुद्ध आत्मा के साथ प्रेम है, और वह उचित भी है, वही अन्ततोगत्वा, मेरा कार्य सिद्ध कर सकेगा।"

अन्तिम गाथा में श्री आनन्दघनजी परमात्मा का व्यवहारिक रूप कैसा है? इसे बताते हुए उनके परम धर्म के सेवन का फल बताते हैं—

चक्री धरमतीरथतणो, तीरथ फल ततसार रे।
तीरथ सेवे ते लहे, 'आनन्दघन' निरधार रे॥ धरम॥०८॥

अर्थ

आप तो धर्मतीर्थ के बड़े चक्रवर्ती हैं। आपके तीर्थ का सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्षफल या फल तो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के साररूप अनन्त-चतुष्टय या आत्म-स्वरूप की प्राप्ति है। ऐसे सच्चे तीर्थ की कोई भक्तिभाव से सेवा करता है, वह आनन्दघनरूप (आत्मानन्द-समूहरूप) निर्वाणपद को अवश्य ही प्राप्त करेगा।

भाष्य

वीतरागप्रभु के धर्म की प्राप्ति कैसे और क्यों?

पूर्वगाथाओं में वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथ के परमधर्म की प्राप्ति की

जिज्ञासा के सन्दर्भ में स्वसमय-परसमय, द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिक व निश्चयव्यवहार की बातें समझाई थीं। अतः उसी सन्दर्भ में यहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष में वीतरागप्रभु के धर्म का दर्शन और उसके स्वीकार का फल बताया गया है। वास्तव में परमात्मा का धर्म निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे सकता, निश्चयदृष्टि से तो अमूर्त एकत्वस्वरूप अखण्ड अरूपी आत्मा का केवल कथन हो सकता है, या आत्मस्वरूपरमण की बात कही जा सकती है। उसका आचरण तो व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है। हां तो, इसी दृष्टिकोण से यहाँ परमात्मा के तीर्थकररूप का वर्णन किया गया कि 'चक्री धरमतीरथतणो।' वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथजी सिद्ध हो गए, तब तो उनके परमधर्म को कोई जान नहीं सकता, सिद्धत्वदशा प्राप्त किए बिना, उस आदर्श के सम्बन्ध में यथार्थ कल्पना तो हो सकती है, अनुमान एवं आगम प्रमाण से भी वे जाने जा सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्षरूप में नहीं। प्रत्यक्ष साकार एवं सदेहरूप में भगवान् को जानने के लिए उनका तीर्थकर या उससे पहले का रूप जानना-देखना आवश्यक है। तीर्थंकर पद से पहले का उनका गृहस्थ-जीवन या चक्रवर्तीजीवन खास प्रेरणादायक या धर्म के आदर्शरूप में प्रायः अनुकरणीय नहीं होता। इसी हेतु से यहाँ [1] धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती के रूप में भगवान् का निरूपण किया है। यद्यपि दीक्षा लेने से पहले श्रीअरहनाथ प्रभु चक्रवर्ती (राजराजेश्वर) थे, किन्तु उसका इतना मूल्य नहीं, जितना धर्मचक्र-वर्ती का मूल्य है। आप स्वसमयरूप परमधर्म की प्राप्ति जगत् के भव्यजीवों को कराने और उन्हें संसारसागर से पार उतार कर मोक्षप्राप्ति कराने के लिए धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती बने। धर्मतीर्थ एक ऐसा तीर्थ है, जो जीव को नर-कादि दुर्गति से बचा कर सद्-गति प्राप्त कराता है, अथवा जन्म, जरा, व्याधि और मरणरूप भय से सर्वथा मुक्त करके अजर-अमर सिद्धत्व (मोक्ष) पद को प्राप्त कराता है। धर्मतीर्थ का मतलब ही होता है—जो तारे, सामने वाले किनारे जाने का रास्ता बताए, वह तीर्थ कहलाता है। भगवान् ने सभी भव्य-जीवों को संसारसमुद्र से तारने के लिए १ धर्मतीर्थ (धर्ममय संघ) की स्था-पना की। धर्म का आसानी से आचरण कर सकने के लिए उसे संघबद्ध किया।

---

१ — 'धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टी'- नमोत्थुणं-शक्रस्तव

साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चारों धर्माचरण करने वाले साधकों के संघ (समूह) को धर्मतीर्थ माना गया। नदी या तालाब आदि पर बंधे हुए घाट को भी तीर्थ कहते हैं। घाट बंध जाने पर प्रत्येक व्यक्ति नदी या तालाब के पानी का आसानी से उपयोग कर सकता है, उसमें तैर भी सकता है। उसी प्रकार धर्म का घाट तीर्थंकर द्वारा बांध दिये जाने पर उस धर्मतीर्थ के के माध्यम से प्रत्येक भव्यजीव धर्मरूपी जल का आसानी से सेवन, आचरण और उपयोग कर सकता है और उस परमधर्म के द्वारा तैर भी सकता है इसीलिए आपने केवल अपना ही आत्म-कल्याण नहीं किया, केवल स्वयं ही नहीं तिरे, जगत् के जिज्ञासु भव्यजीवों का भी इस धर्मतीर्थ की स्थापना करके कल्याण किया और उन्हें भी संसारसागर से तारा। इसी प्रकार भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। धर्मचक्र में सूर्य के चक्र से दसगुनी भव्यता होती है, तीर्थंकर भगवान् के मुक्ति पधारने के बाद भी उनका धर्मचक्र संसार के लिए आदर्श होता है वह धर्मचक्र अपनी शरण में आने वालों की चारों गतियों का अन्त कर देता है।

धर्मतीर्थ के आश्रय का फल

प्रभो ! आपके तीर्थ के अस्तित्व का फल जगत में सारभूतरूप उत्तमतत्व का प्राप्त होना है अथवा तीर्थ का आश्रय करने का फल सारभूत तत्वों का बोध होना है। जीव, अजीव आदि नौ तत्वों का ज्ञान और उनमें से हेय और उपेक्ष्य का त्याग, और उपादेय और ज्ञेय का स्वीकार, तथा उपादेय एवं ज्ञेय तत्वों पर श्रद्धा रखना, यही तीर्थ प्राप्त करने का उत्तम फल है। और परम्परागत फल संसार-सागर के पार हो कर मोक्ष प्राप्त करना है साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ का आप जैसे महापुरुष भी 'नमो तित्थस्स' कह कर नमस्कार करते हैं, ऐसे तीर्थ को मैंने प्राप्त किया है, इसे नमस्कार करके उसकी सेवा कर सकूं, यही मेरा अहोभाग्य होगा। ऐसे तीर्थ का स्वीकार करने के बाद तो आपश्री को मैं अपने आदर्श नाथ (स्वामी) के रूप में स्वीकार करूं, उसका अनुसरण करूं और आपके परमधर्म को प्राप्त करके आत्मा-

---

१. 'धम्मतित्थयरे जिणे'-लोगस्ससूत्र १

नन्दघन प्राप्त करूँ, यही मेरी जिज्ञासा है। और मेरा निश्चय है कि मैं अवश्य आनन्दघनमय मोक्षपद या आत्मानन्दमय सिद्धपद प्राप्त करूँगा।

इस गाथा में एक बात स्पष्ट ध्वनित कर दी गई है कि जहाँ तक सर्वोच्च भूमिका प्राप्त न हो जाय, वहाँ तक व्यवहार-दृष्टि से तीर्थ का आलम्बन लेना और तीर्थसेवा करना मुख्य आधार है। तीर्थ-निरपेक्षरूप में बाहुबलिमुनि की तरह चाहे जितनी साधना की जाए, फिर भी तत्व प्राप्त नहीं होता। प्रत्युत कई बार तो विपरीत भाव या तीर्थ या तीर्थकरों अथवा महापुरुषों या साधकों के प्रति घृणाभाव पैदा हो जाने से मिथ्यात्वमोहनीय कर्म का बन्ध हो जाता हैं। स्वयं तीर्थंकर भगवान् भी अपने कल्प का अनुसरण करते हुए तीर्थसापेक्ष होकर प्रवृत्ति करते हैं। सभी भूमिका वाले साधकों के लिए जैनशासन में तीर्थ का आलम्बन लेना आवश्यक होता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी जैसे उच्च आध्यात्मिक साधकों ने अपना नया मत, पंथ या सम्प्रदाय नहीं चलाया, बल्कि अन्त तक तीर्थ (संघ) का ही आश्रय लिया, तीर्थपति के ही चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करके अपनी साधना का विकास किया। इससे फलित होता है कि साधकों को सर्वोच्च भूमिका पर पहुँचने से पहले तक निश्चयदृष्टि को आंखों से जरा भी ओझल नहीं होने देना चाहिए, साथ ही व्यवहारदृष्टि को भी सर्वथा नहीं छोड़ना चाहिए।

निश्चयनय और व्यवहारनय से सिद्ध आत्मधर्मों का विचार दो तरह से करना चाहिए —एक तो ज्ञानदृष्टि से, दूसरा चारित्रदृष्टि। से ज्ञानदृष्टि वस्तु का सिर्फ ज्ञान कराने में मुख्य होती है, जबकि चारित्रदृष्टि आचरण-प्रधान होती है। किसी जीव के कितने ही कर्म ज्ञानबल से टूटने योग्य होते हैं, जबकि कितने ही कर्म आचरण करने से, तपस्यादि करने से टूटने योग्य होते हैं। अतः ऐसे कर्मों को तोड़ने के लिए आचरण करना पड़ता है। और वह क्रमशः ही हो सकता है। प्राथमिक क्रम व्यवहारनयसिद्ध आचरण का आता है, और फिर निश्चयनयसिद्ध आचरण का आता है। इसमें धर्मध्यान और शुक्लध्यान-निर्विकल्प (असंग) ध्यान में समताभाव की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए चिदानन्दमय आत्मा के अनुभव आदि का समावेश होता है। उस स्थिति में व्यवहारनय की क्रिया छोड़नी होती है, जिसे धर्मसंयागसामर्थ्ययोग कहते हैं और वह ८ वें अपूर्वकरण नामक गुणस्थान से ही प्राप्त हो जाता है।

इससे यह स्पष्ट समझ लेना चाहिए कि कोई भी जीव व्यवहारमार्ग में क्रमशः ही आगे बढ़ सकता है। किसी जीव की अनादिकालीन तथाभव्यता ऐसी होती है कि व्यवहारनयसिद्ध मार्ग में उसे बहुत ही कम चलना पड़ता है, वह सीधा निश्चयनयसिद्ध मार्ग पर चढ़ जा सकता है और तुरन्त मोक्ष में चला जाता है। जैसे—मरुदेवी माता। भरतचक्री आदि ने तो पूर्वभव में सर्वविरतिचारित्र की आराधना की हुई थी, इसलिए वे तो व्यवहारमार्ग से गुजरते-गुजरते ही निश्चय-सिद्ध आचरण के मार्ग पर आ कर केवलज्ञान प्राप्त कर सके हैं। मगर बीच की भूमिकाएँ पार किये बिना सीधे निश्चयनय की भूमिका पर आरूढ़ होने वाले जीव बहुत ही थोड़े होते हैं। अधिकसंख्यक जीवों की तथाभव्यता क्रमशः चढ़ाने की होती है, इसलिए अपुनर्बन्धकभाव की अवस्था से ले कर ठेठ सर्वविरति-अवस्था तक में चलने वाले बहुत जीव होते हैं। प्रत्येक ग्राहक प्रत्येक किस्म के माल को नहीं खरीदता, परन्तु दूकानदार को तो सभी किस्म का माल रखना पड़ता है। इसी प्रकार धर्म-(शासन) तीर्थ को भी भिन्नभिन्न कोटि के धर्मनिष्ठ जीवों को लक्ष्य में रख कर आत्म-विकास के छोटे-बड़े तमाम साधनों का प्रचार और सुविधा जुटानी पड़ती है।

इसीलिए जिनशासन में व्यवहार और निश्चय दोनों नयों की दृष्टि से पहले से ले कर चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों को स्थान है। गौतमादि गणधर भी संघशासन के अनुशासन में रहते थे। जो व्यक्ति नीची भूमिका का हो, उसे का निश्चयनय की ऊँची भूमिका की बात कह कर हटाना ठीक नहीं और न निश्चय की उच्चभूमिका की योग्यता हो, उसे नीची भूमिका पर आना है। परन्तु उच्चभूमिका वाले में नीची भूमिका वाले जितनी चारित्र की मात्रा (नैतिक भूमिका) तो होनी ही चाहिए। किन्तु नीची भूमिका वाले उच्च-भूमिका के अयोग्य व्यक्ति में बुद्धिभेद पैदा करके इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः करना बिलकुल अनुचित है, पाप है। यही निश्चय और व्यवहार का रहस्य है।

सारांश

इस प्रकार इस स्तुति में निश्चय और व्यवहार दोनों नयों की दृष्टि से परमात्मा के परमधर्म की जिज्ञासा प्रकट की है। परन्तु आगे चल कर यह बताया गया है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मानुभव एक वस्तु है, इसी आत्मा के अनन्त

पर्याय हैं। पर्यायदृष्टि से अनेक रूप धारण करते हुए भी आत्मा तो सोने की तरह एक ही है। अतः जैसे सोने के विविध गुण और पर्याय सोने से अलग नहीं हैं, उसी में समा जाते हैं, वैसे ही आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि गुण या देव-मनुष्यादि पर्याय आत्मा से अलग नहीं हैं, उसी में समा जाते हैं। अतः निष्कर्ष यह है कि आत्मा को द्रव्यदृष्टि से एक और नित्यरूप में देखने और निजस्वरूप सिद्ध करने का यह सब प्रयास है। इसी प्रकार पर्यायदृष्टि (व्यवहार-नय) को छोड़ कर द्रव्यदृष्टि से देखने का भी मुख्य संकेत यहाँ किया गया है। जहाँ तक पर्यायदृष्टि नहीं छूटेगी, वहाँ तक संसार-परिभ्रमण है, व्यर्थ प्रयास है। अतः निश्चयदृष्टि से आत्मा को अनन्त, नित्य, अव्याबाध, रत्नत्रयमय जान कर ही निर्विकल्प रस पीने पर आनन्दघनपद की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय को मद्देनजर रखते हुए ज्ञानपूर्वक जो व्यवहार हो, तीर्थसेवा हो, उसमें पीछे नहीं रहना चाहिए, तभी वीतराग-परमात्मा का परम धर्म हस्तगत हो सकता है।

१९: श्रीमल्लिनाथ जिन-स्तुति—

दोषरहित परमात्मा को सेवकों के प्रति उपेक्षा

(तर्ज—काफी, सेवक किम अवगणीए,देशी)

सेवक किम अवगणिये हो, मल्लिजिन ! ए अब शोभा सारी।
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारी, हो॥
मल्लि० ॥ १॥

अर्थ

हे मल्लिनाथ तीर्थंकर प्रभो ! आप (आपकी आत्मा की अनादिकाल से सेवा करने वाले) इन सेवकों (काम, क्रोध, रागद्वेषादि) की अवगणना (उपेक्षा) क्यों कर रहे हैं ? दूसरे जीव जिन काम-क्रोधादि) को बहुत ही आदर देते हैं, उन्हें आप तो जड़मूल से नष्ट कर रहे हैं ! क्या इस समय यह सब आपके लिए शोभास्पद है ? (व्यंग में)

भाष्य

मधुर उपालम्भ

पूर्वस्तुति में वीतराग परमात्मा के परम धर्म की जिज्ञासा की बात थी, इसमें वीतराग परमात्मा की उन सेवकों के प्रति उपेक्षा के लिए श्रीआनन्दघनजी भक्ति के आवेश में आ कर मधुर उपालम्भ देते हैं कि आप तो वीतराग हो गए, जो लोग आपके स्वसमय या स्वधर्म के अन्तर्गत आ गए, उनके प्रति तो आपका कुछ लगाव प्रत्यक्ष नहीं तो, परोक्षरूप से है ही, वे लोग तो आपको अपना ही मानते हैं, इसलिए उन्हें आपके द्वारा नहीं तो, आपके भक्त कहलाने वाले लोगों द्वारा आदर-सत्कार मिलता है; लेकिन जो लोग आपके स्वधर्म या स्वसमय के अन्तर्गत नहीं आए, उनके प्रति आपका भी उपेक्षाभाव है और आपकी देखा देखी आपके भक्तों और अनुयायियों का भी उपेक्षाभाव है ! अतः हे रागद्वेष-रहित प्रभो ! आपको न तो किसी के प्रति जरा-सा भी राग (लगाव) होना चाहिए और न किसी के प्रति उपेक्षा या घृणा (द्वेष) का भाव ! आपको तो समभाव होना चाहिए। परन्तु मैं मानता हूँ कि आपको वीतराग हो जाने के बाद न तो भक्तों के प्रति राग है और न अभक्तों के प्रति द्वेष, मगर वे लोग या हम लोग आपकी तटस्थता और उदासीनतारूप समता को देख कर यह

अनुमान लगा लेते हैं कि आप बिल्कुल चुप हैं या बिल्कुल संकेतरहित हैं, इसलिए आपका उन सेवकों के प्रति वर्तमान में उपेक्षाभाव है, जिन्होंने लाखों-करोड़ों वर्षों तक आपकी सेवा की थी, आपकी सेवामें वे रात-दिन रह रहे थे, आपको एक क्षण भी अकेला नहीं छोड़ते थे। मेरा संकेत उन सेवकों के प्रति है, जिनसे आपने अब एकदम मुख मोड़ लिया है? आप बड़े आदमी हैं, महान् पुरुष हैं, क्या आपके लिए अपने सेवकों को एकदम छिटका देना, और अपने भक्तों को भी उनके प्रति तिरस्कार करने की प्रेरणा करना शोभास्पद है। जो (रागद्वेषादि) आपके अत्यन्त निकटवर्ती थे, उन्हें बिलकुल दूर ठेल देना और जो आपसे दूर-दूर रहते थे, उन्हें अपने नजदीक ले लेना, उनसे आत्मीयता स्थापित करना, क्या आप जैसों के लिए न्यायोचित है? माना कि आप महापुरुष हो गए और वे बेचारे एकदम नीची कोटि के रह गए, पर उन्हें ठुकराना तो नहीं चाहिए था, उन्हें उचित स्थान तो आपको देना ही चाहिए था? परन्तु आपने उन्हें उचित स्थान देना तो दूर रहा, उन्हें अपने पास भी नहीं फटकने दिया, आपने तो उनकी जड़ें ही काट दीं, उन्हें अपने पास से हटा दिया सो हटाया ही, अपने भक्तों को भी हिदायत दे दी कि वे भी उन्हें किसी प्रकार की तरजीह न दें, किसी प्रकार से अपनाएँ नहीं, जो उन्हें अपनाएगा, वह मेरे तीर्थ या धर्मचक्र का अनुयायी नहीं रह सकेगा, रहेगा तो भी उसका स्थान और दर्जा नीचा होगा। आप जानते ही हैं कि जो सेवक बेदिल हो जाता है, वह दुश्मन का-सा काम करता है, आपके वे पुराने तथाकथित सेवक अब आपके शत्रु बन गए और आपके भक्तों या अनुयायियों को सता रहे हैं, आपके साथ वैर का बदला उनसे ले रहे है।

एक बात और है, आपने जिन सेवकों को उपेक्षित समझ कर निकाल दिया, उन्हें दूसरे सांसारिक जीव या मिथ्यादृष्टि देव बहुत ही आदरसम्मान देते हैं, मगर आपने तो उन्हें जड़मूल से नष्ट कर दिया और कह दिया—'तुम्हें कहीं स्थान नहीं मिलेगा।, क्या वर्तमान में आपके ऐसा करने से आपकी सुन्दर शोभा होती है? अथवा वर्तमान स्थिति में उनके प्रति ऐसा करने में ही आपकी सारी शोभा है? पहले उन्हें आदर देने में ही आपकी सुशोभा थी, अब उन्हें सर्वथा छुट्टी दे देने में ही आपकी सारी शोभा है? यह सच है कि पुराने से पुराने सेवक होते हुए भी यदि वे अपना अहित करते हों,

गुनहगार साबित हों, उन्हें अपनाने से दोषरूप परिणाम ही आता हो तो उन्हें निकाल देने में सच्ची शोभा है। **'सेवक किम अवगणीए'** के बदले यहाँ **'सेवक किम अव गणीए'** यों पाठ हो तो उसका अर्थ संगत हो जाता है कि दोषी सिद्ध हो जाने के बाद अब सेवक कैसे गिना (समझा) जा सकता है?

अथवा इस गाथा का एक और पहलू से भी अर्थ किया जाता है—हे मल्लिनाथ भगवान् ! मैं आपका सेवक हूँ। आप मेरे स्वामी हैं, फिर भी आप मेरे प्रति उपेक्षा क्यों करते हैं? आप जैसे सुज्ञ पुरुष मुझ सरीखे सेवा करने वाले की अवगणना क्यों करते हैं? क्या इसमें आपकी कुछ शोभा या महत्ता बढ़ जाती है? मैं जानता हूँ कि आप महान् विजेता हैं, क्योंकि आपने संसार के सभी दुःखों को देने वाले राग-द्वेषादि शत्रुओं को जीत लिए हैं और उन राग-द्वेषादि के नीचे दबी हुई अपनी अनन्त चतुष्टयरूपी लक्ष्मी को प्राप्त कर ली। आपकी इस प्रकार की शोभास्पद एवं सर्वोच्च होते हुए भी आप मेरे सरीखे एक सेवक की अवगणना करें, उपेक्षा करें, क्या आपके लिए यह शोभारूप है? यह तो सर्वविदित है कि स्वामी को जब विशेष लाभ या जय मिलता है तो सेवक को कुछ इनाम मिलता है; परन्तु आप तो सेवक की अवगणना (तिरस्कार) कर रहे हैं?

इस गाथा के प्रारम्भ में **'सेवक किम अवगणीए'**, के बदले जब **'सेवक किम अव गणीए'** पढ़ते हैं तो इसका समाधान हो जाता है, शायद श्रीआनन्दघनजी उसी बात को हृदय में रख कर कहते हों कि 'भगवन् ! आप ऐसे सेवक को कब सेवक गिन (समझ) सकते हैं, जो आपके शत्रुओं को अपनाता हो, आदर देता हो? आपके प्रति भक्तिभावना से मुझे अपनी एक भूल नजर आती है कि आपने जब अनन्तकाल के साथी वैभाविक गुणों—राग-द्वेष, काम, क्रोध, तृष्णा आदि को निर्मूल कर दिया है, उन्हीं राग-द्वेषादि को मैंने अपना रखे हैं, उन्हें मेरे जैसे अनेक जीवों ने आदर दे रखा है, दे रहे हैं, तब उस नामधारी तथाकथित सेवक (मेरे जैसे सेवक) को आप कैसे आदर दे सकते है? जहाँ तक अज्ञानी जीव में इन दुर्गुणों के साथ मेल रहे, वहाँ तक आप सरीखे पूर्ण गुणी के साथ उनका मेल कैसे बैठ सकता है?

इस प्रकार भक्ति के आवेश में श्रीआनन्दघनजी द्वारा वीतरागप्रभु

को मधुर उपालम्भ पहले लाखों करोड़ों वर्ष पुराने राग-द्वेषादि तथाकथित सेवकों को ले कर, और दूसरे अर्थ की दृष्टि से स्वयं को ले कर दिया गया उसका वे स्वयमेव समाधान पा लेते हैं।

वास्तव में तीर्थंकर मल्लिनाथ सम्यग्दृष्टि बनने से पहले राग-द्वेषादि को अपने आत्मीय मानते थे, बाद में समझ आने पर एक मल्ल (पहलवान) की तरह आत्मा का अहित करने वाले, की-कराई साधना को चौपट करने और चारगतियों में भटकाने वाले उन रागद्वेषादि को शत्रु-सा कार्य करने वाले समझ कर उनसे भिड़ पड़े और उन्हें बिलकुल पछाड़ दिया, जड़मूल से उखाड़ कर फेंक दिया। उन पुराने तथाकथित सेवकों के उन अपराधों-दोषों को देख कर वीतराग भगवान् उनकी सेवकों में गणना कैसे कर सकते थे? उन्होंने अवगणना की और अपने तीर्थ के अनुयायियों को भी उनसे सावधान रहने का निर्देश किया। उनका यह कार्य शोभास्पद ही है।

इसीलिए उन पुराने तथाकथित १८ सेवकों (वैभाविक गुणों और आत्मा के अहित करने वाले दोषों) को चुन-चुन कर वीतराग प्रभु ने फैंक दिये, उनके पैर उखाड़ दिये, अपने पास तक नहीं फटकने दिये।

भगवान् ने उन अठारह दोषों को किस प्रकार, किस क्रम से और कैसे निकाल दिये? उनके निकालने पर क्या प्रतिक्रिया हुई? इसका विवरण श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति में दिया है।

सर्वप्रथम आशा-तृष्णा का त्याग

श्री आनन्दघनजी ने 'अवर जेहने आदर अति दीए, तेने मूल निवारी' इस पद में यह वीतराग परमात्मा के द्वारा आशा-तृष्णा-त्याग का भाव द्योतित कर दिया है। दूसरे (छद्मस्थ) लोग जिस आशा (तृष्णा) को अत्यन्त आदर-सत्कार देते हैं, उसे आपने मूल से ही रोक दी, अपने पास तक फटकने नहीं दी। आपको किसी भी सांसारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति आशा, स्पृहा या तृष्णा-लालसा नहीं रही। यहाँ तक कि आपने मुक्ति तक की आशा छोड़ दी थी। वीतरागप्रभु के जिन १८ दोषों का त्याग इस स्तुति में बताया गया है, उनमें आशा का त्याग सर्वप्रथम दोष का त्याग है। पराई आशा हमेशा निराशा में परिणत हो जाती है। हममें जो कुछ सत्त्व हो, उसी

से पूरा-पूरा जी-तोड़ पुरुषार्थ करके काम लेना चाहिए, परन्तु दूसरा मेरा काम कर देगा, यह सोचना ही गलत है। इसी कारण वीतरागप्रभु ने आशा-दासी का जड़मूल से त्याग कर दिया, वह यहाँ तक कि जब वे १२ वें गुण-स्थानक पर चढ़े, तब तो आपने मोक्ष की आशा भी छोड़ दी। इस प्रकार आप मूल से आशा के त्यागी हैं, इस पर जब मैं सोचता हूँ और अपनी ओर या दुनिया की ओर देखता हूँ तो मुझे आप से एक प्रश्न पूछने का विचार हो उठता है कि आप इस सेवक की अवगणना क्यों करते हैं? कहाँ तो आपका आशा-त्याग का गुण और कहाँ लोगों की आशा? इन दोनों का मेल कहाँ? इसलिए आशा पर आपकी विजय मुझे आश्चर्य-चकित कर देती है कि आपकी शोभा मेरे जैसे नम्र सेवक का त्याग करने में नहीं, किन्तु उसे अपने बराबर बनाने में है। अतः श्रीआनन्दघनजी प्रभु से अपने हृदय की बात निवेदन करके चुप हो जाते है और आगे किन दोषों (तथाकथित सेवकों) का कैसे-कैसे त्याग किया यह बताने में लग जाते हैं—

ज्ञानस्वरूप अनादि तमारूं ते लीधुं तमे ताणी।
जुओ अज्ञानदशा रिसावी, जातां काण न आणी, हो ॥मल्लि०॥२॥

अर्थ

प्रभो! आपका अनादिकाल से ज्ञानमय (ज्ञानचेतना) स्वरूप था। (परन्तु अज्ञानदशा के कारण वह दबा हुआ था) उसे अपने केवलज्ञान प्राप्त करके खींच लिया (ऊपर ले लिया]। उसके कारण, देखिये, जो आपकी अज्ञान-दशा [अज्ञानपन में जो अवस्था] थी, उसे आपने इतना अधिक रुष्ट (क्रुद्ध) कर दिया कि वह रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर आपने उसके जाने का कोई अफसोस [शोक[नहीं किया। वास्तव में सर्वज्ञता प्राप्त होते ही आपकी अज्ञानदशा का चले जाना, पूरा शोभारूप था।

भाष्य

अज्ञानरूप दोष का त्याग

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा में बताते हैं कि प्रभु दूसरे दोष—अज्ञानदशा का त्याग किस तरह करते हैं और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है? प्रभु ने जब यह देखा कि यह 'अज्ञान' मेरे साथ बहुत-बहुत समय से लगा हुआ है और

इसी कारण मैं जीवादि तत्वों के यथार्थ बोध नहीं कर पाता। अतः उन्होंने अज्ञानदोष को, दूर करने का प्रयत्न किया।

वास्तव में आत्मा के साथ लगा हुआ यह अज्ञानदोष अनादिकालीन है। उसके रहते आत्मा क्या है? शरीर क्या है? ये सुख-दुःख किन कारणों से आते हैं? प्राणी शरीर के कारण, कुटुम्ब के दुःख को देख कर दुःखी होता है; सुगुरु, सुदेव और सुधर्म को क्रमशः कुगुरु, कुदेव और कुधर्म मान कर तथा पाँचों इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध हो कर दुःख पाता है। धन, कुटुम्ब आदि जो पर-वस्तुएँ हैं, उन्हें अपनी मान कर दुःख पाता है; वह कर्म क्या हैं, वे क्यों और कैसे उदय में आते हैं? उन्हें कैसे काटा जा सकता है? प्राणी इन सब बातों के अज्ञानवश अनेक बुरे (पाप] कर्म करते हैं, षट्द्रव्य को न पहिचानने के कारण स्वपर का भेदज्ञान नहीं हो पाता। इस प्रकार अज्ञान-दशा से ग्रस्त जीव अनादिकाल से संसार में परिभ्रमण करता आ रहा है। इस अज्ञानदशा का सर्वथा त्याग करके ज्ञानगुण का स्वीकार करना बहुत ही महत्वपूर्ण बात है। ज्ञान से लोकालोक प्रगट हो जाता है, और जो विचार केवलज्ञानी प्रगट कर सकता है, वही श्रुतज्ञान से श्रुतज्ञानी कह सकता है। ज्ञान से जीवाजीवादि पदार्थों का यथार्थ बोध हो जाता है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, अनुजीवी गुण है। जहाँ तक आत्मा अपना स्वरूप नहीं जानता, वहाँ तक उसे बारबार संसार में ठोकरें खानी पड़ती हैं, इसी कारण जीव ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति का संचय कर लेता है। जब आत्मा अपना ज्ञान-स्वरूप धर्म समझ लेता है, तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृति से अपने आप छुटकारा पा लेता है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'**ज्ञानस्वरूप अनादि तमारू', ते लीधु तमे ताणी।**' अर्थात् आपने अपना जो अनादि-स्वरूप स्वभाव, अज्ञानदशा के नीचे दबा हुआ था, अज्ञान की एडी तले कुचला जा रहा था, उसे जान कर ऊपर खींच लिया। मतलब यह है कि अज्ञान के चंगुल से ज्ञान को आपने छुड़ा लिया और अज्ञान को छुट्टी दे दी। जब वह आपका अनादिकालीन साथी अज्ञान रूठ कर चला जा रहा था, तब भी आपने उसे मनाया नहीं। आप विचार तो करिए। अज्ञानदशा को आपने रुष्ट कर दिया। वह आपसे रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर भी आप उसके लिए अफसोस नहीं करते। अपना कोई स्नेहीजन किसी को छोड़ कर चला जाता हो, तो

लौकिक व्यवहार में उसके वियोग में लोग अश्रुपात करते हैं, शोक मनाते हैं, छाती कूटते हैं, पर आप तो किसी प्रकार का शोक करते ही नहीं, क्योंकि शोक आदि सब अज्ञान के कारण होता है, आपने अज्ञान को समूल नष्ट कर दिया है, और केवलज्ञान को अपना लिया, इसलिए शोक आदि का तो कोई सवाल ही नहीं है। आपने अज्ञानदशा का त्याग करके ज्ञानदशा अपनाई, यह भी मामूली काम नहीं है। आपने ज्ञान से स्वयं को और संसार को प्रकाशित किया, महापुरुष बने, परन्तु इस सेवक की अवगणना क्यों कर रहे हैं ? भूल क्यों रहे हैं ? इसे भी अपनाइए, यह प्रार्थना है। आपकी यह गुणसरणी देख कर मुझे आनन्द होता है।

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरीय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दशा रीसाणी, जाणी न नाथ ! मनावी, हो० ॥ म० ३ ॥

अर्थ

निद्रावस्था, स्वप्नावस्था, जागृत अवस्था और उजागरता = सदा जागृत-अवस्था (केवलदर्शनमय अवस्था), इन चार अवस्थाओं मे से आपको तुरीय (केवलदर्शनमय-उजागर) अवस्था प्राप्त हुई, (इसे देख कर निद्रावस्था और स्वप्नदशा और उपलक्षण से जागृत अवस्था ये तीनों आपसे बिलकुल नाराज हो गई। आपने उन्हें रुष्ट होते जान लिया, फिर भी नाथ ! आपने उन्हें मनाई नहीं।

भाष्य

निद्रा और स्वप्न दोनों दोषों का त्याग

वीतराग सदा जागृत रहते हैं। उनमें द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से सतत जागृति रहती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में स्पष्ट कर दिया कि-'निद्रा सुपन जागर..................तुरीय अवस्था आवी' वीतराग प्रभु के ज्ञानवरणीय कर्म के साथ-साथ दर्शनावरणीय कर्म भी नष्ट हो जाता है। दर्शनावरणीय कर्म की ९ प्रकृतियाँ होती हैं—(१) निद्रा, (२) निद्रानिद्रा, (३) प्रचला, (४) प्रचला-प्रचला, (५) स्त्यानर्द्धिनिद्रा, (६) चक्षुदर्शनावरणीय, (७) अचक्षुदर्शनावरणीय, (८) अवधिदर्शनावरणीय और (९) केवलदर्शनावरणीय। इनमें से प्रथम निद्रादशा है, जिसमें ५ प्रकार की निद्रा का समावेश हो जाता है। निद्रा = सरलता से प्राणी जागृत हो

जाय, वह निद्रा है, निद्रानिद्रा—जिसमें प्राणी बहुत ही हिलाने, झकझोरने या जोर से आवाज़ देने पर जागे, उसे निद्रानिद्रा कहते हैं, प्रचला-उठते बैठते नींद आए, उसे प्रचला कहते हैं,**प्रचला-प्रचला**-चलते फिरते नींद आए, उसे प्रचला-प्रचला कहते हैं। और **स्त्यानर्द्धिनिद्रा**-दिन को विचारा हुआ काम रात को नींद ही नींद में कर ले, उसे स्त्यानर्द्धिनिद्रा कहते हैं। निद्रा की ही दूसरी अवस्था **स्वप्नदशा** है, जिसमें विचित्र-विचित्र स्वप्न आते हैं, यह भी नींद की ही एक दशा है। इसमें भी निद्रादशा की तरह दर्शन एक बिलकुल जाता है। यह निद्रा भी खराब है। निद्रा लेने और जागने के सम्बन्ध में तीसरी **जागृतदशा** है। मनुष्य जागता हो, तब तो सभी चीजों को देख सकता है। उसका दर्शन भी उस समय जागृत रहता है। यह जागृतदशा निद्रादशा से बिलकुल उलटी है। और चौथी तुरीय अवस्था होती है। इस दशा में सतत जागृति होती है, सर्वदा सतत दर्शन भी उपस्थित रहता है। चारों दशाओं में से किसकी कौन-सी दशा होती है? यह त्रिशतिका में बताया है [1] मोह अनादिनिद्रा है, भव्यबोधि परिणाम स्वप्न-दशा है। जागृतदशा अप्रमत्तमुनियों की होती है। और उजागरदशा वीतराग को प्राप्त होती है। तीर्थंकरों और सिद्धों को उजागरदशा हमेशा रहती है। वे नींद चाहते ही नहीं। रातदिन सतत जागृत रहते हैं। यहाँ श्री आनन्दघन-जी प्रभु को मीठा उपालम्भ देते हुए कहते हैं—"नाथ! आपने जब उजागरदशा (केवलदर्शनमय अवस्था) अपना ली तब आपकी चिरसंगिनी निद्रादशा और स्वप्नदशा ये दोनों आपसे पूरी तरह रुष्ट हो गई, उनके साथ आपको चिरकालीन परिचय होते हुए भी आपने उन्हें मनाने का प्रयास भी नहीं किया।

मतलब यह कि जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, इन चारों अवस्थाओं में से जागृत में व्यक्ति चर्मचक्षुओं से तमाम पदार्थों को यथार्थ (यथावस्थित) रूप में देख सकता है, स्वप्न में जागृत अवस्था में देखी हुई वस्तुओं को देखता है, सुषुप्ति दशा में व्यक्ति गाढ निद्रा का अनुभव करता है, देखी-सुनी हुई किसी चीज को निद्रा में नहीं देख पाता और चौथी तुरीयावस्था होती है, जिसे केवलावस्था या समाधि-अवस्था भी कहा जाता है। इसमें समस्त

---

१. "मोहो अणाइनिद्दा, सुवणदशा भव्वबोहिपरिणामो।
अपमत्तमुणी जागर, जागर उजागर वीयराउत्ति॥"

सांसारिक भाव नष्ट हो कर आत्मभाव की जागृति हो जाती है। तभी इस अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था में तमाम वस्तुओं के गुणदोष देखे जा सकते हैं, इसलिए वस्तु के अवश्य मूलस्वरूप की ओर उसकी दृष्टि रहती है, यही अवस्था साक्षात्कार की है।

इस तुरीय अवस्था के समय जीव की जागृत और स्वप्नदशा चली जाती है। आत्मा तब केवलज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार कर लेती है। तब उसका अनादि अनात्म-स्वभाव निद्रा-स्वप्न आदि प्रकृति नष्ट हो जाती है। इन दोनों अवस्थाओं के चले जाने पर फिर आत्मा उनको मनाने और वापिस मोड़ कर लाने का प्रयास नहीं करता।

त्याज्य अठारह दोषों में से तीसरे दोष-निद्रादशा और चौथे दोष स्वप्नदशा के त्याग की बात आती है। वीतरागप्रभु इन ने दोनों दोषों का त्याग करके दो गुणों को अपनाया तो उपर्युक्त दोनों दोष रुष्ट हो कर चले गए। आपने उन्हें मनाने का प्रयास नहीं किया। आपके लिए यही शोभास्पद है।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवारशुं गाढ़ी।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, घरथी बाहिर काढ़ी, हो॥ म०४॥

अर्थ

आपने तो परिवारसहित शुद्ध सम्यकत्व के साथ गाढ़ सम्बन्ध (सगाई) कर लिया, यानी शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) और उसके परिवार के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ लिया। इस कारण मिथ्यामति (सत्य को असत्य मानने वाली बुद्धि) को अपराधिनी (गुनहगार) जान कर घर (आत्मरूपी गृह या मनमन्दिर) से बाहर निकाल दी।

भाष्य

प्रभु ने मिथ्यात्वदोष कैसे निवारण किया?

प्रभो! अपने पाँचवें मिथ्यात्वदोष का निवारण कैसे किया? इसकी कहानी भी आश्चर्यजनक है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के साथ मोहनीयकर्म अवश्य होता है, जिसकी मूल प्रकृति दो हैं—मिथ्यामति और मिथ्याविचारणा। प्रभु (शुद्ध आत्मा) जब आत्मभाव में स्थिर होते हैं, तब स्वपर की यथार्थ प्रतीति होती है, और तभी से वे अपने कुटुम्बियों के साथ

सम्बन्ध जोड़ते हैं एवं दुःख तथा व्यामोह उत्पन्न करने वाले परस्वभावी सम्बन्धियों से सदा के लिए नाता तोड़ देते हैं—सम्बन्धविच्छेद कर लेते हैं। आत्मा की आत्मीय सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का परिवार है—शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य और भेदविज्ञान, विवेक आदि। अथवा सम्यक्त्व के ६७ बोलों का समावेश भी परिवार में शुमार है।

भगवान् मल्लिनाथ जब वीतराग हो कर स्वरूप में स्थिर हुए, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, तब क्षायिक सम्यक्त्व और उसके समस्त परिवार के साथ उन्होंने ऐसा गाढ़ सम्बन्ध जोड़ा कि फिर वह कभी टूट न सके। सादि-अनन्त भंग की दृष्टि से उन्होंने जब अटूट सम्बन्ध जोड़ लिया तो मिथ्याबुद्धि (मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्व) ने आपत्ति उठाई, और अपने हक का दावा करने लगी। किन्तु जब तक क्षायिक सम्यक्त्व नहीं था, तब तक तो वह चुपके-चुपके घुस जाती और अपनी मोह-माया को फैला कर आत्मा को चक्कर में डाल देती थी, लेकिन जब भगवान् ने क्षायिक सम्यक्त्व पा लिया तो उसकी पोलपट्टी का पता लगा, आत्मा के अहित करने वाले विविध अपराधों का भी पता चला। अतः वीतराग परमात्मा ने कुदृष्टि (मिथ्यामति) के कारण बारबार होने वाले आत्मगुण के अवरोधों को दूर करने हेतु उसे अपराधिनी सिद्ध करके उससे सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला और उसे अन्तरात्मारूपी घर से बाहर निकाल दी। मतलब यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही भगवान् ने मिथ्यादृष्टि का आत्यन्तिक क्षय कर डाला। बाद में उसकी कोई परवाह नहीं की। इससे प्रभु के स्वभाव का पता लग गया कि वे गुणों का आदर और अवगुणों का अनादर करते हैं।

मिथ्यात्व के द्वारा होने वाले अपराध

मिथ्यादर्शन (दृष्टि) आत्मा का विविध प्रकार से अहित करता है। शास्त्रों में मिथ्यात्व के अनेक भेद बताए गए हैं—धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, मोक्षमार्ग को संसार का मार्ग और संसार के मार्ग को मोक्षमार्ग समझना, आठ कर्मों से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त समझना, जीव को अजीव और अजीव को जीव मानना, ये सब मिथ्यात्व हैं, जो आत्मा को वस्तु का असली स्वरूप समझने-मानने

नहीं देते। खरे को खोटा और खोटे को खरा मानना ही वस्तुतः मिथ्यात्व है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के मुख्य ५ एवं २५ भेद हैं। ५ भेद इस प्रकार हैं—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक एवं अनाभोगिक मिथ्यात्व।

(१) आभिग्रहिक - कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सुगुरु एवं कुधर्म को सुधर्म माने, पकड़ी हुई जिद्द छोड़े नहीं, वहाँ यह मिथ्यात्व है। (२) अनाभिग्रहिक—सभी देव, सभी गुरु और सभी धर्मों को विना सोचे-समझे एक सरीखे माने, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। (३) आभिनिवेशिक—सच्चे देव आदि को न माने, पर वाप-दादों ने जो किया, उसे ही किया करे, गतानुगतिक हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। (४) सांशयिक—वीतराग आप्तपुरुषों के वचनों पर कुशंका करे, संशय-निवारण न करे, वहाँ ऐसा मिथ्यात्व होता है। (५) अनाभोगिक मिथ्यात्व--मूढ़ता और बौद्धिक जड़ता के कारण अच्छे-बुरे का या हिताहित का भान न हो, धर्माधर्म का भी कुछ पता न चले; जहाँ एकेन्द्रियादि जीवों की तरह ओघसंज्ञा से प्रवृत्ति हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है।

मिथ्यात्व के इन प्रकारों को देखते हुए सहज ही यह पता लग जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा का सबसे ज्यादा अहित करता है, वह सारी साधना को, सद्ज्ञान को, सद्बुद्धि को चौपट कर देता है, आत्मा जिन अच्छे विचारों को कार्यरूप में परिणत करना चाहती है, मिथ्यात्व उन सव कार्यक्रमों को उलटा कर देता है। यही कारण है कि वीतराग प्रभु इसे अपराधी एवं अहितकर समझ कर सर्वथा वहिष्कृत कर देते हैं।

अव अगली गाथा में भगवान् ने हास्यादि ६ दोषों का कैसे निवारण किया, इस विषय में कहते हैं—

हास्य, अरति, रति, शोक, दुगुंछा, भय पामर करसाली।
नोकषाय गजश्रेणी चढ़तां, श्वानतणी गति झाली, हो ॥म०॥५॥

अर्थ

हास्य, अरति (चित्त का उद्वेग), रति [पाप में प्रीति], शोक [अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग से होने वाली ग्लानि], दुगंछा (जुगुप्सा—घृणा, मानसिक ग्लानि), भय इन ६ पामर एवं कर्म की खेती करने वाले कृषक

अथवा कर्मों को बटोर कर संग्रह करने वाली दंताली (करसाली) रूप नोक-षायों (आत्मा को थोड़ी मात्रा मे बिगाड़ने वाली कषायभावना) के क्षय करके आत्मगुणों पर आरोहण कराने वाले क्षपकश्रेणीरूपी हाथी पर आपके चढ़ते ही इन सब नोकषायों ने कुत्ते की चाल पकड़ ली। यानी उस क्षपकश्रेणीरूपी हाथी को देख कर भौंकने लगे और जब वह नजदीक आया तो दुम दबा कर भाग गए।

भाष्य

हास्यादि षड्दोषों के निवारण के बाद

अप्रमत्त-अवस्था में प्रभु में ये ६ दोष थे। परन्तु जब उन्होंने देखा कि इन नोकषायरूपी (हास्यादि ६, और ३ वेद) कुत्तों को ज्यों-ज्यों पुचकारते हैं, त्यों त्यों नजदीक आते हैं, और जब इन्हें दुत्कारते हैं तो ये भौंकने लगते हैं। अतः आपने इन ६ को आत्मा के प्रति गैरवफादार देख कर इन्हें दूर करने का प्रयत्न किया। जब तक आपको वृत्ति और आत्मस्वभाव में रमणता का मुझे पता न था, वहाँ तक में अपने मन में यह समझता था कि हास्यादि नौ नोकषाय आपके सेवक होंगे, मैं भी हास्यादि में सुख मानता था, लेकिन जब से आपके वास्तविक स्वरूप और सुख को मैंने समझा, मुझे असलियत का पता चल गया कि नौ नोकषायों में सुख मानता तो पागलपन है, ये तो कषाय के ही छोटे भाई हैं, मोहनीय कर्म के बेटे हैं, इसलिए बड़े भयंकर हैं, ये सुख के ही नहीं, आत्मगुणों के घातक हैं।

और मैंने देखा कि जब से आपने अपना स्वरूप संभाला, उग्र तप-संयम द्वारा आपने क्षपकश्रेणी पर चढ़ना शुरू किया, तब मुझे ऐसा लगा मानो कोई विजयी पुरुष हाथी पर चढ़ा जा रहा है, और उसके पीछे कुत्ते भौंक रहे हैं। सचमुच जब आप क्षपकश्रेणीरूपी हाथी पर चढ़े तो ये हास्यादि छह कुत्तों की तरह भौंकने लगे, परन्तु आपने उनकी ओर देखा तक भी नहीं, आप तो चुपचाप मोक्षपुरी के दरवाजे के सामने पहुँच गए। बेचारे कमजोर हास्यादि नोकषायों की जब दाल नहीं गली तो चुपचाप दुम दबा कर भाग गए। किन्तु इन सबका स्वभाव कुत्ते की नांई खिंच आने का (करसाली) है, कुत्ते को जितना पुचकारेंगे, उतना नजदीक खिंचता चला आएगा, वैसे ही ये हैं।

हास्यादि ६ नोकषाय प्रत्येक आत्मा का बहुत बड़ा अहित करते हैं, वीतराग प्रभु के भी ये शत्रु बने थे। हास्य इन सबका अगुआ है। हँसी-मजाक कितना बड़ा नुकसान कर बैठती है, उससे मित्र भी किस प्रकार शत्रु बन जाते हैं, और एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हो जाते हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। इसलिए हास्यकषाय आत्मार्थी के लिए त्याज्य है। रति भी दूसरा नोकषाय है, इससे व्यक्ति अनुकूल पौद्गलिक पदार्थ या पद, प्रतिष्ठा आदि मिलते ही मन में प्रसन्न हो उठता है। इससे भी कर्मबन्ध करता है। इसी तरह तीसरा नोकषाय अरति है, जिससे व्यक्ति प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्ति या पदादि पा कर घृणा कर बैठता है, घबरा जाता है। चौथा है—शोक, जिससे प्रियवस्तु या व्यक्ति के वियोग में या अप्रिय के संयोग में व्यक्ति हायतोबा मचाता है, अफसोस करता है, छाती-माथा कूटता है। इसके बाद का नोकषाय है-भय, जो आत्मा को अपने स्वभाव से बहुत जल्दी विचलित कर देता है। वह भी जब अपने दल-बलसहित आता है, तो व्यक्ति की बुद्धि पर हमला कर देता है। इसके बाद छठा नोकषाय है—जुगुप्सा, इसे व्यक्ति किसी गंदी, घिनौनी या अपवित्र वस्तु को, शरीर को या जगह को देख कर घृणा से मुँह मचकोड़ लेता है। यह भी वस्तुस्वरूप की नासमझी का परिणाम है। परन्तु वीतरागप्रभु को क्षपकगज पर देखते ही ये भाग गए। ज्यों-ज्यों प्रभु संयमस्थान पर चढ़ते गए, त्यों-त्यों इन छहों को चले जाना पड़ा। कमजोर को देख कर तो ये उस पर हावी हो जाते हैं। परन्तु भगवान् के आगे जब अनन्तानुबन्धी आदि बड़े-बड़े दिग्गज हार मान कर चले गए तो इन बेचारों की क्या बिसात थी? इनका चले जाना भगवान् के लिए शोभारूप ही हुआ।

प्रभो ! आपका यह अद्‌भुत तेजस्वी स्वभाव देख कर मुझे भी यह प्रेरणा मिली है कि मुझे हास्यादि ६ दोषों से सावधान रहना चाहिए, इन्हें जरा भी मुँह नहीं लगाना चाहिए। आप मेरे आदर्श हैं, इसलिए मुझे भी आपकी तरह गजगति पकड़ कर इन नोकषायों पर विजय पाना चाहिए।

इसके बाद श्रीआनन्दघनजी चारित्रमोहनीय कर्म के दिग्गज सुभटों को भगवान् के द्वारा पराजित करने की कहानी लिख रहे हैं—

राग, द्वेष, अविरतिनी परिणति, ए चरणमोहना योधा।
वीतराग-परिणति परिणमतां, उठी नाठा बोधा, हो ॥मल्लि०॥६॥

अर्थ

चारित्रमोहनीय के सबसे बड़े योद्धा (दोष) राग, द्वेष और अविरति की परिणति ऊधम मचा रहे थे, लेकिन आपके (आपकी आत्मा के) वीतराग-परिणति में परिणत होते ही ज्ञानी का दम्भ करने वाले ये बोधक अथवा बोधा या जाग कर, झटपट खड़े हो कर भाग गए।

भाष्य

राग, द्वेष और अविरति का त्याग

आत्मा के सबसे बड़े घातक दुश्मन राग, द्वेष और अविरति हैं। ये १२ वें, १३ वें, और १४ वें दोष हैं, वीतराग के लिए। राग मनोज्ञ वस्तु पर प्रीति करने से और द्वेष अमनोज्ञ वस्तु के प्रति तिरस्कार करने से होता है। राग और द्वेष ही वास्तव में कर्मबीज हैं, जो मुक्तिपथ पर आगे बढ़ने से प्रत्येक साधक को रोकते हैं। ये ऐसे मीठे और कातिल दुश्मन हैं कि इनका पता बड़े-बड़े उच्च कहलाने वाले साधकों को नहीं चलता। राग-द्वेष के नशे में प्राणी मन और इन्द्रियों के अनुकूल संयोगों में इतना मशगूल हो जाता है कि बाजदफा तो वह अपना सर्वस्व होमने को तैयार हो जाता है, अपमान सह लेता है, भूख, प्यास और नींद तक को हराम कर बैठता है। इस घातक विषों से साधक की आत्मा अपने स्वभाव से मर जाती है, वह पनप नहीं पाती। बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डाल देते हैं, ये ही हमलावर! मोहनीयकर्म के ये बड़े जबर्दस्त लड़ाकू योद्धा हैं। तीसरा है—अविरति नामक दोष। जब साधक के जीवन और अन्तर्मन में अविरति पैदा हो जाती है तो वह आत्मा को विरूप बनाने वाले भावों का त्याग नहीं कर पाता, हिंसादि पाँचों आश्रवों को वह आत्मघातक समझते हुए भी छोड़ नहीं पाता, हिंसादि को छोड़ने का विचार करते ही कभी तो अभिमान बीच में आ कर रोक देता है, कभी अपनी गलत आदत, दुर्व्यसन, कुटेव या कुप्रकृति उसमें रोड़े अटकाती है, कभी कभी क्रोध, कपट और लोभ आ कर विरति का हाथ पकड़ लेते हैं और उसे पीछे धकेल देते हैं। मोहराजा का आदेश होते ही ये तीनों एकदम आत्मा की स्वभाव-

परिणति पर धावा बोल देते हैं। सामान्य साधक को तो ये झटपट पराजित कर बैठते हैं, उसकी स्वभावपरिणति की साधना को मिनटों में चौपट कर देते हैं; परन्तु वीतरागप्रभु यह सब उपद्रव जानबूझ कर कैसे सह सकते थे? उन्होंने वीतराग-(शुद्ध आत्मभाव) की परिणति पकड़ी। इनको जरा भी मुंह नहीं लगाया, इन्हें पपोला नहीं। अतः प्रभु को वीतरागपरिणति में रमण करते करते देख कर राग, द्वेष और अविरति इन तीनों परिणतियों के कान खड़े हुए, वे झटपट जागे और उठ कर ऐसे भागे कि खरगोश के सींग की तरह उनका कोई अतापता ही नहीं चला। प्रभु ने उन्हें जाते देख कर बुलाए या अपनाए नहीं। प्रभो! आपके इस स्वभाव को देख कर मुझे भी बड़ी प्रेरणा मिली है कि आपने जिस प्रकार मन मजबूत करके हिम्मत के साथ इन तीनों महादोषों की ओर जरा भी नहीं देखा, न इन्हें तरजीह दी, और डट गए अपने शुद्ध आत्मभावों में; इसी प्रकार मैं भी अपनी स्वभावपरिणति में डटा रहूँ, अडिग रहूँ; बशर्ते कि आप इस सेवक की अवगणना न करें!

अब श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के द्वारा त्यक्त काम्यक रसनाम के १५ वें दोष की कथा अंकित करते —

वेदोदय कामा परिणाम, काम्यकरस[१] सहु त्यागी।
निष्कामी करुणारससागर अनन्त-चतुष्क-पद पागी, ॥हो॥ म०॥७॥

अर्थ

स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से काम के जो परिणाम होते हैं [कामभोग या काम वासना के प्रति विषय की जो लहरें उठती हैं] उन्हें तथा समस्त काम्यकरस काम के अनुकूल विषयास्वाद अथवा कामनाजनित अनुकूल विषयों, कर्मों या पदार्थों के आस्वाद का आपने त्याग कर दिया और निष्कामी काम=इच्छाकाम-मदनकाम दोनों से रहित हो गए। इन समस्त ...ों का त्याग करने के बावजूद भी आप करुणारस के सागर बन गए।

---

१. 'काम्यकरस' के बदले किसी प्रति में 'काम्यकरम' शब्द मिलता है, उसका अर्थ होता है—कामना (इच्छा) से जनित कर्म का प्रभु ने सर्वथा त्याग कर दिया।

निष्काम होने के कारण आप में अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय-पद पनपा, प्रगट हुआ।

भाष्य

काम्यकरसदोष का त्याग क्यों और कैसे ?

वीतरागप्रभो ! आपने वेदोदयजनित चौदहवें दूषण समस्त काम अथवा काम्यकरस का त्याग कर दिया, परन्तु सवाल यह होता है कि वेद क्या है ? काम क्या है ? उससे आत्मा की क्या हानि होती है ? इस बात को समझ लेने पर काम पर विजय प्राप्त करना आसान होता है। काम का एक मदन-काम के रूप में आविर्भूत होना वेद है। कामवासना जब उदित या उत्तेजित होती है, तो बड़ों-बड़ों के काबू में नहीं आती, उस समय मन में कामभोगों की प्रबल इच्छाओं का वेदन=अनुभव होता है, कामोत्तेजना का मानसिक वेदन ही वेद है, चाहे वह क्रियान्वित हो, चाहे न हो। और काम का दायरा तो इससे भी बढ़कर व्यापक है। जैसे इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं, वैसे ही इच्छा-काम भी अनन्त हैं। उन सब पर विजय पाना बड़ी टेढ़ी खीर है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों से जनित विकार भी इच्छाकाम के अन्तर्गत हैं। कोई सुन्दर एवं मनोज्ञ वस्तु उपलब्ध न हो, उसकी इच्छा को दबा लेना, फिर भी आसान है, किन्तु वस्तु उपलब्ध हो सकती हो, फिर भी उसकी इच्छा को दबाना ही नहीं, उत्पन्न ही न होने देना, बहुत ही कठिन काम है। परन्तु वीतराग परमात्मा ने पूर्वोक्त दोनों ही प्रकार के कामों के स्वाद का ही जड़-मूल से त्याग कर दिया, कामों को पूर्ण करना तो दूर रहा, उनका मन में परिणाम (भाव) ही नहीं पैदा होने दिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—
"वेदोदय कामा परिणामा, काम्यकरस सहु त्यागी रे।"

वास्तव में वेद मोहनीय कर्म के अंग हैं, नोकषायों में से तीन हैं। इससे पहले हास्यादि छह दोषों के त्याग का वर्णन किया था। एक कामशब्द में ही इन तीनों वेदों का समावेश हो जाता है। तीन प्रकार के वेद ये हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद। मोहनीय कर्म (वेद) के उदय से जब किसी पुरुष को स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा पैदा हो, उसे पुरुषवेद; स्त्री को पुरुष के साथ रतिसहवास की इच्छा हो, तब स्त्रीवेद एवं पुरुष और स्त्री दोनों के साथ

सहवास की इच्छा हो, तब नपुंसकवेद कहलाता है। इसी प्रकार पाँचों इन्द्रियों के विविध विषयों, वस्तुओं या सम्मानादि की कामनाओं का उत्पन्न होना इच्छाकाम है। किसी वस्तु, विषय या सम्मान आदि को प्राप्त करने लालसा मन को गुदगुदाने लगती है, मनुष्य इच्छाओं से व्याकुल हो कर उन्हें पूरी करने में तन, मन, धन सर्वस्व लगा देता है, फिर भी बीमारी विघ्न, इन्द्रियनाश आदि कारणवश उसकी वे इच्छाएं पूरी नहीं हो पाती। इच्छाएं मनुष्य को व्याकुल कर देती हैं, उन्हें पूरी करने के लिए मनुष्य उतावला हो उठता है। एक इच्छा पूरी होते न होते, दूसरी आ धमकती है। फिर इच्छा पूरी न होने पर मनुष्य निराश और दुःखी होकर कई बार आत्महत्या तक कर बैठता है। दूसरे की इच्छाएं पूरी होते देख कर उसके प्रति ईर्ष्या, द्रोह और द्वेष का भाव मनुष्य के मन में आ जाता है। अभीष्ट इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी उसके वियोग में मनुष्य तड़पता है, फिर उसे पाने की इच्छा बलवती हो उठती है, कनक और कामिनी ये काम के स्थूल प्रतीक हैं, जिसके लिए मनुष्य ने ब बड़े युद्ध किए, और पतंगे की तरह अपने प्राणों को होम दिया।

वीतराग प्रभु ने इन दोनों प्रकार के कामों को इसलिए मन से भी त्या दिये कि ये आत्मा का बहुत बड़ा अहित करते हैं। जन्म-जन्म में प्राणी को ये रुलाते हैं, दुःखी करते है, इनका गुलाम बना हुआ व्यक्ति अपने धर्म, अपना आत्मस्वभाव, अपनी नैतिक मर्यादा, अपनी विकास की सब बातें ताक में रख देता है। जिसमें मदनकाम ((वेदोदय) तो इतना प्रबल है कि बड़े-बड़े साधकों को पछाड़ देता है। बाहर से किसी प्रकार से उपलब्ध न होने या न हो सकने पर भी साधक मन ही मन उसे पाने की धुन में उधेड़बुन करता रहता है। आग में घी डालने पर जैसे आग शान्त होने के बदले अधिकाधिक भड़कती है, वैसे ही काम को भोगने पर वह शांत होने के बदले अधिक भड़कता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र में कहना पड़ा—'जो काम (दोनों प्रकार के काम) का निवारण नहीं कर पाता, वह श्रमणधर्म का कैसे पालन कर सकता है? वह पद-पद

---

१. "कहं नु कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।
पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ॥

—दशवै० अ. २ गा. १

पर संकल्पों के वशीभूत होकर दुख पाता रहता है। यही कारण है कि वीत-रागप्रभु के (मल्लिनाथ) ने दोनों प्रकार कामों और उनके परिणाम के रसास्वाद को बिलकुल तिलांजलि दे दी और निष्कामी बन गए।

कोई यह प्रश्न उठा सकता है जब भगवान् कामरस से बिलकुल खाली हो गए तो सूखे, मनहूस और नीरस बन गए होंगे, किन्तु यह बात नहीं है। वे वीतराग हो जाने पर सर्वथा उदासीन या उपेक्षाग्रस्त नहीं होते। उन्होंने संसारी जीवों को अज्ञानवश दुःख में पड़े देख कर तीर्थस्थापना की, संघव्यवस्था की, साधु-साध्वियों के विकास के लिए उनके द्वारा पुरुषार्थ हुआ, दया और करुणा से प्रेरित हो कर ही उन्होंने उपदेश दिया। इसलिए वे नीरस नहीं, अपितु करुणारस से परिपूर्ण समुद्र हो गए। उन्होंने अपने अनुभव भव्यजीवों को दिये। स्वयं अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) इन चारों पदरूप मोक्षपद के अधिकारी बने। प्रभो! सचमुच, आप जब इतने अनन्तचतुष्कवान बने हैं तो अपने इस सेवक को मत भूलिए।

अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग में जो भी विघ्न हैं, उन्हें प्रभु कैसे दूर करते हैं, यह अगली गाथा में देखिए—

दान-विघन वारी सहु जन ने, अभयदान-पददाता।
लाभ-विघन, जग-विघन-निवारक, परमलाभरस-माता, हो॥
म०॥८॥

वीर्यविघन पंडितवीर्ये हणी, पूरणपदवी योगी।
भोगोपभोग दोय विघन निवारी, पूरणभोग सुभोगी हो॥
म०॥९॥

अर्थ

दान देने में विघ्न (दानान्तराय) का निवारण करके प्रभो! आप सबको (दानों में सर्वश्रेष्ठ) अभयदान (भयनिवारणरूप दान) के पद (अधिकार) अथवा निर्भयपद (स्थान)=मोक्ष के देने वाले बने। लाभ (पदार्थ मिलने) में जो अन्तराय (विघ्न) था; उसके तथा जगत् के जीवों के अन्तराय (सारी दुनिया के लाभ में जो अन्तराय आए, उसे रोकने वाले हो कर स्वयं परमलाभ (सर्वोच्च लाभ) के पद=मोक्षप्राप्तिरूपी परमपद में मस्त (लीन) बने। और

फिर वीर्यान्तराय (आत्मशक्ति की स्फुरणा=प्रकटीकरण को रोकने वाले विघ्न) को भी दण्डितवीर्य (आत्मज्ञान की शक्ति) से नाश करके पूर्ण पदवी (मोक्षपद) के साथ जुड़ गए। यानी मोक्षपदयोगी बन गए। इसी प्रकार भोगान्तराय एवं उपभोगान्तराय इन दोनों अन्तरायकर्मों को निवारण (रोक) कर पूर्णरूप से आत्मसुख के भोग और उपलक्षण से उपभोग के भोगी (भोगने वाले) बन गए।

भाष्य

प्रभु पांच प्रकार के अन्तरायदोष के त्यागी बने

वीतराग परमात्मा के लिए जिन दोषों से रहित होना अनिवार्य है, उनमें से पूर्वगाथा तक १४ दोष से रहित होने तक की बात कही गई है। अब इ दो गाथाओं में ४ अन्तरायजनित दोषों से प्रभु के रहित होने की बात बताई ग है। वे चार दोष इस प्रकार हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, [उपलक्षण से उपभोगान्तराय भी] और वीर्यान्तराय।

अन्तरायकर्म भी मूल में घातीकर्म का अंग है। उसका लक्षण है—आत्मा द्वारा की जानी वाली दान, लाभ, भोगोपभोग एवं वीर्य की उपलब्धि में अन्तराय (विघ्न) डालना। अभयदान तथा अन्य जो भी आत्मा से सम्बन्धित उपलब्धियां हैं, आत्मगुण हैं, उनमें रुकावट डालना, उनके विकास को रोकना है। ये अन्तरायकर्म पांच प्रकार के हैं, जो सिवाय वीतराग के प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। दान देने वाला मौजूद है, फिर भी आदाता को दान नहीं दिया जाना, अथवा दान लेने वाला सामने खड़ा है, दाता भी दान-देना चाहता है, लेकिन लेने वाला इस दानान्तरायकर्म के फलस्वरूप दान ले नहीं सकता, ये दोनों प्रकार दानान्तराय के हैं। वैसे तो दान ५ प्रकार का है—[१] अभयदान, [२] सुपात्रदान, [३] अनुकम्पादान [४] कीर्तिदान, और [५] उचितदान। इनमें अभयदान सर्वश्रेष्ठ है, सुपात्रदान भी उत्कृष्ट है, अनुकम्पादान भी किसी हद तक उचित है, किन्तु कीर्तिदान [कीर्ति=प्रतिष्ठा के बदले दान देना] और उचितदान [अपने परिवार-समाज आदि में योग्य व्यक्ति को पुरस्कार आदि देना] ये दोनों दान आत्मा से सम्बन्धित दान की कोटि में नहीं हैं। इन पांचों प्रकार के दानों में से बहुत-

से व्यक्तियों को हम देखते हैं कि वे स्वयं किसी को नहीं देते सो नहीं देते, दूसरों को भी देने से भी किसी न किसी इन्कार कर देते हैं। अथवा गुणवान् व्यक्ति में दुर्गुण का आरोपण करके उसे दान से वंचित कर देते हैं। ऐसा व्यक्ति दानान्तरायकर्म के उदय से देने वाले पर रुष्ट हो कर उससे द्वेष करने लगता है। दानों में सर्वश्रेष्ठ अभयदान है, उसमें बाहर से कोई वस्तु देते-लेते हुए दिखाई नहीं देती; लेकिन अभयदान वही दे सकता है, जो स्वयं निर्भय हो, जिसमें आत्मशक्ति या अन्तःप्रेरणा का बल हो, मन मजबूत हो। प्रभु ने देखा कि दानान्तरायकर्म ने मेरी आत्मा का बहुत बड़ा नुकसान किया है, इसलिए पहले दीक्षा लेने के एक वर्ष पहले से लगातार एक वर्ष तक दान दिया; और खूब उमंग से, बहुत ही मुक्त मन से दान दिया; और मुनि बनते ही अभयदान की साधना शुरू कर दी, जो वीतरागपद प्राप्त होते ही परिपक्व हो गई। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा—**'अभयदानपददाता'** अर्थात् प्रभु ने जगत् के समस्त जीवों को उपदेश और ज्ञान का दान करके उन्हें निर्भयता सिखाई। तथा बाद में जो भव्य जीव थे, उन्हें अभयदानपद=निर्भय स्थान (मोक्ष) के दाता (**अभयदयाणं**) बने। इसी प्रकार उपलक्षण से चक्षु (ज्ञान) दानदाता तथा मार्गदर्शक बने।

दानान्तराय के बाद आत्मा के गुणों का घात करने वाला, लाभान्तराय बचा, जो आत्मा का बहुत बड़ा अहित करने वाला एवं आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आत्मसुख का लाभ नहीं लेने देता था। यह कर्म ऐसा है कि ज्ञानादि का लाभ होता हो तो रोड़े अटकता है। प्रभु ने लाभान्तराय कर्म को समूल नष्ट करके जगत् की आत्माओं के लाभ में जो विघ्न थे, उन्हें मिटाए। और स्वयं संसार में सर्वोत्तम लाभ के पद (मोक्षप्राप्तिरूप परमपद) में लीन (मस्त) हो गए।

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु जगत् के लाभान्तराय के निवारक कैसे हो सकते हैं? उनके द्वारा जगत् के लोगों की सांसारिक लाभ की पूर्ति करने का मतलब है—उनकी भौतिक इच्छाओं या कामनाओं की पूर्ति करना। जैनधर्म में वीतराग परमात्मा को इस प्रकार का कर्त्ता-हर्ता या सांसारिक लाभदाता नहीं माना गया है, फिर इस पद की संगति कैसे होगी? इसके उत्तर में यही निवेदन है कि लाभ दो प्रकार के होते हैं—सांसारिक लाभ और

आत्मिक लाभ। वैसे तो प्रभु किसी भी प्राणी के सांसारिक लाभ तो क्या आत्मिक लाभ के भी सीधे कर्ता-धर्ता नहीं बनते, न किसी को हाथ पकड़ कर वे सीधा लाभ देते हैं। परन्तु जहाँ तक सांसारिक जीवों का सवाल है, वे किसी सांसारिक व्यक्ति के कर्म में हस्तक्षेप नहीं करते, न कर सकते हैं। इसलिए सांसारिक लाभ में आने वाले विघ्नों को दूर करने में वे हाथ नहीं डालते। अब रहा आत्मिक लाभ। सांसारिक प्राणियों को आत्मिक लाभ होने में जो-जो विघ्न होते हैं, उन्हें वे बता देते हैं, उन विघ्नों को नष्ट करने के लिए जप-तप या अन्य संयमादि साधना का वे निर्देश कर देते हैं, इससे अर्जुनमाली, चण्डकौशिक, चन्दनबाला आदि को जैसे भगवान् महावीर के निमित्त से आत्मिक लाभ मिल गया, वैसे ही जगत् के भव्य जीवों के विघ्न दूर हो कर उन्हें आत्मिक लाभ मिले। इस प्रकार वीतरागप्रभु जग के जीवों का विघ्न-निवारण स्वयं नहीं करते, करते तो वे जीव स्वयं ही हैं, परन्तु भगवान् की प्रेरणा या निर्देश से करते हैं इसलिए वीतराग परमात्मा को निमित्तकर्ता कहा जा सकता है। अतः जगत् को आत्मलाभ मिलने में जो विघ्न हैं, उन्हें मिटाने के लिए भगवान् प्रेरक हैं। हाँ, भगवान् ने अपने लिए तो दोनों प्रकार के लाभों के अन्तरायों को दूर कर दिये हैं। स्वस्थ शरीर, इष्टविद्या, वस्तु आदि का लाभ भी आपको मिला है, और सर्वोच्च अनन्तसुखादि का आत्मिक लाभ भी। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने आपके लिए कह दिया—'परमलाभ-रसमाता!' इसी तरह भगवान् ने आत्मशक्ति को नाश करने वाले वीर्यान्तरायकर्म का क्षय पण्डितवीर्य (आत्मज्ञान व आत्मविकास के लिए आत्मबल को जागृत करके तदनुकूल मन-वचनकाया की प्रवृत्ति करके सर्वथा योगरहित होने के बल, तप, संयम आदि के जोर) से करके सम्पूर्ण पदवी जो मोक्ष में मिलती है, उसका योग आपने साध लिया है, यानी आप उस स्थान पर पहुंच गए हैं। उस शक्ति को आपने आत्मकार्य में लगा दी है। अथवा आपने सम्पूर्ण आत्मबल और आत्मऋद्धिसिद्धि प्राप्त की, और शरीर से ही तीर्थंकर बने। इससे अतिरिक्त एक बार भोग्य पदार्थ को भोगने में रुकावट डालने वाले भोगान्तरायकर्म एवं बार-बार भोग्य पदार्थ को पुनः-पुनः भोगने में रुकावट डालने वाले उपभोगान्तराय कर्म को आपने स्व-उपयोग स्वसुखास्वाद से दूर कर दिये। इससे आप अनन्त आत्मसुख के भोक्ता बने।

वीर्यान्तराय कर्म के उदय से लोग इधर-उधर मटरगश्ती करते फिरेंगे, पर धर्मकार्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि करने में अपनी शक्ति के न होने का बहाना बनाएँगे। तपस्या करने में असमर्थता बताएँगे, किन्तु यों किसी मतलब के लिए भूखे-प्यासे रह लेंगे। धर्मश्रवण के लिए अवकाश नहीं मिलेगा, किन्तु गप्पें मारने में घंटों बिता देंगे यों मन को कमजोर बना लेते हैं। इस सबसे वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध होता है। परन्तु प्रभु ने पूरी शक्ति अजमाकर इस अन्तराय का क्षय किया है। सांसारिक जीवों को पोद्‌गलिक वस्तु न मिले तो भोगान्ताराम समझना चाहिए। यही बात उपभोगान्तराय के सम्बन्ध में है। दोनों को एक दोष न कर १८ वाँ दोष भगवान् के द्वारा त्यक्त बताया है। ये दोनों अन्तरायकर्म इन वस्तुओं के देने वाले की मजाक उड़ाने से, स्वयं न देने तथा दूसरों को भी न देने की सलाह देने से, देने वाले की निन्दा करने से बंधते हैं। प्रभो ! आपने तो आत्मिक और पौद्‌गलिक दोनों वस्तुओं में अन्तराय न पड़े, इस रूप में भोग-उपभोगान्तराय कर्मरूप दोष को जीत लिया। मुझे आपके ही आदर्श का अनुसरण करना है। आपने दुनिया को अपने उदाहरण द्वारा सही रास्ता बता दिया है।

ए अढारदूषणवर्जित तनु, मुनिजनवृन्दे गाया
अविरति-रूपक-दोष-निवारण निर्दूषण मन भाया हो ॥१०॥

अर्थ

इन उपर्युक्त १८ दोषों से रहित आपकी असंख्यप्रदेशी आत्मा या काया का पंच-महाव्रतधारी गणधरादिमुनि वृन्द ने वर्णन किया है। अविरति वगैरह दोषों से आच्छादित आत्मा का रूपक दे कर दयास्वरूप बताकर दोषों का निवारण कराने वाले (आप ही हैं, तथा आप स्वयं) सब दोषों से रहित हैं। मेरे मन को आप अच्छे लगे हैं।

भाष्य

अठारह दोष से रहित भगवद्रूप

जब छद्मस्थावस्था छोड़ कर, वीतराग बनते हैं, तब वे स्वतः ही निम्नलिखित १८ दोष से रहित हो जाते है—१ आशा-तृष्णा, २-अज्ञान, ३ निद्रा या तन्द्रा), ४ स्वप्नदशा, ५ मिथ्यात्व, हास्य, ७ रति, अरति, ८ शोक ६-

भय; १० जुगुप्सा, ११ राग, १२ द्वेष; १३ अविरति १४ काम्यकदशा, १५ दानान्तराय, १६ लाभान्तराय, १७ भोगोपभोगान्तराय और १८ वीर्यान्तराय। प्रभु की काया (अथवा असंख्यप्रदेशी आत्मा) इन १८ दोषों से सर्वथा रहित है। आत्मा को दूषित बनाने वाले इन बहिरात्मभावों को छोड़ कर प्रत्याख्यान न करने रूप में अविरति (मिथ्यात्व का यथार्थ कथन करने वाले होने से आपके गुणों के कारण ही त्यागी, वैरागी व तपस्वीवृन्द ने आपका गुणगान किया है। श्रीआनन्दघनजी भी अन्तिम गाथा में इसी दृष्टि से प्रभु का गुणगान करते हुए इस स्तुति का उपसंहार करते हैं—

इणविध परखी मन विसरामी, जिनवरगुण जे गावे।
दीनबन्धुनी मेहर नजर थी, 'आनन्दघनपद' पावे, हो ॥ म० ११॥

अर्थ

इस प्रकार अष्टादशदोषरहित एवं अनन्तचतुष्टययुक्त श्रीमल्लिनाथप्रभु को भलीभाँति देख-परख कर उन अन्तःकरण के विश्राम रूप श्रीजिनवर के ज्ञानादिगुणों का जो मुमुक्षु गुणगान करता है, आठ प्रकार के दुःखों से दीन बने हुए जीवों को भाव से आत्मगुणों से समृद्ध करने में बन्धुसमान श्रीतीर्थंकरदेव की परमकृपादृष्टि से वह आनन्दघनपद (मोक्षपद) प्राप्त करता है।

भाष्य

प्रभु का गुणगान और उससे लाभ

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही हो जाता है, उसके मन पर अपने आराध्य, आदर्श के गुणों की छाप बार-बार गुणगान से अंकित हो जाती है। मन ऐसा टेपरिकार्डर है, जिस पर बार-बार उच्चारण एवं श्रद्धा के स्पन्दनों की छाप अंकित हो जाती है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'जिनवरगुण जे गावे.................. 'आनन्दघन' पद पावे।'

परन्तु प्रभु या भगवान् के नाम पर दुनिया में बहुत-से अन्धविश्वास पनप रहे हैं। बहुत से लोग स्वयं जीते-जी भगवान् तीर्थंकर या पैगम्बर के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा पा रहे हैं। इसीलिए आनन्दघनजी परीक्षाप्रधानी बन कर बाह्य चमत्कारों या आडम्बरों, से प्रभावित न हो कर कहते हैं—'इणविध परख

मन विसरामी'। पूर्वोक्त अठारहदोषों से रहित के रूप में बीतरागप्रभु या भगवान् कहलाने वाले की भलीभांति परीक्षा करके हृदय को विश्राम दे सकने वाले प्रभु का स्वीकार करें और तब गुणगान करें। जैसे जौहरी रत्न की परीक्षा करके ही उसे अपनाता है, सर्राफ सोने की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद खरा उतरने पर अपनाता है, इसी तरह भगवान् या प्रभु कहलाने वाले महानुभावों को १८ दोषरहितता की कसौटी पर कसना चाहिए। हमारे बाप-दादे या पूर्वज उन्हें मानते-पूजते आए हैं, बहुजन इन्हें मानता है, इसलिए हम भी इन्हें पूजते हैं, यह तो गतानुगतिकता है, अन्धविश्वास है, इससे आत्मा का बहुत बड़ा अहित होता है। इसलिए परीक्षा करके, अपनी परीक्षा में जो १८ दोषरहित जचें, उनकी ही पूजा करनी, उनके ही गुणगान करने चाहिए।

परीक्षापूर्वक प्रभु का स्वीकार करने और तदनुरूप उनके गुणगान करने से दीनबन्धु भगवान् की कृपादृष्टि हो जाय तो बेड़ा पार हो जाय, संसारसागर को पार करके मुक्ति के परमानन्दधाम में वह उनकी कृपा से जा विराजता है।

मल्लिनाथ प्रभु के स्वरूप (की तरह तमाम वीतरागी पुरुषों का स्वरूप) आगम में १८ दोषों से रहित और अनन्त-चतुष्टयसहित बताया है। इस प्रकार का स्वरूपकथन नरेन्द्र, देवेन्द्र और मुनियों की परिषद् में निश्चित किया हुआ है। फिर भी देवागम-स्तोत्र में कथित परीक्षा-प्रधान तरीके को अपना कर तथाकथित भगवान् की परीक्षा से परख कर प्रभुगुणों के प्रति अनुरागपूर्वक का गुणानुवाद करने से मन पर वे संस्कार दृढ़रूप से जम जाते हैं, इस प्रकार से गुणगान के बाद उन दीनबन्धु की अहैतुकी कृपादृष्टि हो जाने पर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इसका रहस्य यही है कि प्रभु की कृपादृष्टि यानी काल की परिपक्वता ऐसा भव्य एवं सम्यग्दृष्टि जीव समय आते ही आवश्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैनदर्शन के पंचकारण-समवायी सिद्धान्त की दृष्टि से काल की परिपक्वता बहुत महत्वपूर्ण है। प्रभु हाथ से किसी को कुछ देते लेते नहीं, न किसी पर कृपादृष्टि डालते हैं, क्योंकि वे निरंजन-निराकार हैं। स्वयं के पुरुषार्थ से ही मोक्षपद की प्राप्ति करनी चाहिए।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने इन दोषों को पुराने तथाकथित सेवक और साथी के रूप में गिना कर उनके प्रति प्रभु द्वारा अवगणना के लिए उन्हें मधुर उपालम्भ दिया है, स्वयं के प्रति अवगणना का भी उपालम्भ है। परन्तु बाद में स्वतः समाधान प्राप्त करके प्रभु के सच्चे स्वरूप को जान कर उन्होंने उनके द्वारा क्रमशः १८ दोषों के निवारण की कथा कह दी है। और अन्त में समस्त साधकों को हिदायत दे दी है कि भगवान् या प्रभु आदि के नाम से तथाकथित महानुभावों को केवल 'आडम्बर चमत्कार, या गतानुगतित्व से मत मानो। उनकी १८ दोषों रहित होने की कसौटी करो। पास होने पर ही उन्हें मानो। इस प्रकार यह परीक्षा करके भक्ति या पूजा करने की ... फलित होती है।



२० : श्री मुनिसुव्रतजिन-स्तुति-

परमात्मा से आत्मतत्व की जिज्ञासा

(तर्ज-राग काफी : 'आघा आम पधारो पूज्य !')

श्रीमुनिसुव्रत-जिनराज ! एक मुझ विनति निसुणो ॥ मु० ॥ध्रुव॥
आतमतत्व कयुं जाण्युं[1], जगद्गुरु ! एह विचार मुझ कहियो ।
आतमतत्व जाण्या विण निर्मल-चित्तसमाधि न वि लहियो ॥
श्रीमुनिसुव्रत० ॥ १ ॥

अर्थ

इस अवसर्पिणीकाल के बीसवें तीर्थंकर श्रीमुनिसुव्रतदेव ! जिनराज ! प्रभो ! मेरी एक प्रार्थना सुनिये। हे जगद्गुरो ! आपने शुद्ध आत्मतत्व (परमात्म-स्वरूप) किसे जाना ? अथवा मैं किसे जानूं ? यह तत्वज्ञान (विचार) मुझे कहिए। क्योंकि शुद्ध आत्मतत्व को जाने बिना मैं अपने मन की निर्मल निरुपाधिक समाधि, स्थिरता, एकाग्रता या धीरता नहीं प्राप्त कर सकता।

भाष्य

आत्मतत्व की जिज्ञासा क्यों और किससे ?

पूर्वस्तुति में सर्वज्ञ वीतरागप्रभु की पहिचान के लिए १८ दोष से रहित होने की कसौटी बताई थी, किन्तु जब तक उस शुद्ध आत्मा की पहिचान न हो, उसका स्वरूप क्या है ? और उसके विषय में विभिन्न अध्यात्मवादी क्या-क्या मानते हैं ? यह प्रश्न हल न हो जाय तब तक सर्वज्ञता और वीतरागता की बात कैसे हल हो सकती है ? इसलिए इस स्तुति में परमात्मा के सामने भक्त योगी ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की है—आत्मतत्व कयुं जाण्युं ? वीतराग प्रभो! आपने आत्मतत्व किसे या कैसे समझा ? अथवा मैं उस आत्मतत्व को

---

१ 'जाण्युं' के बदले किसी प्रति में 'जाणुं' शब्द भी मिलता है, उसका अर्थ होता है—प्रभो ! मैं आत्मतत्व किसे जानूं ?

कैसे समझूँ ? अथवा किसे मानूं ? " कारण यह है कि योगी श्री आनन्दघनजी 'मुखमस्तीति वक्तव्यम्' (मुँह है, इसलिए बोलना ही चाहिए), अपनी उपस्थिति बतानी ही चाहिए, इस दृष्टि से नहीं बोल या पूछ रहे हैं। उनके अन्तर में सच्ची लगन लगी है। वे आत्मा की उस अवस्था में विषय में या उस शुद्ध आत्मा के सम्बन्ध में जानना चाहते हैं, जो मोक्षरूप या परमात्मरूप बन सकती है ?

वास्तव में किसी वस्तु की तह तक पहुँचने और उसके सम्बन्ध में जितने भी मुद्दे उपस्थित हो सकते हैं, उसकी छानबीन करके तत्वज्ञान का सिरा पाने के लिए शंका (जिज्ञासा) प्रस्तुत करनी चाहिए। भगवतीसूत्र में भगवान् महावीर स्वामी से गणधर इन्द्रभूति गौतम के द्वारा किये हुए ३६ हजार प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है। यह तो जैनदर्शन की प्राचीन शैली है कि जिज्ञासा शंका या पृच्छा प्रस्तुत किये बिना उत्तमरूप से तत्वज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। इसी तरह किसी भी वस्तु का सांगोपांग ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन जैन दार्शनिकों ने बताया था—[1] प्रमाणों और नयों से ज्ञान होता है, इसी प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, विधान, सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि प्रश्नों के द्वारा प्रत्येक वस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। इसलिए इस प्रकार के प्रश्न-प्रतिप्रश्न एवं शंका-समाधान की पद्धति बहुत ही उत्तम है, तत्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आसान भी है, शिष्य-प्रशिष्य-परम्परा से लाभ के लिए समीचीन भी है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्व के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर दी है।

आत्मतत्व के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा क्यों ?

प्रश्न होता है कि योगी श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्व के विषय में शंका प्रस्तुत क्यों की ? इसका परमात्मा की स्तुति से क्या ताल्लुक है ? इस जिज्ञासा का एक [समाधानरूप] कारण तो स्वयं श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध में बताया है। परन्तु समाधान का मुख्य मुद्दा यह नहीं है। मुख्य मुद्दा तो यह है कि जैनधर्म की तमाम साधनाओं, व्रतों, नियमों एवं

---

१. 'प्रमाणनयैरधिगमः, निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-विधानतः'।
'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च'—तत्वार्थसूत्र

क्रियाओं अथवा तत्वज्ञानप्राप्ति या शास्त्रों के अध्ययन आदि के मूल में आत्मतत्त्व का ज्ञान होना अनिवार्य है। आत्मा का स्वरूप भलीभाँति जाने बिना किसी भी धर्मतत्व का आचरण, क्रिया, शास्त्राध्ययन या व्रतनियमपलन का कोई अर्थ नहीं रहता। अगर आत्मा को जाने बिना ही किसी क्रिया को मात्र देखादेखी या गतानुगतिकता अथवा लकीर के फकीर बन कर परम्परा-गतरूप से की जाएगी, अथवा अन्धविश्वास या शुभभावना से की जाएगी, तो वह केवल स्वर्गादि शुभफल दे कर समाप्त हो जाएगी, परन्तु वह जन्म-मरण के बंधन काट कर मोक्षफल-दायिनी नहीं हो सकेगी। इसीलिए आत्मस्वरूप जानने के बाद ही कोई भी साधना या प्रवृत्ति अथवा धर्मक्रिया आदि सार्थक प्रतिफल दे सकती है, और उसी का फल मोक्ष है। इसीलिए भगवान् महावीर ने फरमाया था—'जो आत्मवादी है, वही लोकवादी (लोकपरलोक को मानने वाला) है, जो लोकवादी है, वही कर्मवादी (कर्मों के कर्तृत्व भोक्तृत्व-बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध में विश्वस्त) है, तथा जो कर्मवादी होता है, वही क्रियावादी (कर्म-बन्धन से बचने और कर्मों से मुक्त होने के लिए आत्म-स्वरुप-लक्षी पुरुषार्थ करने वाला) १ होता है। इस दृष्टिकोण से योगी-श्री द्वारा सर्वप्रथम आत्मतत्व की जिज्ञासा प्रस्तुत करना न्यायोचित है।

आत्मतत्व की जिज्ञासा का दूसरा कारण, जो श्रीआनन्दघनजी के स्वयं प्रस्तुत किया है, वह यह है कि आत्मतत्त्व का जानना सर्वप्रथम इसलिए जरूरी है कि जिनशासन का यह नियम है कि मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन अनिवार्य है। आत्मतत्व की सम्यक् जानकारी और सच्ची तत्वश्रद्धा के विना निर्मल (शुद्ध) चित्तसमाधि (मनः-स्वस्थता) नहीं होती। मनःस्वस्थता के विना किसी भी प्रवृत्ति, क्रिया या ज्ञान-प्राप्ति आदि को साधक विना मन से, सूने मन से बिना भावों का तार जोड़े ही करेगा, उससे उस क्रिया या प्रवृत्ति में सजीवता, स्फूर्ति या चेतना नहीं आएगी। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—आतमतत्त्व जाण्या विण

---

१. "जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई, जे कम्मावाई से किरियावाई।

—आचारांगसूत्र प्रथम श्रु०

निर्मल चित्त-समाधि न वि लहियो'। निष्कर्ष यह है कि पवित्र चित्तशान्ति के लिए और पवित्रचित्तसमाधि से शुद्धात्मा (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आत्मतत्त्व का ज्ञान होना जरूरी है।

परमात्मा से आत्मतत्त्व की जिज्ञासा क्यों?

अब सवाल यह होता है, कि ठीक है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होना सर्वप्रथम जरूरी है, पर किसी धर्मगुरु, दार्शनिक या मतपंथवादी से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान हो सकता था, परमात्मा से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान पाने की इच्छा क्यों प्रगट की? इसका समाधान यह है कि धर्मगुरु, दार्शनिक या मतपंथवादी वीतराग या सर्वज्ञ नहीं हुए, तब तक वे छद्मस्थ या अल्पज्ञ ही कहे जा सकते हैं, भले ही वे पद, प्रतिष्ठा और वैभव में कितने ही महान् हों। इसलिए उनके कथन में, कहीं जरा-सा भी पंथराग, परम्पराराग, गुरुराग आदि आ सकता है, भले ही वह प्रशस्तराग ही क्यों न हो! इसलिए छद्मस्थ द्वारा कथित आत्मतत्त्वज्ञान में कहीं स्वत्वमोह, परम्परामोह आदि के कारण यथार्थ वस्तुस्वरूप के यथार्थ कथन में कहीं दोष आ सकता है। इसलिए पूर्व-स्तुति में कथित १८ दोषरहित, वीतराग, अपक्षपाती, यथार्थ वक्ता, आप्तसर्वज्ञ के समक्ष ही श्री आनन्दघनजी ने अपनी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है, ताकि उन्हें यथातथ्यरूप से आत्मतत्त्व का सांगोपांग समाधान मिल सके।

परमात्मा के समक्ष शुद्ध आत्मतत्त्व की जिज्ञासा इसलिए भी प्रस्तुत की है कि वीतराग परमात्मा इस मार्ग के यथार्थ अनुभवी हैं। सच्चा मार्गदर्शक वही हो सकता है। जिसने मार्ग को स्वयं तय किया हो। जिसने मार्ग का स्वयं अनुभव नहीं किया, वह मार्गज्ञ न होने पर भी विविध धर्मग्रन्थों या शास्त्रों के अध्ययन पर से उस मार्ग के सम्बन्ध में जानकारी भी दे देगा, लेकिन उसकी वह जानकारी स्वतः अनुभूत नहीं होगी, परतः ग्रन्थों या शास्त्रों से) अनुभूत होगी। वीतराग परमात्मा तो आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेषादि विकारों से जूझ कर एक दिन आत्मा के परमशुद्धस्वरूप (परमात्मतत्त्व को पा चुके हैं, इसलिए आत्मा के शुद्धतत्त्व का उनका ज्ञान उधार लिया हुआ नहीं है, स्वतः अनुभूत है, स्वयंसाक्षात्कृत है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सीधा ही प्रश्न पूछते हैं—प्रभो! आपने किस आत्मतत्त्व को यथार्थ जाना है? अथवा कौन-सा आत्मतत्त्व आपकी दृष्टि में यथार्थ

है ? अथवा शुद्ध आत्मतत्त्व को आपने कैसे जाना था ? मैं उसे कैसे जान सकता हूँ ? इस प्रश्न में 'कयु' शब्द से यह भी द्योतित होता है कि आत्मा के सम्बन्ध में उस युग में विभिन्न मान्यताएँ (या दर्शन व मत) प्रचलित थीं, उन्हें देखते हुए वीतरागप्रभु को निष्पक्ष वक्ता मान कर उन्हें न्यायाधीश के रूप में समझ कर उनसे निर्णय मांगा गया है कि कौन-सा आत्मतत्त्व यथार्थ है ? यानी आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलित विभिन्न दर्शनों के मतों को देखते हुए आपने कौन-सा मत (तत्त्व) यथार्थ जाना है? वास्तव में श्रीआनन्दघनजी ने तत्त्वज्ञान के एक मूल सिद्धान्त (Fundamental point) जिज्ञासा के रूप में प्रस्तुत किया है।

इसी के सन्दर्भ में वे अगली गाथाओं में विभिन्न दार्शनिकों के मन्तव्य क्रमशः प्रस्तुत कर रहे हैं—

कोई अबन्ध आतमतत माने, किरिया करतो दीसे।
किरियातरण फल कहो कुरण भोगवे, इम पूछ्यु चित्त रीसे ॥मु० २

जड़चेतन ते आतम एक ज, स्थावरजंगम सरिखो।
सुख-दुःख-संकर दूषरण आवे, चित्त विचार जो परिखो ॥मु०॥३॥

एक कहे नित्य ज आतमतत, आतमदरसरण लीनो।
कृतविनाश अकृतागम दूषण, नवि देखे मतिहीरणो ॥मु० ॥४॥

सौगतमतरागी कहे वादी, क्षरिणक जे आतम जारणो।
बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख नवि घटे, एह विचार मन आणो ॥मु०॥५॥

भूतचतुष्कवर्जित आतमतत सत्ता अलगी न घटे।
अंध शकट जो नजर न देखे, तो शु कीजे शकटे ? ॥मु०॥६॥

अर्थ

कोई-कोई दार्शनिक (वेदांती और सांख्यमतवादी) आत्मतत्त्व को कर्मबन्ध-रहित (अबन्ध) मानते हैं, फिर भी वे शुभाशुभ मानसिक आदि क्रियाएँ (जप, तप, दान, सेवा आदि) करते देखे जाते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि बताइए, जब आत्मा बन्धरहित है तो, इन क्रियाओं का फल कौन भोगता है ? तब वे मन में गुस्से हो (क्रुद्ध) जाते हैं ॥२॥

कोई दार्शनिक (अद्वैतवादी) यों मानते हैं—पौद्गलिक जड़ (चैतन्यरहित) पदार्थ और चेतन (चैतन्यशक्ति सहित) ये दोनों स्थावर (पृथ्वीकायादि और जंगम (चलने फिरने त्रसकायादि) के समान हैं, सबमें एक ही आत्मा है; इन सबमें कोई अन्तर नहीं है। किन्तु ऐसा मानने पर सुख और दुःख का सांकर्य दोष आएगा, (यानी एक दूसरे का सुखदुःख एक दूसरे को भोगने का प्रसंग आएगा। अगर इस बात पर ठंडे दिल से विचार करेंगे तो हमारी बात में सत्यता की परीक्षा कर सकेंगे ॥३॥

एक दार्शनिक (अद्वैतवादी वेदान्ती) कहता है—आत्मतत्त्व सदा एकान्त (कूटस्थ) नित्य है। इस प्रकार नित्यात्म वादी अपने माने हुए आत्मदर्शन में लीन (ओतप्रोत) रहता है। परन्तु अपने कृत (किये हुए कर्म के फल) का विनाश और अकृत (नहीं किये हुए कर्मों का आगम (फल) मिलने लगेगा, इस दोष को मान्यता वाला मदबुद्धि नहीं देखता ॥४॥

सौगत (बौद्ध मतरागी वादी कहते हैं—यह (देहस्थित) आत्मा क्षणिक है क्षणभर में उत्पन्न और विनष्ट होता है। ऐसा समझ लो। किन्तु ऐसा मानने पर आत्मा में बन्ध-मोक्ष (कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का बन्धन एवं कर्मपुद्गलों से आत्मा का छुटकारा) तथा सुख-दुःख आत्मा में घटित नहीं हो सकते। कम से कम अपने दिल में यह विचार तो कर लो ॥५॥

कुछ भौतिकवादी कहते हैं—पृथ्वी, जल, तेज और वायु इन चार मूल भूतों (पदार्थों) के सिवाय आत्मतत्त्व का पृथक् कोई अस्तित्व नहीं है। अन्धा अगर रास्ते में पड़ी हुई गाड़ी को आँखों से नहीं देख सकता तो इसमें गाड़ी बेचारी क्या करे? गाड़ी का क्या दोष है? ॥६॥

भाष्य

सांख्य और वेदान्त की दृष्टि में आत्मा

पूर्वगाथा में श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा के सामने आत्म तत्त्व कौन-सा है, जिसे आपने यथार्थ जाना? इस प्रकार की जिज्ञासा प्रगट की है। उस युग में आत्मा के बारे में विभिन्न दार्शनिक अपना-अपना राग अलाप रहे थे, सभी एक दूसरे को मिथ्या और नास्तिक तक कह देते थे। ऐसे विवाद के घनान्धकार में श्रीआनन्दघनजी को रास्ता नहीं सूझ रहा था कि कौन-सा आत्मतत्त्व यथार्थ है, और वह परमात्मा के निकट ले जाता है, किसमें और कब मोक्ष जाने की योग्यता होती है? इन शंकाओं का समाधान पाने की दृष्टि से वे उस युग में आत्मा के सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं का सारा पुलंदा प्रभु के सामने रख देते हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर अपनी द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिका

में जिनेन्द्र की स्तुति करते हुए कहते हैं—[1]जो विवेकविकल लोग आत्मा को बन्धरहित, एक, नित्य (एकांत), क्षणक्षयी, असद्‌रूप सर्वथा-एकान्तरूप से मानते हैं, उन विवेकमूढ़ लोगों की समझ में वह भलीभाँति नहीं आया। अतः उसे समझने के लिए वही एकमात्र जिनेन्द्रपरमात्मा मेरे लिए शरणरूप हो।" इस स्तुतिपाठ में विविधरूप से आत्मा को मानने वाले ५ दार्शनिकों की मान्यता का जिक्र किया है, यही बात श्रीआनन्दघनजी ने क्रमशः दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी गाथा में प्रस्तुत की है।

सर्वप्रथम आत्मा के सम्बन्ध में सांख्यादि दर्शनों की मान्यता प्रस्तुत करते हुए वे कहते हैं— "**कोई अबंध आतमतत माने।**' अर्थात् सांख्यदर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को निर्लेप, निःसंग एवं निर्बन्ध मानते हैं। वे कहते हैं, 'असंगो ह्ययं पुरुषः' आत्मा कर्मों आदि से बिलकुल निर्लेप, है, इसलिए **'विगुणो न बध्यते, न मुच्यते,'** इस वेदवाक्य के अनुसार आत्मा सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों से रहित है, निर्लेप है, वह कुछ करता धरता नहीं है, सब कर्मों से बिलकुल अलग-थलग असंग रहता है। जो असंग रहता है, उसके बन्ध भी नहीं होता। प्रकृति ही त्रिगुणात्मका है, वही सब कार्य करती-धरती है, कर्म का बन्ध उसी को होता है। इस मान्यता में दोष बताते हुए योगीश्री कहते हैं—आत्मा को निर्लेप निर्बन्ध मानने वाले अपने सम्प्रदाय में प्रचलित विविध क्रियाएँ (दान देना, काशी में जा कर गंगास्नान करना आदि) करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव से दिखाई देता है कि वे मानसिक शुभाशुभ विचार, वाचिक सत्यासत्यवाणी का व्यापार, कायिक हलचल आदि स्पन्दमान क्रियाएँ करते हैं। सवाल होता है कि जब आत्मा अबन्ध है, तो ये क्रियाएँ कौन और किसके लिए करता है? जो क्रिया की जाती है, उसके करने वाले को फल भी अवश्य मिलता है। उनके शास्त्र का वचन

---

१. अबन्धस्तथैकः स्थितो वा क्षयी वाऽ—
प्यसद् वा मतो यैर्जडैस्सर्वथाऽऽत्मा ॥
न तेषां विमूढात्मनां गोचरो यः।
स एकः परात्मा गतिर्मे जिनेन्द्रः ॥२६॥

है—**'करेगा सो भोगेगा'**, **'सर्वा क्रिया फलवती प्रसिद्धा'** (सभी क्रियाएँ फल देनेवाली होती हैं) तब उनसे पूछा जाता है कि जब आप ये धार्मिक क्रियाएँ करते हैं अथवा आत्मा मन, वाणी और शरीर द्वारा स्थूल-सूक्ष्म क्रियाएँ करता नजर आता है, यह मेरा, आपका और सबका अनुभव है, तब यह बताइये कि इन क्रियाओं के फलस्वरूप पुण्य और पाप को कौन भोगता है ?

इसी प्रकार वेदान्ती भी आत्मा को निर्गुण मानते हैं। निश्चयनय से तो जैन-दर्शन भी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय एवं अकर्ता मानता है, व्यवहार नय से कर्मों का कर्ता-भोक्ता भी मानता है। परन्तु वेदान्ती तो आत्मा को अबन्ध मानते हैं। तब जप, तप, अनुष्ठान वगैरह क्रियाएँ वे किसके लिए किस प्रयोजन से करते हैं ? आत्मा और क्रिया का सम्बन्ध क्या ? और फिर उन क्रियाओं का फल कौन भोगेगा ? पूर्वोक्त दोनों दार्शनिकों के सामने इस प्रकार का प्रतिप्रश्न रखा जाता है कि वेदान्ती या सांख्यों की इन क्रियाओं का फल कौन भोगेगा ? आत्मा तो कर्म बांधता या तोड़ता नहीं, फिर भी आपकी क्रियाएँ चालू हैं, ऐसी परस्पर असंगत बातें क्यों करते हैं ? तब वे निरुत्तर हो कर रोष में आ जाते हैं और मन में कुढ़ने लगते हैं। अतः प्रभो ! इसका यथार्थ उत्तर आपसे मिलेगा, तभी मुझे सत्यतत्त्व की प्राप्ति होगी।

ब्रह्मैकत्ववादी की दृष्टि में आत्मा

ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि जड़ और चेतन दोनों ही ब्रह्म (आत्मा) रूप हैं। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि स्थावर तथा त्रसकायादि जंगम इन दोनों में आत्मा की दृष्टि से समानता है। सारा चराचर जगत् ब्रह्म (आत्म) मय है। उनके सूत्र हैं—**'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'**, **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन'** **'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति'** **'जले विष्णुः स्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके'** (सारी सृष्टि में एक ही ब्रह्म (आत्मा) है, ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह सारा चराचर जगत् ब्रह्म है. यहाँ नाना दिखाई देने वाला कुछ भी नहीं है। आत्मा एक है, वह सर्वत्र व्यापक है, नित्य है। इस चराचर में सब कुछ ब्रह्म है और कुछ भी नहीं है। जल में, स्थल में और पर्वतशिखर पर भी विष्णु (शुद्ध आत्मा) है।

इस प्रकार अद्वैतवादी की दृष्टि में जड़ और चेतन, चर और अचर समस्त पृथक्-पृथक् जीवों का अस्तित्व नहीं है, तथैव जड़ का अस्तित्व भी

अलग नहीं है। सभी जड़ और समस्त चेतन मिल कर एक ही आत्मा (ब्रह्म) इस जगत् में है। तथा सभी चराचर आत्माओं का एक ही स्वभाव है, एवं सारा जगत् ब्रह्ममय होने से जड़ भी चेतन में मिल जाता है और चेतन भी जड़ में मिल जाता है, तब दोनों एकमेक हो जाते हैं। इस अद्वैतमत के तीन प्रकार हैं- [१] शुद्धाद्वैत, [२] द्वैताद्वैत और [३] विशिष्टाद्वैत।

आत्मतत्त्व को अद्वैतमत की दृष्टि से स्वीकार करने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यों मानने पर प्रत्यक्षप्रमाण से पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले स्थावर और जंगम, जड़ और चेतन दोनों प्रकार के पदार्थ एकसरीखे हो जायेंगे। ऐसा होने पर संकर[1] [एक दूसरे में परस्पर मिश्रण] दोष [न्यायशास्त्र का दोष] आएगा। जैसे—जड़ को सुख-दु:ख का अनुभव नहीं होता, चेतन को दोनों का अनुभव होता है। जड़ और चेतन के लक्षण और उनकी व्यवस्था में अन्तर है। जड़चेतन-एकत्वमत को मानने पर ये लक्षण और व्यवस्था दोनों समाप्त हो जाएँगी। क्योंकि जड़ को भी चेतन की तरह सुख-दु:ख मानने पड़ेंगे और चेतना को भी जड़ के तरह सुखदु:खरहित मानना पड़ेगा। और स्थावरजीवों का परिणाम जंगमजीवों को और जंगमजीवों का परिणाम स्थावरजीवों को भोगना पड़ेगा, परन्तु वस्तुत: ऐसा होता नहीं। जगत् के सभी प्राणियों को ऐसा अनुभव नहीं होता। अत: यह संकरदोष भी आएगा। और फिर सुख [साता] का मीठा और दु:ख [असाता] का कड़वा अनुभव सर्वत्र सब जगह एक ब्रह्म मे ही मानने से अच्छे-बुरे अनुभवों का घोटाला हो जाएगा। दोनों प्रकार के अनुभव मिश्र हो जाएँगे। पशु और पक्षी, कीड़ा और रेंगने वाले सर्पादि सबका लक्षण [सांकर्य] एक हो जाएगा। यह घोटाला भारी उलझन पैदा करेगा। इसलिए इसमें हेत्वाभास दोष तो स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। इसलिए श्रीआनन्दघनजी उन अद्वैतवादियों से कहते हैं—'चित्त विचार जो परिखो'। अर्थात् अपने मत [विचारधारा] पर ठंडे [शान्त] चित्त

---

१. संकरदोष वह है, जिसमें अलग-अलग पदार्थों के लक्षण किसी एक ही लक्ष्य में घटित हो जांय। अत: लक्षणों का परस्पर एक दूसरे में मिल जाना संकरदोष है।

से विचार करके परखो तो सही। ऊपर बताए हुए तीन प्रकार के अद्वैतमत में से विशिष्टाद्वैत विष्णु-उपासक हैं, वे स्थावरजंगम सभी वस्तुओं में विष्णु को देखते हैं। उनके मत में जीवात्मा कभी परमात्मा नहीं होता। इसी प्रकार द्वैताद्वैत [निम्बार्क] मत में सुख और दुःख दोनों को एक माना जाता है, यह बात किसी तरह गले नहीं उतरती नहीं। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से वास्तविक आत्मतत्त्व को बताने की प्रार्थना करते हैं।

यद्यपि द्रव्यत्त्व की दृष्टि से सामान्यधर्म को स्वीकार करने वाले संग्रहनय की अपेक्षा से जड़ और चेतन जरूर एक हैं, परन्तु व्यवहारनय कीअपेक्षा से वे पृथक्-पृथक् भी हैं; मगर एकान्तरूप से दोनों को एक मानने पर सांकर्यदोष आता है।

आत्मतत्त्व को एकान्त नित्य मानें तो

अब श्रीआनन्दघनजी आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य मानने वाले अद्वैतवादी वेदान्त अथवा सांख्यदर्शन की परीक्षा करते हैं। अद्वैतवादी वेदान्त की एकान्त मान्यता है कि आत्मा सदोदित एक समान रहता है, वह कूटस्थ (घन की तरह स्थिर) है, उसमें कहीं भी परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार आत्मदर्शन करने में लीन हुए वेदान्ती अपनी मान्यता में उपस्थित होने वाले दोषों को मतिहीन बन कर देख नहीं सकते। इस मान्यता में दोष ये हैं—इस जीवन में प्राणी को सुख-दुःख के कारण मीठे या कड़वे फल का अनुभव होता है। एकान्तरूप से स्वरूप में लीन कूटस्थनित्य आत्मा तो कुछ भी करणी=क्रिया नहीं कर सकता, तथपि आत्मा तो अच्छे-बुरे परिणाम भोगता है, यह तो हम प्रतिदिन देखते हैं। हम सृष्टि में बड़े-बड़े दानकर्ताओं को देखते हैं, तपजपादि अनुष्ठान करते भी देखते हैं। आत्मदर्शन में लीन आत्मा तो भोक्ता नहीं हो सकता! तथापि हम राजा और रंक, धनाढ्य और दरिद्र का अन्तर देखते हैं। ये सब बातें एकान्त नित्य आत्मा में घटित नहीं हो सकतीं।

आत्मा को एकान्त नित्य मानने से सर्ववादीसम्मत और प्रत्यक्षादि से ज्ञात होने वाला कार्य-कारणभाव कथमपि किसी भी काल में घटित नहीं हो सकता! क्योंकि कार्य-कारणभाव में एक पदार्थ कार्यरूप में होता है,जबकि दूसरा पदार्थ कारणरूप होता है। अथवा एक ही पदार्थ की एक पर्याय (अथवा) कारणरूप और दूसरी पर्याय कार्यरूप बनती है। जैसे लोहे नामक

एक पदार्थरूप कारण से तार रूप कार्य उत्पन्न हुआ। और उस तार में से एक कड़ा बना लिया गया। इस तरह तार अब पर्याय होते हुए भी कारण बन गया और कड़ा हो गया कार्य। परन्तु अगर लोहा सदैव, नित्य एक अखण्डस्वरूप में ही रहे तो उसमें से तार या कड़ा कैसे बन सकते हैं? इसी प्रकार प्रत्यक्ष भौतिक विज्ञान के अनुसार घटित होने वाले कार्यकारणों को देखते हुए कुछ न कुछ संगति बिठानी ही पड़ेगी। जिस किसी भी तरह से आप (एकान्त नित्यवादी) कार्यकारणभाव बताएँगे, उसमें आपको अपने एकान्त नित्यवाद की मान्यता को काल्पनिकरूप से, चाहे वास्तविक रूप से बदलना ही होगा। इसके बिना कोई चारा ही नहीं है। आत्मा को नित्य मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं ,है लेकिन उनमें जरा भी परिवर्तन किये बगैर एकान्त नित्य मानने में आप सफल नहीं हो सकेंगे। अतः विश्व में प्राणियों में होने वाले परिवर्तनों की संगति बिठाने के लिए आत्मा को कथंचित् अनित्य मानना ही पड़ेगा। अगर कथंचित् अनित्य नहीं मानेंगे तो कार्यकारणभाव से इन्कार करना पड़ेगा। यह तो बीज के बिना फल पैदा करने के समान होगा। एक जाति के नर और मादा-प्राणियों से दूसरे प्राणियों की उत्पत्ति तथा बीज से अन्न वगैरह की उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती देखी जाती है, उसके (फल के) बिना ही काम चला लेना होगा।

यदि कहें कि ये सब बातें काल्पनिक हैं, भ्रम हैं, स्वप्नवत् आभास या अविद्याजनित अध्यास है, तब तो सारी दृश्यमान सृष्टि अविद्याभासित भ्रान्ति हो जाएगी। फिर सवाल होगा कि ब्रह्म के सिवाय आपके मत में और कुछ नहीं है तो यह भ्रान्ति या माया कहाँ से आ गई? यदि कहें कि यह तो मन की भ्रमणा है तो मन की भ्रमणा और मन की शुद्धि ये कहाँ से आ गए, एक ही ब्रह्म होने के बावजूद? यदि ये सब ब्रह्म (आत्मा) में आए हैं, तब तो ब्रह्म एक और एकस्वरूप (नित्य) नहीं नहीं रह सका। इसलिए आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य माने बिना कोई छुटकारा नहीं है। इतनी आपत्तियाँ होते हुए भी एकान्त नित्य मानेंगे तो आपके मत में अविद्या (अज्ञान) का नाश करने के लिए जो वेदान्तविधिशेषत्व का उपयोग करते हैं, विधि भी बताते हैं। अगर ब्रह्म सदा नित्य ही हो तो उसमें अविद्या से जनित अशुद्धि को दूर करने की विधिशेषत्व की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? एकान्तनित्य आत्मा

मानने पर जो कुछ भी प्रवृत्ति अविद्यानाशादि के लिए करेंगे, उसका फल तो आपको मिलेगा नहीं, इस दृष्टि से[1] कृत (फल) का नाश होगा और अकृत का आगम (दोष) होगा। आत्मा एकान्त नित्य एकरूप रहेगी, तो शुभाशुभ जो कर्म वेदान्ती करेगा, उसका तो नाश हो जाएगा, और व्रत नियमादि शुद्ध कर्तव्य नहीं करते हुए भी उनका फल मिला करेगा। यानी ऐसी स्थिति में कृतकर्म का फल नष्ट हो जाएगा और अकृतकर्म का फल मिलने लगेगा। अथवा अविद्या का नाश था ही, ब्रह्म ही अकेला था। वह आज भी है। अविद्या का नाशरूप फल तो विधिशेषत्व किए बिना भी था। इस तरह किये हुए पुरुषार्थ का नाश और नहीं करे हुए, की प्राप्ति ये दूषण अवश्यमेव आएँगे। आत्मा को नित्य मानने वाले की नजरों में मनुष्य मनुष्य के बीच में जो आज राई और पर्वत का-सा अन्तर है, वह क्यों नहीं आता ? क्या ये धनवान-गरीब मंदबुद्धि-तीव्रबुद्धि आदि भेद नित्य आत्मा मे हो सकते हैं परन्तु व्यवहार में दोनों ही हैं। अपनी बुद्धि में इस निष्पक्ष विचार का गज डाल कर देखें तो तुरन्त समस्या हल सकती है। अतः एकान्त नित्य आत्मतत्त्व का विचार दिमाग में जचता ही नहीं है, इसीलिए प्रभो ! मैं आपसे निर्विवाद सत्य शुद्ध आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ।

आत्मा क्षणिकवाद की दृष्टि में

क्षणिकमतवादी बौद्धमतानुरागी लोग कहते हैं—आत्मा क्षणविध्वंसी है, प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होता रहता है। प्रत्येक का आत्मा सदा एक समान नहीं रहता, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। पहले क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे क्षण नहीं रहता। पहले क्षण जो आत्मा विचार करता है, वह अलग और दूसरे क्षण विचार करता है, वह आत्मा अलग है। पृथक् पृथक् विचार करने वाला प्रतिक्षण बदलता रहता है। बौद्ध विज्ञानस्कन्ध को आत्मा कहते हैं; उससे ज्ञान होता है। अर्थात् अहं [मैं] का ज्ञान जिससे होता है, वह स्कन्ध और दूसरे स्कन्ध क्षण-क्षण में बदलते हैं, क्योंकि ज्ञान तो क्षण-क्षण में बदलता

---

१. कृतनाश का अर्थ है —पूर्ण कारण-सामग्री मिलने पर भी कार्योत्पत्ति न होना तथा अकृतागम का अर्थ है—कारण के विना ही कार्य उत्पत्ति होना।

है। जब आत्मा क्षणिक है तो सुखदुःख का अनुभव जरा-सी देर में कैसे सम्भव हो सकता है ? जब आत्मा एक ही क्षण टिकती है तो प्रत्येक बौद्ध शुभाशुभ अध्यवसायपूर्वक क्रिया करते हैं, चार आर्यसत्य, अष्टांग सत्य आदि के पालन की बात भी वे करते हैं, तब फिर शुभाशुभ कर्मबन्ध कैसे घटित होगा ? क्योंकि कर्म बँधने वाला तो क्षणभर में नष्ट हो गया, तथा कर्म से छुटकारा पाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रत्यत्न करने वाला आत्मा भी नष्ट हो गया, तब कर्मों से मुक्ति किसकी होगी ? पुण्यकर्म या पापकर्म करने वाला आत्मा जब क्षणभर में नष्ट हो गया तो फिर उसका शुभाशुभ फल कौन भोगेगा ? 'बुद्धदेव ने ४६ दिन तक समाधिसुख का उपभोग किया' ऐसा उनके सम्प्रदाय द्वारा मान्य पुस्तकों में है। वह क्षणिक आत्मा मानने वाले के लिए कैसे सम्भव हो सकता है ? क्योंकि ४६ दिनों में तो कई आत्माएँ बदल चुकी हैं।

दूसरी दृष्टि से देखें तो क्रिया से आत्मा के साथ कर्मरज लगते हैं। आत्मा के साथ उन कर्मों का क्षीरनीरन्यायेन बंध होता है, आत्मा आत्मा में स्थिर हो कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र, तप आदि क्रिया करता तथा स्वरूपरमण करता है, उससे पूर्वबद्धकर्मों का आत्यन्तिक छुटकारा [मोक्ष] हो जाता है, भला आत्मा को क्षणिक मानने पर बन्ध और मोक्ष कैसे घटित होंगे ?

इस प्रकार एकान्त क्षणिक आत्मा मानने पर उसका बन्ध-मोक्ष, पुण्यजनित कर्मफलस्वरूप सुख या पापजनित अशुभफलरूप दुःख उसमें घटित नहीं हो सकेगा। क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा को एक ओर तो क्षणिक मानते हैं, दूसरी ओर, आत्मा के बन्ध और मोक्ष को भी मानते हैं। यह वदतोव्याघात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है, जो गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है, बौद्ध दार्शनिकों के लिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु से प्रार्थना करते हैं—प्रभो ! किस प्रकार का आत्मतत्व सच्चा मानूं, यह कृपा करके मुझे बताइए।

चतुर्भूतवादियों की दृष्टि में आत्मतत्व

अब श्रीआनन्दघनजी कहते हैं कि दुनिया में चार भूतवादी भी आत्मा तो मानता है, मगर वह कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार

महाभूतों के सिवाय आत्मा नाम का कोई पदार्थ जगत् में है ही नहीं। इसलिए चार भूतों का समूह ही आत्मा है। यह चार्वाक का मत है। चार्वाक प्रत्यक्ष-वादी है। वह कहता है—आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई तो देता नहीं। न कोई परलोक वगैरह प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, और उक्त ४ भूत तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जैसे गोबर, गोमूत्र, आदि पदार्थों के एकत्र होते से ही विच्छू बन जाता है, अथवा Chemical Compound के मिलने से एक दवा बन जाती है। वैसे ही इन चार भूतों का संयोग होते ही आत्मा का प्रादुर्भाव इनमें से होता है। और इन्हीं चारभूतों के खत्म होते ही आत्मा भी खत्म हो जाता है। बस, यही आत्मा है। इसके अलावा कोई आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। उनसे पूछा जाय कि आत्मा जब भूतों के नष्ट होते ही यहीं नष्ट हो जाता है तो उसने जो शुभाशुभ कर्म किये हैं, उनका फल कब, और किसको मिलेगा? अगर कहें कि फल यहीं मिल जाता है, तब तो मुक्ति के लिए की जाने वाली या असत्यादि से निवृत्त होने और न होने वाले व्यक्तियों का धर्माचरण, जप-तप आदि व्यर्थ हैं, फिर तो पापकर्म करने वाले को भी कोई खटका नहीं रहेगा, क्योंकि आत्मा का फिर कुछ खेल है, वह यहीं पर है, परलोक में नहीं, ऐसा आश्वासन मिल जाने के कारण व्यक्ति क्यों धर्माचरण शुद्धात्मरमण आदि करेगा? वह निःशंक हो कर पापकर्म करेगा। क्योंकि चार्वाक की उक्ति उन्हें प्रेरणा देती है—"जब तक जीओ। सुख से जीओ। कर्ज करके घी पीओ। मृत शरीर के राख हो जाने पर उसका पुनः आगमन नहीं होता, यहीं खेल खत्म हो जाता है।"[1]

इसका खण्डन श्रीआनन्दघनजी इसी गाथा के उत्तरार्द्ध से करते हैं कि अंधा आदमी एक गाड़ी पर बैठ कर मुसाफरी कर रहा है। रास्ते में ही उससे किसी ने पूछा—"क्यों सूरदासजी! गाड़ी देख रहे हो न?" अगर वह गाड़ी से इन्कार करता है, अथवा उसकी नजरों में गाड़ी नहीं दिखाई देती, तो क्या गाड़ी नहीं है? इसमें गाड़ी का तो कोई दोष नहीं है। किन्तु तर्क यह है कि उस गाड़ी को चाहे वह अंधा आँखों से न देख सकता हो, परन्तु हाथ के स्पर्श से, गाड़ी की खड़-खड़ आवाज से, अथवा किसी विश्वस्त

१. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः?"

सत्यवादी मनुष्य के द्वारा बतलाने पर कि 'गाड़ी पास में ही है, इससे उस अंधे को मालूम हो जाता है कि गाड़ी मेरे पास ही है। क्या वह अंधा तब उस गाड़ी के अस्तित्व से इन्कार कर सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि स्पर्श से, आवाज से, प्रामाणिक पुरुष के वचन से, शाब्दप्रमाण से एवं अनुमानप्रमाण से उसने गाड़ी की जानकारी कर ली है। इसके बावजूद वह आँखों से गाड़ी न देखने के कारण हठपूर्वक इन्कार करता है, तो उसकी जिद्द ही कही जाएगी। इसी प्रकार चार्वाकमतवादी नास्तिक की नजर में कदाचित् पंचभूतों से अतिरिक्त आत्मा न आए, परन्तु उससे आत्मा के अस्तित्व या उपस्थिति से इन्कार कैसे किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा अनुमान, आगम, आदि प्रमाणों अनुभव आदि से ज्ञात होता है? चारभूत को ही आत्मा मानने से अनेक दोष आते हैं। इसलिए आत्मा के लिए चाहे वे हठपूर्वक इन्कार करें, क्या उससे दुनिया में आत्मतत्त्व अभाव या अतिस्त्व हो जाएगा। मृत मनुष्य या पशु में चारों भूत होते हुए भी वह चलता फिरता क्यों नहीं?' इससे मालूम होता है, इन चार भूतों से अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदार्थ है, जिसकी शक्ति से इन्द्रियाँ, मन या शरीरादि काम करते हैं।

वर्तमान भौतिक विज्ञान भी प्रायः प्रत्यक्ष को मान कर चलता है, परन्तु वह पूर्वज आप्तपुरुषों की रची हुई थ्योरी पर से पहले पहले प्रेक्टिकल एक्स-पेरिमेंट (प्रयोग) करता है, अनुमानप्रमाण से भी काम लेता है, इसलिए वह आत्मा का सर्वथा इन्कार करे, ऐसा जिद्दी नहीं है। युक्तियों से समझाने पर आधुनिक विज्ञान आत्मतत्व के विषय में मान भी सकता है। अतः इन भौतिकवादियों के प्रवाह में न बह कर प्रत्येक अध्यात्मसाधक को आत्मतत्त्व की छानबीन अवश्य करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीआनन्दघनजी आत्मा के विषय में विविध दार्शनिकों की अटपटी मान्यताओं को प्रस्तुत करके उनकी बात क्यों सच नहीं लगती? क्यों गले नहीं उतरती? इसे भी साथ ही साथ निवेदन करके पुनः भगवान् के चरणों में प्रार्थना करते हैं—"आपने जिस प्रकार के आत्मतत्व को सच माना हो, उसके विषय में बताइए। अब श्रीवीतराग परमात्मा इसके उत्तर में क्या कहते हैं, यह अगली गाथा में पढ़िए—

एम अनेक वादी मतविभ्रम संकट पड़ियो न लहे।
चिन्त समाध ते माटे पूछुं, तुमविण तत कोई न कहे ॥मु० ७॥

अर्थ

इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों दार्शनिकों) ने (आत्मतत्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण में धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन को, खासतौर से शान्ति के लिए। इसके बारे पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्षरूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्व क्या है ? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य

श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्व के विषय में परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिकों के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यों को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यों नहीं जचती ?, इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे हैं कि "प्रभो! इस प्रकार मैं अनेक मतवादियों की एकान्त विचारधारा आत्मतत्व के विषय में सुन कर वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनों के पृथक-पृथक् अभिप्रायों को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के संकट में पड़ गई है, कि कोई भी साधक ऐसे संकट में पड़ कर मन में किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मैं भी अपने मन की शान्ति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरुपाय हो कर मुझे आपको पूछना पड़ा है। क्योंकि चित्तसमाधि या आत्मतत्व के सच्चे जिज्ञासुओं को आपके सिवाय कोई भी तत्व (यथार्थ स्वरूप कह नहीं सकता। आप ही आत्मा का यथार्थ तत्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओं में आत्मतत्व के सम्बन्ध में प्रतिपादित विविध दार्शनिकों का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम में हों और उनकी बुद्धि कुण्ठित हो कर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओं में उन्होंने जो कहा है-'इम अनेक वादी मतिविभ्रम संकट पडियो न

लहे, इस बात के साथ कैसे संगति बैठेगी ? इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नहीं कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होंने आम आध्यात्मजिज्ञासुओं और मुमुक्षुओं के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियों की आत्मा के सम्बन्ध में पृथक् पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह वपले में पड़ जाती है। अनेक लोगों की परस्पर विरोधी एवं अपनी-अपनी युक्तियों की छटा से युक्त बातें सुन कर स्वाभाविक है कि आम (आदमी जिसका विविध दर्शनशास्त्रों का अध्ययन नहीं है, जो जैनतत्वज्ञान से अनभिज्ञ है, सहसा संशय में पड़ जाता है कि यह मत सच्चा है या वह मत ? आज भी पाश्चात्य संस्कृति या कामभोगोत्तेजक विचारधारा सुन कर बड़े-बड़े प्रभावित हो जाते हैं, वैसे भोगपरायण किन्तु भगवान्, पैगम्बर आदि पदों से विभूषित तथाकथित वाक्पटु लोगों की लच्छेदार और झटपट गले उतर जाने वाली युक्तियों, हेतुओं, दृष्टान्तों तथा आडम्बरों को देख कर वे हतप्रभ हो जाते हैं। हजारों-लाखों लोगों की भीड़ देख कर वे सोचने लगते हैं—इतने लोग इनकी बात सुनते हैं, तो क्या ये सब बुद्धू हैं ? इस प्रकार उनकी वुद्धि झटपट डांवाडोल हो उठती है। उनके दिमाग में तूफान खडा हो जाता है कि इतने बड़े माने जाने वाले व्यक्ति की बातें मिथ्या या सब कुछ असत्य कैसे हो सकती है ? जब तक उनके मन का प्रवल युक्तियों से यथार्थ समाधान न कर दे, तब तक उन्हें शान्ति नहीं होती। और यथार्थ समाधान तो निःस्पृह, निष्पक्ष, वीतराग आप्तपुरुष ही कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि छद्मस्थ व्यक्ति चाहे कितने ही महान् पद पर हो, बाहर से कितना ही त्यागी कहलाता हो, उसके द्वारा बेलाग और बेराग कहा जाना कठिन है। इसीलिए आनन्दघनजी ने अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के साथ साथ जगत् के आम साधकों को आत्मतत्त्व की सच्ची राह मालूम कराने हेतु अथवा सर्वसाधारण की बुद्धि को ऐसे वाक्पटु लोगों के जाल से निकालने के लिए वीतराग परमात्मा से यथार्थ आत्मतत्व कौन-सा है ? पूर्वोक्त दर्शनों की बातों में सचाई कितनी है ? यह जिज्ञासा पुनः प्रकट की है और यह भी प्रकट कर दिया है कि आपके (वीतराग) के सिवाय आत्मतत्व का यथार्थ ज्ञान कोई नहीं कह सकता। इसका कारण भी पुनः उन्होंने दोहराया है कि यथार्थ आत्मतत्व जाने विना चित्तसमाधि (मनःशान्ति) प्राप्त नहीं हो सकती।

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक की मनः शान्ति जहाँ तक नहीं होती, वहाँ तक वह शुद्धात्मस्वरूप में रमणता, या परमात्मा में तन्मयता कर नहीं सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने अपनी और समस्त मुमुक्षु साधकों की मनःशान्ति के लिए यह जिज्ञासा न्यायोचित ही प्रस्तुत की है।

जैनदर्शन के अनुसार यथार्थ आत्मतत्व कौन-सा और कैसा है? वह कैसे प्राप्त हो सकता है? यह अगली गाथाओं में पढ़िए—

वलतुं जगगुरु इणि परे भाखे, पक्षपात सब छंडी।
राग-द्वेष-मोह-पखवर्जित, आतमशुं रढ़ मंडी ॥श्री मु०॥८॥

आत्मध्यान करे जे कोऊ, सो फिर इण में नाऽऽवे।
वाग्जाल बीजुं सहु जाणे,[1] एह तत्व चित्त[2] चावे ॥श्री मु० ९॥

जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत(त्व)ज्ञानी कहिये।
श्रीमुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहिये ॥श्री मु०॥१०॥

अर्थ

पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में जगद्गुरु वीतराग प्रभु इस प्रकार (निम्नलिखित रूप में) कहते हैं - सब प्रकार का पक्षपात (एक मत का एकान्त आग्रह) छोड़ कर राग [मनोऽनुकूल इष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति मोह-आसक्ति]-द्वेष [मन के प्रतिकूल अनिष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति घृणा या अरुचि) मोह (ममत्व के कारण होने वाला उत्कट राग) तथा सभी प्रकार के पक्षपात से रहित जो अनन्तगुणमय आत्मा है, यों विचार करके उसके साथ दृढ़तापूर्वक एकाग्र हो जाओ, जुट जाओ ॥ ८ ॥

जो कोई साधक उस आत्मा का निर्विकल्प-समाधिरूप—द्रव्यार्थिक दृष्टि से ध्यान करता है, वह फिर राग-द्वेष, मोह, पक्षपात आदि के चक्कर में नहीं

---

१. जाणे' के बदले किसी-किसी प्रति में 'जाणो' है, तथा 'चावे' के बदले 'लावे' पद भी है।

आएगा, वास्तव में वह आत्ममय बन जाएगा। इसके सिवाय और जो भी वर्णन है, अलग-अलग विचार है, वह सब वाग्जाल है, वाणीविलास है। मन या आत्मा में इसी तत्त्व का बार-बार मनन-चिन्तन करे, यही बात हृदय में भलीभाँति जमा ले, इसी में तन्मय हो जाय ॥६॥

जिसने सत्यासत्य का विवेक करके ऊपर बताए हुए पक्ष (मार्ग या अभि-प्राय) का ग्रहण (स्वीकार) कर लिया, उसे ही वास्तविक तत्वज्ञानी कहना चाहिए हे मुनि सुव्रतनाथ ! आप कृपा करें तो हम [इस आत्मतत्त्व को आपके बताए अनुसार समझ कर) आनन्दघन [सच्चिदानन्दमय] पद (मोक्षस्थान) प्राप्त कर सकते हैं।

भाष्य

वीतरागप्रभु का उत्तर

यों तो वीतरागप्रभु निःस्पृह और निर्लेप है, वे किसी के प्रश्न का सीधा उत्तर दें, यह वस्तु उनके तीर्थंकरकाल में तो सम्भव हो सकती है, लेकिन सिद्धत्वकाल में नहीं। अतः श्रीआनन्दघनजी वीतरागद्वारा प्ररूपित शास्त्रों पर से आत्मतत्त्व के विषय में जो स्फुरणा हुई, उसे उन्हीं का उत्तर समझ कर उन्हीं के श्रीमुख से उत्तर दिलाते हैं, इसमें उनकी नम्रता, समर्पणवृत्ति और जिज्ञासावुद्धि परिलक्षित होती है। भगवान् वीतराग होने से सब प्रकार का पक्षपात छोड़ कर बिना किसी लागलपेट, मुलाहिजे अथवा किसी एक ओर झुकाव के सबकी समझ में आ सके, इस प्रकार (वीतराग-मुनिसुव्रतप्रभु) उत्तर देते हैं—भव्य जिज्ञासु ! वेदान्त, सांख्य, बौद्ध और नास्तिक आदि सभी एका-न्तवादियों के पक्ष को छोड़ कर, साथ ही अपने अन्दर रहे हुए राग, द्वेष, मोह (स्वत्वमोह, कालमोह) का त्याग कर अथवा राग-द्वेष-मोह-पक्षरहित शुद्ध (निर्दोष) निजात्मस्वरूप में तल्लीन (तन्मय) हो कर तीव्रता से जुट जाने से चित्तसमाधि अवश्य प्राप्त होगी। अर्थात् राग-द्वेष-मोह-पक्ष-जनित कर्मपुद्गलों से रहित आत्मस्वरूप में पूर्ण प्रीति करना आवश्यक है। इसका एक स्पष्ट अर्थ यह भी है कि आत्मा के अनुजीवी गुणों—ज्ञान-दर्शन-चारित्र में लीन हो जाना चाहिए।

यथार्थ आत्मतत्वज्ञान के लिए राग-द्वेष-मोह-पक्ष का त्याग जरूरी

सच्चा आत्मतत्त्वज्ञान कुछ त्याग की अपेक्षा रखता है। वह केवल पोथियों;

ग्रन्थों, शास्त्रों या गुरुओं से नहीं हो पाता। उसका कारण यह है कि पोथियाँ, ग्रन्थ या शास्त्र अपने आप में मूक होते हैं, वे किसी को बोल कर कुछ नहीं कहते, परन्तु अपनी निर्मल प्रज्ञा, जिज्ञासा एवं सरलबुद्धि ही सत्यासत्य का निर्णय कर सकती है। जब बुद्धि पर राग, द्वेष, मोह, पक्षपात, स्वार्थ या लोभ का पर्दा पड़ा रहता है, तब तक तत्त्व का सही निर्णय नहीं हो सकता। जैसे वैद्य द्वारा रोगी को रसायण दिये जाने से पहले उसकी मलशुद्धि की जानी आवश्यक होती है, वैसे ही शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने के लिए आत्मा, मन एवं बुद्धि पर लगे हुए विभिन्न आवरणों—मलों को दूर करना आवश्यक है। आत्मा में (मन, बुद्धि एवं हृदय में) जब तक राग का जोर रहता है, तब तक व्यक्ति निष्पक्ष निर्णय नहीं कर पाता। राग के कारण वह हर वस्तु पर अपनेपन की या अपने पुरानेपन की छाप लगाने लगता है, अपनेपन में ममत्व, मेरेपन, अहंत्व, अहंकार, अपनी जाति आदि का मद, स्वार्थ आदि गर्भित होते हैं। अतः उसके कारण बड़े-बड़े साधक यथार्थ तत्त्वनिर्णय नहीं कर पाते। यह राग की ही कृपा है कि जामाली जैसे उच्च साधक ने अपने मत की अलग प्ररूपणा करके आवेश में आ कर स्वमत की स्थापना की। यही हाल गोशालक आदि का था। आत्मतत्त्वज्ञान में दूसरा बड़ा बाधक कारण द्वेष है। जब व्यक्ति को किसी अमनोज्ञ या अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति एकान्तरूप से घृणा उपेक्षा, उदासीनता या रूखापन अथवा अरुचि हो जाती है अथवा किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति ईर्ष्या या पूर्वाग्रह हो जाता है, तो वह उसके प्रति बेरूखी या द्वेषदृष्टि रखने लगता है, और नहीं तो उसकी तरक्की देख कर तेजोद्वेष पैदा होता है। इसलिए द्वेष भी आत्मतत्त्व के जानने में विघ्न है। तीसरा बाधककारण है--मोह। मोहमोहित, मानव कल्याण-अकल्याण भले-बुरे या कर्तव्याकर्त्तव्य का भाव नहीं कर सकता। वह मोहवश बुराई को भी अच्छाई मानता है, जहर को भी अमृत मानता है, कुरूढ़ि को भी सुरूढ़िव, अनिष्ट को ईष्ट मानने लगता है। जैसे आँख में रतोंधी हो जाने पर सब चीजें लाल लाल या रंगीन दिखाई देती हैं। वैसे ही आत्मा पर मोह का रोग लग जाताहै, उसे आत्मा के विषय में सीधी और सच्ची बात उलटी लगती है, दुःखकारी परिग्रह उसे सुखकारी लगता है, विषयों की आसक्ति, जो दुःखकारक है, वह सुखदायक-सी लगती है, कषायों का शत्रुताभरा स्वभाव उसे मैत्री-पूर्ण लगता

है। इसलिए आत्मतत्त्व के जिज्ञासु को मोह से दूर ही रहना चाहिए। पक्षपात भी मोह का ही एक प्रकार है। पानी में मुंह तभी दिखाई दे सकता है; जब वह शान्त हो, चंचल न हो, गंदा न हो, मटमैला न हो; स्वच्छ हो, स्थिर हो। इसी प्रकार उसी आत्मारूपी दर्पण पर आत्मस्वरूप का यथार्थ चित्र दिख सकता है, जो स्वच्छ हो ; मोह, राग द्वेष आदि से मलिन, चंचल या पूर्वाग्रह से रहित हो। यही कारण है कि प्रभु ने अपने उत्तर में सीधी-बात कह दी है—जिसे यथार्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान करना हो, उसे किसी भी एकान्तवाद का पक्ष नहीं लेना चाहिए, साथ ही राग, द्वेष, मोह आदि से रहित हो कर निष्पक्षभाव से आत्मस्वरूपरमण में जुट जाना जाहिए।

शास्त्रों, विकल्पों, पक्षों, मतों आदि से इन्कार

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु पक्षों एवं राग-द्वेष-मोह आदि को छोड़ने का कहते हैं; लेकिन अब तक जिन संस्कारों में पले-पुसे हैं, जिस सम्प्रदाय से शिक्षा-दीक्षा पाई है, पहले से जिस मत, पंथ आदि को स्वीकार कर रखा है; जो विकल्प अब तक सुन-समझ रखे हैं, उन्हें कहाँ फैंक दें ? उन्हें कैसे दफना दें ? उन्हें फैंके या दफनाए बिना तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं होगा, यह तो भारी धर्मसंकट आ पड़ा है, जगद्गुरो ! इसका कोई अनुकूल समाधान दीजिए, जिससे मेरे चित्त में समाधि हो।"

इसका समाधान भगवान् यों करते हैं—**आतमध्यान करे जो कोऊ, सो फिर इण में नावे।** बात यह है कि सम्प्रदाय मत, पथ आदि के पूर्वसंस्कार या लगाव वैसे तो छूट नहीं सकता ; कोरी बातें करने से या थोथी डींग हाँकने से ये सब नहीं छूट सकते। इनके छोड़ने का सीधा और सच्चा उपाय यही है कि आत्मा को ध्येय बना कर जो व्यक्ति उसी का ध्यान करता है, उसी में तल्लीन हो जाता है, बाह्य व्यवहारों के समय निखालिस आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करने लगता है, और यों करते-करते जब उसका अभ्यास इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मा के सिवाय दूसरी ओर मन-वचन, काया जाते ही नहीं, तब वह फिर राग, द्वेष, मोह आदि के चक्कर में नहीं आएगा। यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति निखालिस आत्मा की ओर ध्यान देगा तो अपने-आप ही राग-द्वेषादि की ओर से उसकी वृत्ति विमुख हो जायगी। और राग-द्वेषादि को जब मुंह

नहीं लगाया जायगा, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखा जाएगा, तो वे स्वयमेव उपेक्षित हो कर चले जाएँगा। अब दूसरा एक सवाल यह खड़ा होता है कि सांख्य, वेदान्त आदि दर्शन जो अपनी-अपनी ओर से वजनदार युक्तियाँ, तर्क और हेतु दे कर आत्मतत्त्व के विषय में अपना-अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हैं, क्या राग-द्वेषरहित हो कर समभावपूर्वक उनकी बात को भी यथार्थ मान ली जाए ? इसके उत्तर में प्रभु कहते हैं—रागद्वेषरहित होने का अर्थ यह नहीं है कि विवेक छोड़ दिया जाय और सबकी जीहजूरी की जाय, 'गंगा गए गंगादास और यमुना गए यमुनादास' की तरह सब की हाँ में हाँ मिलाई जाए। इसके लिए तो वे साफ कहते हैं—"जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत्वज्ञानी कहिए" अर्थात् जो अपने विवेक की आँखें खुली रख कर मेरे (परमात्मा के) बताए हुए इस विचार-परामर्श को ग्रहण करेगा और तदनुसार चलेगा, वही असल में तत्त्वज्ञानी कहलाएगा) बाकी तो जो समता या वीतरागता की लंबी-चौड़ी बातें करके प्रसिद्धि के चक्कर में पड़े हुए हैं, जिनका मकसद अपनी नामवरी करने के लिए दुनिया की आँखों में धूल झौंकना है, वे लोग नकली या फसली तत्त्वज्ञानी हैं। उनसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

रही बात उनके द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यों को मानने की, सो हमने पहले ही कह दिया है कि जितने भी एकान्तवादी, मिथ्याग्रही या कोरी आत्मा की बातें बघारने वाले हैं, उनका पिंड छोड़ो, उनके चंगुल में मत फंसो। उनके मत-पक्ष के घेरे में फँसने से कोई लाभ नहीं है, सिवाय बौद्धिक व्यायाम या बहसबाजी के कुछ भी पल्ले पड़ने वाला नहीं है। साथ ही प्रभु ने एक बात और स्पष्ट कर दी है कि जिसे आत्मतत्त्व को पाना है, उसे दुनियादारों या मत-पक्षवालों की बातें [1] वाग्-जाल और चित्तभ्रम का कारण समझनी चाहिए। उनके शब्दजाल में कतई नहीं फंसना चाहिए।

केवल आत्मतत्त्व के ध्यान में डूब जाओ

इससे यह फलित होता है कि जो व्यक्ति आत्मतत्त्व के ध्यान में लीन हो जाता है, उसे फिर लम्बे चौड़े शास्त्रज्ञान की, पैनी बुद्धि करके तर्क-वितर्क

---

१. 'शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमणकारणम्'—शंकराचार्य

प्रस्तुत करने की, या बहस-मुबाहिसे की, अथवा किसी सम्प्रदाय, मत, पंथ, पक्ष, या परम्परा का आश्रय लेने की आवश्यकता नहीं। उसे इन सबको गौण करके केवल आत्मा के विषय में चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना चाहिए। फिर यह स्वाभाविक है कि जब उस महाभाग का ध्यान मुख्यतया आत्मतत्त्व की ओर ही होगा तो धन-सम्पत्ति, व्यापार-व्यवसाय, कुटुम्ब- परिजन, मित्र, पुत्र, पत्नी, माता, भगिनी, घर, ग्राम, देश, शरीर, अहंता--ममता, मोह, स्वार्थ मिथ्यात्व, राग,द्वेष, किसी सम्प्रदाय-मत-पक्ष का पक्षपात, वादविवाद शास्त्र-चर्चा, व्यवहारदृष्टि-ज्ञान-चारित्र, क्रियाकांड, या दुनियादारी की, चेलाचेली की या पंथ बढ़ाने की सब बातें गौण हो जाएँगी। वह आत्मा के ध्यान में ही तल्लीन हो कर गुण-पर्यायों के भेदों को गौण करके एक आत्मा का ही निश्चय-दृष्टि से ध्यान करेगा। निश्चयनय (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से आत्मा ही एक तत्त्व है, उसी तत्त्व में चित्त को तन्मय बना लेगा, इसके सिवाय सब वाणीविलास है, शब्दजालवत् हैं, शब्दादि का जाल है।

निष्कर्ष यह है कि यथार्थ आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए तीन शर्तें हैं— उसमें ही [१] राग, द्वेष, मोह और पक्ष का त्याग करना, [२] आत्मा का ध्यान करना, उसमें ही एकाग्र हो जाना, [३] एक बार रागद्वेपादि का कर्म छोड़ने के बाद संसार में कभी लौट कर न आना।

परमात्मा की कृपा : साधक के लिए महालाभ

श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा से आत्मतत्व प्राप्त करने की जिज्ञासा का समाधान पा कर अपने को धन्य और कृतंकृत्य समझा। और अपनी नम्रता पूर्वक प्रार्थना भगवच्चरणों में की है--**श्रीमुनिसुव्रत ! कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहीए'**। परमात्मा की कृपायाचना भक्ति की भाषा में सीधी प्रार्थना है, इसका तात्पर्यार्थ यह है कि आप मेरे आत्मविकास में परमावलम्बन बन कर प्रबल निमित्त बन जायँ तो मैं आपकी आत्मा के साथ (पूर्वगाथा में कहे अनुसार) अभिन्नभाव से रहूँ। अगर मुझे अपनी आत्मा में स्थिर होने की शक्ति मिल जाय तो अवश्य ही आनन्दमय शुद्धस्वरूप— वाला शुद्धात्मपद परमात्मपद प्राप्त हो जाय। फिर मैं ऐसे सच्चिदानन्दपद में प्रविष्ट हो जाऊँगा कि वहाँ से फिर लौट कर जन्म-मरण के चक्र में नहीं आना पड़ेगा।

सारांश

इस स्तुति में योगीश्री ने सर्वप्रथम प्रभु के सामने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है, प्रभु से इस जिज्ञासा के समाधान का कारण भी उन्होंने बताया है। फिर वेदान्त, सांख्य, अद्वैतनित्यवादी एवं नास्तिक आदि दर्शनों के मन्तव्य प्रस्तुत करके पुनः प्रभु के सामने अपनी उलझन रखी है। जिसका उत्तर प्रभु ने निष्पक्षरूप से दिया कि राग द्वेष-मोह आदि से दूर हो कर केवल आत्मतत्त्व में डुबकी लगाओ, सभी वादविवादों को छोड़ कर एकमात्र आत्मध्यान में लीन हो जाओ। अन्त में, श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मतत्त्व को पाने की कृपा-प्रार्थना की जिस कृपा से सच्चिदानन्दमय शुद्धात्मस्वरूप मोक्षपद का लाभ प्राप्त होने की आशा भी प्रगट की है।



२१ : श्रीनमिजिन-स्तुति—

वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक

तर्ज- धन धन सम्प्रति राजा साचो, राग-आशावरी ।

षड्दर्शन जिन- अंग भणीजे, न्यास षड्ंग जो साधे रे।
नमिजिनवरना चरण-उपासक, षड्द र्शन आराधे रे ।।षड्० १।।

अर्थ

सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसक, लोकायतिक और जैन आदि ६ दर्शन जिन (वीतराग परमात्मा) के ६ अंग हैं, बशर्ते कि छहों अंगों की स्थापना ठीक ढंग से की जाय। जो नमिजिनवर (वीतरागप्रभु) के परम चरण-उपासक हैं, वे छहों दर्शनों की यथार्थ आराधना करते हैं। उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाते हैं।

भाष्य

वीतराग-उपासक का दर्शन : उदारदृष्टिपूर्ण

पूर्वस्तुति में श्री आनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मा के स्वरूप के विषय में पूछा था, उसमें आत्मा के सम्बन्ध में विविध दार्शनिकों के मत बता कर एकान्त मतवादियों के मत में क्या-क्या दोष हैं? यह बताया था। उसी सिलसिले में एक प्रश्न गर्भित है कि तो फिर वीतराग-परमात्मा के उपासक का दर्शन कैसा होगा? आत्मा-परमात्मा, जीवन और जगत् के सम्बन्ध में विचार करने वाले विविध दर्शनों के विषय में उसका क्या दृष्टिकोण होगा? वीतराग परमात्मा के अनेकान्तवाद का उपासक अपनी दृष्टि से उन छहों दर्शनों में से किसको कहाँ स्थान देगा? ये और इन्हीं कुछ उठने वाले प्रश्नों के उत्तर में श्रीआनन्दघनजी ने इक्कीसवें तीर्थंकर श्रीनमिजिनवर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के चरण-उपासक के उदार विचारदर्शन को स्पष्ट किया है। साथ ही यहाँ यह भी ध्वनित कर दिया है कि वीतराग-परमात्मा का सच्चा चरण-उपासक कौन हो सकता है?

संसार में विचार बहुत से लोग करते हैं, पर वे दीर्घदर्शिता तथा व्यापकदृष्टि से विचार नहीं करते, उनका विचार एकांगी, एकपक्षीय होता है, अपने मत-पक्षकी चहारदीवारी में सीमित होता है। संसार की प्रचलित विचारधाराओं की छानबीन करने में उनकी सत्यग्राही जिज्ञासा नहीं होती, इसी कारण उनमें मतसहिष्णुता, विचारसहिष्णुता तथा आचारसहिष्णुता नहीं होती, वे बात-बात में झल्ला उठते हैं, सत्य की तह तक पहुँचने के लिए जो धैर्य, विवेक और अनेकान्तदृष्टि होनी चाहिए, उसकी उनमें कमी होती है। असल में, जिसमें विशालदृष्टि, सहिष्णुता, दीर्घदर्शिता और युक्ति एवं अनुभूति नहीं होती, वह भगवान् सत्य के चरणों का उपासक नहीं हो सकता। दर्शनविशुद्धि, चारित्रशुद्धि और ज्ञानशुद्धि का प्रथम अंग है, उसके बिना कोई भी क्रिया, जप,तप आदि सफल नहीं हो सकते। चूंकि सम्यग्दृष्टि होने पर उसकी दृष्टि में जादू आ जाता है, वह जिस-शास्त्र, मत, विचारधारा या आचारपद्धति को देखता है, उसे जैनदृष्टि में समाविष्ट करने और सत्यांश को विनयपूर्वक अपनाने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है। इसीलिए नंदीसूत्र में कहा है—**एआइं चेव समदिट्ठिस्स समत्तपरिग्गहत्तेण सम्मसुयं, मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहत्तेण मिच्छासुयं**।' ये जो तथाकथित मिथ्याश्रुत में परिगणित शास्त्र हैं, वे सम्यग्दृष्टि के लिए सम्यग्रूप से ग्रहण करने के कारण सम्यक्श्रुत हैं और ये ही सम्यक्श्रुत में परिगणित शास्त्र मिथ्यादृष्टि के लिए मिथ्याशास्त्र हैं, क्योंकि वह विपरीतरूप में अपनाता है।

वीतरागपरमात्मा का चरण-उपासक कौन, क्यों, कैसे?

यही कारण है कि श्री आनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा के चरणोपासक बनने के लिए इस स्तुति में कुछ शर्तें प्रस्तुत की हैं; निम्नलिखित मुद्दों में आ जाती हैं—

१—विविध दर्शनों के सम्बन्ध में सहिष्णुता और यथायोग्य स्थापना की दृष्टि हो।

२—सबको अपने में समाने की सम्यग्दृष्टि हो।

३—सत्याग्राही जिज्ञासा, धैर्य, विवेक, एवं दीर्घदर्शिता हो।

४—वीतराग की सर्वांगीण आज्ञा का पालन ही सर्वांगसेवा हो।

५—जैनदृष्टि मुख्यतः अभेदवादी होने से आचारसहिष्णुता हो।

६—तथाभव्यता की-सी महाकरुणा हो; ज्ञानादि के प्रति विनयभावना हो।

जगत् में सामान्यतया विविध मत, पंथ, दर्शन या धर्मसम्प्रदाय के लोग अपने मतादि को मानने वाले को ही प्रभु का भक्त या भगवान् के चरणों का उपासक कह देते हैं। वे न तो उसकी विचारधारा की यथार्थ छानबीन करते हैं, और न ही उस तथाकथित प्रभुभक्त के आचरण की कोई कसौटी निर्धारित करते हैं। परन्तु जैनदर्शन में वीतराग-परमात्मा का भक्त या चरण-उपासक वंशपरम्परा से, पैतृकपरम्परा से, अन्धभक्ति से, भगवान् की महिमा बढ़ाने के लिए सिर्फ धन खर्च कर देने से, या किसी अमुक उच्च माने जाने वाले कुल, वंश, जाति, धर्मसम्प्रदाय या राष्ट्र में पैदा होने से अथवा किसी सत्ता को हथिया लेने से या लौकिक पद को पा लेने मात्र से नहीं हो सकता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही वीतराग के चरणसेवक, परमात्मा, उपासक या श्रावक के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य माने जाते हैं। यहाँ तो किसी भी जाति, कुल, वंश आदि की परम्परा से नहीं, रत्नत्रय के आचरण से ही किसी को भक्त या उपासक माना गया है। हरिकेशीबल-मुनि जाति से चाण्डाल थे, धर्मपरम्परा से भी शायद वे अपने पूर्व-जीवन=गृहस्थाश्रम में जैनधर्म-परम्परा के नहीं रहे, किन्तु उनका दर्शन, ज्ञान और चारित्र उज्ज्वल था, अर्जुनमालाकार का पूर्वजीवन भी हिंसक बना हुआ था, न वह जातिपरम्परा से जैन था, लेकिन अपने जीवन में उसने रत्नत्रय को अपनाया और क्षमाशील बन कर अपूर्व श्रद्धा के साथ चारित्रपालन किया, जिसके कारण वीतराग तीर्थंकर महावीर का वह परम-उपासक साधु बना। लेकिन कोणिक सम्राट् जैसे व्यक्ति सत्ता, जाति, कुल परम्परा या अन्धभक्तिवश भगवान् वीतराग का भक्त बनने चले, वे सच्चे माने में प्रभुभक्त बनने में सफल न हुए। इसी प्रकार जिन्होंने ने अपने अहंत्व और ममत्व (मेरा धर्म, मेरे भगवान्, मेरा पंथ आदि) की दृष्टि से भगवान् का आश्रय लिया, अपने पापों पर पर्दा डालने या अपनी नामवरी या प्रसिद्धि के लिए अथवा जनता में अपनी धाक जमाने के लिए वीतराग प्रभु के नाम और स्थूल चरण को पकड़ा, वे भी यहाँ सफल न हो सके। सफल वे ही हुए, जिन्होंने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यक् धर्माचरण (चारित्रपालन) के लिए अपने को तैयार किया; ऐसे महानुभाव चाहे जिस

देश, वेष; जाति, कुल; धर्म-सम्प्रदाय या दर्शन के रहे हों; वे गृहस्थाश्रम में रहे हों; वे स्त्री हों, पुरुष हों; या चाहे नपुंसक, उन्होंने अपने आप बोध प्राप्त किया हो; या वे किसी की प्रेरणा से प्रतिबुद्ध हुए हों; जैनदर्शन ने उन सत्य के पुजारियों को कभी पराये नहीं माने और न उन्हें प्रभु के भक्त; श्रावक; उपासक या साधु कहने से इन्कार किया है और न ही उनके मोक्ष (परमात्म-मिलन); मुक्ति या कर्मबन्धन से छुटकारे की साधना पर कोई प्रतिबंध लगाया है; न किसी प्रकार की अपने माने हुए तथाकथित नामों की ही पाबंदी लगाई है। यही कारण है कि जैनदर्शन में १५ प्रकार में से किसी भी प्रकार से मुक्त (परमात्मा) होने को मुक्त माना है; जबकि दूसरे दर्शनों में अपने माने जाने वाले धर्मसम्प्रदाय; भगवान् या प्रवर्तक (मसीहा या पैगम्बर) के मानने वालों या अमुक जाति, कुल या वेष वालों को ही मुक्त; परमात्मभक्त, या साधक माना है; दूसरों को नहीं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के चरण-उपासक की सर्व-प्रथम कसौटी यह बताई है कि परमात्मा-वीतराग के चरण उपासक की दृष्टि इतनी व्यापक, सत्यग्राही; उदार और सहिष्णु हो कि वह छहों दर्शनों को वीतराग (परमसत्य) प्रभु के अंग माने, कहे और उनका समायोजन या स्थापन इतने सुन्दर ढंग से करे कि सबको यथायोग्य स्थान मिल जाय; सबको जिनवर के दर्शन में समाविष्ट कर सके। कोई भी दर्शन उसके लिए पराया न रहे। और ऐसा तभी हो सकता है; जब मनुष्य अनेकान्त की केवल बातें न करे; अपितु अनेकान्त को जीवन में आचरित करके बताए।

बहुधा ऐसा होता है कि जैन और वीतरागभक्त कहलाने वाले तथाकथित आचार्य; धर्मोपदेशक; मुनिपुंगव; श्रमणोपासक या जिनभक्त जनता के सामने तो समता और अनेकान्त की बड़ी-बड़ी बातें करेंगे; किन्तु जहाँ आचरण का प्रश्न आएगा; वहाँ वे पीछे हट जाएँगे; वहाँ वे बगलें झांकने लगेंगे और कहेंगे-अपना अपना है; पराया पराया है। जरा से विचारभेद के कारण दूसरे को मिथ्यादृष्टि, नास्तिक या न जाने क्या क्या घृणासूचक शब्दों से पुकारेंगे, वहाँ उनका समतादर्शन या अनेकान्त-दर्शन छूमंतर हो जाएगा। इतना ही नहीं, बल्कि तथाकथित सम्यग्दृष्टि जिनभक्त अंदर ही अंदर अपने भक्तों या अनुयायियों में जरा-सी विचार-आचारभिन्नता को ले कर चलने वालों की निन्दा, झूठी आलोचना और व्यर्थ छीछालेदर में घंटों बिता देंगे, अपने समत्व को,

ानसिक सन्तुलन को, अपने सम्यग्दर्शन की व्यापक सर्वभूतात्मदृष्टि को ताक
ं रख कर जैनधर्म और दर्शन की मिट्टी पलीद करने लगेंगे । इसी कारण
ीतराग के चरण-उपासक की कसौटी में योगी श्रीआनन्दघनजी की अनुभूति
के स्वर फूट पड़े—षडदर्शनजिन-अंग भणीजे, न्यास षडंग जे साधे रे, नमि-
जिनवरना चरण-उपासक षड्दर्शन आराधे रे।" तात्पर्य यह है कि इस गाथा
ें वीतराग-चरण-उपासक की सभी कसौटियाँ आ जाती हैं।

कई तथाकथित जिनभक्त यह तर्क प्रस्तुत किया करते हैं कि ऐसा करने
से तो गुड़-गोबर सब एक हो जाएगा, कहाँ वीतराग का शासन, धर्म या दर्शन
और कहाँ ये क्षुद्राशय मत या दर्शन ! इन सबको एक ही पलड़े में रखना
कैसे ठीक रहेगा ? क्या वीतरागभक्त, या सम्यग्दृष्टि के लिए अपना-पराया
कुछ नहीं रहेगा ?

फिर दूसरी युक्ति यह देते हैं कि इन एकांगी और एकान्तवादी मतों या
दर्शनों को हम सच्चे दर्शन या वीतराग के अंग कैसे कह सकते हैं ? कदाचित्
हम ऐसा कह भी दें तो वे लोग (विभिन्न दर्शनों के अनुयायी या मानने वाले
लोग) तो अपने ही धर्म-सम्प्रदाय, मत-पंथ या दर्शन को सच्चा और अन्य
सबको झूठे मानते हैं, ऐसी दशा में हम उन्हें जिनवर के अंग कैसे कह दें ?
कैसे उन्हें अपने दर्शन की तरह मान लें ?

इसका समाधान यों किया जा सकता है, जिसे इस स्तुति में आगे
श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्टरूप से द्योतित भी किया है कि वीतराग परमात्मा का
उपासक संकीर्ण, राग-द्वेषवर्द्धक, ममत्ववर्द्धक दृष्टि का नहीं हो सकता। वह
अपना सो सच्चा, इस सिद्धान्त के बदले 'सच्चा सो अपना' इस सिद्धान्त का
हिमायती होगा। और इस सिद्धान्त की दृष्टि से वह सत्यग्राही होगा, जिज्ञासु
होगा, नम्र होगा, जहाँ-जहाँ सत्य (सम्यग्ज्ञान) मिलता होगा, बिना किसी संकोच
के छहों दर्शनों में जो सत्य निहित है, उसे नम्र बन कर अपनाएगा, उसकी दृष्टि
अनेकान्त की स्पष्ट, उदार, व्यापक, सर्वांगी और सबको अपने में समाने
की होगी। उसमें विचार-आचारसहिष्णुता होगी। जब ३६३ पाषण्ड-मतों का
का समन्वय जैनधर्म और जैनदर्शन में किया गया है, तब इन छह दर्शनों का
का समावेश करना, समन्वय करना कौन-सी बड़ी बात है ? परन्तु वीतराग-
प्रभु का चरण-उपासक सबकी जी-हजूरी करने वाला, सबकी हाँ में हाँ

मिलाने वाला, अविवेकी नहीं होगा, वह सबको विविध नयों की दृष्टि से अपना-अपना उचित स्थान मिले, सबको न्याय मिले, किसी एक के प्रति या अपने माने जाने वाले के ही प्रति पक्षपात न हो, यही समता का यथार्थ अर्थ मानता है। इस दृष्टि से समता का अर्थ सबको एक सरीखा मानना और सबकी एक ही दृष्टि समझना, गलत है। ऐसा होना भी असम्भव है। यही कारण है कि तीर्थंकरों ने १५ प्रकार से सिद्ध (मुक्त) होने का जो निर्देश किया है, उसमें किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया, अपितु यथायोग्य न्याय दिया है, न कि सबको राजी रखने की नीति अपनाई है। उसी दृष्टिकोण से श्रीआनन्दघनजी नमिजिनवर (वीतराग के चरण-उपासक की दृष्टि, व्यवहार, आचरण और विचार को यहाँ पूर्णतया स्पष्ट कर देते हैं कि वह छहों दर्शनों का आराधक (आदरपूर्वक अपनाने वाला) होगा, सभी दर्शनों को यथायोग्य स्थान पर स्थापित (न्यस्त) करेगा, और छहों दर्शनों में निहित सत्य के कारण उन्हें जिनवर के अंग मानेगा। वही नमिजिनवर का चरण-उपासक होगा।

अब रहा सवाल, दूसरों के द्वारा अपने दर्शन के सिवाय अन्य सबको झूठे मानने और एकान्त एकपक्षीय मत वाले दर्शन को जिनवर के अंग कहने का। हो सकता है कि दूसरे दर्शनों वाले ईर्ष्यावश या अन्य राग-द्वेषादि विकारवश अनेकान्तदृष्टि से हमारी तरह सब दर्शनों को न माने, न समन्वय करे और एकान्तमत की ही प्ररूपणा करे; परन्तु वीतराग के चरणों का उपासक ऐसा नहीं कर सकता। यहाँ तो स्पष्ट आराधना-सूत्र बताया गया है—'उवसमसारं खु सामण्णं' श्रमणसंस्कृति का सार कषायों [रागद्वेषों] का उपशमन [शान्त] करना है। दूसरा कोई उसकी बात सुने या न सुने, माने या न माने, सत्यग्राही दृष्टि वाला अपनी अनेकान्त और नयप्रधान दृष्टि से सबको उचित स्थान देगा, वह दूसरे दर्शनों की देखादेखी अपने मत को ही सच्चा और दूसरे सब मतों को झूठा कहने का पक्षपातपूर्ण, राग-द्वेषयुक्त रवैया नहीं अपनाएगा। जैसे कल्पसूत्र के आज्ञाराधना सूत्र में बताया गया कि दो व्यक्तियों में परस्पर विवाद, कलह या मनमुटाव खड़ा हो गया है, तो उनमें से जो आराधक होगा, वह सामने चला कर दूसरे से क्षमायाचना करके, उसका मनःसमाधान करने का प्रयत्न करेगा, यदि दूसरा व्यक्ति उसके द्वारा की गई क्षमायाचना को स्वीकार नहीं करता, बात सुनी-अनसुनी कर देता है, तो आराधक को इस बात का ख्याल नहीं करना चाहिए, उसे अपनी ओर से उपशमन कर लेना चाहिए।

यही बात वैचारिक क्षेत्र में वीतराग के चरण-उपासक के लिए समझ लेनी चाहिए। उसे अपनी दृष्टि से प्रत्येक दर्शन के सत्यांश को कथंचित् रूप में अमुक नय की दृष्टि से ग्रहण करके उसे यथायोग्य स्थान देना चाहिए, दूसरे चाहे उस रूप में मानें या न मानें।

सत्यग्रहण करने के लिए वीतराग-उपासक को इतना नम्र, मृदु, और सरल होना चाहिए कि वह चाहे जहाँ से भी सत्य, मिलता हो, ग्रहण कर ले।

भगवती सूत्र आदि आगमों में अनेक विचारधाराओं एवं आचारधाराओं का समन्वय किया गया है, जो वीतरागदर्शन की परम उदारता का सूचक है। यहाँ भी श्रीआनन्दघनजी ने जैनदर्शन के सिवाय छहों दर्शन को वीतराग परमात्मा के अंग बता कर यह भी सूचित कर दिया है कि ये समय-पुरुष के अंग हैं। जैसे दो हाथ, दो पैर, पेट और मस्तक ये शरीर के ६ अंग हैं, वैसे ही छह दर्शन जिनवर के एक-एक अंग हैं। जैसे शरीर के इन अगों में से कोई भी अंग काटने पर प्राणी अपाहिज कहलाता है, वैसे ही ६ दर्शनों में से किसी भी दर्शन को काट डालना=खण्डन करना जिनवर के अंग को काटना है। यह यह दुर्भवी का लक्षण है। मुख्यतः दर्शन ये हैं—बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वेदांत लोकायतिक [चार्वाक] और जैन। इन छहों दर्शनों में से प्रत्येक के मुद्दों को भलीभाँति समझ कर उनकी किसी प्रकार की निन्दा, खोटी आलोचना, या व्यर्थ की टीका-टिप्पणी न करना। जितने अंशों में जिस दर्शन ने सत्य की प्ररूपणा की है, उतने अंश में उसे अपना कर उसे उचित स्थान देना। बल्कि वाणी से भी यह प्रगट करना कि ६ दर्शन वीतरागप्रभु के पृथक्-पृथक् अंग हैं, और अमुक अंग के रूप में ही उपयोगी हैं, उसे उतने अंश-सत्य के रूप में उपयोगी समझ कर उसकी यथायोग्य स्थान पर स्थापना करना और उसे अपनाना उचित है। किन्तु द्वेष-घृणावश अन्य दर्शनों की खोटी आलोचना करना, अथवा उनका खण्डन करना अनुचित है। सत्य दो प्रकार के हैं—सर्वसत्य और दृष्टिबिन्दुसत्य। जैनेतर दर्शनों में सर्वसत्य नहीं है, परन्तु दृष्टिबिन्दु तक तो वे सच्चे हैं ही, ऐसा मानने में व्यवहारदक्षता है। वीतरागप्रभु का चरणसेवक इस प्रकार षड्दर्शन को स्वीकार करता है। वीतरागप्रभु की भी परमकारुणिकता है कि वे ६ ही नहीं, दुनिया की तमाम विचार-

धाराओं को अपने दर्शन में समाविष्ट कर लेते हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि छहों दर्शनों की आराधना करने में वीतराग के चरणसेवकों (जैनों) को कोई हर्ज नहीं है। इसके पीछे दृष्टिकोण यह है कि नैगमादि सात नयों में से दूसरे नयों की अपेक्षा रख कर एक नय से कथन करने वाला जैनदर्शन का आराधक है। इसके विपरीत ७ नयों में से सिर्फ एक नय पर आग्रह रख कर अन्य नयों के प्रति उपेक्षादृष्टि रखना, जिनाज्ञा से विरुद्ध है।

अतः अगली गाथाओं में श्रीआनन्दघनजी यह विवेक बताते हैं, जिनप्रवचनतत्त्वज्ञान के षड्दर्शनरूप अंगों में से किस दर्शन का किस अवयव पर किस नय की दृष्टि से न्यास [स्थापन] करना चाहिए,

जिनसुरपादप पाय बखाणो, सांख्य-योग दोय भेदे रे।
आतमसत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे॥ षड्०॥२॥

अर्थ

राग-द्वेषविजेता वीतराग परमात्मारूपी या जैनदर्शन के समयपुरुषरूपी कल्पवृक्ष के दो मूल अथवा वीतराग परमात्मा के कल्पवृक्ष-समान दो पैर के तुल्य सांख्यदर्शन और योगदर्शन इन दोनों को कहना चाहिए। ये दोनों आत्मा की सत्ता [आत्मा के अस्तित्व] का विवरण [ब्योरा=विवेचन] करते हैं। इसलिए इन दोनों की जोड़ी को बिना किसी खेद या संकोच के जिनमत या जिनभगवान् के दो अंग(दो पैर) समझो अथवा स्वीकार कर लो।

भाष्य

जिन-कल्पवृक्ष के दो मूल अथवा दो पैर

'जिन-सुर-पादप पाय' पद के दो अर्थ निकलते हैं—एक तो यह कि जिनेश्वररूपी कल्पवृक्ष दो पैर (मूल) और दूसरा अर्थ यह होता है कि जिन=वीतराग के कल्पवृक्षरूप दो पैर। कल्पवृक्ष का दोनों के साथ सम्बन्ध है। कल्पवृक्ष वह दिव्यतरु होता है, जिसके नीचे बैठ कर मनोवांछित पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। जिनभगवान् कल्पवृक्ष के समान हैं, उनमें सभी दर्शनों का अस्तित्व है, अथवा जिन शब्द से यहाँ उपलक्षण से जिनेश्वर का अनेकान्त

दृष्टियुक्त तत्त्वज्ञान=समयपुरुष अर्थ गृहीत करने पर भी यह अर्थ घटित हो सकता है जिनतत्त्व ज्ञान अनरूप या समयपुरुषरूप इस कल्पवृक्ष में समस्त प्रमाणों और नयों का समावेश है, सभी द्रव्यों या पदार्थों का सामान्य-विशेष-रूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार वर्णन समाविष्ट है, क्योंकि सभी प्रमाणों और नयों से इसमें आत्मादि तत्त्वों का विवेचन है, सभी पदार्थों का सामान्य, विशेष आदि सभी दृष्टियों से कथन है, इसलिए कल्पवृक्ष की तरह यह समस्त पदार्थों के अस्तित्व का भंडार है। इस दृष्टि से इसे कल्पवृक्ष कहने में कोई अत्युक्ति नहीं है।

वृक्ष का सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि आधार मूल [पैर] होता है। मूल न हो तो कोई भी वृक्ष टिक नहीं सकता। मूल से रहित वृक्ष एक ही हवा के झोंके से धराशायी हो जाता है। अगर मूल हो तो ऊपर के पत्ते आदि झड़ जाते हैं या डालियाँ काट ली जाती हैं, तो भी एक दिन वह वृक्ष फलदाता बन जाता है। अतः यहाँ मूलभूत वस्तु आत्मा को दोनों दर्शन मानते हैं, दोनों दर्शनों के आत्म-वादी होने से दोनों को जिनतत्त्वज्ञान या वीतरागरूपी कल्पवृक्ष के दो मूल उचित ही कहा है। समस्त दर्शनों का मूल आधार आत्मा है, और आत्मा के अस्तित्व को माने बिना ये दोनों दर्शन आगे नहीं चलते। इस कारण जिन-तत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष को स्थायी और मजबूत रखने के लिए दोनों दर्शन वृक्ष के मूल की तरह खड़े हैं।

दूसरे अर्थ की दृष्टि से सोचें तो सांख्यदर्शन और योगदर्शन को वीतराग [जैनतत्त्वज्ञान या समयपुरुष] के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहे हैं। वीत-राग के तत्त्व-ज्ञान को मजबूती से टिकाए रखने के लिए सांख्य और योग दोनों दो पैर का काम देते हैं। मनुष्य के पैर हों तो वह स्थिरता एवं मजबूती से खड़ा रह सकता है, इसी प्रकार वीतराग [समय] पुरुष या वीतराग तत्त्वज्ञान के दोनों पैरों को मजबूत और स्थिर रखने के लिए ये दोनों दर्शन हैं। आत्मा को न मानने वालों को आत्मा का अस्तित्व समझाने का काम करके ये दोनों दर्शन वीतराग-परमात्मा के या वीतरागतत्त्वज्ञान के पैर मजबूत बनाते हैं; उसे स्थिर रखने का काम बखूबी करते हैं। आत्मा के अस्तित्व के बिना कोई भी आत्मवादी-दर्शन खड़ा ही नहीं हो सकता, न खड़ा रह सकता है। इसलिए

इन दोनों दर्शनों को वीतराग परमात्मा [या उनके तत्त्वज्ञान] के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

सांख्य और योग वीतरागतत्वज्ञान के मूलाधार

सांख्यदर्शन और योगदर्शन दोनों को जिनवर-जिनतत्त्वज्ञान-कल्पवृक्ष के दो पैर क्यों बताए हैं ? इनका मेल जैनतत्त्वज्ञान के साथ कहां-कहां खाता है ? इस पर जब तक विचार न कर लिया जाय, तब तक उपर्युक्त बात गले नहीं उतरेगी।

वीतरागरूप-कल्पवृक्ष के मूल अथवा वीतरागतत्त्वज्ञान [समयपुरुष] के पैर के समान ये दोनों अंग हैं। क्रमशः हम इन दोनों पर विचार कर लें।

वीतराग-परमात्मा ने निश्चयरूप से कहा है—'आत्मा है और वह अनन्त है, निश्चयदृष्टि से आत्मा स्वयं कर्म का कर्ता नहीं है। अगर आत्मा को कर्ता-भोक्ता मानना हो तो वह स्वस्वभाव का कर्त्ता और भोक्ता माना जा सकता है। यद्यपि शुद्धस्वरूप सिद्धात्मा (परमात्मा) में अनन्तज्ञान, अनन्त-दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख हैं, परन्तु मोक्षदशा में आत्मा अकरणवीर्य होने से वह इनका उपयोग नहीं करता, इस अपेक्षा से उसे अकर्ता माना है।

सांख्यदर्शन भी आत्मा को मानता है, परन्तु उसे कर्मों से असंग (निर्लेप) एवं अकर्ता मानता है। सांख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कर्ता नहीं है, भोक्ता भी नहीं है, वह तो सिर्फ द्रष्टा है, साक्षीभाव से सब कुछ जानता-देखता है। कर्ता प्रकृति है, राग-द्वेष वगैरह सब प्रकृति के कार्य हैं। सांख्यदर्शन में मूल २५ तत्त्व माने गए हैं। उनमें से २४ तत्त्व [५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ५ महाभूत ५ तन्मात्रा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये प्रकृतिजन्य हैं और पच्चीसवाँ सबसे भिन्न, आत्मतत्त्व है। आत्मा निःसंग, अकर्ता, साक्षीभूत एवं चेतनायुक्त है। ज्ञान से ही क्लेश का नाश और ज्ञान से ही मोक्ष [दुःखत्रयविनाश] होता है।

जैनशास्त्रानुसार सांख्यदर्शन के प्रणेता (संस्थापक) कपिल-मुनि माने जाते हैं। वर्तमान इतिहासकार आज से लगभग २७०० वर्ष पूर्व,

ईस्वीसन्-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी में कपिलमुनि और सांख्यदर्शन की स्थापना मानते हैं। परन्तु जैन-आगमानुसार तो कपिल आदितीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव समकालीन माने जाते हैं, इस दृष्टि से तो हजारों लाखों वर्ष पूर्व इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैन आगमिक कथन पर से प्रतीत होता है—कपिल-मुनि मरीचि मुनि के शिष्य थे,। मरीचिमुनि निर्ग्रन्थमुनिधर्म के आचार का पालन पूर्णतया न कर सकने के कारण मुनित्व की स्मृति के रूप में पृथक् वेष धारण करके लगभग उन्हीं सिद्धान्तों की प्ररूपणा करते हुए भगवान् ऋषभदेव के साथ विचरण करते रहे। अपने द्वारा प्रतिबोधित शिष्यों को भी वे ऋषभदेवप्रभु के पास भेजते थे। किन्तु जब कपिल [शिष्य] आया तो उन्हें मरीचिमुनि का वेश और उपदेश दोनों रुचिकर लगे; इस कारण शिष्यलालसा-वश कपिल को अपना शिष्य बनाया। गृहस्थाश्रमपक्ष में मरीचिमुनि श्री-ऋषभदेव प्रभु के पुत्र भरतचक्रवर्ती के पुत्र थे और भ० महावीर स्वामी के जीवरूप में अनेक भवों में भटकते हुए तीसरे भव में तीर्थंकर नामकर्म बांध कर अन्त में भ० महावीर स्वामी के रूप में २४ वें तीर्थंकर हुए और मोक्ष में पधारे। अतः जैनागमों के अनुसार सांख्यदर्शन-संस्थापक कपिल मरीचिमुनि के शिष्य सिद्ध होते हैं।

जो भी हो, हमें इतिहास की गहराई में न उतर कर तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही सांख्यदर्शन पर विचार करना है। तत्वज्ञान की दृष्टि से निश्चयनय की अपेक्षा से जैनतत्त्वज्ञान द्वारा मान्य आत्मा की बात सांख्यदर्शन में हूबहू उतरती है। जैनदर्शन की निश्चयदृष्टि से सांख्यदर्शन बहुत ही निकट है। सांख्य-और योग दोनों दर्शन तत्त्वों की दृष्टि से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। योगदर्शन एक ईश्वरतत्त्व को अधिक मानता है, जबकि सांख्यदर्शन ईश्वर-तत्त्व को अलग से नहीं मानता, पुरुष [आत्मा] में ही उसका समावेश कर लेता है। इसी कारण दर्शनशास्त्र के इतिहास में ये दोनों क्रमशः निरीश्वरसांख्य और सेश्वरसांख्य के नाम से प्रसिद्ध हैं। असली सांख्य निरीश्वरवादी है। जैन-दर्शन की तरह वह ईश्वरतत्त्व को पृथक् न मान कर आत्मा में ही समाविष्ट कर देता है, आत्मा की परमशुद्ध-मुक्तदशा को ही वह ईश्वर मानता है; जिसका जैनदर्शन से बहुत अधिक साम्य है। जैनदृष्टि से मोक्षदशा में आत्मा

में अनन्तवीर्य माना है, परन्तु मुक्त-मोक्षप्राप्त आत्मा कभी उस वीर्य का प्रस्फुरण — प्रयोग नहीं करते। सांख्यदर्शनोक्त पुरुष [आत्मा] भी अकर्ता, निष्क्रिय और निःसंग माना गया है, वही भी वीर्यप्रस्फुरण करके कुछ करता-धरता नहीं है, इसलिए अन्ततोगत्वा निश्चयदृष्टि से दोनों दर्शन एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते हैं।

योगदर्शन के प्रतिपादक-प्रवर्तक महर्षि पतंजलि हैं। ये भी कपिलमुनि के समकालीन माने जाते हैं। योगदर्शन में भी सांख्यदर्शन-प्रतिपादित २५ तत्त्व माने जाते हैं, और २६ वाँ ईश्वरतत्त्व अधिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन न्यायदर्शन दोनों ने ६ तत्त्व माने हैं—पंचमहाभूत, काल, दिशा आत्मा और मन। आत्मा को आठवाँ तत्त्व माना है। तथाचित्तवृत्ति का सम्पूर्ण निरोध करने से क्लेश-कर्मरहित आत्मा मुक्ति को प्राप्त करती है। चित्तवृत्ति को ज्ञानद्वारा रोकने से मोक्ष होता है, ईश्वर कर्ता है, आत्मा कार्य का कारण है। चित्तवृत्ति के निरोध के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं, जिनका सम्बन्ध हठयोग, जपयोग और राजयोग आदि से है।

सांख्य और योग दोनों ही दर्शन आत्मा का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानते हैं। दोनों ही आत्मा को अकर्ता, द्रष्टा, साक्षी और असंग मानते हैं। पतंजलिमुनिप्रणीत योगदर्शन का मुख्य ग्रन्थ—योगदर्शन [योगसूत्र] है। उसमें आत्मा, आत्मा का आध्यात्मिक विकास, उसका क्रम, उसके यम-नियमादि उपाय, आत्मा की विभूतियाँ—कैवल्य और मोक्ष आदि बातों का व्यवस्थितरूप से विवरण आता है। परन्तु वह कहाँ अपूर्ण है? उसकी अपेक्षा विशेष क्या-क्या सम्भव है? अथवा वर्तमान में है? इस विषय में उपाध्याय यशोविजयजी ने योग-दर्शन के कई सूत्रों पर अपनी टिप्पणी लिख कर तथा द्वात्रिंशत्-द्वात्रिंशिकाओं में से कुछ में अध्यात्म-योग पर विवेचन लिख कर जैन-दर्शन के साथ योगदर्शन की तुलना की है। यही नहीं, समदर्शी आचार्य हरिभद्रसूरि ने पतंजलिऋषि को आध्यात्मिक विषय के ऐसे व्यवस्थित शास्त्र की रचना की योग्यता के कारण तथा तीर्थंकरदेवों के अनेक तत्त्वों के बहुत-से अंशों पर निरूपण करने के कारण एवं मोक्षाभिलाषी होने पर ही ऐसे आध्या-

त्मिक शास्त्र की रचना करने की इच्छा हो सकती है, इत्यादि गुणों से आकर्षित हो कर सम्यग्यदृष्टि तो [निश्चय से] नहीं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के पूर्वाभास के रूप में मार्गानुसारी तो मान ही लिये हैं।

परन्तु इतना निश्चित है कि दोनों दर्शन आत्मा के अस्तित्व (Existance) का स्वीकार करते हैं, जो बुनियादी बात है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा —"**आतम-सत्ता-विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे**"' 'अखेदे' को अंग के साथ भी जोड़ कर भी कई लोग अर्थ करते हैं—इन दोनों दर्शनों का खेद-रहित अंग-पैर को मानो। जो पैर थकान एवं खेद से रहित होते हैं, वे ही मजबूती से खड़े व जमे रह सकते हैं। 'लहो' के साथ 'अखेद' को जोड़ने से अर्थ निकलता है—बिना किसी खेद [चिन्ता] या संकोच के इन दोनों को अंग [चरणयुगल] मान लो। यह अर्थ विशेष उचित लगता है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व भी होता है, शक्ति भी। आत्मा की शक्तियों का विवरण दोनों दर्शन प्रस्तुत करते हैं, यह कहना भी यथार्थ है।

किन्तु ये दोनों दर्शन व्यवहार से भी आत्मा को अकर्ता मानते हैं, वहाँ जैन दर्शन के साथ इनका विरोध आता है। फिर जैनदर्शन में हठयोग का स्थान बिल्कुल नगण्य है, जबकि योगदर्शन इसे अधिक महत्व देता है, तथापि राजयोग को दोनों स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार परमतसहिष्णु जैनदर्शन के अनुसार जिनकल्पवृक्ष के एकदेशीय तत्व (अमुक दृष्टि से सत्य) को ग्रहण करने वाले आत्मवादी सांख्ययोग दर्शनों को जिन भगवान् के या वीतराग तत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के पैर [मूल] के स्थान पर स्थापित किया है।

अगली गाथा में आत्मा के अन्य रूपों के उपासक दो दर्शनों का समन्वय जैनतत्वज्ञान के साथ करते हुए कहते हैं—

भेद-अभेद-सुगत-मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक आलम्बन भजिये, गुरूमुखथी अवधारी रे॥
षड्० ॥ ३ ॥

अर्थ

सुगत=बौद्धदर्शन आत्मा को भेदरूप-(पृथक-पृथक्] मानता है, और

जैनदर्शन में अपेक्षा से यह भी बताया है कि ज्ञेय के ज्ञानस्वरूप-स्वभाव है और विभाव में कर्माश्रित पौद्गलिक देह में भी, प्रतिक्षण बदलते हुए देह में पर्यायें बदलती रहती हैं, इस कारण भेद दिखाई देता है। इस प्रकार की जैनमान्यतानुसार बौद्धदर्शन को भी पर्यायार्थिक नय (प्रमाण) की दृष्टि से देखा जाय तो बौद्धदर्शन सत्य है, यों मान कर इसे समयपुरुष के अंग (हाथ) के रूप में समझना चाहिए।

मीमांसादर्शन को वीतराग परमात्मा के अंग का बांया हाथ माना गया है। मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा-दर्शन के नियमानुसार संस्थापक जैमिनी हैं, जिनका जीवनकाल ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी में माना जाता है। पूर्वमीमांसादर्शन वेदों को ही सर्वस्व आधार मानता है। इस दर्शन का विषय मुख्यतया वैदिक कर्मकाण्ड है, जिसमें यज्ञादि कर्मकाण्ड द्वारा इस लोक और परलोक में स्वर्गादि के सुख-दुःखादि प्राप्त करने का विधान है। इस प्रकार पूर्व-मीमांसादर्शन अत्यन्त सूक्ष्मविचार करके वेद के शब्दों पर से ही समग्र आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण करता है।

उत्तरीमीमांसा का दूसरा नाम 'वेदान्तदर्शन, है वह मुख्यतया ज्ञानवादी और आत्मवादी है। उसके क्रमिक व्यवस्थाकर्ता बादरायण (व्यासजी) हैं, जो ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी में हुए माने जाते हैं। इसके मुख्यग्रन्थ उपनिषद हैं, ब्रह्मसूत्र है, जिन पर आद्यशंकराचार्य ने व्यवस्थितरूप से भाष्य लिखे हैं। इस दर्शन को व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का श्रेय भी आद्य शंकराचार्य जी को है। वेदान्तदर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि से पृथक्-पृथक् होते हुए भी समष्टि से एकतत्वसूत्र में पिरोया हुआ है। वह एकः तत्व—ब्रह्मरूप है। ब्रह्म (आत्मा) एक है, वही 'सर्वत्र व्यापक है—एकः सर्वगतो नित्यः विगुणो न बध्यते न मुच्यते' ब्रह्म (आत्मा) एक है, है, सर्वव्यापक है, नित्य है, गुणातीत है, बन्धन-मुक्ततारहित है। वेदान्तदर्शन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तब फिर जगत् में भिन्न आत्माएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इसका क्या समाधान है? तब वह कहता है—एक ही आत्मा (ब्रह्म) प्राणिमात्र में व्यवस्थित है, जैसे एक चन्द्रमा होते हुए भी जल में अनेक चन्द्रमा दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा एक होते हुए भी जलचन्द्र की

मीमांसक वेदान्ती आत्मा को अभेदरूप (अभिन्न, एकतत्व) मानते हैं। ये दोनों वीतराग-परमात्मा के तत्वज्ञान (समय पुरुष) के दो बड़े-बड़े हाथ हैं। लोक और अलोक इन दोनों के अवलम्बन को यथार्थ तत्ववेत्ता गुरु की उपासना गुरुगम) से जान कर (निश्चय करके मानिये, । इसका आश्रय लीजिए।

भाष्य

जिनेश्वर (समयपुरुष) के दो हाथ : बौद्ध और मीमांसक

इस गाथा में श्रीआनन्दघनजी ने आत्मा को भिन्न और अभिन्नरूप में मानने वाले बौद्ध और मीमांसक दर्शन को वीतरागपरमात्मा के तत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के दो बड़े-बड़े हाथ माने हैं। जैसे मनुष्य के दोनों हाथ सारे शरीर पर फिरते हैं और शरीर के कार्यों के अलावा अन्य जो भी करने योग्य कार्य हैं, उन्हें भी करते हैं। हाथ पुरुषार्थी और क्रिया करते रहने से बलिष्ठ होते हैं, वैसे ही वीतराग परमात्मा के तत्वज्ञानरूपी पुरुष के दोनों कर (हाथ) रूपी दोनों नय (द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय) समस्त लोकालोक के यथार्थ तत्वज्ञान को बताते हैं। हाथ जैसे मार्गदर्शन देते हैं, वैसे ही ये दोनों नय (कर) भी सारे जगत् को मार्गदर्शन देते हैं। इन्हें बड़े हाथ इसलिए कहा कि ये केवल एक क्षेत्र या प्रदेश में नहीं, सारे विश्व में और लोक के बाहर अलोक में भी मार्गदर्शन व प्रेरणा देते हैं। बौद्धदर्शन आत्मा को भेदरूप (पृथक्-पृथक्) मानता है, यानी उसका कहना है कि आत्मा भिन्न-भिन्न है, खण्ड-खण्डरूप है एवं क्षणिक है। आत्मा विज्ञानघन है, लेकिन वह प्रति व्यक्ति में भिन्न-भिन्न है तथा प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है। दुनिया की प्रत्येक नाशवान् वस्तु अलग-अलग है। इस क्षण जो घड़ा है, वही दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, फिर दूसरे ही क्षण वह उत्पन्न हो जाता है, फिर नष्ट होता है, यों उत्पत्ति और नाश की परम्परा चलती है, सामान्य व्यक्ति को ऐसा मालूम होता है कि 'एक ही घड़ा है,' परन्तु कितने ही घड़े उत्पन्न हुए और नष्ट हो गए, अतः वे उत्पन्न और नष्ट होने वाले घड़े अनेक हैं, वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् हैं। परन्तु द्रव्य को छोड़ कर पर्याय भिन्न नहीं है 'जलतरंगवत् स्वर्णाकारवत्' यानी पानी और उसकी तरंगों की तरह, अथवा सोना और उसके आकार की तरह पहले क्षण जो आत्मा था, वही दूसरे क्षण बदल जाता है, इस प्रकार बौद्धदर्शन भेदवादी पर्यायवादी है, एकान्तपर्यायास्तिक नय के आधार पर चलता है, वह अनित्यवादी है और जैनदृष्टि से ऋजुसूत्रनयवादी है।

जैनदर्शन में अपेक्षा से यह भी बताया है कि ज्ञेय के ज्ञानस्वरूप-स्वभाव है और विभाव में कर्माश्रित पौद्गलिक देह में भी, प्रतिक्षण बदलते हुए देह में पर्यायें बदलती रहती हैं, इस कारण भेद दिखाई देता है। इस प्रकार की जैनमान्यतानुसार बौद्धदर्शन को भी पर्यायार्थिक नय (प्रमाण) की दृष्टि से देखा जाय तो बौद्धदर्शन सत्य है, यों मान कर इसे समयपुरुष के अंग (हाथ) के रूप में समझना चाहिए।

मीमांसादर्शन को वीतराग परमात्मा के अंग का बांया हाथ माना गया है। मीमांसा दर्शन के दो भेद हैं—पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा। पूर्वमीमांसा-दर्शन के नियमानुसार संस्थापक जैमिनी हैं, जिनका जीवनकाल ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी में माना जाता है। पूर्वमीमांसादर्शन वेदों को ही सर्वस्व आधार मानता है। इस दर्शन का विषय मुख्यतया वैदिक कर्मकाण्ड है, जिसमें यज्ञादि कर्मकाण्ड द्वारा इस लोक और परलोक में स्वर्गादि के सुख-दुःखादि प्राप्त करने का विधान है। इस प्रकार पूर्व-मीमांसादर्शन अत्यन्त सूक्ष्मविचार करके वेद के शब्दों पर से ही समग्र आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण करता है।

उत्तरीमीमांसा का दूसरा नाम 'वेदान्तदर्शन, है वह मुख्यतया ज्ञानवादी और आत्मवादी है। उसके क्रमिक व्यवस्थाकर्ता बादरायण (व्यासजी) हैं, जो ई० पू० तीसरी या चौथी शताब्दी में हुए माने जाते हैं। इसके मुख्यग्रन्थ उपनिषद् हैं, ब्रह्मसूत्र है, जिन पर आद्यशंकराचार्य ने व्यवस्थितरूप से भाष्य लिखे हैं। इस दर्शन को व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का श्रेय भी आद्य शंकराचार्य जी को है। वेदान्तदर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि से पृथक्-पृथक् होते हुए भी समष्टि से एकतत्त्वसूत्र में पिरोया हुआ है। वह एकः तत्व—ब्रह्मरूप है। ब्रह्म (आत्मा) एक है, वही 'सर्वत्र व्यापक है—एकः सर्वगतो नित्यः त्रिगुणो न बध्यते न मुच्यते' ब्रह्म (आत्मा) एक है, है, सर्वव्यापक है, नित्य है, गुणातीत है, बन्धन-मुक्ततारहित है। वेदान्तदर्शन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तब फिर जगत् में भिन्न आत्माएँ दृष्टिगोचर होती हैं, इसका क्या समाधान है? तब वह कहता है—एक ही आत्मा (ब्रह्म) प्राणिमात्र में व्यवस्थित है, जैसे एक चन्द्रमा होते हुए भी जल में अनेक चन्द्रमा दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा एक होते हुए भी जलचन्द्र की

की तरह अनेक रूप में दिखाई देता है । तात्पर्य यह [1] है कि एक ही ब्रह्म सकल पदार्थों के रूप में परिणमित व प्रतिभासित होता है । इस दृष्टि से वेदान्त (उत्तरमीमाँसा) दर्शन अभेदवादी है, द्रव्यवादी है, द्रव्यार्थिक नय की एकान्त दृष्टि रखता है, परमसंग्रहवादी और नित्यवादी जैनदर्शन के निश्चयनय (शुद्धसंग्रहनय) की दृष्टि से 'एगे आया' आत्मा एक ही है, क्योंकि आत्मा के असङ्ख्यप्रदेश सर्वप्राणियों में समान हैं तथा सर्वप्राणियों के आत्मा का लक्षण उपयोग (ज्ञाताद्रष्टा) एक समान है । समस्त आत्माओं की सत्ता एक है, सब आत्माओं में द्रव्य-गुण-पर्यायरूप धर्म एक ही है । निश्चयनय आत्मा के बन्ध को नही मानता । परन्तु आत्मा मुक्त भी नहीं होता, यह बात निश्चयदृष्टि से इस प्रकार घटित हो सकती है शुद्ध आत्मा न तो बन्धता है, न मुक्त होता है; क्योंकि जो बंधता ही नहीं , उसके मुक्त होने की भी जरूरत नहीं रहती; वस्तुतः आत्मा सर्वथा सर्वदा मुक्त ही है । निश्चयनयानुसार यह बात सत्य है । इसलिए इसे जिनवरतत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष का एक हाथ कहना उचित ही है। यद्यपि वेदान्त की पूर्वोक्त बातें अंशसत्य है, अंशसत्य को सर्वसत्य नहीं समझना चाहिए ।

भेद और अभेद में लोक—अलोक का आलम्बन कैसे ?

जैनदर्शन की विश्व-व्यवस्था भेद और अभेद दोनों तत्त्वों पर व्यवस्थित है । जगत् में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है, जिसमें भेद और अभेद दोनों न हों। दीपक से ले कर आकाश तक तमाम पदार्थ भेद और अभेद से युक्त हैं । उदाहरणार्थ —नट एक होते हुए भी वह अलग-अलग वेश धारण करता है तब पृथक् -पृथक् (भिन्न-भिन्न) वेश में, भिन्न भिन्न नाम से पहचाना जाता है। इस प्रकार उसमें पृथक्त्व और एकत्व दोनों दिखाई देते हैं। पुस्तक एक होते हुए भी उसके पन्ने अलग-अलग होते हैं। पुस्तक यदि सर्वथा एक ही हो तो अलग अलग पन्ने क्यों पढ़े जाते ? और पन्ने अगर सर्वथा अलग-अलग होते तो एक पन्ने के विषय-सम्बन्ध दूसरे पन्ने के साथ न मिलता, पुस्तक भी एक नहीं कहलाती ।

---

१. 'एक एव हि भूतात्मा भूते-भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥'

दूसरी दृष्टि से देखें तो द्रव्यास्तिकनय जीवादि तत्व का प्रतिपादन करता है।, पर्यायास्तिकनय जीवादि तत्व को अनन्तपर्याय से प्रतिादन करता है। द्रव्य और पर्याय पर समस्त लोकालोक का आधार है। १ द्रव्यास्तिकनय का आलम्बन अलोक (आकाशास्तिकाय) है, जबकि पर्यायास्तिकनय का आलम्बन लोक (पञ्चास्तिकायात्मक) है। अथवा लोक रूपीद्रव्यरूप होने से पर्यायार्थिकनय का आलम्बन है, जबकि अलोक अरूपी होने से द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन हुआ। इस दृष्टि से भेद का आलम्बन लोक और अभेद का आलम्बन अलोक हुआ। अथवा लोक और अलोक के अवलम्बन के साथ श्रीआनन्दघनजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है — 'गुरुगमथी अवधारीए' अर्थात् तत्वज्ञानी को गुरुदेव की उपासना से इसका रहस्य समझ लेना चाहिए।

'परमार्थ' के लेखक ने इस पर लिखा है—'ब्रह्मरन्ध्र से नीचे का भाग 'लोक' है और ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर का भाग 'अलोक' है। इस प्रकार लोकालोक की कल्पना करके सालम्बन-निरालम्बन ध्यान सूचित किया गया है। रेचक-पूरक-कुम्भक आदि क्रियापूर्वक किया गया ध्यान सालम्बन है, और निरालम्बन ध्यान का विषय गम्भीर एवं वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित होने से इसमें जहाँ समझ में न आए, वहाँ ध्यान के अभ्यासी महान् योगी तत्वज्ञ गुरुदेव से जान (समझ) लेना चाहिए।

अब अगली गाथा में चार्वाकदर्शन का समावेश जिनेश्वर के तत्वज्ञान के एक अंग के रूप में बताते हैं।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंशविचार जो कीजे रे।
तत्वविचार-सुधारसधारा गुरुगम-विण किम पीजे रे ?
॥षड्०४॥

अर्थ

नास्तिक बृहस्पति-प्रणीत चार्वाक (लोकायतिक) दर्शन वीतरागदेव (समय-

---

१. इस विषय में इस विषय के विशेष विद्वान् गुरु से अथवा जैनन्याय के अनेकान्त-जयपताका, अनेकान्तमतव्यवस्था, स्याद्वादमंजरी, स्याद्वाद-कल्पलता, आदि ग्रन्थों का अध्ययन करके समझ लेना चाहिए।

पुरुष) की कुक्षि (उदर) है। इस दर्शन के एक खास हिस्से पर यदि ध्यान से विचार किया जाय तो इस बात की (आंशिक) सत्यता समझ में आ सकती है। लेकिन सद्गुरु द्वारा प्रदत्त बुद्धि-ज्ञानशक्ति के बिना तत्वज्ञानविचाररूपी अमृतरस की धारा का पान कैसे हो सकता है ?

लोकायतिक को वीतराग की कुक्षि की उपमा क्यों ?

लोकायतिक का अर्थ है – लोक में विस्तृत = फैला हुआ दर्शन। इसे नास्तिक दर्शन या बृहस्पति-आचार्यप्रणीत चार्वाकदर्शन भी कहते हैं। क्योंकि इस दर्शन वाले परलोक, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, आत्मा-परमात्मा और बंध-मोक्ष को नहीं मानते। वे तो यथाशक्ति इन्द्रियसुख भोग लेने में ही यानी वर्तमान पौद्गलिक सुखों को प्राप्त करने में ही जीवन की इतिश्री मानते हैं। क्योंकि चार्वाकदर्शन का मूलसूत्र है—**'जब तक जीओ, सुख से जीओ; कर्ज करके घी पीओ। शरीर की राख होने पर फिर पुनरागमन कहाँ ?'**[1] वर्तमानयुग में इन्हें भौतिकवादी (Materialists) कह सकते हैं। इस प्रकार नास्तिकदर्शन वालों ने सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाण को पकड़ लिया, अन्य प्रमाणों को छोड़ दिया। प्रत्यक्ष में भी इन्द्रियार्थ प्रत्यक्ष को ही माना, आत्मप्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वथा छोड़ दिया है' चार्वाकदर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन ५ भूतों को मानता है, और इनके संयोग से चेतनायुक्त प्राणी दिखाई देते हैं। आत्मा नाम का स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि चार्वाक जैसे नास्तिकदर्शन को श्रीआनन्दघनजी ने जिनवर के उदर का स्थान क्यों दिया ? यानी इसे जैनतत्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष का उदररूप अंग क्यों माना ?

इस शंका के समाधान के लिए हमें जरा तत्व की गहराई में उतरना पड़ेगा।

जैनदर्शन में पांच ज्ञान प्रमाण माने हैं—१ प्रत्यक्ष, २ परोक्ष, ३ आगम, ४ उपमान, और ५ अनुमान। इन पांच प्रमाणों से नयों का सत्यार्थ विवेचन है।

---

१. "यावज्जीवेत्, सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥"

चार्वाकदर्शन द्वारा इन्द्रियप्रत्यक्ष (जैनदर्शनमान्य सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष) को स्वीकार करने के कारण उसे अंशतः जिनवर के उदर की उपमा दी।

शरीर में पेट का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वह सारे शरीर में भोजन पहुँचाता है, विविध अंगों को यथायोग्य भोजन पहुँचा कर शक्ति देता है, और मलहरणी नाडी द्वारा मल को धकेल देता है। उदर में तो भोजन का अंशभर ही शेष रहता है। इस दृष्टि से लोकायतिक दर्शन भी दुनिया में अध्यात्मवाद के नाम पर ठगे गए, अथवा अध्यात्मवाद के नाम पर मचाई गई लूट के कारण ऊबे हुए लोगों को पेट की तरह अपने में स्थान देता है, तथा उन्हें यह भी आश्वासन देता है कि परलोक का स्वर्ग-नरक थोड़ी देर के लिए न मानो तो भी इहलोक में जो कुछ प्रत्यक्ष गलत काम करोगे, उसका फल भी प्रत्यक्ष यहीं पर मिल जाएगा। परलोक में नरक के डर से और स्वर्ग के प्रलोभन से जो दानादि धर्म या अहिंसादि पालन करते हो, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि भय और प्रलोभन के कारण हटते ही या भय-प्रलोभन का विचार दिमाग से निकलते ही तुम अधर्म के कार्य करने पर उतारू हो जाओगे। इसलिए हम कहते हैं, समाज, परिवार, संघ या राष्ट्र की व्यवस्था सुचारूरूप से चलाए रखने के लिए विवेकयुक्त संस्कारों —प्रत्यक्षहृदय में जमे हुए सुसंस्कारों से प्रेरित हो कर धर्म या कर्तव्य, नीति या पथ्य (हितकर) बातों का पालन करो। जैसे पेट अपने पास कुछ भी न रख कर बिना किसी बदले की आशा से सारे अंगों को दे देता है, वैसे ही तुम अपने पास अधिक न रख कर समाज, राष्ट्र आदि को निःस्वार्थभाव से दे दो। पेट शरीर के दूसरे अवयवों को सब कुछ देने पर जब खाली हो जाता है, तभी तो भोजन की रुचि जागती है, पेट में एक से अधिक दिन भोजन जमा पड़ा रहे तो कब्ज, अपच आदि अनेक रोग हो जाते हैं, वैसे ही जीवन में त्याग न करने पर यानी परोक्षज्ञान आदि अधिक जमा होने पर विचारों का अजीर्ण, अहंकार, सड़ान एवं परिग्रह हो जाता है। अतः परोक्षज्ञान का संग्रह न करके लोकायतिक दर्शन प्रत्यक्षज्ञान पर ही दारोमदार रख कर परोक्ष विचारों को निकाल कर प्रत्यक्ष उपयोगी व्यवहारिक विचारों को रखता है, इसी कारण आध्यात्मिक विचारों की भूख जागती है। यह दर्शन अध्यात्मविचार के भोजन की रुचि जगाता है। आज अमेरीका, जर्मन आदि भौतिकवादी देशों में इन्द्रियजन्य सुखाभासों एवं तज्जनित रोगों

व दुःखों से ऊब (घबरा) कर वहाँ की जनता में आध्यात्मिक रुचि जगी है। इस कारण यह दर्शन भी जगत् में विस्तृत है. जगत् के अनेक लोगों को नीति का पाठ पढ़ा कर यह अध्यात्म की भूख जगाता है। इसलिए इस दर्शन को जिनवर-तत्व-ज्ञान का उदर कहा है।

तत्त्वज्ञान के प्राथमिक अभ्यास के लिए प्रवेश करने वाले जिज्ञासु को शरीर और आत्मा, इन दोनों में से शरीर ही निकटवर्ती एवं प्रत्यक्ष दिखाई देने से इसके पंचभौतिक स्थूलरूप का सर्वप्रथम ज्ञान चार्वाकदर्शन करा देता है, इस प्रकार विश्व का सर्वप्रथम तत्वज्ञान होने पर उस पर से जिज्ञासु आगे बढ़ सकता है; किन्तु प्राथमिक तत्वज्ञान में ही प्रवेश न हो तो वह आगे कैसे बढ़ सकता है ? इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन भी प्राथमिक तत्वज्ञान-प्रवेश में सहायक होने से जिनवर-दर्शन का उदररूप एक अंग माना गया है। भले ही वह अनुमानादि प्रमाणों को न माने, सिर्फ एक प्रत्यक्षप्रमाण को माने, परन्तु एक प्रमाण को भी प्रमाणरूप में मानेगा तो उसे कभी न कभी दूसरे प्रमाणों को मानने-समझने का मौका मिलेगा, इतना भर यह जैनदर्शन का अंग माना जाय तो अनुचित नहीं होगा।

योगदृष्टि से जब उदर पर विचार करते हैं तो एक महत्वपूर्ण बात प्रतीत होती है। उदर में नाभि एक ऐसा केन्द्रस्थान है,जहाँ से कुंडलिनी जागृत होने पर छहों चक्रों का भेदन हो सकता है। आत्मा के विकास का साक्षी एवं प्रमाण यही स्थान है, जहाँ से चारों ओर सभी नाड़ियाँ फैली हुई हैं। सबको यहीं से बल, बुद्धि, और विकास की स्फुरणा मिलती है, इसलिए चार्वाकदर्शन को समयपुरुष का उदररूप अंग बताना भी उचित है। वह प्रत्यक्षभूत इस साधना के लिए प्रेरणा करता है और कहता है,—अगर इस साधना को सिद्ध कर लोगे तो तुम्हारी पांचों इन्द्रियों के विषय की तृप्ति अन्दर ही अन्दर हो जाएगी, अमृत का वह झरना, आनन्द का वह स्रोत तुम्हारे अन्दर ही फूट पड़ेगा, जिससे तुम्हें फिर बाहर की भूख-प्यास नहीं सताएगी, और न ही इन्द्रियों के विविध मोहक विषयों की ओर तुम्हारी रुचि रहेगी। तुम अपने अन्तर में ही तृप्त हो जाओगे। हालां-कि यह सब अनुभव की बातें हैं, लेकिन ये सब परोक्ष नहीं हैं। इसलिए चार्वाक कहता है—यहीं और इसी जन्म में इस साधना के द्वारा

आनन्द लूट लो, अन्दर का ही वह खजाना प्राप्त कर के अपने आप में तृप्त हो जाओ। यहीं स्वर्ग है, यहीं से मोक्ष है। ऐसी साधना न करने या मौका चूकने पर (प्रमाद करने पर) यहीं नरक, तिर्यंच आदि दुर्गति है। इस दृष्टि से चार्वाकदर्शन को उदररूप अंग बताना बहुत ही अर्थपूर्ण है।

उदर का यह भाग बहुत ही उपेक्षित रहता है, कंधे के नीचे दबा रहने से दबा हुआ रहा है, इसलिए इसे भी जैन-तत्वज्ञान के एक व्यवहारिक अंग के रूप में स्थान दिया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने आगे चल कर इसी गाथा में इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है—'अंश विचार जो कीजे रे'

३६३ पाखण्डीमतों (क्रियावादी १८०, अक्रियावादी ८४, अज्ञानवादी ६७ और विनयवादी ३२=कुल ३६३) को भी जब जैनदर्शन में उदारतापूर्वक स्थान दिया है, तब चार्वाकदर्शन को पूर्वोक्त कारणों से स्थान देने में उदारता की हो, इसमें तो कहना ही क्या है? परन्तु इन सबके तत्वों (रहस्यो) पर विचाररूपी अमृतरसधारा का पान किसी योग्य एवं अनुभवी उदारचेता गुरुवर के बिना हो नहीं सकता। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को भी कहना पड़ा —'तत्वविचार-सुधारसधारा गुरुगम विण किम पीजे रे?'

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अन्तरंग-बहिरंगे रे।
अक्षर-न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे॥

॥ षड्० ॥ ५ ॥

अर्थ

जिनेश्वर परमात्मा के तत्वज्ञान द्वारा बताया हुआ दर्शन (जैनदर्शन) तीर्थंकर सयोगी केवली जिनका सर्वश्रेष्ठ अंग=मस्तक है। वह अंतरंग और बहिरंग दोनों रूप में उत्तमांग है। अथवा अंतरंग शुद्धि (रागद्वेष की मलिनता से रहित आत्मप्रत्यक्ष से) तथा बहिरंगशुद्धि (व्यवहार ज्ञानबलचरित्रबल के शुद्ध अनुभव से प्रदर्शित जैनदर्शन की स्थापना करने वाले, अथवा व्यंजनाक्षर-संज्ञाक्षर का न्यास=ज्ञानार्थ-अक्षरस्थापनारूपी धरा=पृथ्वी (अक्षरावली वर्णमाला) का विन्यास या आज्ञाधर्मरूपी धरा के आराधक (आज्ञापालक) का परिचय करके

या प्रत्येक अंग को अपनी आत्मा में रमा कर आराधना करते हैं—आज्ञा पालते हैं। वे ही वास्तव में जैनदर्शन के आराधक होते हैं।

भाष्य

जैनदर्शन : वीतराग का उत्तमांग

छठे अंग के रूप में जैनदर्शन को वीतराग-परमात्मा का उत्तमांग=मस्तक कहा गया है। वह समयपुरुष के मस्तक के समान कहा है। इसका कारण यह नहीं है कि श्रीआनन्दघनजी जैन थे, इसलिए उन्होंने जैनदर्शन को उत्तम अंग के रूप में बताया है। अपितु इसका कारण यह है कि जैनदर्शन किसी वस्तु को सिर्फ एक ही, एकांगी दृष्टि से नहीं देखता, किसी भी विषय पर उसके सभी दृष्टिविन्दुओं को मद्देनजर रख कर तदनुकूल नयसापेक्ष कथन करता है, तथा इस दर्शन में सभी विचारधाराओं को यथायोग्य स्थान दिया गया है, सभी पर सत्यग्राही दृष्टि से विचार किया गया है, इस कारण इसे उत्तमांग कहा गया है। शरीर के अवयवों में मस्तिष्क का स्थान सर्वोपरि, अनिवार्य और उत्तम इसलिए बताया गया है कि वह सभी अवयवों को विचार देता है, शरीर में मस्तिष्क न हो तो सभी अवयव बेकार हो जाते हैं, इसी प्रकार जैनदर्शन सभी दर्शनों को यथायोग्य स्थापन करने वाला है। यह नहीं होगा तो सभी दर्शन एकांगी व एकान्त बन कर सापेक्षवाद को भूल कर अपनी-अपनी ढपली और अपना-राग अलापने लगेंगे। इसलिए जैनदर्शन उस उच्चस्थान को अपनी योग्यता के कारण ही पा सका है। इस उच्चता को प्राप्त करने में उस पर कोई मेहरबानी नहीं की गई है, अपितु, उसने वास्तविक रूप में ही इसे प्राप्त किया है। और अपनी महिमा और योग्यता भी सिद्ध कर दी है। जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह सभी दृष्टिबिन्दुओं के उपरान्त प्रमाणसत्य को स्वीकार करता है, इस कारण सर्वथा उत्तम है।

जैनदर्शन का अंतरंग और बहिरंग

जैनदर्शन के दो अंग हैं—अन्तरंग और बहिरंग। रागद्वेष का सर्वथा त्याग करके आत्मा के गुणों को प्रगट करना इसका अन्तरंग है तथा बाह्यक्रियाएँ करना, समचारी का ऊपर-ऊपर से पालन करना एवं चरणसत्तरी व करणसत्तरी का पालन यह बहिरंग है। इसमें अन्तरंगविभाग में वैराग्य एवं आत्मा के

अनेक गुण कैसे प्राप्त किये जा सकते हैं ? इस सम्बन्ध में कारण और परिणाम के साथ बताया गया है।

अथवा जैनदर्शन अन्तरंग और बहिरंग-शुद्धि से प्रसिद्ध है। अन्तरंगशुद्धि का अर्थ है—राग-द्वेष, मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व से अशुद्ध हुए विचारों द्वारा आए हुए बुरे परिणामों से रहित शुद्ध आत्मभाव एवं समत्वयोग से प्रगट हुआ वीतरागभाव। बहिरंग शुद्धि का अर्थ है--आरम्भ=षट्कायिक जीवों की हिंसा से और व कामभोग विषयसेवन से आए हुए विकारी परिणामों से अशुद्ध बने हुए जगत् के व्यवहार को सामायिकादि यथाख्यातचारित्राचरण से शुद्ध करना।

अक्षर-न्यास धरा-आराधक कौन और क्या ?

इस प्रकार बताए हुए अन्तरंग और बहिरंग दोनों रूप जैनदर्शन का स्थान समयपुरुष के उत्तमांग (मस्तिष्क) के रूप में समझना और दोनों का विभाग जैसा और जिस प्रकार का बताया गया है, निःशंक और निष्कांक्ष हो कर, बिना किसी अपवाद के उसका अक्षरशः अनुसरण करना, यह भी अक्षरन्यास-धरा का एक अर्थ है। अक्षरशः न्यास (स्थापन) करने से यह भी तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वे अक्षर बताए गए हैं, उसी तरीके से उसकी स्थापना यानी सेवन, आराधन, आचरण करने का आग्रह रखना अक्षरन्यास है। अमुक मुद्रा से **नमोत्थुणं** का पाठ बोलना है, अमुक विधि से 'इच्छामि खमासमणो कहना है, इत्यादि जैसी अक्षर—सत्य की स्थापना है, उसी प्रकार से अक्षरन्यासरूप धरा=पृथ्वी का आराधन करना चाहिए।

इसका दूसरा अर्थ यह है—पूर्वोक्त प्रकार से अन्तरंग-बहिरंग-शुद्धि से प्रगट हुआ तत्त्वज्ञान अक्षरन्यासरूप है। फिर जिनभाषित आचारांगादि द्वादशांगी आगम, जिन स्वर-व्यंजन-अक्षरादि से न्यास किया (रचा) हुआ है, उस द्वादशांगीमय जैनदर्शन की धरा (आज्ञा) को अक्षरन्यासधरा कहते हैं। क्योंकि द्वादशांगीमय जैनदर्शन ही अक्षरन्यासधरा है, वही सर्वदर्शनों से ऊपर है मस्तक-स्थानीय है। सारे दार्शनिक विचारों का समन्वय- सापेक्षदृष्टि से कथन, अनेकान्त, नय, प्रमाण आदि से स्थापन मस्तिष्क से ही होता है। अतः द्वादशांगीमय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यासधरा का आराधक—इसी जैनदर्शन की आज्ञा का पालन है। तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक को द्वादशांगीमय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यास की आज्ञा की आराधना अन्तःकरणपूर्वक करनी चाहिए ; क्योंकि इसमें हेयोपादेय का यथायोग्य विधान है, समस्त पदार्थों का

विवेक है। सर्वदर्शनों का समन्वय नयप्रमाणदृष्टि से किया गया है। अतः 'तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवइयं' उसे ही यथार्थ, सत्य, निशंक समझ कर उसकी आराधना करनी चाहिए।

तीसरा एक और अर्थ निकलता है—पूर्वोक्त गाथाओं में जिनवर के ६ अंगों में ६ दर्शनों के न्यास की बात पूरी करने के साथ ही जैनदर्शन का परिचय धारण करके 'अक्षरन्यास' की ध्यानप्रक्रिया यहाँ सूचित की गई है। इस ध्यान-प्रक्रिया के अनुसार शरीर के अलग-अलग अंगों में अक्षरों का न्यास (स्थापना) करके आराधना करनी चाहिए, तभी जिनवर का सर्वांगदर्शन होगा। यानी वीतराग-परमात्मा का सर्वांगमय सम्पूर्ण दर्शन (झांकी) करने के लिए, पर-मात्मा की दिदृक्षा पूर्ण करने हेतु पूर्वधरपुरुषों ने जो अक्षरन्यास के रूप में महा-ध्यान की प्रक्रिया बताई है, तदनुसार आराधना करनी चाहिए। इसीलिए अन्त में कहा गया—'आराधे धरी संगे रे'।

यही कारण है कि जैनदर्शन को अन्तरंग-बहिरंग दोनों दृष्टियों से जिनेश्वर का उत्तमांग कहा है।

जिनवरमां सघला दर्शन छे, दर्शने जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटिनी सही तटिनीमां सागर भजना रे॥
षड्० ॥८॥

अर्थ

जिनवर (वीतराग पुरुष के तत्त्वज्ञानरूप दर्शन) में समस्त दर्शनों का समावेश हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रत्येक दर्शन में जिनवरप्रणीत जैनदर्शन का समावेश हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, निश्चित नहीं है। जैसे समुद्र में तो सभी नदियों का समावेश हो जाता है, परन्तु किसी एक नदी में सागर का समावेश होना एकान्त निश्चित नहीं होता। हो भी सकता है, नहीं भी।

भाष्य

वीतरागप्ररूपित जैनदर्शन में सबका समावेश

पूर्वोक्तगाथाओं में वीतरागपरमात्मा के चरण-उपासक को उदार व एवं सर्वदर्शनसमन्वयी बनने की बात कही गई है। परन्तु जबतक साधक के के मनमस्तिष्क में यह बात न जम जाय कि जिनेश्वर या जिनवर का क्या

अर्थ है ? क्या यह कोई व्यक्तिविशेष है या गुणवाचक संज्ञा है ? जिनेश्वर में सभी दर्शनों का समावेश क्यों किया जाय ? उनकी ऐसी क्या विशेषता है, जिससे उनके द्वारा प्ररूपित दर्शन को उत्तमांग माना जाय ? ये और ऐसे अनेक प्रश्न उठते हैं। इससे पूर्वगाथाओं के विवेचन में हम जिनवर की चरण-उपासना के सन्दर्भ में भलीभाँति विवेचन कर आए हैं कि जिनवर की च॰ण-उपासना के लिए कितनी उदारता, परमतसहिष्णुता, विचारकता, समता और व्यापक समन्वयदृष्टि होनी चाहिए। जिनवर कोई एक व्यक्तिविशेष नहीं है, वह एक गुणवाचक संज्ञा है। जो सर्वोच्च उदार, निरपेक्ष, निःस्पृह, सत्यग्राही है रागद्वेषरहित होकर सबको अपने में समाने की और महाकारुणिक बन कर जगत् के सामने वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करने की व्यापक दृष्टि है, वही जिनवर हो सकते हैं। चाहे उनका नाम कोई भी हो। जैनदर्शन को मानने की बात का समाधान पहले हो चुका है।

पूर्वोक्त गाथाओं में जिनवर के ६ दर्शनों का समावेश किया गया है, उसके अलावा विश्व में और भी अनेक दर्शन हैं, विभिन्न विचारधाराएँ हैं, मत-मतान्तर हैं, उन सबका समावेश जिनवर (सर्वदर्शनयुक्त वीतरागदर्शन) में हो सकता है।

जैसे अनेक गड्ढों, टीलों, घाटियों आदि को पार करती हुई अनेक नदियाँ समुद्र में मिल जाती हैं, परन्तु किसी नदी में समुद्र कदाचित् ही मिलता है; प्रायः नहीं मिलता। जब समुद्र में ज्वार आता है, तब नदी के मुख में थोड़े-बहुत अंशों में सागर दिखाई देता है। उसी प्रकार जैनदर्शनरूपी समुद्र इतना विशाल है कि उसमें समस्त दार्शनिक विचारधाराएँ व दृष्टियाँ समा जाती हैं, वह अपनी अनेकान्तदृष्टिरूपी राजहंसी चोंच से समस्त दर्शनों को विभिन्न नयों, प्रमाणों और हेतुओं-युक्तियों से यथायोग्य स्थान पर स्थापित कर देता है। परन्तु अन्यदर्शन नदी के समान हैं। जैनदर्शन में किसी न किसी एक नय या प्रमाण से सभी दर्शनों का समावेश हो जाता है, जबकि अन्यदर्शनों में किसी-किसी स्थल, पर जैनदर्शन का एकाध अंश दिखाई देता है, बशर्ते कि अनेकान्तदृष्टि से देखा जाय यदि एकान्तदृष्टि से देखा जाय तो अन्य दर्शनों में जैनदर्शन का अंश भी नहीं दिखाई देता। इसका कारण यह है कि

जैनदर्शन ने अपनी एकदेशीयता मिटा कर सर्वदेशीयता स्वीकारी है, जबकि अन्य दर्शनों में से किसी ने भी इस प्रकार की सर्वदेशीयता स्वीकृत नहीं की। नदियाँ जैसे अनेक गड्ढ़ों, टीलों और घाटियों को पार करती हुई समुद्र में मिलती हैं, वे गड्ढे, टीले और घाटियाँ विविध क्रियाएँ, हैं विविधपरम्पराएँ हैं। उन्हें छोड़ देने पर ही नदियाँ समुद्र में मिल सकती है, इसी प्रकार अन्य दृष्टियाँ या विचारधाराएँ भी ऊपरी आवरणों, परम्पराओं, क्रियाओं आदि को त्याग करके ही जैनदर्शनरूपी समुद्र में तत्त्वदृष्टि से समाविष्ट होती हैं। जैनदर्शन इतना विशाल और व्यापक है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के बहाने से सूचित कर देते हैं कि जैनदर्शन को इतना विशाल, व्यापक तथा सर्वदर्शनशिरोमणि बताने का यह मतलब नहीं है कि किसी भी अन्य मत, दर्शन की मान्यता का द्वेषभाव से खण्डन या तिरस्कार करें, उसे हीन बता कर निन्दा करें। ऐसा करना वीतरागता और समता के मार्ग से विरुद्ध होगा और कोरा दिखावा होगा—समता का, अनेकान्तवाद का। हाँ, किसी दर्शन का कोई अंश प्रतिकूल हो, तो उसके प्रति माध्यस्थ्यभाव रखना चाहिए। अतः जैनदर्शन को भी यथार्थरूप में समझ कर आत्मीयभाव से यथार्थरूप से उसकी आराधना करनी चाहिए।

जिनस्वरूप थई जिना आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे॥ षड्० ॥७॥

अर्थ

जो इस प्रकार रागद्वेषविजेता वीतरागपरमात्मा के तुल्य हो कर (यानी रागद्वेष को उपशान्त करके जिनसमान हो कर) जिनभाव की आराधना करता है, वह महान् आत्मा अवश्य (निश्चित) ही वीतरागदेव बन जाता है। जैसे भौंरी ईलिका (लट) नामक कीड़े के डंक मारती है, उसके सामने गुंजारव करती है तो वह ईलिका कुछ ही दिनों में भ्रमरी के रूप में जगत् के लोग देखते हैं, अनुभव करते हैं :

१— उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥
सिद्धसेन दिवाकर चौथी द्वात्रिंशिका

भाष्य

वीतराग बनने का नुस्खा : वीतराग आराधना

पूर्व गाथाओं में जिनवर के चरणोपासक बनने के लिए वैचारिक दृष्टि में विचार-सहिष्णुता, समता, निष्पक्षता, उदारता आदि गुणों को ले कर षड्दर्शन को जिनाग मानने की शर्त थी, परन्तु चरण-उपासक बनने का सुफल क्या है ? इसके उत्तर में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—**जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवरहोवे रे।** अर्थात् जिनेश्वर भगवान् जैसे बन कर (रागद्वेषादि वृत्ति निवारण करके) जो साधक आज्ञापालनसहित मन-वचन काया से निर्वद्य भक्तिपूर्वक तन्मय हो कर आराधना करते हैं, वे अवश्य ही जिन—(वीतराग) बन जाता है।

इसके लिए वे लौकिक दृष्टान्त दे कर समझाते हैं—शरद् ऋतु में भौंरी को जब मद चढ़ता है, तब वह मिट्टी का घरोंदा बनाती है, फिर हरे घास में से भौंरी ईलिका (लट) को ला कर उसे डंक मार कर के मिट्टी घरौंदे में डाल देती है, फिर उस घरौंदे के आसपास गुँजारव करती है। ईलिका डंक की पीड़ा और भ्रमरी का गुंजाख याद करती-करती प्राण त्याग देती है। और कहते हैं, मोहसंज्ञावश वह उसी कलेवर द्वारा भ्रमरीरूप बन जाती है। कम से कम १७ वें दिन बाहर निकालती है—हूबहू भौंरी बन कर यह सब एकाग्रता-पूर्वक ध्यान करने का परिणाम है। ज्ञानी पुरुष इसे 'कीटभ्रमरन्याय' कहते हैं। शास्त्र में बताया गया है—कीटोऽपि भ्रमरीं ध्यायन् लभते तादृशं वपुः'। बस यही न्याय जहाँ जिन-भक्तों के लिए है। यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' जिसकी जैसी श्रद्धा, भावना होती है, वह वैसा ही बन जाता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह निश्चय होना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्धस्वरूप है, दोनों के बीच केवल रागद्वेषादि के कारण ही मेरी भगवान् से दूरी बढ़ती जा रही है। अब मुझे अपना मूलस्वरूप प्राप्त करना है। यों निश्चय करके स्वात्मा में जिनेश्वरदेव की प्रतिष्ठा करके उसे ध्येयरूप में सामने रख कर—स्वात्मा को भी जि श्वररूप में देखने लगता है, जिनदेव में एकाग्रता करता है, धर्म-शुक्लध्यान द्वारा एक ध्यान से स्थिरचित्त हो कर जिन-जिन' यों रटन करता है, वह आत्मा अन्त में राग-द्वेष कषाय-मोह से मुक्त हो कर अवश्य ही वीतराग परमात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विकारी जिनदेव का दत्तचित्त हो कर ध्यान करने से साधक जन्ममरण तथा उससे सम्बन्धित असंख्य दुःखों का निवारण करके स्वयं जिन हो जाता है,

चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति परम्पर-अनुभव रे।
समयपुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे॥

षड् ०॥ ८॥

अर्थ

चूर्णि, भाष्य, सूत्र,निर्युक्ति,वृत्ति और परम्परा का अनुभव; इन सबको समयपुरुष के अंग कहे हैं। जो इनका उच्छेद करता है (इन्हें नहीं मानता) वह दुर्भव यानी दूरभव्य (बहुत लम्बे काल बाद मोक्षगमन के योग्य) है।

भाष्य

समयपुरुष के छह अंगों की आराधना

जैनदर्शन को वीतरागपरमात्मा का उत्तमांग कहा है। उत्तमांग में ही विविध विचारधाराएँ, तत्वज्ञान या दृष्टियाँ भरी पड़ी हैं, परन्तु उन विचारधाराओं के परिपक्व बनाने और गहराई से चिन्तन करके उनका विकास कर सके, परस्पर सामञ्जस्य व समन्वय बिठा सके, इसके लिए जैनदर्शनरूपी उत्तमांग के विविध अवयवरूप इन छह अंगों की यथायोग्य आराधना करनी चाहिए।

प्रश्न होता है—इन ६ अंगों की आराधना करने का क्या उद्देश्य है? इन ६ अंगों की आराधना कैसे और किस तरीके से करनी चाहिए? वास्तव में ये छह अंग ज्ञान प्राप्त करने के महत्वपूर्ण अंग हैं। मूलसूत्र न होते तो परापूर्व से तीर्थंकरों से ले कर गणधरों, और कुछ प्रभावक आचार्यों का ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता? इसी तरह मूलसूत्रों पर व्याख्या, टीका, नियुक्ति, चूर्णि और गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुभवों की रचना न होती तो इतने आध्यात्मिक ज्ञान का विकास कैसे होता? इसलिए सूत्र से ले कर परम्परानुभव तक का जो ज्ञानवैभव है, बोध की अपूर्व सामग्री है,उसको ठुकराना, उसका अनादर करना, उसके लाभ से वंचित रखना कहाँ की बुद्धिमानी है? जो व्यक्ति ज्ञान के इन उत्तम निमित्तों की उपेक्षा कर देता है या इनका खण्डन व अपलाप करता है, वह इस जन्म में तो उस अमूल्यनिधि से वंचित रहता ही है, अगले अनेक जन्मों में भी उसे वैसी अभूतपूर्व ज्ञाननिधि नहीं मिलती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'जे छेदे ते दुर्भवे' अर्थात् जो समय पुरुष के इन अंगों को काटता है (इनका छेदन करता है।

वह ज्ञान (सम्यक्बोध) से रहित हो कर संसार में दुर्गति में, परिभ्रमण करता है। इसलिए प्रत्येक वीतराग-चरण-उपासक को इन छह अंगों की विधिवत् आराधना करनी चाहिए।

सूत्रादि षडंग क्या हैं? उनकी विशेषता क्या है?

जैनदर्शन को समझने के लिए मूलसूत्रों अंगोपांगों का पठन-पाठन बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मूलसूत्र प्राकृत अर्धमागधी भाषा में है। बिना टीका आदि के वे दुरूह आगम समझ में नहीं आ सकते। इसलिए समयपुरुष के ये छहों अंग अत्यन्त उपयोगी हैं, स्वपरहितकारी हैं, और ज्ञानगुण के विकास के लिए प्रबल निमित्त हैं। यद्यपि जैनतत्व-ज्ञान का विपुल अमूल्य साहित्य—जिसे 'पूर्व' कहते हैं, कालक्रम से अनुपलब्ध हो गया है, फिर भी जितना सूत्रादि साहित्य उपलब्ध है, उसी का उपयोग किया जाय तो बहुत ज्ञान-लाभ हो सकता है। अब हम क्रमशः इन छहों की संक्षेप में परिभाषा दे रहे हैं—

चूर्णि—पूर्वधरों द्वारा अर्धमागधी में किये हुए कठिन प्रकीर्णक पदों के अर्थ, भावार्थ।

भाष्य—चौदह पूर्वधरों या गणधरों द्वारा रचित मूलसूत्रों पर अर्धमागधी या वर्तमान प्रचलित भाषाओं में सम्पूर्ण पद का विस्तृत अर्थ

सूत्र—तीर्थंकरों के गणधरों द्वारा रचित मूल सूत्र। ११ अंग वर्तमान में उपलब्ध हैं, जो श्रीसुधर्मास्वामी द्वारा रचित हैं।

निर्युक्ति—व्युत्पत्ति के द्वारा शब्दों का अर्थ करना। वह प्रायः अर्ध-मागधी भाषा में होती है।

वृत्ति—सूत्र पर संस्कृत टीका, चाहे जिस पूर्वाचार्य द्वारा लिखित हो, बहुत ही प्रकाश डालती है— मूलसूत्रोक्त बातों पर।

परम्परागत अनुभव—गुरुशिष्यपरम्परा से प्राप्त अनुभवज्ञान, धारणाओं का ज्ञान।

समयपुरुष के ये ६ अंग हैं। अगर जैनदर्शन की आराधना करनी हो तो उपर्युक्त छहों अंगों को समझना, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन करना और उनका आदरपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। छहों अंग अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं, उपयोगी हैं। आध्यात्मिक विज्ञान के लिए इनसे बढ़कर और कोई धर्मशास्त्र

-संग्रह नजर नहीं आता। बौद्ध साहित्य में भी प्राय: मध्यमकोटि के धर्मोपदेश हैं। वैदिक साहित्य में उपनिषद्विभाग महत्त्वपूर्ण है. उसके सिवाय किसी पदार्थ की ब्योरेवार स्पष्टता वेदों, पुराणों आदि में नहीं प्रतीत होती। इससे कुरान बाइबिल, अवेस्ता, ग्रन्थसाहब आदि अन्य अनेक धर्मों के मूलभूत धर्म-ग्रन्थ प्राय:' अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय तक के सीमित दायरे का ही विचार करके इतिसमाप्ति कर देते हैं। वैसे तो जैनदर्शन इतना उदार है कि उन-उन धर्मग्रन्थों में जो भी थोडी-बहुत अच्छी आत्महितकारी, यथातथ्य बातें होती हैं, उन्हें आदरपूर्वक स्वीकार करता है, जैसा कि पहले ६ दर्शनों को जिन-अंग बता कर उनका यथायोग्य मूल्यांकन करने का जोर, शोर से प्रयत्न किया गया है।

भगवान् की चरण-उपासना के सन्दर्भ में छहों दर्शनों की आलोचना या निन्दा किये बिना तहदिल से अपनाने पर बल दिया है। किन्तु जब तक उसका कोई उच्च सालम्बन ध्यान न बता दिया जाय, तब तक पूर्णत: भगवच्चरणोपासक कोई कैसे बन सकता है? इसी बात को लक्ष्य में रख कर इस गाथा में समयपुरुष के अंग बता कर उनकी आराधना करने की बात कही गई, अगली गाथा में इसी शास्त्रज्ञान पर सालम्बन पदस्थध्यान की प्रक्रिया बताते हुए कहा है—

मुद्रा, बीज, धारणा, अक्षर न्यास अर्थविनियोगे रे।
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे, क्रिया-अवंचक भोगे रे॥ षड्० ॥ ८॥

अर्थ

मुद्रा (विविध आराधनाओं के लिए शरीर की पृथक् पृथक् आकृति), बीज (मंत्र का मूल बीजाक्षर या बीजक), धारणा (इन्द्रियजय के बाद और ध्यान की पूर्वभूमिकारूप पार्थिवी आदि धारणाएँ), अक्षरन्यास (अष्टकमलदल या अन्यत्र क, च, ट, त, प इत्यादि मंत्राक्षरों की स्थापना करना), अर्थ (अर्थ, भावार्थ का आलम्बन), विनियोग (स्वयं जानी हुई चीज योग्य पात्र को बता कर बोध कराना, गुरुगपूर्वक देना) इस प्रकार इन ६ आलम्बनों द्वारा (श्रीवीतरागदेव रूप या समयपुरुषरूप ध्येय का) जो भव्यसाधक ध्यान करता है, वह वंचित (ठगाता नहीं होता। और वह क्रियाऽवंचकत्व का उपभोग करता है, अर्थात् उसे वह प्राप्त हो जाता है।

भाष्य

जिनवर या समयपुरुष का सालम्बनपदस्थध्यान

जिनवर के चरण-उपासक बनने के लिए समयपुरुष (जैनदर्शनरूप) को ध्येय बना कर ६ या ७ आलम्बनों द्वारा ध्यान करके वीतरागत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया इस गाथा में श्रीआनन्दघनजी ने बताई है।

यह गाथा मुख्यतया योगक्रिया से सम्बन्धित है। योग में ध्यान की प्रक्रिया सर्वोत्तम है। 'पदस्थ' ध्यान जिसे करना हो, उसके लिए आलम्बन लेना परम आवश्यक है। प्रत्येक साधक को पहले उसका अर्थ समझ लेना चाहिए। अतः संक्षेप में अर्थ नीचे दिया जाता है।

सर्वप्रथम ध्यान, ध्येय और ध्याता तीनों की त्रिपुटी का योग्य होना चाहिए। अगर इस ध्यान के योग्य पात्र न हो तो, उसे पहले पात्र बनने का अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर यह चयन करना चाहिए कि मुझे कौन-सा ध्यान करना है? ध्यान के ४ प्रकार हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इन चारों में यहाँ निर्दिष्ट ध्यान पिण्डस्थ है। इसलिए ध्याता साधक को मन में निश्चित कर लेना चाहिए कि मुझे पिण्डस्थ ध्यान करना है, और उपर्युक्त ६ या ७ आलम्बन लेने हैं। तत्पश्चात् उसे ध्येय का भी चुनाव करना चाहिए। ध्येय वही चुनना चाहिए, जो ध्यान द्वारा प्राप्त होना सम्भव हो। यहाँ प्रसंगवश जिनदेव के कल्पवृक्षसम पदरूप समयपुरुष को ध्येय-रूप में चुनना है। और ध्येय के साथ ही ध्याता को भी तदनुकूल ध्यान मुद्रा आदि में बैठना आवश्यक है। वे ६ या ७ अंग इस प्रकार हैं—मुद्रा--ध्यान करते करते समय पद्मासन या सिद्धासन से बैठ कर अपने स्थूलशरीर को शान्त व एकाग्र बनाने के लिए शरीर को विविध आकृतियों (पोज) में रखना होता है, उसे ही मुद्रा (पोज) कहते हैं। जैसे शंखावर्त, पद्मावर्त, आवर्त, नवपदवर्त ह्रींवर्त, नन्दावर्त, ॐवर्त आदि जप करते समय की मुद्राएँ हैं। इसी तरह हाथ, पैर, मुख, सिर आदि की मुद्राएँ भाष्य में बताई गई हैं।

बीज—प्रत्येक मंत्र के कुछ मूल बीज या बीजाक्षर होते हैं, उन्हीं के आधार पर मंत्र सिद्ध होता है, मंत्र द्वारा जो साध्य करना होता है, वह बीजमंत्र के द्वारा होता है। जैसे ॐ ह्रीं, श्रीं, क्लीं, ब्लूं ऐं आदि बीजमंत्राक्षर हैं।

धारणा—ध्यान करने से पूर्व योग के अष्टांगोक्त धारणा करनी पड़ती है। जो इन्द्रियजय के बाद और ध्यान से पहले ध्यान की पूर्वभूमिकारूप में होती है। ये धारणाएँ कई प्रकार की होती हैं जैसे पार्थिवी, वारुणी आदि। अथवा अपने भावों में १२ गुणों सहित अरिहन्त की, या ८ गुणसहित सिद्ध की, ३६ गुणों सहित आचार्य की, २५ गुणों सहित उपाध्याय की अथवा २७ गुणों सहित मुनिवर की धारणा (भावना) करनी चाहिए। अथवा बीजाक्षर-धारणा एक शब्द है, इसके अनुसार कौन-सी मुद्रा धारण कर के कौन-से अक्षर का कैसे ध्यान किया जाय? इसे बीजाक्षरधारणा कहते हैं। ध्येय पर चित्त को स्थापन करके उसमें एकाग्र करना पातंजलयोग के अनुसार धारणा है, जो बाह्य में सगुण (साकार) ईश्वर का ध्यान तथा आभ्यन्तर में नासिका, जिह्वा आदि सात चक्रों की व्यवस्था बताई गई है।

अक्षर-न्यास—अ, इ, उ, आदि अक्षरों की शास्त्रसम्मत विधि से स्थापना करना और उन्हीं स्थापित अक्षरों पर चित्त को एकाग्र करना अक्षरन्यास कहलाता है। मन्त्रशास्त्र में इसकी अनेक विधियाँ बताई गई हैं। अथवा अक्षर और न्यास ये दो शब्द मान कर दोनों के अलग-अलग अर्थ किये गए हैं। जैसे अक्षर का अर्थ है— अकारादि अक्षरावली वाले सूत्रसिद्धान्त या किसी तत्त्वज्ञान पर मनन करना, मन को एकाग्र करना, न्यास का अर्थ है—गुरु की आज्ञानुसार कमल, हृदय आदि पर अक्षर की स्थापना करना, फिर द्रव्यअक्षर से निकल कर भाव-अक्षर (आत्मा-परमात्मा, जो क्षर (विनाशी) नहीं है, उस पर मनन करना, साक्षात्कार करने हेतु मन को जोड़ना।

अर्थ—अर्थ या भावार्थ का अवलम्बन लेना।

विनियोग—दूसरों (योग्यपात्रों) को ध्यान के अर्थ (ज्ञान) का गुरुगम कराना, अथवा ध्यान में लगाना। अथवा अर्थ-विनियोग दोनों मिल कर एक शब्द मान कर अर्थ किया गया है—परम अर्थ यानी ध्यान का विषय पिण्डस्थ हो या पदस्थ हो, रूपस्थ हो या रूपातीत, उसका आत्मार्थ (आत्महित के लिए) ही चित्तवृत्ति में विनियोग करना। क्योंकि सांसारिक या फलाकांक्षाविषयक अर्थ को ले कर अनर्थ की संभावना है।

इस प्रकार विधिवत् (६, ७ या ८ प्रकार से युक्त विधि से) ध्यान (चित्तै-

काग्र्य) करता है, वह क्रियाऽवंचकता प्राप्त कर लेता है। क्रिया-अवंचकता कैसे सिद्ध हो सकती है, इस विषय में आठवें तीर्थंकर की स्तुति में भलीभांति विवेचन किया गया है, वहाँ से जान लें। इस प्रकार का अवंचक—आत्मा कपट, कषाय, मोह, काम, रागद्वेषादि ६ रिपुओं से पराजित नहीं होता, सर्वत्र विजय पाता है और क्रिया-अवंचक का यथार्थ उपभोग (आनन्दलाभ) करता है। जो लोग पुत्र, धन, परिवारादि तथा स्वर्गादि सांसारिक सुख के लाभ के लिए दम्भयुक्त, प्रदर्शन के लिए, आश्रव एवं पापसेवन करते हुए सावद्य, किन्तु तथाकथित धार्मिक क्रिया करते हैं, वे स्वपरवंचना करते हैं, असत्य पदार्थ को ले कर सत्य को खोजते हैं। इसीलिए यहाँ कहा गया—'जे ध्यावे ते नवि वंचीजे' जो उपर्युक्त विधि से ध्यान-क्रिया करता है वह वंचित नहीं होता। इसके अतिरिक्त जो दम्भादिपूर्ण क्रिया अपनाता है, वह तो मायिक है ही, वंचित होता ही है।

श्रुत १ अनुसार विचारी बोलुं, सुगुरु तथाविध न मिले रे।
किरिया करी नवि साधी शकीए, ए विषवाद चित्त सघले रे॥
॥षड्० ॥१०॥

अर्थ

आचारांगादि शास्त्रों (सूत्रों) में जिस प्रकार कहा है, उसके अनुसार जब विचार करके बोलता हूँ तो तथाविध (जैसे होने चाहिये, वैसे) सुगुरु ढूंढने पर भी नहीं मिलते। (सुगुरु के मार्गदर्शन के बिना) अपनी इच्छानुसार क्रिया करते रहें तो जिस साध्य को साधना चाहते हैं, उसे साध नहीं सकते। अथवा ऐसे किसी सद्गुरु का योग मिला नहीं है, जिनके सहयोग से पूर्वोक्त क्रियाऽवंचकयोग साध सकें। यह सब विषवाद (विषाद या दुःख) सभी मुमुक्षुओं के चित्त में है अथवा मन में सब जगह ऐसी दुविधा-सी स्थिति रहा करती है।

भाष्य

क्रियावंचकयोग के लिए सुयोग के अभाव का हार्दिक खेद

पूर्वगाथा में जिस क्रियाऽवंचकता की प्राप्ति का उल्लेख था, उस पर

---

१ 'श्रुत' के बदले कहीं कहीं 'सूत्र' शब्द मिलता है।

विचार करते हुए श्रीआनन्दघनजी गहरे विषाद में डूब गये। वे अपना हार्दिक दुःख इस गाथा के द्वारा वीतरागपरमात्मा के सामने व्यक्त करते हैं। स्वच्छ-सरल-सरसहृदय साधक प्रभु के सामने अपने मन में कोई गांठ नहीं रखता, वह अपने अबोध बालक की तरह प्रभु को माता-पिता समझ कर उनके सामने अपना हृदय खोल कर रख देता है- अपनी जैसी स्थिति, शक्ति, गति, मति है, उसे वह प्रभु के सामने प्रगट कर देता है। श्रीआनन्दघनजी ने जब उपर्युक्त साधना के विषय में मंथन किया तो वे प्रभु के सामने पश्चात्तापपूर्वक पुकार उठे—"प्रभो! जब मैंने आचारांगादि शास्त्रों का गहराई से अध्ययन किया तथा सम्यक्श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से जो कुछ मुझे अनुभव हुआ है, उसे देखते हुए उस पर से जब मैं बोलता हूँ तो उक्त साधना के लिए जैसे सुगुरु चाहिए, वैसे अब तक मुझे नहीं मिले। मार्गदर्शन के बिना क्रियावंचकता आदि कोई भी साधना यथार्थरूप से नहीं हो सकती। विश्वव्यापी ज्ञान की बड़ी-बड़ी बातें करने वाले, लच्छेदार भाषण देनेवाले, आत्मज्ञान की डींग हांकने वाले अनेक तथाकथित गुरु मिलते हैं, परन्तु शास्त्रों में सुगुरुओं का जैसा वर्णन मिलता है, जो लक्षण आगमों में बताये गए हैं, उनके अनुसार जब मैं हृदय की कसौटी पर उन्हें कस कर जांचता-परखता हूँ तो मेरी कसौटी में वे खरे नहीं उतरते। यह मैं कोई अभिमानवश नहीं कह रहा हूँ, नम्रतापूर्वक मैं अपने दुर्भाग्य को प्रगट कर रहा हूँ। गुरु तो सबको मिलते हैं, परन्तु शास्त्रों में बताए (जिनके लक्षण आदि के सम्बन्ध में 'आगमधर गुरु समकिती'''आदि के रूप में शान्तिनाथभगवान् की स्तुति के प्रसंग में हम पर्याप्त विवेचन कर आए हैं। लक्षणों या गुणों के अनुसार वैसे सुगुरु का योग इस पंचम (कलि) काल में नहीं मिलता, एक प्रकार से ऐसे सुगुरुओं का तो दुष्काल सा ही है।

मालूम होता है, योगी श्रीआनन्दघनजी के समय में तथाकथित नामधारी सूरी, आचार्य,उपाध्याय,गणी, साधु आदि की कमी नहीं थी, परन्तु उन सबमें उन्हें प्रायः धनिकभक्तों की गुलामी, क्रियाकाण्डपरायणता, रूढ़िग्रस्तता, सत्त्व-श्रद्धारहित क्रियाहीनता और आडम्बर, पद, प्रसिद्धि आदि की महत्त्वाकांक्षा दिखाई दी होगी, जिसके कारण अथवा उन्हें स्वयं को उस समय के गुरुओं से बहुत ही कटु अनुभव हुआ होगा। तभी खेद के ये उद्‌गार निकाले होंगे—"सुगुरु तथाविध न मिले रे'

प्रश्न होता है – यदि श्रीआनन्दघनजी को अपनी परख के अनुसार वैसे सुगुरु न मिले तो न सही; वे अपने अन्तःकरण से सत्य समझ कर क्रिया या साधना करते, क्या जरूरत थी, उन्हें सुगुरु की या सुगुरु के सम्बन्ध में विचार करने की ? अपनी मस्ती में रहते और यथेष्ट साधना करते ! इसका उत्तर स्वयं वे ही दे देते हैं—'किरिया करी नवि साधी शकीए'। श्रीआनन्दघनजी वर्तमानयुग के तथाकथित साधकों की तरह उच्छृंखल नहीं थे, न स्वेच्छाचारवादी थे, वे योग्य गुरु के मार्गनिर्देशन में साधना करने के पक्ष में थे। सुगुरु के योग्य मार्गदर्शन में साधना करने से समय-समय पर साधना के मार्ग में आई हुई अड़चनें दूर हो सकती हैं, वे योग्य मार्गदर्शन दे कर मार्गभ्रष्ट साधक को ठिकाने ला सकते हैं। परन्तु श्रीआनन्दघनजी को ऐसे सद्गुरु की ओर से मार्गदर्शन, यथार्थ परम्परानुभव नहीं मिल सका, इसी बात का खेद वे प्रभु के सामने प्रगट कर रहे हैं। सद्गुरु के अभाव में योग्य मार्गदशन या प्रेरणा न मिलने से मोक्षफलदायिनी क्रिया करके वे लक्ष्यसिद्धि नहीं कर सके। परिणामस्वरूप साध्य को सिद्ध न करके, बाह्यक्रियाएँ करके पुण्यबन्ध मे संसारभ्रमण ही कर पाए। वास्तव में ऐसी थोथी क्रियाओं से सिवाय पुण्यप्राप्ति के अधिक प्रायः मिलता नहीं; इसी बात का खेद या विषवाद रहा करता है। ऐसा लगता है कि इतनी सब क्रियाएँ करते हुए भी उनसे मोक्षप्राप्तिरूप फल तो सिद्ध नहीं होता; सिर्फ सांसारिक पौद्गलिकप्राप्ति मिल जाती है। यानी मेहनत पहाड़भर है, फल राई के दानेभर है। इनका कारण सद्गुरुदेव की कृपादृष्टि या सत्प्रेरणा का अभाव है।

"ऐसे सद्गुरु के अभाव की खटक केवल मेरे मन में ही नहीं, मेरे सभी सभी साधकसाथियों या मुमुक्षुओं के दिलमें भी इसकी बड़ी खटक है। प्रभो ! आप अन्तर्यामी हैं, आपके सामने अपनी गलती या विषाद की बात का स्वीकार करने में मुझे जरा भी संकोच नहीं है। मुझे स्वय इस बात का खेद है। अतः अब आप ही सुझाइए कि मुझे क्या करना चाहिए ? इस प्रकार की प्रार्थना वे अन्तिम गाथा में करते हैं—

ते माटे ऊभो कर जोड़ी, जिनवर आगल कहीए रे।
समय-चरणसेवा शुद्ध देजो, जिम आनन्दघन लहिए रे॥

पद०॥११॥

अर्थ

पूर्वोक्त अभावद्वय के कारण करयुगलबद्ध हो कर हम आप जिनवर के समक्ष (शुद्धहृदय से) निवेदन करते हैं, हमें समयपुरुष की या सिद्धान्तसम्मत (शास्त्रोक्त) रूप जिनवर की शुद्धचरणसेवा देना (पवित्र चारित्रसेवन की कृपा करना, ताकि हम भी आनन्दघन (परमानन्दस्वरूप) पद प्राप्त कर सकें।

भाष्य

भक्त की प्रभु वीतराग से चरणसेवा की प्रार्थना

भक्त के हृदय में जब विषाद का भार बढ़ जाता है, तब उसे हलका करने के लिए वह भगवान् के सामने अपना दिल खोलता है। इस प्रकार भगवान् के सामने हृदय की बात कह डालने से हलकापन तो महसूस होता ही है, कभी-कभी हृदय का कालुष्य धुल जाने से निर्मल अन्तःकरण पर अद्भुत आध्यात्मिक प्रेरणाएँ अंकित हो जाती हैं, उस स्वतः प्रेरणा को भक्त प्रभुप्रेरणा मान कर शिरोधार्य करता है। यही बात यहाँ श्रीआनन्दघनजी के सम्बन्ध में है। वे शुद्ध अन्तःकरण से करबद्ध हो कर मन में प्रभु की छवि अंकित करके खड़े हुए और प्रभु के सामने अपने अन्तर की पुकार करने लगे—"मेरे हृदयेश्वर ! अब जब कि मुझे सद्गुरु की प्रेरणा मिलने का कोई अवसर (Chance) नहीं दिखता और उसके अभाव में मेरी साधना शुद्धमोक्षदायक नहीं हो सकती, तब निरुपाय हो कर आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि मुझे आपके (वीतरागप्रभु के समयपुरुष के) शुद्ध चरणों (स्वरूपरमणरूप या स्वात्मानुभवरूप चारित्र) की सेवा (आराधना) का अवसर दें, जिससे मैं सच्चिदानन्दरूप (आनन्दघन) प्राप्त कर सकूँ।

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से शुद्ध चारित्र की मांग की है, इसके पीछे निम्नोक्त कारण प्रतीत होते हैं · एक तो यह कि शुद्ध चारित्र होगा, वहाँ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होंगे ही। परन्तु अगर वे सम्यग्ज्ञान मांगते तो सम्यक्चारित्र नहीं प्राप्त होता। इसलिए सम्यक्चारित्र मांगने के साथ-साथ उन्होंने उक्त दोनों रत्न माँग लिए हैं। दूसरा कारण यह है कि प्राणी को तथाप्रकार के शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए अर्धपुद्गलपरावर्तन-काल शेष रहे तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। किन्तु प्रभुकृपा हो जाय और अन्तःकरण में तीव्र संवेग प्राप्त हो जाय तो इतना लम्बा काल भी झपाटे के साथ

पार हो जाता है। समय-चारित्र की मांग की है, इससे फलितार्थ निकलता है कि वे समयपुरुष की चरणसेवा के पूर्वोक्त उपायों को जानते हैं, केवल तदनुसार आचरण करना ही शेष है, वह आचरण (चारित्र) ही अतल समुद्र को पार करने के समान बहुत दुष्कर है, कोई सद्गुरु भी साथ में मार्गदर्शक नहीं है, इसलिए प्रभु का हाथ पकड़ कर उनके अन्तर्निर्देश में वे चारित्ररूपी महासमुद्र को पार होने के लिए उद्यत है। देखिए, कब उनकी आशा पूर्ण होती है !

सारांश

इस स्तुति में वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक के लिए सर्वप्रथम छह दर्शनों को जिनवर के अंग मान कर उनको यथायोग्य स्थान पर स्थापित करना जरूरी बताया है। यहाँ तक कि लोकायतिक दर्शन को भी जिनवर का उदर माना है। इस प्रकार की विवेकपूर्ण श्रद्धा के स्वीकार के बाद छह दर्शनों को नदियों की और जैनदर्शन को समुद्र की उपमा दे कर जैनदर्शन के उत्तमांग होने की बात को और पुष्ट किया है। इसके बाद चरण-उपासना को नया मोड़ देकर उपास्य के अनुरूप उपासना की उच्चरीति बताई है। इसके पश्चात् ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों की उपासना को चरणोपासना में गतार्थ करके उसकी उत्तम विधि बताई है। तदनन्तर चारित्र की उच्च कक्षा पर पहुँचने के लिए मार्ग-दर्शक सुगुरु के अभाव का खेद व्यक्त करके प्रार्थना की है। कुल मिला कर वीतराग-प्रभु के चरणउपासक बनने का सुन्दर तत्त्व श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति में में प्रगट कर दिया है।

२२ : श्रीनेमिनाथ-जिन-स्तुति

ध्येय के साथ ध्याता और ध्यान की एकता

(तर्ज घणरा ढोला, राग-मारुणी)

अष्टभवान्तर वालही रे, तुं मुझ आतमराम, मनरा व्हाला!
मुगति-स्त्रीशुं आपणे रे, सगपण कोई न काम, मनरा०। १॥

अर्थ

राजमती श्रीनेमिनाथस्वामी से कहती है—"आठ भवों (जन्मों) तक मैं आपकी प्रियतमा पत्नी थी और आप मेरी आत्मा (आत्मा के अन्दर के भाग) में रमण करने वाले या सतत प्रेमपूर्वक आत्मा में स्थान=आराम पाये हुए नाथ थे। हे मेरे मन के प्रियतम! मुक्तिरूपी स्त्री (शिवसुन्दरी) के साथ अपनी सगाई-सम्वन्ध जोड़ने (बांधने) से कोई काम (प्रयोजन) नहीं है।

भाष्य

इस परमात्म-स्तुति का प्रयोजन और रहस्य

इस बावीसवें तीर्थंकर श्रीअरिष्टनेमिनाथस्वामी की स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने जो विषय छेड़ा है, उसे ऊपर से देखने वाले को यही प्रतीत होता है कि सांसारिक पति-पत्नी का कोई प्रेम संवाद और खासकर पत्नी की ओर से पति को उपालम्भ और उपदेश दिया जा रहा हो. इस प्रकार का दाम्पत्यराग है, इसमें आध्यात्मिकता का एक छींटा भी नहीं है। परन्तु इस स्तुति का गहराई से अध्ययन करने पर बताया गया है कि इसमें ध्येय (परमात्मा) के साथ ध्याता की एकता सततध्यान के कारण जुड़ती है, लेकिन बहिर्मुखी चित्त-वृत्ति की तरफ आत्मारूपी पति के आकर्षित हो जाने पर परमात्मा से दूरी बढ़ती चली जाती है। प्रारम्भ में १० गाथाओं तक श्रीराजीमती के द्वारा श्रीनेमिनाथ स्वामी को मोहाविष्ट, रागातुर एवं सांसारिक प्रीति की ओर आकृष्ट करने के लिए उपालम्भ-वचन आदि युक्तियों से प्रयत्न किया जाता है, फिर एक नया

मोड़ लिया जाता है, परमात्मा के वीतरागस्वरूप को पहिचानते हुए भी रागाविष्ट करने की कोशिश की जाती है, फिर १४ वीं गाथा से राजीमती की मोहदशा कम हो जाती है, वह परमात्मा की वीतरागदशा का ध्यान करके स्वकर्त्तव्य का विचार करती है, स्वयं परमात्मपद का ध्यान करके ध्येय के निकट पहुँच कर परमात्मा में लीन हो जाती है, भगवान् नेमिनाथ की मुक्ति से ५४ दिन पहले राजीमती सती मुक्ति में पहुँच जाती है। अर्थात् ध्याता राजीमती अपने स्वामी नेमिनाथ के चरणों का अनुसरण करके उनसे पहले ही अपने ध्येय-परमात्मा में विलीन हो जाती है।

योगी श्रीआनन्दघनजी इसी प्रकार मोहादि षड्विकारों से पर हो कर मुक्तिपदप्राप्ति के इच्छुक भव्यमुमुक्षु आत्माओं को इस स्तुति द्वारा यही बोध दे रहे हैं कि बाह्य ध्येय तो निमित्त रूप ही होता है, सच्चा और अन्तिम ध्येय तो ध्याता के शरीर में रहा हुआ आत्मतत्त्व ही है। इसलिए इस निमित्त का नाममात्र को अवलम्बन ले कर भी भव्यात्मा को स्व-आत्मतत्त्व के साथ ही एकता साधनी है। ऐसा होने से ध्याता और ध्येय की एकरूपता हो जाती है, जो इस स्तुति का खास प्रयोजन है।

दूसरी एक महत्त्व की वस्तु इस स्तुति में गुप्त रहस्य के रूप में शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से यह मालूम होती है कि आत्मा जब भौतिक इन्द्रियों के भोगोपभोगों का त्याग करके आत्मदृष्टि में स्थिर होने का प्रयत्न करता है, वह वहिर्मुखी इन्द्रियरूपी चित्तवृत्ति उसे अपने में रमण करते रहने के लिए ललचाती है, विविध मोहक प्रलोभनों (वचनों) से उसे खींचने का प्रयास करती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा जब उन वहिर्मुखी इन्द्रियों के भ्रामक मोह (राग) जाल में नहीं फँस कर आत्मदृष्टि में ही स्थित होने का दृढ़ प्रयत्न करती है, तब वहिर्मुखी बनी हुई वह चित्तवृत्ति ही अन्तर्मुखी हो जाती है। यह चित्तवृत्ति भी आत्मा के इस ऊर्ध्वगामी पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। फलतः वह अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति आत्मा के परमानन्द में मिलने से पहले ही आत्मस्थित बन कर परमानन्द प्राप्त कर लेती है।

इस तथ्य को महात्मा आनन्दघनजी ने इस स्तुति में रूपक के माध्यम से कथ्य के रूप में बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। बहिर्मुखीवृत्ति वाली राजीमती के मुख से बहिर्मुखी बनी हुई चित्तवृत्ति सरीखे ही ताने, आक्षेप-

भरे उपालम्भ और मोहक एवं भ्रामक शब्द कहलाए जाने पर भी श्रीनेमिनाथ स्वामी वापिस नहीं लौटते हैं, तब राजीमती स्वयं ही भगवान् नेमिनाथस्वामी के मार्ग का अनुसरण करके अन्तर्वृत्ति में स्थिर हो जाती है।

यहाँ यह शंका होनी स्वाभाविक है कि पहले की स्तुतियों में और इस स्तुति से आगे की स्तुतियों में किसी भी स्थल पर श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे के मुँह से स्तुति नहीं कराई ? तो फिर यहाँ राजीमती के मुख से स्तुति क्यों कराई गई ? इसके समाधान में हम यों कह सकते हैं कि मुमुक्षु भव्यात्मा अथवा श्रीआनन्दघनजी ने स्वयं ने ही राजीमती के बहाने से परमात्मा नेमिनाथ के चरित्र का स्मरण करने के लिए ही ऐसा किया है।

इन्हीं पूर्वोक्त गूढ़ अर्थों के प्रकाश में इस स्तुति की विभिन्न गाथाओं का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

राजीमती-बहिर्मुखी चित्तवृत्ति द्वारा स्थितप्रज्ञ आत्मा-रूप नेमिनाथ को प्रार्थना

यह सारी स्तुति स्तुतिकार ने उग्रसेनपुत्री राजीमती के मुख से करवाई है। दूसरे तीर्थंकरों की अपेक्षा नेमिनाथप्रभु का चरित्र अद्भुत है। वे आजीवन बालब्रह्मचारी के रूप में ही रहे हैं, किन्तु श्रीकृष्णजी की प्रेरणा से, विवाह के लिए उन्होंने मौन सम्मति दे दी। लेकिन जब वे राजीमती के साथ विवाह करने के लिए बरात ले कर स्वयं रथारूढ़ हो कर श्वसुरगृह की ओर प्रस्थान करते हैं, तो रास्ते में ही उन्होंने बरातियों को मांसभोज देने के लिए एक बाड़े में बंद पशुपक्षियों को आर्तनाद करते हुए देखे। नेमिनाथ उनकी पुकार को समझ गए और उन सब भद्रप्राणियों को बन्धनमुक्त करवा दिये। उन्हें यह खेद हुआ कि मेरे विवाह के निमित्त से इन सब निर्दोष प्राणियों की हत्या होती, अतः वे इस विवाह से ही विरक्त हो कर विवाह किये बिना ही वापिस लौटने लगे। सारे बरातियों में खलबली मच गई। राजीमती ने जब अपने भावी पति (वरराज नेमिनाथ) को विवाह किये बिना ही वापिस लौटते देखा तो उसके मन में भूकम्प का-सा झटका लगा। मोहवश एक बार तो वह मूर्च्छित हो गई; किन्तु फिर होश में आ कर अपने साथ किये हुए सगाई (वाग्दान) सम्बन्ध को याद दिला कर वह नेमिनाथ से पुकार करने लगी। इस स्तुति की १३ गाथाओं तक स्तुतिकार ने सती राजीमती के मुख से जो पुकार (प्रार्थना)

नेमिनाथस्वामी के प्रति कराई है, वह बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत की गई है। खासतौर से श्रीराजीमती के ताने और उपालम्भों ने उस अद्भुतता में और वृद्धि कर दी है। राजीमती कहती है—"हे स्वामिन् ! पिछले आठभवों में में आपकी प्राणवल्लभा थी, आप मेरे प्रियतम थे, मेरी आत्मा के एकमात्र आराम-स्थल आप थे। आपने मुझे अपनी प्राणप्यारी समझ कर मेरे मन के तमाम मनोरथ पूर्ण किये। अब इस भव में आप क्या कर रहे हैं ? मैंने तो जब से आपके साथ मेरा वाग्दान हुआ, तभी से आपको अपने आत्माराम समझ लिये हैं। परन्तु गजब की बात है कि आपने मेरे हृदय को न पहिचान कर, मेरी प्रीति को तोड़ कर मुझे अधबीच में छटका कर, निष्ठुरतापूर्वक ठुकरा कर मुक्तिरूपी शिव-सुन्दरी के साथ विवाह करने चल पड़े। मैं तो आपकी प्रतीक्षा में यहाँ बैठी हूँ और आप हैं, जो मेरी पुकार को अनसुनी करके मुक्तिसुन्दरी से सगाई सम्बन्ध जोड़ने जा रहे हैं,। क्या आपका यह कदम उचित है ? उपयोग की दृष्टि से सोचें तो मेरे साथ आठ-आठ जन्मों का पुराना सम्बन्ध था, उसे छोड़ कर मुक्ति-सुन्दरी के साथ नया सम्बन्ध जोड़ने में आपको क्या लाभ होगा ? सगाई सम्बन्ध समानशील वाले के साथ अच्छा होता है। मेरे सरीखी राजकुमारी के साथ सम्बन्ध तो समानता का सम्बन्ध है, लेकिन मुक्तिसुन्दरी के साथ आपकी कौन-सी समानता है ? फिर उसके साथ तो आपकी कोई जान-पहिचान भी नहीं है ! मेरे साथ तो इस जन्म की नहीं, पिछले ८ जन्मों की जानपहिचान है। भला मुझ जानी-मानी और सब तरह से चाहती आपकी प्रिय चरणसेविका को छोड़ कर आप बिना कुछ सोचे-विचारे, अज्ञातशीला मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोड़ने जाएँ, यह तो अनुचित है। इससे आपका कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। अतः मेरी ओर देखकर मेरे साथ के सम्बन्धों को याद करिये, और अजानी मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोड़ने का विचार छोड़िये। अगली गाथाओं में फिर वह प्रार्थना करती है—

घर आवो हो, वालम ! घर आवो, मारी आशाना विशराम ॥
रथ फेरो हो, साजन ! रथ फेरो, मारा मनरा मनोरथ साथ ॥
॥ म० २ ॥

अर्थ

हे वल्लभ, प्रियतम ! आप मेरे (पिता का घर मेरा घर मेरा घर है, इसलिए)

घर पर पधारो, मेरे रहने के स्थान पर पधारो, क्योंकि आप तो मेरी आशा के विश्रामस्थल हैं। हे सज्जनपुरुष ! आप रथ को वापिस मेरे घर की ओर मोड़िए, मेरे मन के मनोरथ को साथ ले कर आप रथ वापिस मोड़ कर घर पधारिए !

भाष्य

घर पर पधारने और रथ को मोड़ने की प्रार्थना

अतः हे प्राणवल्लभ स्वामिन् ! आप मेरे घर (पीहर) पधारें। आप तो मेरी तमाम आशाओं के केन्द्रस्थान है, आपको पा कर ही मेरे द्वारा संजोई हुई आशाओं के स्वप्न विश्राम पायेंगे, अन्यथा उन सब आशाओं पर पानी फिर जाएगा। आशाओं के महल उजड़ जाएँगे। और फिर आप सज्जन हैं, इसलिए किसी की आशाओं (बँधी हुई मनोकामनाओं) को ठुकरा कर आप नहीं जा सकते। सज्जन किसी को पहले आश्वासन (वाग्दान) दे कर आशा बंधा कर फिर उसे तोड़ने नहीं। इसलिए हे सज्जन ! आप को रथ के वापिस मेरे घर की ओर मोड़िए और मेरे घर की ओर मोड़िए और मेरे मनोरथों को ध्यान में रख कर वापिस लौटिए। आपका रथ चला जा रहा है, साथ में मेरा मनोरथ भी चला जा रहा है। आपके साथ ८ भवों के प्रेम के कारण अब जो सगाई-सम्बन्ध हुआ, उसके बाद मन में जो-जो आशा के महल बांधे थे, वे सब टूट रहे है, आप रथ वापिस मोड़ेंगे तभी वे टिक सकेंगे। आपके रथ के जाने-आने पर मेरे मनोरथों का जाना-आना निर्भर है क्योंकि आप ही मेरे मन ने माने हुए विश्राम हैं। भारतीय आर्यकन्या के लिए वाग्दान से ही भावी वर पति हो जाता है, वही आजन्म पति रहता है। एक बार प्रियतम स्वीकार कर चुकने के बाद वह जीवनभर के लिए पति हो चुकता है। कुंवारी कन्या की समस्त आशाओं का दारोमदार भावी पति पर है। वह जागृत अवस्था में अनेक सपने संजोती हैं, उन सब स्वप्नों की साकारता पति पर अवलम्बित रहती है। इसीलिए राजीमती नेमिनाथस्वामी से आग्रहपूर्वक उक्त प्रार्थना कर रही है।

इस गाथा का अध्यात्मगर्भित अर्थ

राजीमती को आध्यात्मिक दृष्टि से बहिर्मुखी चित्तवृत्ति मान कर इसका अर्थ करते हैं तो यों होता है—"वह कहती है 'मेरे प्रियतम आत्मन् ! मेरे यहाँ पधारो ! मैं तो तुम्हारी पुरानी सेविका हूं, मेरी आशा के तुम्हीं तो विश्राम (आधार) हो। अगर तुम्हीं (स्थितप्रज्ञ आत्मा) मुझे ठुकरा दोगे, तो मेरा क्या

हाल होगा ? अतः हे सज्जन ! रथ (सांसारिक भाव-मनोरथरूपी रथ) वापिस मोड़ो। मेरे अनेकविध मनोरथों के साथ तुम वापिस आओ, और मेरे घर में आ कर मेरी सुध लो।

नारी का प्रेम क्षणिक मान कर उपेक्षणीय नहीं है, इसी बात को अगली गाथा में राजीमती कहती है—

नारी-पखो श्यो नेहलो रे, साच कहे जगनाथ; मन० ॥
ईश्वर अर्धांगे धरी रे तुं मुझ झाले न साथ; मन० ॥ ३ ॥

अर्थ

नारीपक्ष का इकतरफी प्रेम (स्नेह) कौन-सा प्रेम है ? "हे जगन्नाथ ! अगर आप सचमुच ऐसा कहते हैं तो मुझे सत्य कहना पड़ेगा कि महादेव जैसे ईश्वर कहलाने वाले बड़े देव ने पार्वती को अपने आधे अंगों में धारण की थी, इसलिए वे अर्धनारीश्वर कहलाए। लेकिन तुम तो मेरा हाथ भी नहीं पकड़ते, वाग्दान दे कर भी अब पिंड छुड़ाते हो ?

भाष्य

नारी के प्रति स्नेह का मूल्य

इस गाथा में राजीमती दूसरा मुद्दा उठाती है। वह कहती है—यदि आप यह कहते हैं कि स्त्रीपक्ष के क्षणिक स्नेह की क्या कीमत है ? "अतः स्त्री के साथ प्रेम क्यों किया जाय ? इस प्रश्न में एक बात और गर्भित है कि राजीमती यह भी कहना चाहती है कि कदाचित् कोई स्त्री अपने पति के साथ स्नेह न करती हो, तब तो उस पति के लिए उचित है कि वह ऐसा प्रश्न उठाए। और ऐसे पति ने कदाचित् अपनी स्त्री के साथ सम्बन्ध विच्छेद किया हो, तब भी ठीक है, लेकिन मेरे और आपके बीच तो ऐसी कोई बात नहीं हुई। स्वामिन् ! यदि सच कहूँ तो आप मेरे एक जन्म से नहीं आठ-आठ जन्मों से परिचित नाथ हैं। मेरा तो इस जन्म में भी आपके प्रति स्नेह अत्यन्त अधिक है। पर वह स्नेह एकपक्षीय है, पत्नी के मन में स्नेह हो, और पति के मन में स्नेह जरा भी न हो, तो वह स्नेह कैसे निभ सकता है ? अतः मेरे स्नेह के बदले में आपको भी स्नेह करना चाहिए। आपको भी स्नेह का जवाब स्नेह से देना चाहिए। जब पति के प्रति पत्नी का प्रेम हो तो पति भी पत्नी के प्रति अवश्य प्रेम करता है,

और उसके मनोरथ पूर्ण करता है। अन्यथा एकपक्षी-नारीपक्षीय स्नेह कैसे निभेगा ? परन्तु प्राणेश्वर ! क्या आप भूल गये हैं- पार्वती के स्नेहवश शंकर ने उसे अपने अर्धांग में स्थान दे दिया था। आज भी जगत् उन्हें अर्धनारीश्वरके नाम से पहिचानता है। अतः आप तो मेरा हाथ भी नहीं पकड़ते, मुझे अर्धांगिनी बनाने की बात ही दूर रही। आपको जाना हो तो भले ही जांय परएक बार मेरा हाथ पकड़ कर मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे अपनी अर्धांगिनी बना कर फिर जांय। मेरा हाथ छिटका कर न जाएँ। मेरे नाथ नहीं बनते तो आप जगन्नाथ कैसे कहलाएँगे ? मेरी इतनी-सी प्रार्थना नहीं मानेंगे तो क्या लोगों में आप अच्छे कहलाएँगे ?

अध्यात्मदृष्टि से किसके साथ स्नेह ?

इस गाथा के आध्यात्मिक दृष्टिपरक अर्थ पर विचार करते हैं तो ऐसा मालूम होता है कि बहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अज्ञानचेतना) स्थितप्रज्ञ वीतराग आत्मा से कहती है —'मेरे प्रति प्रेम का हाथ बढ़ाओ, मुझे छिटकाओ मत, मेरे साथ सम्बन्ध-विच्छेद न करो; परन्तु स्थितप्रज्ञ उसके बहकावे में नहीं आता; वह शुद्ध आत्मा में स्थिर रहता है, स्त्री का स्पर्श तो मुनि करता ही नहीं है, बहिर्मुखी चित्तवृत्तिरूपी नारी का भी स्पर्श नहीं करता। शंकर-पार्वती के दाम्पत्यप्रेम को आध्यात्मिक शुद्ध आत्मप्रेम नहीं कहा जा सकता। ऐसा वेदोदयजनित रागवर्द्धक प्रेम वीतरागप्रभु में कैसे हो सकता है ? साधक के लिए सचमुच श्रीनेमिनाथ का यह आदर्श प्रेरणादायक है ! राजीमती तो अपने स्वार्थ के कारण उपालम्भ देती है; साधक को बहिर्मुखी चित्तवृत्तियों के के द्वारा दिये जाते हुए प्रलोभन, उपालम्भ आदि को छोड़ कर आदर्श जीवन जीना हो तो नेमिनाथप्रभु का आदर्श ग्रहण करना चाहिए।

फिर उपालम्भ का दौर चलता है—

पशुजननी करुणा करी रे, आणी हृदय विचार ; मन० ।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर आचार ? मन० ॥ ४॥

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो योग धत्तूर; मन० ।
चतुराईरो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जगशूर; मन० ॥ ५ ॥

मारु तो एमां कंई नहीं रे, आप विचारो राज, मन० ।
राजसभा मां बेसतां रे, किसड़ी बधशी लाज ? मन० ॥ ६ ॥

प्रेम करे जगजन सहु रे, निरवाहे ते और ; मन० ।
प्रीति करी ने छोड़ी दे रे, तेहशुं न चाले जोर; मन० ॥ ७ ॥
जो मनमां एहवुं हतुं रे, निसपति करत न जाण; मन० ।
निसपति करी ने छांड़तां रे, माणस हुवे नुकशान; मन० ॥ ८ ॥
देतां दान संवत्सरी रे, सहु लहे वांछित पोष, मन० ।
सेवक वांछित नवि लहे रे, ते सेवकनो दोष; म० ॥ ९ ॥
सखी कहे-'ए शामलो रे,' हुं कहु लक्षण सेत; मन० ।
इण लक्षण साची सखी रे, आप विचारो हेत; मन० ॥ १० ॥

अर्थ

आपने पशुसमूह के प्रति हृदय में बहुत दीर्घदृष्टि से विचार करके अत्यन्त दया (करुणा) की; परन्तु आपके हृदय में मनुष्य के (मनुष्यरूप में मेरे = राजीमती के) प्रति जरा भी दया नहीं है। पता नहीं, यह किस घर (परिवार) का यह आचार (रीति-रिवाज या मर्यादापथ) है ? ॥ ४ ॥

आपने तो प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को काट डाला और उसके बदले उदासीनता का प्रतीक योगरूपी धतूरे का पेड़ पकड़ लिया है; अथवा धतूरे का वृक्षारोपण कर दिया है यह तो बताइए, आपको इस प्रकार के चातुर्य का पाठ पढ़ाने वाला जगत् में शूर या शूल के समान कौन गुरु मिल गया ? ॥ ५ ।

स्वामिन् !मेरा तो इसमें कुछ भी नहीं बिगड़ेगा ? मेरी इज्जत इसमें कुछ भी नहीं जाएगी, राजकुमार ! आप अपने मन में विचार करिए ! जब आप राजसभा ! में बैठेंगे, और लोग आपके सामने इस तुच्छ व्यवहार की चर्चा करेंगे, तब आपकी इज्जत कितनी बढ़ेगी ? ॥ ६ ॥ मैं तो यह समझी हूँ कि संसार में प्रेम तो सभी लोग करते हैं. लेकिन प्रेम करके उसे निवाहने वाले विरले (और) ही होते हैं। जो पुरुष किसी के साथ प्रीति करके छोड़ देते हैं, उन पर प्रेमी का क्या जोर चल सकता है ? ॥ ७ ॥ अगर आपके मन में ऐसा (प्रेम जोड़ने के बाद तोड़ने का) विचार था, तो मैं पहले से ही इसे समझ कर सगाई-सम्बन्ध या प्रीति सम्बन्ध न करती। जब कोई सगाई (प्रीति) सम्बन्ध जोड़ कर फिर उसे छोड़ देता है, तब सामने वाले (दूसरे पक्ष) की कितनी हानि या हैरानी होती है ? इस पर आप जरा विचार करके तो देखें ।॥ ८ ॥ जब आप

संवत्सरी (एक वर्ष तक लगातार एक करोड़ आठ लाख सोनैयों का, दान देते हैं, तो उससे सभी अपने-अपने भाग्य या इच्छा के अनुसार पोषण प्राप्त करते हैं लेकिन यह सेवक (आपके चरणों की आठ जन्म तक सेवा करने वाली सेविका राजीमती) विवाहदानरूप में मनोवांछित दान नहीं पा सका, इसमें आपका तो क्या दोष है, सेवक के ही कर्मों का दोष समझना चाहिए। ॥ ९ ॥ आपको देख कर मेरी सखी ने कहा था कि "यह (नेमिकुमार) तो काले रंग के हैं।' तब मैंने उसे जवाब दिया कि वे (आप) शरीर से भले ही काले हों लक्षणों-गुणों से श्वेत (गोरे) हैं। परन्तु आपकी अनुदारता और उदासीनता के इन लक्षणों को देखते हुए मेरी सखी ने जो कहा था, वह सच मालूम होता है। अब आप ही इस कथन के कारण पर विचार करिये कि वास्तव में आप कैसे हैं ? ॥ १ ॥

भाष्य

राजीमती द्वारा नेमिनाथस्वामी को उपालम्भों का दौर

राजीमती नेमिनाथस्वामी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उपालम्भ के स्वर में कहती है—"स्वामिन्! आप हैं तो बहुत ही दयालु! जब आप बरात ले कर विवाह के लिए पधार रहे थे तो रास्ते में बरातियों के भोज के लिए वाड़े में अवरुद्ध पशुओं की करुण पुकार सुन कर आपका हृदय दयार्द्र हो उठा। आपने तुरंत सारथी से कह कर उस बाड़े के द्वार खुलवा दिये और तमाम पशुओं को मुक्त करवा दिये। यह आपकी पशुजन पर करुणा तो जगत् में प्रसिद्ध हो गई, लेकिन आप पशुदया से भी बढ़कर मनुष्यदया को क्यों भूल गए? जब से आप रथ वापिस मोड़ कर लौट गए, तब से मैं आपके वियोग में तड़प रही हूँ। मेरा अपमान करके और मुझे अधबिच में धक्का दे कर आपने मेरे प्रति इतनी क्रूरता बरती; क्या मनुष्य को और उसमें भी मेरे जैसी आपकी सेविका को मरने देना, यह कहाँ का न्याय है ? यह आपकी कैसी करुणा है ? अनेक पशुओं पर दया ला कर भी मुझे छोड़ कर जाने को तैयार हो गए ? मेरी दुर्दशा का आपने विचार तक नहीं किया ? कुछ समझ में नहीं आता, आपकी दया का यह कैसा ढंग है ? इस वक्रोक्ति में राजीमती ने तत्त्वज्ञान का एक महासूत्र स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रानुसार पशुपक्षी या एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तिर्यंच तक के जीवों की अपेक्षा मनुष्य का महत्व अधिक है। इसलिए इस क्रमानुसार भी मनुष्यों के प्रति दया पहले करनी चाहिए थी। "आपकी करुणा का आचार पूर्व-

तीर्थंकरों के शिक्षण से विरुद्ध है, अतः यह आचार आप को शोभा नहीं देता !"

आध्यात्मिक दृष्टि से जब हम इस पर विचार करते हैं तो इसका समाधान तुरन्त हो जाता है कि पशुओं के प्रति भगवान् की जो दया थी, वह किसी राग या मोह से प्रेरित हो कर नहीं थी, वह तो सर्वजीवहित की दृष्टि से थी, मनुष्य और जिसमें भी रागाविष्ट प्रेमिका के प्रति दाम्पत्यप्रेम के वश हो कर दया करते तो वह रागयुक्त होती । आप राग-द्वेष में आसक्त न होने से वीतराग और महाकरुणालु हैं। वीतराग स्थितप्रज्ञ पुरुष वाह्यचित्तवृत्ति की ऐसी रागात्मक पुकार को नहीं सुनते। ॥ ४ ॥

उससे बाद दूसरा उपालम्भ राजीमती का यह है कि आठ-आठ भवों से जिस प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को आपने सींच-सींच कर बड़ा किया था और इस जन्म में भी मेरे साथ वाग्दान होने एवं मेरे साथ विवाह करने की स्वीकृति देने के बाद कई जन्मों से पुष्पित- फलित हुए इस प्रेममय अन्तःकरणरूपी कल्पतरु को आपको सींचना था, उसके बदले आपने समूल उखाड़ डाला और उसके बदले उदासीनता के प्रतीक वैराग्य का नशा पैदा करने वाले योगरूपी धतूरे को आप आरोपण करने लगे ! बलिहारी है आपकी चतुराई की ! आपकी अक्ल भला कैसे गुम हो गई ? कौन ऐसा शूरवीर या जगत् का शूल (कांटा) गुरु आपको मिल गया, जिसने इस प्रकार की अक्लमंदी आपको दिखाई है ? ऐसी चतुराई की अक्ल देने वाला कौन जगत् के सूर्यसमान गुरु मिल गया ?

राजीमती एक व्यवहारचतुर स्त्री की तरह बात कर रही है, वह वक्रोक्ति की भाषा में साफ कह रही है, जैसे एक मोहप्रेरित नारी कहती है ! कल्पवृक्ष समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होता है । प्रेम को कल्पवृक्ष की उपमा इसलिए दी है कि उससे सभी सांसारिक मनोकामनाएँ (पुत्र, धन, परिवार, स्त्री आदि) पूर्ण होती हैं, और नेमिनाथ के मुक्ति-सुन्दरी के प्रति प्रेम को धतूरा बोने की उपमा दी है। उसका कारण यह है कि मुक्तिसुन्दरी से प्रेम करने पर वह न तो सन्तानसुख दे सकती है, न और कोई सांसारिक कामना ही उससे पूरी हो सकती है। उलटे, वह तो वैराग्य का नशा भले ही चढ़ा दे, सो नेमिनाथस्वामी को चढ़ा ही दिया है। उसी नशे में वे अपनी अष्टजन्मपरिचिता जानी मानी प्रेमदीवानी राजीमती को प्रेम को छोड़ रहे हैं, प्रेमकल्पतरु को उखाड़ रहे हैं।

तत्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो दुनियादारी का प्रेम मोहगर्भित तथा संसारवृद्धि करने वाला होने से धतूरे के समान अवश्य हो सकता है, योग-धारण करके मुक्ति के प्रति प्रेम धतूरा नहीं, कल्पवृक्षसम है, वहाँ किसी प्रकार का रागादि नहीं होता। आप सचमुच वीतराग परमात्मा है, और मुक्तिप्रेम तो रागादिरहित कल्पतरुवत् होता है, जिसके फल ज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप हैं।

इसके अनन्तर फिर राजीमती सांसारिक प्रेमिका (पत्नी) की तरह मानो नेमिनाथ के प्रति उसको सेविका के नाते कहने का अधिकार है, इस दृष्टि से ताने मारती है—'हे नेमिकुमार ! आप मुझे छोड़ कर चले जायेंगे, इसमें मेरा तो कुछ भी बिगड़ने वाला नहीं, क्योंकि मैं तो आपके प्रति पूर्ण अनुरक्ता हूँ। आप ही मेरे प्रेम को ठुकरा रह हैं। क्योंकि आपने मेरे साथ पाणिग्रहण करने की स्वीकृति दे कर गर्भित प्रतिज्ञा भी कर ली, उसी कारण यादव लोगों की बरात साथ में ले कर रथारूढ़ हो कर आप मेरे साथ विवाह करने के लिए (मुझे लेने के लिए) तोरण तक पधारे थे। लगभग तोरण के पास आ कर आप रथ को मोड़ कर वापिस लौट गए हैं, इसमें मेरा कोई दोष नहीं था, और न है। इसलिए मुझे किसी प्रकार का लांछन नहीं लगेगा। लेकिन आप तो राजकुमार हैं, जब आप राजा-महाराजाओं की सभा में बैठेंगे और लोग आपसे स्पष्टीकरण मांगेगे कि 'आपने राजीमती को किस कारण छोड़ दी ? तब आप क्या जवाब देंगे ? 'आपको उस समय शर्मिंदा हो कर नीचा मुंह करना पड़ेगा कि क्या राजकुमारी राजीमती कलाहीन थी ? उसके रूप-लावण्य में कोई कमी थी ?' क्या कोई दोष या ऐब था? क्या उसके हृदय में आपके प्रति प्रेम नहीं था ? जिसके कारण सुसज्जित विवाहमंडप के पास से ही वापिस लौट आए और उस कन्या का त्याग कर दिया ? उस समय आपको निरुत्तर और सबके सामने लज्जित होना पड़ेगा ! आपकी इज्जत क्या रहेगी उस समय? और जब आपको स्वयं ही अपने प्रेम-विच्छेद की याद आएगी, तब आपको अपने इस लज्जाजनक कृत्य से अपने प्रति ग्लानि नहीं आएगी ? क्या अपने कृत्य के प्रति तिरस्कार नहीं पैदा होगा ? एक और दृष्टिकोण है इसमें कि 'आप जरा विचार तो कीजिए कि जब आप राजसभा में बैठेंगे तो आप जैसों को पत्नीविहीन देख कर लोग मजाक उड़ाएंगे बिना पत्नी का व्यक्ति वांडा कहलाता है। वांडे व्यक्ति की न परिवार में कोई इज्जत होती है, न सभ्य समाज में। अतः मैं कहती हूँ कि पत्नी से रहित आपकी राजसभा में

कितनी आवरू बढ़ेगी ? सचमुच आपकी आवरू चली जाएगी। इस पर आप ठंडे दिल से विचार करिए।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह वहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अशुद्ध चेतना) का मोहक ताना है। आध्यात्मिक वीतरागपुरुष तो आत्मसमाधिस्थ होने के लिए वाल ब्रह्मचारी के रूप में तीनों लोकों में व्याप्त हो जायगा। ॥६॥

फिर उलाहनेभरे स्वर में वह पुकार उठती है—इस दुनिया में सभी मनुष्य प्रेम करते हैं, इस प्रेम में जुड़ने वाले तो सभी होते हैं, परन्तु एक वार प्रेम करने के बाद उसे जिन्दगीभर निभाने वाले विरले ही कोई होते हैं। ऐसे मनुष्यों की संख्या बहुत ही नगण्य है। जो प्रेमपात्र के साथ प्रेम सम्बन्ध जोड़ कर आजीवन उसे निभाते हैं। क्योंकि प्रेम दोनों ओर से पलता है, एकतरफी प्रेम टिकता नहीं, उससे प्रेमतरु शीघ्र ही सूख जाता है। अधिकांश लोग तो प्रेम का तार तोड़ते देर नहीं लगाते। आप भी उन अधिकांश सामान्यजनों की कोटि में हैं। आपने जिस प्रेमतरु को आठ-आठ जन्मों तक सींचा, इस जन्म में भी वाग्दान होने के वाद प्रेम की दिशा में प्रयाण तो किया था, मगर अचानक ही सनक में आ कर आपने प्रेमतरु को नष्टभ्रष्ट कर डाला। आपने प्रेम जैसी महत्वपूर्ण वस्तु को वालक का-सा खेल समझ कर तोड़ डाला ! अतः जो मनुष्य प्रेम बांधने के बाद अकारण ही इस प्रकार प्रेम-भंग कर डालता है, उसे क्या कहा जाय ? उसके साथ जवर्दस्ती तो की ही नहीं जा सकती, न इस काम में जवर्दस्ती चल ही सकती है। क्योंकि प्रेम आन्तरिक कारण है, वही प्रेमपात्रों को जोड़ता है। इसलिए आपके द्वारा किये गए प्रेमभंग के खिलाफ न तो मुकद्मा किया जा सकता है, न कोई जोर अजमाया जा सकता है। यह तो राजी-राजी का सौदा है। पर आपके खिलाफ कोई जोर नहीं चल सकता। हाँ, इतनी वात जरूर कहूँगी कि प्रेम बांध कर सहसा अकारण तोड़ने वाले की जगत् में कितनी कीमत होती है ? इस पर जरूर विचार करें। मेरी ओर से आपके प्रति कोई विरुद्ध प्रचार मानहानि करने का नहीं होगा, मेरे हृदय में तो वही प्रेम आपके प्रति रहेगा। इसके बावजूद भी आप मेरे प्रेम को नहीं पहिचान कर उसे ठुकरा देंगे तो मेरा कोई बस नहीं चल सकता। आप स्वयं समर्थ हैं, मैं तो केवल प्रार्थना के शब्दों में ही निवेदन कर सकती हूँ।

आध्यात्मिक दृष्टि से सोचा जाय तो मोहप्रेरित चित्तवृत्ति की यह उड़ान है। नेमिनाथस्वामी ने सिर्फ उदय में आए हुए कर्मों को खपाने के लिए ही राजीमती के साथ पिछले आठ भवों में प्रीति जोड़ रखी थी। परन्तु इस भव में जब वे कर्म नष्ट हो गए और प्रभु वीतराग बन गए, तब राजीमतीरूपी चित्तवृत्ति के साथ रागप्रेरित प्रीति कैसे कर सकते हैं? यही कारण है कि वे मुक्तिस्त्री के साथ वीतरागप्रेरित प्रेम बांध कर उसे सादि-अनन्त भंग की दृष्टि से निभाने को तैयार हुए हैं। वास्तव में रागप्रेरित प्रेमी या प्रेम निभाने वाले तो संसार में बहुत होते हैं, लेकिन वीतरागप्रेरित आत्मस्वभाव में अखण्ड लगन को निभाने वाले नेमिनाथप्रभु सरीखे जगत् में विरले ही होते हैं। ॥७॥

अब जरा और कठोर बन कर राजीमती अपने प्रेम का व्यंग्यबाण छोड़ती है—'यदि आपको प्रीति करके इसी तरह मुझे छोड़ देना था, यदि आपके मन की गहराई में इसी प्रकार का दगा था या विचार था कि यह विवाह मुझे नहीं करना है, तो मुझे आपको पहले से ही बता देना चाहिए था, ताकि मैं ऐसा जान कर आपके साथ प्रेमसम्बन्ध बांधती ही नहीं। न आपको कुछ शिकायत रहती, न मुझे आपसे कोई शिकायत होती। किन्तु आपने मेरे साथ धोखा ही किया—आप सुसज्जित विवाह-मण्डप के निकट तक बरात ले कर पधारे थे, इससे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता था कि आप मेरे साथ विवाह करने पधारे हैं, किन्तु अचानक एक ही झटके में आप बिना कुछ कहे-सुने प्रेम-सम्बन्ध को तोड़ कर चले गए, यह व्यवहार में कन्यापक्ष के लिए कितना नुकसानदेह होता है? उस कन्या की हालत कितनी नाजुक हो जाती है? उस पर कितनी आफत उतर आती है? इस पर जरा गौर करके विचार तो करिए! इस प्रकार तोरण तक आया हुआ दूल्हा बिना विवाह किये वापिस लौट जाय, उसमें कन्यापक्ष के प्रति आम जनता के दिलों में व्यर्थ की कितनी ही शंका-कुशंकाएँ पैदा हो जाती है कि शायद वह विषकन्या हो, या कन्या पक्ष के लोगों ने बरात का सम्मान न किया हो, दहेज पर्याप्त न मिलने की सम्भावना हो। और एक निर्दोष कन्या को इस प्रकार परित्यक्ता की संज्ञा मिल जाने से शायद वह आत्महत्या तक भी कर बैठे, धैर्य खो कर पगली हो जाय, यह हानि क्या कम है? आप मुझ-सी निर्दोष कन्या की दुर्दशा पर तो विचारिए। एक बार प्रेम जुड़ जाने के बाद उसे तोड़ डालने से दूसरा

मीपात्र जी ही नहीं सकता। इस नुकसान की तो कोई कल्पना ही नहीं ी जा सकती।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो नेमिनाथस्वामी इस जन्म में राग-रित प्रेम करने से संभल गए और राजीमती को भी मानो सावधान करना ाहते हों, इसलिए रागजनित प्रेमसम्बन्ध को तोड़ डाला। ताकि राजीमती दिल से यह भ्रम निकल जाय कि 'नेमिनाथ भी सांसारिक प्रेम करने वाले ।' और दिलदिमाग में यह बात भी जम जाय कि मेरा उक्त भ्रम नष्ट हो या और मैं आपके 'विश्ववात्सल्य' को समझ सकी हूँ। दुनियादारी के प्यार तो संसारपरिभ्रमण का दुःख सह कर मैंने अपना कितना नुकसान किया । लेकिन नेमिनाथस्वामी द्वारा राजीमती का परित्याग करने से उसे फायदा ह होने वाला है, कि उसके अन्तश्चक्षु खुल जाते हैं। ॥८॥

फिर भी अभी मोह का पर्दा पूरी तौर से हटा नहीं है, इसलिए हताश ाजीमती को जब तीर्थंकरों की परम्परा का पता चला कि स्वामी नेमिनाथ ारी बात कुछ भी सुने बिना सीधे घर पर जाएंगे और परोपकारबुद्धि से पूरे ़क वर्ष तक लगातार प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान ेंगे, तब वह अतीव नम्र हो कर मधुर ताना देती है—"नाथ! आप जब एक र्ष तक उदारतापूर्वक दान देंगे तो उससे सभी अर्थीजन यथेष्ट वांछित वस्तु ाप्त कर लेंगे; खासतौर से आपके सभी सेवक तो अपनी इच्छानुसार वस्तुएँ ा लेंगे। अतः वे सभी भाग्यशाली होंगे, लेकिन अभागी रह गई एकमात्र ापकी यह सेविका, जिसने आठ-आठ जन्मों में आपकी चरणसेवा की है, ौर इस जन्म में करने को तैयार है। इस सेविका को अपना मनोवांछित ीतिदान आपकी ओर से नहीं मिलेगा, मुझे प्रीतिदान न मिलने का असन्तोष ़हेगा ही और जगत् में आपकी कीर्ति और दानवीर के रूप में जो प्रसिद्धि है, उसमें आंच आएगी कि और सब याचकों को तो मनोवांछित पदार्थ दे दिया, ेकिन अपनी सेविका को यथेच्छ दान नहीं दिया। इसमें आपकी उदारता की कमी प्रतीत होगी। खैर, अब आपको ज्यादा क्या कहना है; आप यह भी कह सकेंगे कि इसमें मेरा क्या दोष है, लेने वाले के भाग्य (अन्तराय कर्म) का ही दोष है; मैं क्या करूँ? इसलिए मैं अब आपको दोष न दे कर अपने कर्मों को ही दोष देती हूँ। मैं ही भाग्यहीन हूँ, कि मुझे मनोवांछित दान नहीं मिल

रहा है ! परन्तु प्राणेश ! आप तो अपनी ओर से उदारता बताएँ, निराश न करें, इस सेविका को।

यहाँ राजीमती नेमिनाथ स्वामी पर दोषारोपण न करके पतिव्रतास्त्री की तरह स्वयं अपने कर्मों का ही दोष मानती है। इससे कर्मसिद्धान्त का तत्त्वज्ञान राजीमती को हृदयंगम हुआ परिलक्षित होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करें तो आत्मा की अशुद्ध चेतना इस प्रकार से अपनी ओर खींचने का प्रयत्न करती ही है। राजीमती की आध्यात्मिक भूमिका की दृष्टि से नेमिनाथ के द्वारा विनति न स्वीकारने से उसे लाभ ही हुआ है। वार्षिक दान के समय भले ही भ० नेमिनाथ से उसकी इच्छा सन्तुष्ट न हुई हो, लेकिन परोक्षरूप से मोक्ष में ले जाने वाले आत्मिक धन का दान राजीमती को अवश्य प्राप्त हो गया। इसीलिए आगे चल कर राजीमती के अन्तर से आशीर्वाद निकला—"नाथ ! आपकी सेवा का इतना महान् लाभ हो तो मैं आपकी सेविका होने में अपने को धन्य मानती हूँ। सच्चे दानेश्वरी आप ही हैं, धन्य हो, आप सरीखे महादानी को !"

अब सबसे अन्तिम दाव और फैंकती है—'हे नेमिकुमार, नाथ ! आप की बरात गाजे-बाजे के साथ मेरे पिता के शहर की सीमा में आ रही थी, तभी आपको देखने के लिए भेजी हुई मेरी सखी ने आपको देख कर आने के बाद मुझे कहा—"सखि ! नेमिकुमार तो रंग से काले हैं। (उपलक्षण से कहूँ तो) वे कुलक्षणी भी मालूम होते हैं। उनसे सावधान रहना।" मैंने अपनी सखी को डांटते हुए बचाव करने की दृष्टि से कहा—'भले ही वे काले हों, इससे क्या ? काली चीजें बहुत गुणवाली भी होती हैं। तू भूल रही है। आपका सारा परिवार भी काला है। कृष्ण काले हैं, आप के रिश्तेदार भी काले हैं। किन्तु उनके आन्तरिक गुणों को देखते हुए वे उज्ज्वल हैं, सफेद हैं।" उस समय मेरी सखी ने कहा—"सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार तो ऊपर से काले दिखाई देने वाले मनुष्य प्रायः अन्दर से भी काले सिद्ध हो सकते हैं।" उस समय तो मैं चुप हो गई। फिर भी आपके गुणों का स्मरण मुझे आपकी ओर खींच रहा था। इसलिए मैंने उसके कहने की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। परन्तु कुछ ही समय बाद जब मुझे पता लगा कि नेमिकुमार तो तोरण के पास आ कर अपने रथ को वापिस लौटा ले गए हैं। मेरे किसी दोष के बिना आपने मेरे साथ प्रीति को तोड़ डाली; तब मुझे सखी का वह कथन याद आया।

मैं सोचने लगी कि इस समय के आपके लक्षणों को देखते हुए तथा आप मेरे प्रेम का जवाब नहीं देते, इसलिए मेरी सखी की जो धारणा थी, वह सच्ची साबित हुई। भले ही वह सामुद्रिकशास्त्र नहीं जानती थी, लेकिन उसकी शंका पर से यह साबित हो गया कि आप जैसे ऊपर से काले हैं, वैसे लक्षणों से भी काले हैं। क्योंकि काले आदमियों के काले काम होते हैं। आप स्वयं मेरे कथन के कारण पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे तो आप स्वयमेव मेरी सखी के कथन की सच्चाई को माने बिना न रहेंगे।"

वास्तव में अध्यात्मदृष्टि से इस पर सोचा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि राजीमती की सखी झूठी थी, वह स्वयं सच्ची थी। क्योंकि वे तो १००८ उत्तम लक्षणों से सुशोभित, विश्ववन्द्य, जगत्पूज्य तीर्थंकर के उत्तम गुणों से युक्त हैं। राजीमती अपने आपको तीर्थंकर नेमिनाथ की आध्यात्मिक पथ की सहचरी होने के नाते धन्य मानती हैं।

अब अगली दो गाथाओं में राजीमती व्यंग्यात्मक भाषा में नेमिनाथ के जीवन में परस्पर विरोधाभास स्पष्ट प्रकट करती हैं—

> रागीशुं रागी सहु रे, वैरागी श्यो राग ? मन०।
> राग विना किम दाखवो रे. मुगतिसुन्दरी माग; म० ॥११॥
> एक गुह्य घटतुं नथी रे, सघलो जाणे लोग, म०।
> अनेकान्तिक भोगवो रे, ब्रह्मचारी गतरोग, म० ॥१२॥

अर्थ

राग वाले के साथ तो सभी रागी बन जाते हैं, मगर जो मनुष्य वैरागी हो, वह क्यों किसी के साथ राग करेगा ? (आप अपने आपको वैरागी मानते हो;) परन्तु अगर राग नहीं है, तो आप (अपने भक्तों को) मुक्तिसुन्दरी (को पाने) का मार्ग कैसे बताते हो ? दूसरों को मार्ग बता कर तो आप स्वयं उसके प्रति राग रखते मालूम होते हैं।"॥११॥ हे नाथ ! आपकी एक गुप्त बात संगति नहीं लगती। उसे सारी दुनिया जानती है। वह यह कि आप अनेकान्त-बुद्धि-रूपी नारी का उपभोग करते हैं, जबकि आप रोगरहित बाल-ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

भाष्य

राजीमती द्वारा श्रीनेमिनाथ के जीवन में विरोधाभास का करारा व्यंग्य

इन दोनों गाथाओं में राजीमती ने श्रीनेमिनाथजी के प्रति अनहोना आक्षेप लगा कर उनके साथ उपहासात्मक व्यंग्य किया है—'प्राणेश्वर ! कदाचित् आपके मन में यह बात हो कि मैं (आप) तो वैरागी हूं, जबकि राजीमती तो स्त्रीस्वभावशाली और रागी है। राग (प्रेम) वाले के साथ संसार में सभी राग (प्रेम) करते हैं, परन्तु वैरागी के साथ प्रेम (राग) कैसे संभव हो सकता है ? अथवा रागी के साथ वैरागी का प्रेम कैसे सम्भव है ?" यों कह कर आप अपने को वैरागी ठहरा कर मेरे साथ प्रेम (राग) करने के मार्ग से छिटक रहे हों और अपने साथ प्रेम (राग) करने से रोक रहे हों तो आपकी बात नहीं मानी जा सकती; क्योंकि अगर आप सच्चे माने में वैरागी हों तो आप अपने भक्तों पर राग (प्रेम) क्यों रखते हैं ? इसी कारण तो उन्हें आप मुक्तिपथ का उपदेश देते हैं। मुक्तिमुन्दरी के पास जाने का मार्ग बताते हैं। इतना ही नहीं, आप मेरे साथ का राग (प्रेम) छोड़ कर मुक्तिरूपी शिवसुन्दरी के प्रति प्रीति (राग) रखते ही हैं, इसलिए आप भी रागी हैं। अगर आपको मुक्ति-सुन्दरी से प्रेम (राग) करना हो तो मेरे साथ भी करिए। मैंने क्या गुनाह किया है ? बल्कि मेरे साथ तो आपका आठ जन्मों तक लगातार राग (प्रेम) रहा है ! अतः जगत् के न्यायानुसार पहले आप मेरे साथ विवाह करके फिर मुक्ति-सुन्दरी के साथ प्रीति जोड़िए। क्योंकि मैं आपकी ही हूँ, आपके साथ मेरा पूर्ण अनुराग है।

अध्यात्मिक दृष्टि से इस गाथा का इससे बिलकुल उलटा अर्थ घटित होता है। राजीमती (बाह्यचित्तवृत्ति) सांसारिक राग वाली है और नेमिनाथप्रभु सांसारिक रागरहित हैं। इसलिए प्रभु के और राजनीती के बीच अब दुनियादारी का प्रेम जम नहीं सकता। दुनिया की दृष्टि से मुक्ति के रागी है, इसलिए दुनिया से विरक्त (वैरागी) हैं। इसीलिए राजीमतीरूपी सांसारिक स्त्री के प्रति विराग और मुक्ति के प्रति राग, यह परमात्मा की वीतरागता सिद्ध करता है।

फिर राजीमती श्रीनेमिनाथ को उनके जीवन का एक और विरोधाभास बताती है—'देखिये, राजकुमार ! आपके प्रत्येक कार्य को सब ज्ञानी लोग

जानते हैं। आपका एक भी कार्य गुप्त नहीं, जिसे लोग न जानते हों। फिर भी एक बात गुप्त है, वह यह कि आप अनेकान्तदृष्टि (बुद्धिरूपी) स्त्री का सेवन (भोग) प्रतिक्षण करते हैं, फिर भी आप बालब्रह्मचारी कहलाते हैं, यह बहुत ही आश्चर्य की बात है। फिर ताज्जुब यह है कि स्याद्वादबुद्धि-स्त्री के भोगी होते भी आपको कोई रोग नहीं लगा। अन्यथा 'भोगे रोगभयम्' इस नीतिवाक्य के अनुसार आपको रोग होना चाहिए। अथवा अनेकान्तिक न्यायशास्त्रप्रसिद्ध व्यभिचारी दोष का पर्यायवाची है। इसलिए आप ब्रह्मचारी हुए भी व्यभिचार (हेत्वाभास) दोष का सेवन (भोग) करते हैं। इस प्रकार आपके जीवन में परस्पर विरोधाभास है। हेत्वाभास के ५ भेद हेतु के ५ दोष के रूप में माने जाते हैं—असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, व्यभिचार=अनेकान्तिक और बाध। यहाँ ५ में से चौथा दोष है।

परन्तु दूसरी तरह से अर्थ करने पर यह विरोधाभास दूर हो जाता है जैसे—अनेकान्तिक का अर्थ जैसे अनेकान्तमतिस्त्री किया है, वैसे अनेकान्तवाद का विश्वप्रसिद्ध रूप में प्रतिपादन करने वाले हैं, इस अर्थ के अनुसार अनेकान्त में अनेकान्त=व्यभिचार नामक दोष नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तिक का अर्थ जब अनेकान्तवादी करते हैं तो वह अनेकान्तिक (व्यभिचारी) अर्थ में हेत्वाभास नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् के बालब्रह्मचारित्व और रोगरहितत्व में कोई दोष घटित नहीं होता।

अब राजीमती श्रीनेमिनाथस्वामी को आकृष्ट करने और अपने बनाने में जब सब तरह से निराश हो गई तो अन्तिम दाव और फेंकती है—

> **जिण जोणी तुमने जोऊं रे, तिण जोणी जुओ राज; मन०।**
> **एक वार मुझ ने जुओ रे, तो सीझे मुझ काज; मन० ॥१३।**

अर्थ

हे नाथ! जिस दृष्टि से मैं आपको देखती हूँ, उसी दृष्टि से, हे राजकुमार! आप मुझे देखिए। सिर्फ एक बार ही आप मुझे देख लें तो मेरे सर्व कार्य सिद्ध हो जांय।

भाष्य

राजीमती का अन्तिम दाव : देखने की प्रार्थना

राजीमती अभी मोहबुद्धि में जकड़ी हुई है, और वह अपने स्वामी श्रीनेमिनाथ को अपनी ओर खींचना चाहती है। सारी आशाएँ निष्फल हो जाने, सारे प्रयत्नों पर पानी फिर जाने के बाद वह अपना अन्तिम दाव फेंकती है—हे नेमिराज ! मुझे लगता है कि आपने मुझे पहले कभी देखी नहीं है। इसी कारण मेरे और आपके बीच में दृष्टिभेद की खाई पड़ गई है। अतः मैं आपसे प्रार्थना करती हूँ कि एक बार आप मुझे उसी देखने की पद्धति से जी भरकर देख लें, जिस पद्धति से मैं आपको देखती हूं। मेरी आपके प्रति प्रेमभरी (रागयुक्त=सराग) दृष्टि है, उसी रागदृष्टि से आप मुझे एक बार देख लें तो मेरा विश्वास है कि आपको संतोष होगा, आपका दिल बदल जायगा, मेरे प्रति जो पूर्वाग्रह आपके मन में है, वह समाप्त हो जायगा। इसलिए मेरी और प्रार्थनाएँ आपने ठुकरा दीं तो कोई बात नहीं, अब इस अन्तिम छोटी-सी प्रार्थना को स्वीकार कीजिए और एक बार-सिर्फ एक ही बार मुझे अपनी नजर से जी-भर कर देख लीजिए। मैं निहाल हो जाऊंगी। इतने से ही मेरे समस्त मनोरथ सिद्ध हो जायेंगे। मेरे रागभरे हृदय में अभी तक जो तड़फन है, वह आपके द्वारा देखने भर से शान्त हो जायगी।" राजीमती को अपने पर इतना भरोसा है कि 'अगर नेमिकुमार एक बार मुझे जी-भर कर देख लेंगे, तो फिर मुझ में उनको बांधने की कला है, फिर वे कहीं छटक नहीं सकेंगे।' परन्तु नेमिनाथ स्वामी इस बात को भलीभाँति समझते हैं कि एक बार राजीमती पर रागदृष्टि से नजर करने का नतीजा क्या आएगा ? इसलिए वे ऐसी उलझन में स्वयं किसी भी मूल्य पर पड़ते नहीं।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो एक बार नेमिनाथ स्वामी अगर राजीमती के कहे अनुसार रागदृष्टि से उसे देख लें तो उनकी वीतरागता ही समाप्त हो जाय ! इसलिए आध्यात्मिक साधक इस प्रकार की मोहदशाप्रेरित बाह्यचित्तवृत्ति की प्रार्थना कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। राजीमती भी इस बात को समझ जाती है, फिर भी वह इस बहाने से श्रीनेमिनाथ की वीतराग की भावना की कसौटी कर लेती है, जिस पर वे पूरे खरे उतरते हैं।

भाष्य

निष्फलता के बाद राजीमती का मंथन

इतना सब कुछ करने के बावजूद भी जब राजीमती को सफलता नहीं मिलती है, तो उसके मन में अन्तर्मंथन होता है कि स्वामी नेमिनाथ मेरी भावना को जरूर समझते हैं, फिर भी वे मेरे मन का समाधान क्यों नहीं करते? कोई न कोई कारण अवश्य है, जिसे मैं समझ नहीं पा रही हूँ। मैं पतिव्रता स्त्री अपने आपको मानती हूँ, तो पति जिस रास्ते से जा रहे हैं, उस रास्ते में मुझे बाधक नहीं बनना चाहिए, प्रत्युत उनके पदचिन्हों पर चल कर मुझे उनके काम में सहयोग देना चाहिए। अतः वह मोहदशा हटा कर तत्त्वदृष्टि से विचार करके अपने उद्गार प्रगट करती है--

मोहदशा धरी भावना रे चित्त लहे तत्त्वविचार; मन०।
वीतरागता आदरी रे, प्राणनाथ निरधार; मन०॥१४॥
सेवक पण ते आदरे, तो रहे सेवक-माम[1]; मन०।
आशय साथे चालिए रे, एहीज रूडुं काम; मन० ॥१५॥
त्रिविध योग धरी आदर्यो रे, नेमिनाथ भरतार; मन० ।
धारण-पोषण-तारणो रे, नवरस मुक्ताहार; मन० ॥१६॥

अर्थ

मोहग्रस्त दशा धारण करके मैंने अब तक वैसी स्नेहराग की भावना (विचारणा) ही की। परन्तु अब तत्वज्ञान का विचार आया है कि स्वामीनाथ ने वीतरागता (रागद्वेषरहित अवस्था) अपना ली है, (इसलिए) प्राणनाथ के जैसी अवस्था (वीतरागता) धारण करना निश्चय ही आवश्यक है ॥१४॥

आपका जो सेवक (मैं) हो, वह भी उसे (स्वामी की तरह वीतरागता) अपनाए; तभी सेवक की मानमर्यादा (इज्जत) रह सकती है। अतः जिनकी सेवा करनी है, उनके आशय (हृदयगत भावना) के साथ ही चलना चाहिए। सेवक (मुझ सेविका) के लिए यही अच्छा काम है ॥१५॥

अतः राजीमती ने भी त्रिविध योग (मन-वचन-काया के योगों से योग= साधुत्व अथवा इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग या योगावंचकयोग,

१. 'माम' के बदले कहीं-कहीं 'मान' शब्द भी है।

क्रियावञ्चकयोग, फलावञ्चकयोग) को धारण करके नेमिनाथ (वीतराग परमात्मा या शुद्ध आत्मदेव) को सच्चे माने में पति (स्वामी) के रूप में स्वीकार कर लिया। मन में यह निश्चय कर लिया कि ये ही मेरे धारण (आत्मगुणों को टिकाए रखने) पोषण (आत्मगुणों को पुष्ट करने) तथा तारण (संसारसमुद्र से आत्मा को तारने (वाले हैं)। ये ही मेरे नवरसरूप अथवा नवसेरा मौक्तिक हार-सम हैं। यों राजीमती ने मान लिया।

भाष्य

राजमती का मोहदशात्याग

इससे पूर्व महासती राजमती की इतनी अभ्यर्थना के बाद भी जब श्रीनेमिनाथ प्रभु वापिस न लौटे, तब राजीमती को वास्तविकता का भान हो जाता है। अब तक वह रथ वापिस लौटाने की बात कर रही थी, उसके बदले अब भावना करती है। उसके अन्तर में परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की ओर से अन्त स्फुरणा होती है—"राजीमती ! मोहनीयकर्मवश पराधीन बन कर तू यह क्या कर रही है ? किसको उपालम्भ दे रही है, ताने मार रही है, व्यंग कस रही है ? प्रभु नेमीश्वर तो पूर्ण वैराग्यवान बन चुके हैं। उनका निश्चय अटल है। वे वीतरागता को अपना चुके हैं। तेरे शब्द, तेरा मोहक बाह्य भौतिक रूप-सौन्दर्य और तेरे मोहभरे वाक्यबाण उन पर अब कोई असर नहीं कर सकते। वे अब सर्वात्मभूत बन गए हैं। ये तेरे-से या तेरे सरीखे न बन सके, इसके पीछे यही रहस्य है। अब तू यदि उनकी सच्ची सेविका—प्रेमिका है तो तुझे उनके जैसी बनना पड़ेगा। तेरे आठ जन्मों के प्रेम की अब इस जन्म में सच्ची कसौटी प्रभु कर रहे हैं। अतः तू अपने प्राणनाथ भगवान् नेमिनाथ की तरह ही वीतरागभाव को धारण कर।" राजीमती के हृदय में तीव्र मन्थन हो चुका और उसने मोहदशा छोड़ दी, नेमिनाथ की वीतरागता को वह आरपार देखती है। वह एकत्वभावना पर चढ़ कर सोचती है—'अब तक तो मैं मोहदशा धारण करके सोचती थी, परन्तु अब मेरा मन असली वस्तु-स्थिति को जान सका है कि 'प्राणनाथ ! आपने दृढ़तापूर्वक वीतरागता अपना ली है। पहले आपकी सब बातें मुझे उलटी लगती थीं, लेकिन अब सारी बातें संगत जान पड़ती हैं। पहले मैं मोह के कारण सांसारिक दृष्टि से आपके जीवन की घटनाओं का तालमेल बिठाती थी, इसका कारण सब विपरीत

प्रतीत होता था, लेकिन अब सभी बातें भलीभांति दिमाग में जम गई हैं। मेरे चित्त में अब आपका तत्त्वविचार जाग्रत हो चुका है। आप अपनी भूमिका में जो कर रहे हैं, वह बिलकुल ठीक है।

इस प्रकार पक्का निश्चय कर लिया कि प्राणनाथ ने जब वीतरागता का मार्ग अपना लिया, तो मैं उनकी पतिव्रता स्त्री तभी कहला सकती हूँ, जब उनके मार्ग का अनुसरण करूं। प्राणनाथ ने तो वीतराग द्वारा अपनाने योग्य मार्ग ही अपनाया है। मुझे भी उनके मार्ग पर ही चलना चाहिए।" इस प्रकार वह नेमिनाथ स्वामी के वीतरागता के मार्ग को समझ कर अपनाती है। स्वयं उस रास्ते पर चलने का निश्चय करती है। वह नेमिनाथ को छोड़ कर दूसरे के साथ शादी करने का विचार नहीं करती। वह यों नहीं सोचती कि मेरी तो केवल सगाई ही हुई है, अतः नेमिनाथ नहीं चाहते तो दूसरा वर पसंद कर लूँ। वह अपने आपको वाग्दत्ता मानती है और नेमिनाथ स्वामी द्वारा गृहीत मार्ग को ही अपने लिए ठीक समझ कर अपनाती है। इस निर्णय में राजीमती की सहज सरलता और कृतनिश्चयता है। राजकुमारी होते हुए भी भौतिक विवाह के बदले नेमिनाथ के आत्मिक विचारों को अपना कर सर्वत्याग के मार्ग पर जाने का निश्चय कर चुकी, यह उसके निर्णय की भव्यता है।

ज्यों-ज्यों राजीमती आत्मा की आवाज सुनती गई, त्यों-त्यों वह एकत्व-भावना में तल्लीन हो कर गहरी उतरती गई—'यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जाएगा, कोई किसी के साथ नहीं जाता। भगवान् ने जो मार्ग लिया है, वह वीतराग के लिए उचित व शोभास्पद है। वही मेरे लिए अनुकरणीय है। क्योंकि मैं प्रभु की सेविका—अनुचरी हूं। मेरे प्राणेश्वर श्रीनेमिनाथ की प्रेमिका हूँ। आठ-आठ जन्मों का हम दोनों का पुराना प्रेम है। परन्तु मेरे और उनके दर्जे में जो अन्तर है, उस पर मैंने विचार नहीं किया। मेरे भौतिक मोहनीय भावों ने मुझे ऐसा सोचने भी नहीं दिया। सचमुच मोह का कितना जबर्दस्त कुप्रभाव है! सत्यस्वरूप को छिपा कर यह दुष्ट मोह असत्स्वरूप को ही समक्ष प्रस्तुत करता है। हाँ, मुझे याद आ गया, मैं तो इन प्राणनाथ की जन्म-जन्मान्तर से सेविका रही हूँ। स्वामी की इच्छा ही मेरी इच्छा रही है। पूर्वजन्मों में भी मैं स्वामी की इच्छा के अधीन थी। और

फिर सेवक का धर्म भी यही है कि स्वामी की इच्छा में ही अपनी इच्छा को मिला देना। सेवक को स्वामी की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। इसी से सेवक की प्रतिष्ठा बढ़ती है। स्वामी के अभिप्राय के अनुसार चलना ही सेवक का सत्कर्तव्य है। मेरे स्वामी जब अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत और वीतरागभाव धारण कर चुके हैं, तब मुझे भी इनसे विरुद्ध नहीं जाना चाहिए। मुझे सच्चे माने में इन्हें वररूप में स्वीकार करना हो तो इनके भौतिक शरीर को नहीं, अपितु इनके वीतरागभाव— शुद्धात्मभाव का वरण करना चाहिए। आत्मा के साथ आत्मा का ऐक्य ही वास्तव में लग्न है, विवाह है, पाणिग्रहण है और यही अब मेरे लिए सर्वोत्तम कार्य है। जब मैंने अपने आपको इनकी सेविका रूप में निश्चित कर लिया है, तब स्वामी द्वारा स्वीकृत वीतरागता का स्वीकार करना ही मेरे लिए इष्ट कर्तव्य है। इसके सिवाय अब मेरे लिए अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

अब श्रीनेमिनाथ भगवान् को पति के रूप में अपनाने के लिए राजीमती के मन-वचन-काया के (योग) शुद्धप्रणिधानपूर्वक, अथवा इच्छादि तीन योगों से श्रीनेमिनाथ प्रभु का सच्चे माने में स्वामी के रूप में आदरपूर्वक स्वीकार कर लिया है। अर्थात् जैसे नेमिनाथप्रभु ने त्रिकरण-त्रियोग से साधुता एवं मन-वचन-काया से वीतरागता धारण की है, वैसे ही राजीमती ने भी त्रिकरण योग से या त्रियोग से साधुता एवं वीतरागता का स्वीकार करके उन (नेमिनाथ प्रभु) की आराधना शुरू कर दी। राजीमती ने दृढ़ विश्वास कर लिया कि मेरे आराध्य (ध्येय) वीतरागदेव ही मेरे आत्मगुणों का धारण, पोषण करने एवं आत्मा को संसारसागर से पार उतारने वाले हैं। मुझे भी इन्हीं गुणों को धारण करना चाहिए। अथवा ज्ञानदशा से प्रभु धारणकर्ता हैं, भक्तिदशा से पोषणकर्ता हैं तथा वैराग्यदशा से तारणकर्ता हैं।

जैसे मोतियों का हार हृदय पर धारण करने पर आनन्द और शोभा देता है,वैसे ही राजीमती ने नेमिनाथ भर्त्ता (पति) को तीन योगों से हृदय में आदर-पूर्वक धारण कर लिया। उसने हृदय में निश्चय कर लिया कि स्वामी के हाथ से ही दीक्षा प्राप्त करने से मेरा योगावंचक योग सफल हुआ, स्वामी की आज्ञानुसार दीक्षा (साधुता) का यथार्थ पालन करने से मेरा क्रियावंचकयोग सफल हुआ और स्वामी से पहले ही मोक्ष में जाना संभव होने से मेरा फलावंचक

योग भी सफल होगा। अथवा प्रभु नेमिनाथ नवरसरूपी मुक्ताहार के समान हैं। भगवान् के सान्निध्य से नौ ही रसों का अपूर्व संगम मिलता है, नौ रस ये हैं--शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। विरक्त एवं वीतराग के लिए ये नौ रस शान्तरस में परिणत हो जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि राजीमती ने सर्वविरत साधुधर्म का अंगीकार करके वीतराग परमात्मा नेमिनाथ को सांगोपांगरूप से सर्वतोभावेन हृदय में धारण कर लिया।

आत्मार्थी एवं मुमुक्षु की आत्मा के लिए भी बाह्यचित्तवृत्ति का त्याग करके अन्तर्मुखी बन कर परमात्मा वीतराग के पथ का अनुसरण करना और वीतरागता प्राप्त करना अभीष्ट है, यही मार्ग उपादेय है।

अब श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति का उपसंहार करते हुए कहते हैं--

[1]करुणारूपी प्रभु भजयो रे, गण्यो न काज-अकाज, मन०।
कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन-पद-राज; मन० ॥१७॥

अर्थ

राजीमती प्रभु से अन्तिम प्रार्थना करते हुए कहती है—"करुणारूप (दयामय) प्रभु श्रीनेमिनाथ की मैंने भक्ति=आराधना (ध्यानपूर्वक) की है। मैंने ऐसा करने में कार्य (कर्तव्य) अकार्य (अकर्तव्य) का विचार नहीं किया। अतः दया करके मुझे आप आनन्द के समूह प्रभु का राज्य (मुक्तिधाम) दीजिए।

भाष्य

राजीमती (शुद्ध आत्मा) की प्रभु से अन्तिम प्रार्थना

महासती राजीमती शुद्धभाव में आ कर अन्तरात्मा के बोध के कारण परमात्मा श्री नेमिनाथ से प्रार्थना करती हुई कहती हैं—"मेरे आत्मज्ञान के प्रबोधक परमात्मन्! मैंने अब आपको पूर्णरूप से परख लिया है। आप करुणा के सागर हैं, क्योंकि आपने लोकव्यवहार और लोगों की जरा भी परवाह नहीं की, और अन्तःकरण से मूक पशुओं पर दया करके तत्काल संसारमात्र

---

१. किसी किसी प्रति में 'करुणारूपी' के बदले 'कारणरूपी' शब्द है, वहाँ अर्थ होता है, मैंने प्रबल निमित्तकारणरूप परमात्मा का सेवन किया है।

का त्याग कर दिया; इसी घटना को ले कर आप मेरे प्रबल निमित्त कारण बने, मेरे उपादान को शुद्ध बनाने में, उसे जगाने में आप ही प्रबल कारण बने हैं। मुझे शुद्ध-आत्मस्वरूप को प्राप्त कराने में आप निमित्तरूप बने। जब सत्यस्वरूप का दाता वास्तविक निमित्त बन जाता है, तब उसकी हृदय से भक्ति-सेवा करनी चाहिए। इसलिए मैं कार्य-अकर्म या सफलता-निष्फलता का विचार किये बिना ही पूरी शक्ति लगा कर आपको प्रबलनिमित्तरूप मान कर आपकी सेवा करने में जुट गई हूँ। आपके चरणों की सेवा कर रही हूँ। अतः हे करुणासागर ! अब आप मुझे सच्चिदानन्दघनरूप मोक्षपद का साम्राज्य दीजिए।

ध्याता राजीमती अपने उपादान को शुद्ध और सर्वोच्च पदारूढ़ करने के लिए प्रबलनिमित्तरूप परमात्मा (नेमिनाथ प्रभु) को ध्येय मान कर एकाग्रतापूर्वक उन्हीं के ध्यान में तल्लीन हो गई। एकाग्र ध्यान के परिणामस्वरूप उसने प्रभु से पहले मोक्षगमन किया।

इसी तरह मुमुक्षु ध्याता भी ध्येयनिष्ठ बने

महात्मा आनन्दघनजी कहते हैं कि जिस तरह सती राजमती ने मोहभाव से एकदम पलटा खा कर वीतराग परमात्मा के मार्ग का अनुसरण किया, कामभावना से देखने वाली राजीमती आत्मदृष्टि में स्थिर होकर भव्यातिभव्य आत्मा के रूप में अमर हो गई। भगवान् नेमिनाथ का एकनिष्ठापूर्वक ध्यान करते-करते वह ध्येयरूप=आत्मरूप तदाकार बन गई। जैसे राजीमती में एक स्वामिनिष्ठा और वाग्दत्ता का स्वत्व था, और उसी के फलस्वरूप वह नेमिनाथ प्रभु से ५४ दिन पहले मोक्षपद को प्राप्त कर चुकी। इसी तरह मैं (मुमुक्षु साधक) भी दयानिधि नेमिनाथ प्रभु का एकनिष्ठा या एकस्वामिनिष्ठा से ध्यान करता हूँ, उनके मार्ग का अनुसरण करता हूं और राजीमती की तरह कार्य-अकार्य की परवाह किये बिना मैं भी उनका सेवन करता हूं। इसलिए मुझे और सब साधकों को भी राजीमती की तरह आनन्द के समूहरूप मोक्षपद का राज्य प्रदान करें।

सारांश

इस समग्र स्तुति में राजीमती के जीवन में परमात्मप्रीति के तीन मोड़ आते हैं, पहले मोड़ में वह सांसारिक मोहदशा से प्रेरित हो कर घर पर

पधारने और रथ को वापिस मोड़ने के लिए विभिन्न वक्रोक्तियों, युक्तियों, प्रयुक्तियों, हेतुओं, व्यंग्यों, आदि का प्रयोग करती है, वैरागी नेमिनाथ को अपनी ओर खींचने के लिए। परन्तु उसमें सफलता नहीं मिलती है तो वह सीधे उनकी वीतरागता और ब्रह्मचर्य पर आक्षेप करती है, लेकिन नेमिनाथ को अपने ध्येय में अटलदशा (आत्मनिष्ठा) देख कर वह हताश हो कर आत्म-मन्थन करती है, जिसके फलस्वरूप उसके मोह का पर्दा दूर हो जाता है, वह नेमिनाथप्रभु के वीतरागता एवं साधुना के मार्ग का अनुसरण करती है और एकनिष्ठ ध्यान से ध्येयाकार हो जाती है। अन्त में ध्याता के लिए राजीमती की तरह एक स्वामित्वनिष्ठा से ध्येय का ध्यान करना आवश्यक बताया है; जिसका संकेत श्रीआनन्दघनजी ने अन्तिम गाथा में किया है। इस सम्पूर्ण स्तुति का उद्देश्य और सार है—सच्ची एकनिष्ठा, ध्येय के प्रति ध्याता की एकाग्रता।



२३ : श्रीपार्श्वनाथ-जिन-स्तवन—

आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना

(तर्ज—राग सारंग, रसियानी देशी)

ध्रुवपदरामी हो स्वामी माहरा, निःकामी गुणराय, सुज्ञानी।
निजगुणकामी हो पामी तुं धणी, ध्रुव आरामी हो थाय, सुज्ञानी ॥१॥

अर्थ

हे पार्श्वनाथ भागवन्। आप हमारे स्वामी हैं। आप ध्रुव (अचल) पद (आत्मपद या मोक्षस्थान) में सतत रमण करने वाले हैं। आप निष्काम (कामना या काम से रहित) हैं, गुणों (शुद्ध आत्मा के दर्शन, ज्ञान, वीर्य=शक्ति और सुख आदि अनन्त गुणों) से विराजित=सुशोभित हैं। या गुणों के राजा हैं। आप निज (आत्मा के) गुणों=ज्ञानादि गुणों के ही इच्छुक हैं या ज्ञानादि गुणों से कमनीय हैं। अथवा मैं निजगुणकामी आप जैसे को स्वामी (पति =अन्तर्यामी) बनाने वाले या आपको पा कर सुज्ञानी=भव्यजीव आपके समान ध्रुवपद (अचल स्थान) पाते हैं अथवा अचल पद में आरामी=(आराम करते) हैं अथवा आत्मा के अनन्त गुणों में रमण करने वाले बनते हैं।

भाष्य

सर्वोच्च आत्मिक गुणों के पुंज : परमात्मा

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी आत्मा के सर्वोतम गुणों को परमात्मा में बता कर परमात्मा के उपासक को आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना के लिए प्रेरित कर रहे हैं। परमात्मा का नाम पार्श्वनाथ है। पार्श्वमणि, एक प्रकार का स्पर्शमणि होता है। जिसके साथ लोहे का स्पर्श होते ही वह सोना बन जाता है। इसी प्रकार शुद्ध और सर्वोच्च आत्मगुणों का परमात्मा से स्पर्श होते ही वह व्यक्ति भी परमात्मा बन जाता है। आत्मगुण शुद्ध होने चाहिए, अन्यथा अगर वे पूर्ण विकसित न हों, उन गुणों में कुछ दोषों का पुट हो तो मलिनता के कारण परमात्मारूपी पारस से उन मलिनतायुक्त आत्मगुणों का स्पर्श होने पर भी वह व्यक्ति शुद्ध स्वर्णसम परमात्मा नही बन सकेगा।

इन्हीं सब कारणकलापों को ले कर वीतराग-परमात्मा बनने के लिए शुद्ध आत्मगुणों का अपने में विकास करके प्रभु पार्श्वनाथरूपी पारसमणि के साथ स्पर्श कराना होगा।

परमात्मा किन-किन सर्वोच्च आत्मगुणों से ओतप्रोत हैं ? इसे क्रमशः बताते हैं। सर्वप्रथम उनके लिए कहा गया है—ध्रुवपदरामी—यानी वीतराग पार्श्वपरमात्मा ध्रुवपद यानी निश्चल आत्मपद अथा शैलेशीकरणरूप आत्मा की सर्वथा निश्चलस्थिति प्राप्त होने के बाद मोक्षपद में आप सतत रमण करने वाले हैं। **स्वामी माहरा**—आप मेरे स्वामी हैं। जब कोई प्रभु को अपना स्वामी बनाता है, तब स्वाभाविक ही वह सेवक बन गया। सेवक को अपने सेव्य (स्वामी) की सेवा में तैनात रहना चाहिए। इससे काव्यरचयिता ने अपनी नम्रता भी आत्मगुणों की सेवा में सतत जागृत रहने की बात से सूचित कर दी है। जो आत्म गुणों को प्रगट करना चाहते हैं, वे आपको अपना स्वामी बना कर मोक्षरूप शाश्वतस्थान में आराम (शान्ति) पाने वाले बन जाते हैं। आप निःकामी हैं। आपको किसी वस्तु या प्राणी से किसी प्रकार की कामना नहीं है। फिर भी आपका सम्पर्क भव्यजीवों एवं आत्मार्थियों को अपने समान बना देता है। आप ज्ञानादि अचिन्त्य अनेक गुणों के राजा हैं। गुणों का राजा वही हो सकता है, जो उन गुणों पर अपना आधिपत्य रखता हो। आपका आधिपत्य ज्ञानादिगुणों पर है। इसलिए कहा गया—'गुणराय'

परमात्मा की आराधना : गुणों की आराधना से

प्रश्न होता है, उपर्युक्त पंक्तियों में परमात्मा के सर्वोच्च गुणों का वर्णन किया गया, उससे क्या लाभ ? कोरा गुणगान करने में अपना समय और शक्ति क्यों लगाई जाय ? इसी के उत्तर में श्रीआनन्दघनजी ने कहा है—"निज-गुणकामी हो, पामी सु धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानि।" अर्थात् जो साधक अपने गुणों का विकास करने के इच्छुक हैं। वे आप जैसे गुणों के सर्वोच्च शिखर को पा कर या आप सरीखे गुणरूपी पारसमणि (धनी) का स्पर्श पा कर शाश्वतरूप से आत्मा में रमण करने वाले या शाश्वतशान्ति के उपभोक्ता बन जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि पार्श्वनाथस्वामी जैसे सर्वोच्च गुणसम्पन्न वीतराग को तो अपने गुणगान या अपनी प्रशंसा से कोई मतलब नहीं

है, वे तो परमसमभावी हैं, परन्तु जो साधक आदर्श गुणी बनना चाहता है, उसके लिए सर्वोच्च गुणों का आदर्श (Model) सामने होना चाहिए। ताकि आदर्श को देख कर स्वय भी अपने जीवन को आत्मगुणों से सजा सके, अथवा आप जैसे गुणरूपी पारसमणि के धनी का स्पर्श करके या आपका ध्यान, जप, गुणगान आदि करके अपने जीवन को गुणरूपी स्वर्ण से जटित कर सके। अगर साधक आपके गुणों का क्रमशः स्मरण करता है, उन गुणों को प्राप्त करने का उपाय, उन गुणों की प्राप्ति के मार्ग में आने वाले विघ्न, उन गुणों की स्थिरता का मापदण्ड आदि पर सतत तलस्पर्शी चिंतन करता है और तदनुसार अपने जीवन को ढालता है तो नि.सन्देह एक दिन वह भी आत्मगुणों के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। साधक को परमात्मा में निहित सर्वोच्च गुणों पर इस प्रकार चिन्तन-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, जप, गुणगान आदि करने से जब वे सर्वोच्च हस्तगत हो जाते हैं तो उसके बार-बार संसार में जन्म-मरण का दुःख, साथ ही गुणों के अधूरे विकास के कारण राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रबल दुर्गुणों का सामना करने में हार खानी पड़ती थी, हर बार उनका गुलाम बनना पड़ता था, अपनी दुर्बलताओं के कारण उन दुर्गुणों का शिकार बन जाता था, किन्तु उन सर्वोच्च गुणों पर आधिपत्य प्राप्त हो जाने पर ये सब दुःख, द्वन्द्व, व्यथाएँ, बाधाएँ और पीड़ाएँ काफूर हो जाती हैं, साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, गुणों में परमात्मा के समान बन जाता है तो परमात्मा के साथ वह निकटता स्थापित कर लेता है, जो उनका स्थान है, वही शाश्वत शान्ति का धाम उसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिए योगीश्री के अन्तर से स्वर फूट पड़ा—'**निजगुणकामी हो, पामी तुं धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानी।**' वह ध्रुव-आरामी बन जाता है, सदा के लिए जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक, शारीरिक-मानसिक संताप आदि सभी झंझटों से वह बच जाता है, सदा के लिए आराम पा जाता है, अपनी आत्मा में ही रमण का अनन्त ध्रुव आनन्द उसे मिल जाता है। यह कितना बड़ा लाभ है, वीतराग पार्श्वनाथ के गुणानानुवाद से सर्वोच्च गुणों की उपलब्धि का! श्री आनन्दघनजी ने इसी उद्देश्य से पार्श्वनाथ-जिनस्तुति में इन सूत्रों को ग्रथित किया है।

अगली गाथाओं में परमात्मा में सबसे मुख्य गुण—जिसे गुणशिरोमणि या ण पारसमणि कहा जा सकता है, जिसके स्पर्श से सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त । सकती है, उस ज्ञानगुण के विषय में कहते हैं—

सर्वव्यापी कहे सर्वजाणगपणे, परपरिणमनस्वरूप, सुज्ञानी !
पररूपे करी तत्त्वपणुं नहीं, स्वसत्ताचिद्रूप, सुज्ञानी ! । ध्रु०॥२॥

अर्थ

हे स्वामी ! आपको (परमात्मा के दूसरे दर्शन या धर्म वालों की ईश्वरीय मान्यता की तरह) लोग सर्वव्यापी (सर्वपदार्थों में सर्वत्र व्यापक) कहें तो समस्त चराचर के ज्ञाता के रूप में आप सर्वव्यापी हैं, लेकिन सर्वपदार्थों में व्याप्त मानें तो आप परपरिणमन रूप हो जायेंगे। अगर आप (शुद्ध चेतन) परपदार्थरूप बन जायेंगे तो आपका वस्तुतत्त्वरूप (चेतनत्व) नहीं रहेगा। अतः तत्वतः आप सर्वव्यापी नहीं हैं क्योंकि आपकी सत्ता चित्स्वरूप है।

भाष्य

परमात्मा की सर्वव्यापकता क्या, किस गुण से, और कैसे ?

पूर्वगाथा में प्रभु के सर्वोच्च गुण और उनकी आराधना का परम लाभ बताया गया था; अब इस गाथा में पारसमणिरूप ज्ञानगुण और उसके कारण उनकी सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में गम्भीर चर्चा की गई है। सर्वप्रथम हम ज्ञानगुण के महत्त्व के सम्बन्ध में समझ लें। दूसरे द्रव्यों से आत्मा को अलग करना हो तो ज्ञानगुण को ही लेना पड़ेगा, ज्ञान ही एक ऐसा गुण है, जो आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् करता है। ज्ञान-गुण प्रत्येक ज्ञेयपदार्थ के साथ जुड़ कर प्रत्येक ज्ञेय को जानता है, ज्ञात हुए को दूसरों को ज्ञात करा कर उन्हें भी सर्वज्ञाता बना डालता है। अगर आत्मा में ज्ञानगुण न होता तो जगत् में कौन-कौन-से द्रव्य हैं? कौन-कौन-से तत्त्व हैं? कौन-से पदार्थ हैं? उनका क्या-क्या स्वरूप है? वह किस तरह से है? कैसे है? कौन स्वगुण है, कौन परमाणु है? स्वभाव क्या है, परभाव क्या है? आत्मा में कितनी शक्तियाँ हैं? कौन-कौन से गुण हैं? उनके विकास में साधक-बाधक कौन-से तत्त्व हैं? हमारी आत्मिक शक्तियों को कौन-कौन-से पदार्थ कैसे-कैसे रोकते हैं? उस रुकावट को कैसे दूर किया जा सकता है? इन सबका ज्ञान—यथार्थ बोध

कैसे होता ? पदार्थों का यथावस्थित स्वरूप ज्ञान के विना कैसे जाना जाता ! इसलिए ज्ञान को आत्मा का सर्वोपरि गुण माना जाता है। परमात्मा में ज्ञान-गुण सर्वोच्चरूप से विकसित होता है, समस्त ज्ञेयपदार्थ उनके ज्ञान में झलकते हैं, प्रतिविम्बित होते हैं। परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के इसी ज्ञानगुण को ले कर एक चर्चा प्रस्तुत की गई है—**'सर्वव्यापी कहे'**

प्रभो ! आपको लोग सर्वव्यापी कहते हैं, जैसे कई धर्मों और दर्शनों वाले लोग ईश्वर को सर्वव्यापी=सर्वपदार्थ में व्याप्त कहते हैं, निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भी सर्वव्यापक है। यहाँ यह सवाल खड़ा होता है कि परमात्मा को सर्वव्यापी अन्यदर्शनी लोगों की मान्यता की तरह ही माना जायगा, या और किसी रूप में ? जहाँ तक जैनदर्शन का सवाल है, श्रीआनन्दघनजी ने वस्तु-स्वरूप पर गहराई से सोच कर यहाँ उत्तर दिया है—**'सर्वव्यापी कहे सर्वजाण-गपणे'** अर्थात् परमात्मा को सर्वव्यापी कहा जाय तो कथंचित् सत्य माना जा सकता है। परमात्मा (शुद्ध आत्मा) का ज्ञान सकल चराचरपदार्थ और गुणपर्याय को जानता है, इस सर्वज्ञानता की अपेक्षा परमात्मा या आत्मा सर्वव्यापक विभु है। क्योंकि जब ज्ञान सबको जानेगा सो सब ज्ञेयों का स्पर्श या प्रतिविम्ब उस पर पड़ेगा ही। सबको जो जानता है, वह सर्वव्यापी है। परन्तु यदि सर्वव्यापक का अर्थ यह किया जाय कि परमात्मा सर्वत्र सब पदार्थों में व्याप्त होते हैं, तब तो परमात्मा या आत्मा परद्रव्य में परिणमन-रूप या रमणकर्ता बन जाएगा, जो उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिए परमात्मा या आत्मा सर्वपदार्थव्यापी नहीं हो सकता।

एक प्रश्न और खड़ा होता है—सर्वज्ञानता के कारण जब परमात्मा सर्व-व्यापक विभु है, तब वे ज्ञानगुण से जिसे-जिसे जानेंगे, उस-उस ज्ञेय के रूप में ज्ञान और आत्मा परिणित हो जायेंगे, उस पदार्थ को वे (शुद्ध आत्मा) पूर्ण-तया जान सकेंगे। जरा भी जानना शेष रह जायगा तो उनकी सर्वज्ञानता में कमी रह जायगी। क्योंकि वह पदार्थ, सम्पूर्णरूप से उनके ज्ञान में प्रति-विम्बित हो जाता है, अथवा ज्ञान उस रूप में (तदाकार) सम्पूर्ण बन जाता है, तभी वे उसे पूरी तरह से जान सकते हैं। कोई भी गुण-स्वभाव अपने आप में पूर्ण होता है, अपूर्ण तो सम्भव ही नहीं है। रुपया अपने आप में पूर्ण है, पैसा अपने रूप में पूर्ण है। अतः शुद्ध (परमात्मा) की सर्वज्ञानता समस्त ज्ञेयों में तद्रूप

परिणमन होने पर ही पूर्णता के शिखर पर पहुँची कही जाएगी।" इसीलिए कहा गया—'परपरिणमनस्वरूप' इसका समाधान यह है कि यह सच है कि 'आत्मा कथंचित् परिणामी है', परन्तु यह अनन्त ज्ञानमय होते हुए भी पर-परिणति से अबाधित है। आत्मा का आत्मत्व जिस तत्व के रूप में है, वह पर-परिणतिरूप में नहीं दिखता। अगर परमात्मा के ज्ञान को पूरी तौर से ज्ञेयाकार होना माना जायगा तो फिर ज्ञानगुण का आश्रयभूत आत्मा—द्रव्य भी ज्ञेयरूप बन जायगा। ऐसा होने पर सर्वज्ञ आत्मा अन्य-सर्वपदार्थरूप हो जायगा, और परमात्मा इस तरह का सर्वव्यापक (विभु) माना जाए तो उसे परपदार्थ के रूप में परिणत होना पड़ेगा। इस प्रकार परत्व प्राप्त हो जाने पर उस आत्मपदार्थ का अपना जो स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावरूप स्वरूप है, वह रह न सकेगा, क्योंकि परद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावरूपता उसमें आ जाय तब तो स्वतत्वता या स्वस्वरूपता उसमें रहती ही नहीं। जगत् में प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से स्वस्वरूप में है, और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से परपदार्थ रूप है। प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव में परिणत होता रहता है। और पररूप (परत्व) से पर के द्रव्यादि से रहित होता है, यही उसकी सत्ता है. यही उसका स्वरूप है, उसी रूप में वह यथार्थ पदार्थ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का स्वभाव परद्रव्य में रमण करने का नहीं है, तथैव दूसरे पदार्थ भी आत्मा (परमात्मा) के स्वरूप में नहीं होते। अतः शुद्ध आत्मा (परमात्मा) को सर्वव्यापक के नाम पर यदि परपदार्थरूप में बनना मान लिया जाय तो वह परपदार्थ जैसा बन कर उसी में रमण करने लगेगा। फिर आत्मा (परमात्मा) का अपना स्वातंत्र्य कहाँ रहा? फिर आत्मा को स्वतंत्र, स्वात्मसुखभोक्ता कैसे कहा जा सकेगा? जब वह पररूप (दूसरे पदार्थ के रूप) में बन जाता है, तो उसका अपनापन (स्वत्व या आत्मत्व) नहीं रहता। इसी-लिए कहा है—'पररूपे करी तत्वपणुं नहीं' अर्थात् किसी एक आत्मद्रव्य का सचेतन दूसरे आत्माओं के रूप में या अचेतनद्रव्य पुद्गलादि के रूप में परिण-मन होने पर अपना आत्मत्व नहीं रहता। आत्मा के पररूप बन जाने पर उसका आत्मत्व (स्वस्वरूपत्व) नहीं रहता। तथा परपदार्थ के नाश के साथ ही उसका भी नाश मानना पड़ेगा। आत्मा की सत्ता=स्वस्वरूप में अस्तित्व चिद्रूप-ज्ञान (चेतना) रूप है। उसके पररूप होने पर वह अचेतनामय अज्ञानमय बन जाएगा।

फिर यह नहीं कहा जा सकेगा—"आत्मा का स्वरूप चिद्रूप=चेतनारूप है। यही बात इस गाथा में कही गई है—'स्वसत्ताचिद्रूप'। अगर आत्मा पर में परिणत होने लगे तो वह अभव्य और अस्थिरस्वभावी हो जायगा। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से आत्मा सर्वव्यापी है, परन्तु पर्यायार्थिक नय से वह सर्वव्यापी नहीं है। परमात्मा की परपदार्थ में परिणमन करने के अर्थ में सर्वव्यापी नहीं अपितु सर्वज्ञानत्व के अर्थ में सर्वव्यापी समझना चाहिए, क्योंकि आत्मा की सत्ता-स्वरूपास्तित्व समस्त पदार्थों को जानने की है, तद्रूपपरिणमन करने की नहीं, क्योंकि उसका स्वभाव ज्ञानमय है।

अगली ४ गाथाओं में क्रमशः द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से आत्मा का परत्व बताया गया है—

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जलभाजन रवि जेम; सुज्ञानी!
द्रव्य एकत्वपणे गुण-एकता, निजपद रमतां खेम; सुज्ञानी!ध्रु०३॥

अर्थ

ज्ञेय अनेक होने पर ज्ञान भी अनेकत्व को प्राप्त करता है। जैसे जल से भरे अनेक बर्तनों में एक सूर्य होते हुए भी अनेक सूर्य दिखाई देते हैं। सूर्य की तरह आत्मद्रव्य एक होते हुए भी गुणों का भी एकत्व होता है। मुक्त (सिद्ध) परमात्मा तो अपने अनेकगुणात्मक पदस्थान में आनन्दपूर्वक रमण करते हैं।

भाष्य

द्रव्य से आत्मा का ज्ञानगुण एवं ज्ञेय

इस गाथा में परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के मुख्य गुण-ज्ञान के सम्बन्ध में द्रव्य से विचारणा की गई है कि जानने की चीजें (ज्ञेय) अनेक होने पर ज्ञान भी अनेक हो जाते हैं। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं—जैसे सूर्य एक ही होता है, परन्तु पानी स लबालब भरे हुए अनेक बर्तनों में प्रत्येक में उस सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ने से पृथक्-पृथक् अनेक सूर्य दिखाई देते हैं, उसी प्रकार ज्ञान होते हुए भी अनेक ज्ञेयों में पृथक्-पृथक ज्ञेयाकार में परिणत हो जाने पर (वे ज्ञेय) जैसे अनेक हैं, वैसे ज्ञान भी अनेक हो जाता है।

वास्तव में यह बात पर्यायदृष्टि से यथार्थ है कि ज्ञेय अनेक हैं तो ज्ञान भी अनेक है, यानी अलग-अलग आविर्भाव की दृष्टि से उन ज्ञेयों का ज्ञान

(जानकारी) भी अनेक प्रकार का होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी विशेषता के अनुसार पर्याय की अपेक्षा से अलग-अलग प्रकार की मालूम होती है। प्रत्येक वस्तु में उसकी अपनी विशेषता तो होती ही है। पर्यायान्तरगत व्यक्तित्व भी प्रत्येक वस्तु में जरूर होता है। इसलिए पर्यायदृष्टि से ज्ञान अनन्त कहा गया है। जैसे वस्तुएँ अनन्त हैं तो उनके पर्याय भी अनन्त हैं। वे पर्याय अलग-अलग नजर भी आते हैं।

दूसरी ओर आत्मद्रव्य एक है, इसलिए उसका अपना ज्ञानगुण भी एक ही होना चाहिए। द्रव्य गुण का घर=आश्रयस्थान है। इस दृष्टि से गुण को अपने घर में ही रमण करने में क्षेमकुशल है, पर-घर जाने से क्षेमकुशलता नहीं रहती। ज्ञान अनेक होने से एक आत्मा के भी अनेक हो जाने की आपत्ति आती है। अतः एकद्रव्यरूप अपने घर में एक ज्ञान की ही स्वरूपरमणता मानी जाय, तभी क्षेमकुशलता रह सकती हैं और उसका अपना स्वरूप भी पूरा सुरक्षित रह सकता है। अन्यथा एक आत्मा अनेकरूप हो जाने से वह अपने एकत्वरूप-स्वरूप में क्षेमकुशल नहीं रह सकती। फिर बहुत से ज्ञेय तो परपदार्थ हैं, उनके साथ ज्ञानगुण द्वारा आत्मा जब पराये घर रमण करने जायगा तो ज्ञेयों की तरह ज्ञान और आत्मा को भी अनेकत्व प्राप्त करना पड़ेगा, जो उनके लिए मार है, अपमान है, स्वरूपच्युति है।

प्रश्न होता है—ज्ञान का स्वरूप एकत्व ही है, तब द्रव्य का ज्ञानत्व उसमें कैसे घटित होगा, क्योंकि वह सब तक पहुँच न सकेगा? इसलिए अनन्तज्ञेय से अनन्तज्ञानरूप ज्ञानमय एक आत्मा अनन्त आत्मस्वरूप हो जाता है। गुण सहभावी होता है, पर्याय क्रमभावी होता है। सहभावी गुण, (धर्म) की अपेक्षा से तीर्थंकर या सिद्ध अपने-अपने आत्मिक गुणों में निजपद में आनन्दपूर्वक रमण करते हैं। इस प्रकार यहाँ द्रव्य का स्थायित्व और पर्याय में परिवर्तन बताया।

परक्षेत्रगत ज्ञेयने जाणवे, परक्षेत्रे थयुं ज्ञान, सुज्ञानी !
अस्तिपणुं निजक्षेत्रे तुमे कह्यो निर्मलता गुण मान, सुज्ञानी ! ।।४।।

अर्थ

पर (अन्य) के क्षेत्र में रहे हुए जानने योग्य (ज्ञेय) पदार्थ को जानने से ज्ञान परक्षेत्री हुआ। आपने ही कहा था—ज्ञान का निजक्षेत्र में ही अस्तित्व है, यानी ज्ञान तो स्वक्षेत्र में रहने वाले आत्मा को ही होता है।

निर्मलता का अभिमान यानी शुद्धस्वस्वरूप की स्वतंत्रता या स्वस्वरूप की पूर्णता का अभिमान स्वक्षेत्र में ही हो सकता है।

भाष्य

क्षेत्र से ज्ञानगुण एवं ज्ञेय पर विचार

इस गाथा में ज्ञान के दो प्रकार किये गए हैं—स्वक्षेत्रीय और परक्षेत्रीय। अपनी (ज्ञान की) अवगाहना से अन्य क्षेत्र में रहे हुए जीव या अजीव द्रव्य का ज्ञान हो, उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहा जाता है। ज्ञेयपदार्थ अपनी अवगाहना में न हो तो उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहते हैं। परन्तु गुण और गुणी का अभेद है, इस कारण ज्ञान तो अपने अनन्त आत्मप्रदेश में रहा हुआ है। यहाँ शंका उठाई गई है कि दूसरे क्षेत्र में रहे हुए ज्ञेयों को (ज्ञेयरूप परक्षेत्र को) जानने से ज्ञान भी परक्षेत्र में हुआ कहना चाहिए। ज्ञान दूसरे के क्षेत्र में हो उसके लिए आपने कहा था—अपने क्षेत्र में ही अस्तित्त्व है। परक्षेत्र में स्वत्व नहीं है, अपितु परत्व है। क्योंकि अनन्त परक्षेत्रगत ज्ञेय रूपज्ञान, अनन्त हो जाने से एक आत्मा भी अनन्तज्ञानरूप होने से आत्मा स्वयं अनन्तरूप बन जाती है। ऐसी हालत में आत्मा अपना एकक्षेत्ररूप एकत्व कैसे रख सकती है? इसके उत्तर में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—'**निर्मलता अभिमान**' गुण और गुणी के अभेद के कारण आत्मा का निर्मल ज्ञानगुण अपने अनन्त आत्मप्रदेश में रहा हुआ है। अपने क्षेत्र में ही ज्ञान का अस्तितत्व बताया गया है। ज्ञान का स्वभाव निर्मलता है, इस कारण शीशे के समान निर्मल ज्ञानदर्पण में ज्ञेयपदार्थ दिखाई देता है, पर उसमेंज्ञान के क्षेत्र में, ज्ञेय जाता नहीं और न ज्ञान ज्ञेय में आता है। इसमें गुण-गुणी में अभेद होने से सहभावी ज्ञायकधर्म एक ही और साथ रहता है, वह ध्रुव है, निर्मल है। ज्ञान की निर्मलता के कारण ज्ञेयपदार्थ ज्ञान के पास आता नहीं, तथापि वह परक्षेत्रीय ज्ञान भी निजक्षेत्रीय-सा स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञेय विनाशे हो, ज्ञान विनश्वरू, कालप्रमाणे थाय।सु०॥
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पररीते न जाय, सुज्ञानी ॥५॥

अर्थ

ज्ञेय पदार्थ नष्ट होने से ज्ञान भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि काल के अनुसार ऐसा (किसी न किसी समय नाश) होता हीहै। स्वकाल (अपने आत्मा

के अनंतपर्यायी काल) को ले कर आत्मा की सत्ता=स्वत्व कभी परानुयायी नहीं होती। आत्मा का स्वकाल अपनी सत्ता को ले कर होता है।

भाष्य

काल से आत्मा का ज्ञान एवं ज्ञेय

आत्मा का परपरिणमनरूप में सर्वव्यापित्व मानने पर दूसरे दोष भी आते हैं, उनमें से कालगत दोष भी है। अतः ज्ञेय का नाश होने पर ज्ञान का भी नाश होता है, यानी ज्ञान नाशवान हुआ। समय-समय पर परिवर्तनशील काल की तरह ज्ञेयपदार्थ भी परिवर्तित होते रहते हैं, उनके भी उत्पत्ति-विनाश होते रहते हैं और इस कारण ज्ञान नाशवान सिद्ध होता है। ऐसा होगा तो प्रारम्भ में परमात्मा को हमने 'ध्रुवपदरामी' कहा था, वह घटित नहीं होगा, क्योंकि गुण-गुणी का अभेद है। ऐसा विचित्र परिणाम आए, तब तो जानने वाले ज्ञाता—आत्मा का भी नाश होने की सम्भावना है। ज्ञानी ज्ञान का नाश होने से उसके ज्ञाता आत्मा का भी नाश हो जायगा। इस प्रकार आत्मा भी क्षणिक सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा होता नहीं।

इसका समाधान करते हुए गाथा के उत्तरार्द्ध में कहा है— 'स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते पररीते न जाय' अर्थात्—पदार्थ की स्वसत्ता अपने काल की अपेक्षा से सदा-सर्वदा होती है। यानी वह स्वकाल की सत्ता दूसरे काल के रूप में नहीं जाती, स्वयं भी दूसरे रूप में नहीं जाती। यदि पर का काल स्व का काल बन जाय तो फिर स्व और पर में कोई भेद ही नहीं रहेगा। इसलिए अपनी सत्ता अपने-अपने काल की अपेक्षा से है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा, तो घटादि अनित्य ज्ञेयपदार्थों का नाश होते ही ज्ञान भी नष्ट हो जायगा। इस तरह ज्ञान और ज्ञान का आश्रयभूत आत्मा भी नाशवान सिद्ध होता है। इसलिए यह माना गया कि स्वकाल में आत्मा का अनादि-अनन्तत्व होने से स्वसत्ता से चैतन्य ज्ञानगुण का रूपान्तर होता है। वास्तव में ज्ञेय का सर्वथा नाश नहीं होता है, केवल पर्याय-परिवर्तन होता है, उस समय उसका ज्ञान भी बदल जाता है, सर्वथा नष्ट नहीं होता। मतलब यह है—ज्ञेयपदार्थ के पूर्व-पर्याय का नाश हो कर वह अपरपर्याय धारण करता है, तब पूर्वपर्याय का ज्ञान भी परपर्यायरूप बन जाता है। इस दृष्टि से आत्मा का और आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नहीं होता। काल की अपेक्षा से ज्ञेय की अतीत और

अनागतपर्याय पलट जाती है, तब अतीतपर्याय वर्तमान पर्याय को धारण करती है। इन सर्वपर्यायों का भासनधर्म ज्ञान में है। सिर्फ यह भासनधर्म दूसरे रूप में परिणत होता है। इससे ऐसा आभास होता है कि ज्ञान में विनाशी धर्म हैं। यद्यपि वह स्वकाल की अपेक्षा से अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणमन को देखते हुए ज्ञान उत्पादव्ययरूप है तथापि उसका धर्म (ध्रुवत्व) स्वसत्ता है, वह कदापि परसत्तारूप नहीं होता। इस तरह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वकाल से स्वसत्ता में सदा अखण्ड पदार्थ है। स्वकाल ही स्वरूप है, परकाल परस्वरूप है। इसलिए स्वस्वरूपी पदार्थ पररूप बन नहीं सकता।

परभावे करी परता पामतां स्वसत्ता थिर ठाण; सु०।
आत्मचतुष्कमयी परमां नहिं, तो किम सहुनो रे जाण ॥सु०॥ध्रु०॥६॥

अर्थ

परपदार्थों का ज्ञान करने वाला आत्मा अपने सिवाय (पर) पदार्थों के भावों (पर्यायों) की अपेक्षा से परतत्व (परपदार्थ) को प्राप्त होने से स्व-आत्मा अपनी सत्ता (अस्तित्व) से कैसे स्थिर रह सकता है? आत्मचतुष्क (अनन्त ज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य, ये आत्मा के चार गुण) परमें= परपदार्थ में नहीं होते, तो यह (पर में मिला हुआ) किस प्रकार सकल पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) हो सकेगा?

भाष्य

भाव से आत्मा का परत्व : ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा से

पूर्वगाथाओं में द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से आत्मा के ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया था; अब इस गाथा में भाव से ज्ञान-ज्ञेय का विचार किया गया है। प्रतिवादी शंका प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा जब पर पदार्थों का ज्ञान करता है, यानी वह अपने से भिन्न परमाणु, आकाश आदि का ज्ञान करता है तो उन परपदार्थों के भावों-पर्यायों का ज्ञान भी वह करता ही है, तब ज्ञान पर्यायभावमय हो जाता है, ऐसा होने से वह परत्व को प्राप्त हो जाय, यह स्वाभाविक है। इसी का समाधान करते हुए कहा है—'स्वसत्ता थिर ठाण' अर्थात् परवस्तु ज्ञेयादि को जानने से परवस्तु को प्राप्त करने पर भी आत्मा की अपनी जानने की सत्ता स्वस्थान में ही स्थिर समझनी चाहिए।

यहाँ ईश्वर (आत्मा) को सर्वव्यापी मानने वाले वादी फिर शंका उठाते हैं कि क्या आत्मा परपदार्थत्व (परस्वरूप) को प्राप्त होता है? उत्तर में कहते हैं— नहीं, आत्मा के अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे पदार्थ में संभव नहीं हो सकते और न दूसरे आत्मा में संभव हो सकते हैं। इसलिए आत्मा परपदार्थ को प्राप्त नहीं होता। परन्तु आत्मा का जो निर्मल ज्ञान है, वह ज्ञेय के आकार में परिणमन हो जाता है। किन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार परिणत (ऐसा परभावप्राप्त) होने पर भी आत्मा दर्पण की तरह अपनी आत्मसत्ता में स्थिर रहता है।

यहाँ फिर यह शंका होती है—यदि आत्मा परपदार्थ में परिणमन नहीं पाता, स्वयं अपनी आत्मा में ही स्थिर रहता है और अन्य पदार्थों में आत्मा के गुणचतुष्टय नहीं हैं, तब आत्मा अन्य सब पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) कैसे हो सकता है? इसी प्रकार की शंका 'वीसवीसी' ग्रन्थ में उठाई गई है कि 1 "जीव यदि सर्वव्यापक नहीं है तो उसका जो धर्म-ज्ञान है, वह आत्मा से बाहर कैसे हो सकता है? और धर्मास्तिकायादि से रहित' अलोक में वह (ज्ञान और ज्ञानात्मा) कैसे जा सकता है? "मतलब यह है कि किसी भी एक सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान लोकगत अनन्तपदार्थ, अनन्तद्रव्य व उनके अनन्तक्षेत्रों, अनन्तकालों और अनन्तभावों को तथा अनन्तपर्यायमय अनन्त-अलोकाकाशगत को भी जानता है, तो किसी एक नियत स्थल में स्थित एक ही आत्मा का ज्ञानगुण उस आत्मा के बाहर तथा लोक के बाहर (जहाँ धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय नहीं हैं।) अलोकाकाश में कैसे जा सकता है? कैसे गति कर सकता है?

पूर्वोक्त शंका का समाधान अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी करते हैं—

अगुरुलघु निजगुणने देखतां, द्रव्य सकल देखंत। सु० ॥
साधारणगुणनी साधर्म्यता, दर्पणजलदृष्टान्त; सु० ॥ध्रु० ॥७॥

अर्थ

आत्मा के अगुरुलघु (षड्गुणहानिवृद्धिरूप) गुण को देखते हुए वह समस्त द्रव्यों (पदार्थों) को देखता है। इस अगुरुलघु नामक साधारण एक

---

१ 'जीवो य ण सव्वगओ तो तद्धमो कहं भवइ बाहो ?
कहं वाऽलोए धम्माइविरहिए गच्छइ अणंते ? ॥१८॥१८॥

समान) गुण को द्रव्य-पदार्थमात्रमां साधर्म्यता=समानधर्मित्व है, इस कारण एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में मिल नहीं जाता, जिस तरह दर्पण या जल मे सामने जलती हुई अग्नि की ज्वाला का प्रतिबिम्ब हूबहू पड़ता है, लेकिन दर्पण और जल में वह ज्वाला, घुस नहीं सकती, न ज्वाला में ये दोनों घुस सकते हैं। दर्पण, जल तथा ज्वाला तीनों में से कोई अपना धर्म (स्वभाव) नहीं छोड़ता। न ज्वाला से दर्पण व जल गर्म होते हैं और न जल से आग ठंडी होती है। इस दर्पण-जल के दृष्टान्त से एक दूसरे के पदार्थत्व में एक दूसरे पदार्थ परिणत नहीं होते।

भाष्य

एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में न मिलने का कारण : अगुरुलघुगुण

पूर्वगाथा में जो शंका उठाई गई थी, उसका समाधान इस गाथा में दिया गया है कि अगुरुलघु नाम का एक गुण ऐसा है, जिसके कारण आत्मा हवा से उड़ जाय, ऐसा हलका भी नहीं होता और न ही वह पहाड़ जैसा भारी होता है। जैसे शीशे में वस्तु घुसती नहीं, फिर भी हूबहू दिखाई देती है, अथवा जल में वस्तु प्रविष्ट होती नहीं, फिर भी उसका पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब पड़ता है, इसी प्रकार अगुरुलघुपन के कारण आत्मा ज्ञेयवस्तु में प्रविष्ट हुए विना समस्त वस्तुओं को हूबहू देख लेता है। अगुरुलघुनामकर्म के उदय से आत्मा वस्तु में प्रवेश नहीं करता, तथापि उसमें उसका प्रतिविम्ब पड़ता है, इसलिए परवस्तु का नाश होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण में और पानी में प्रतिविम्ब या छाया को झेलने की योग्यता (शक्ति) रूप समानता है,उसी प्रकार षड्गुणहानि-वृद्धिरूप अपने अगुरुलघुपर्याय गुण को जैसे आत्मा अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान सकता है, वैसे ही यह सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य में एक सरीखा होने से आत्मा अपने से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों को जान-देख सकता है।

आत्मा की सर्वज्ञता के बारे में विशेष स्पष्टीकरण

उपर्युक्त उत्तर बहुत ही संक्षिप्त है। इसलिए यहाँ हम ब्योरेवार इस बात को बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि 'एक आत्मा का ज्ञान दूसरे सर्वपदार्थों को कैसे जान सकता है?—

(१) आत्मा अपने सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावों को अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान-देख सकता है। इसमें कोई शका नहीं है, क्योंकि स्वयं तो स्वयं को जानता ही है (आत्मा का अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर ही है। (२) परन्तु आत्मा में जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव हैं, वैसे ही दूसरे पदार्थों के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नहीं हैं, यह भी मानना पड़ेगा। अर्थात किसी एक प्रस्तुत आत्मा के सिवाय जगत् में जितने जड़-चेतन अन्य पदार्थ हैं, उनके जो द्रव्यादि चारों हैं, उन सबका नास्तित्व (अभाव) भी आत्मा में विद्यमान है। तभी वह आत्मा दूसरे पदार्थों से अलग होता है। (३) अगर ऐसा न हो तो वह आत्मा और दूसरे पदार्थ एकाकार हो जांय, सारा जगत् एकरूप ही प्रतीत हो, कोई भी पदार्थ अलग-अलग प्रतिभासित ही न हो। किन्तु पदार्थ अलग-अलग होते हैं, उसका कारण है—प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अस्तित्व के कारण उस-उस द्रव्यादिरूप है, साथ ही दूसरे पदार्थों के द्रव्यादि चारों उसमें नहीं हैं, उन सबका नास्तित्व उसमें है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ के पृथक्-पृथक् होने की प्रतीति हो हो जाती है। (४) जैसे स्वद्रव्य में पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नहीं हैं, वैसे ही स्वद्रव्य के अपने एक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव में दूसरे प्रकार के द्रव्यादिचारों नहीं हैं, उनका उसमें अभाव होता है। उदाहरणार्थ—एक आत्मा नारकभाव में था, तब उसमें जो द्रव्यादि चारों उस समय वर्तमानरूप में थे, वे उस आत्मा के मानवभव में आज वर्तमानरूप में नहीं हैं, अपितु भूतकालीन पर्यायरूप हैं। वर्तमानरूप में उन पर्यायों का अभाव है। उसी प्रकार वर्तमान पर्याय उस समय इस आत्मा में भविष्य के पर्यायरूप में थे, पर वर्तमानरूप में नहीं थे। अर्थात एक ही पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल. भावों में भी परस्पर स्वद्रव्यादि का अस्तित्व और परद्रव्यादि का नास्तित्व होता है। (५) किसी ज्ञानादि एक गुण के स्वपर्याय दूसरे सुखादिगुणों की अपेक्षा से परपर्याय हैं। तथा एक-एक गुण के अनन्त-अनन्त पर्याय होते हैं, इस दृष्टि से एक ही आत्मा में एक-एक गुण के प्रत्येक पर्याय में स्वपर्यायों का अस्तित्व और पर-पर्यायों का नास्तित्व होता है। (६) यों अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों ही पर्यायों का अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ में होता है। (७) इसलिए जो आत्मा अपने पर्यायों का अस्तित्व जानता है, उसी प्रकार वह अपने में रहे हुए परपर्यायों के नास्तित्व के अस्तित्व को भी जानता है। अर्थात वह यह भी जानता है कि

अपने में कौन-कौन से पदार्थ और उनके पर्याय नहीं हैं। उन सभी पदार्थों को और उनके पर्यायों को उस आत्मा को जानने पड़ते हैं। यों जानने पर ही वह अपने को पूर्णतया जान सकता है। अन्यथा, वह अपने को भी पूरी तौर से नहीं जान सकता। इसीलिए **आचारांगसूत्र में** कहा है— **जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ; जे सव्वं जाणइ से एग जाणइ।** इस प्रकार स्व और परपर्यायों-भावों की षट्गुण तथा भाग की हानि और वृद्धि जैसी अपने में ही है; वैसी ही दूसरे द्रव्यों में है। इस तरह की सदृशता के कारण जो अपने को पूर्णतया जानता है, वह समस्त द्रव्य को भलीभाँति जान सकता है। इसीलिए कहा है— 'सकल द्रव्य देखंत' केवलज्ञान की सम्पूर्ण ज्ञान करने की शक्ति इतनी अधिक होती है कि उससे तीनों ही काल के सर्वपदार्थों का एक समय में सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसा न हो तो विश्वस्थिति ही अव्यवस्थित हो जाय। सामान्य मनुष्य के ज्ञान की अपेक्षा एक विद्वान् का ज्ञान कितना गुना अधिक होता है? वह सम्भव है, तो सर्वज्ञ का ज्ञान उससे कई गुना अधिक हो, इसमें सन्देह ही क्या? विश्व के व्यापक तत्त्वज्ञों को इसमें कोई सन्देह ही नहीं होता।

श्री पारस जिन पारसरससमो, पण इहां पारस नाहि, सुज्ञानी।
पूरण रसियो हो निजगुणपरसमां,[1] 'आनन्दघन' मुझ मांहि, सु० ।ध्रु० ७।

अर्थ

श्री (केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी) सहित पारसजिन (रागद्वेषविजेता पार्श्वनाथ परमात्मा) पारसमणि के रस के समान हैं, परन्तु यहाँ मेरे पारस रस नहीं है। सम्पूर्ण (रसपूर्ण) रसिक अपने गुणों के प्रतिसमय स्पर्श से आनन्द के घन-समान पारसमणि से भी बढ़कर 'आत्मा' मुझ में है।

---

१ कहीं कहीं 'परसमां' के बदले परसन्नो' शब्द है, जिसका अर्थ है, आत्म गुणों में प्रसन्न।

भाष्य

पार्श्वनाथ के समान पारसमणि क्या और कैसे ?

पारसमणि में यह गुण होता है कि उसके साथ लोह का स्पर्श होते ही वह लोहा सोना बन जाता है। इसी प्रकार श्री पार्श्वनाथ प्रभु भी उसके समान पारस होने से वे भी अपमें सम्पर्क में आने वाले अन्य जीवों को अपने जैसा बना देते हैं। फिर भी पारसनाथ प्रभु पारसमणि नहीं हैं, क्योंकि पारसमणि तो जड़, पत्थर है अथवा वह पारसरस मेरे में नहीं है। मेरे में अभी तक पा (पाव) रस=चौथाई रस भी नहीं है, तब मैं कैसे ध्रुवपद में रमण करने वाले पार्श्वनाथ परमात्मा की बराबरी कर सकता हूँ। क्योंकि पार्श्वनाथ परमात्मा वीतराग बने हैं, अपने आत्मस्वरूप में उनका प्रतिक्षण स्पर्श होने से अथवा अपने गुणों में सम्पूर्ण प्रसन्न होने से वे अपने गुणों में सम्पूर्ण रूप से रसपूर्ण बने हैं, आनन्दघनरूप हैं उसी प्रकार का आनन्दघन=आनन्दसमूहमय, पूर्ण रसिक आत्मा अपने निजगुणों के स्पर्श (गुणों से प्रसन्न) होने से मेरे अन्दर भी विराजमान है। उस आत्मा को केवल प्रगट करने की जरूरत है और वह प्रगट हो सकता है—शुद्ध आत्मगुणरूपी पारसमणि के रस का प्रतिक्षण संस्पर्श होने से।

श्री आनन्दघनजी इस स्तुति का उपसंहार करते हैं—प्रभो ! मैं (अन्तरात्मा=मुमुक्षु) आत्म— (पारस) रस का सदैव स्पर्श करके आप (परमात्मा) के साथ एकरूप होना चाहता हूँ। जो जड़ पारसमणि है, वह निजगुण-प्रसन्न, पूर्ण रसिक, एवं आनन्दघन नहीं है, फिर भी अपने स्पर्श से दूसरे में परिवर्तन कर सकता है, तो पूर्णरसिक, स्वगुणप्रसन्न, आनन्दघन श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा अपने स्पर्श से दूसरे का क्या नहीं कर सकते ? मैं आपकी स्तुति, भक्ति, सेवा या स्मरण इसलिए करता हूँ कि आप में जैसा आनन्दसमूह है, वैसा ही मेरे में है, जिस आत्मगुण के सतत स्पर्श से आपने पूर्ण परमात्मरूप आनन्द (परमानन्द) घन प्राप्त किया है, आप पूर्ण ज्ञानचेतनामय हैं, मैं अल्पज्ञानचेतनामय (लोहवत्) हूँ आपके स्पर्श जैसा ही मेरा आत्मस्पर्श हो तो मेरे अन्दर रहे हुए आनन्दसमूह को प्रगट करके मैं भी आपके सरीखा ही बनूँ। बस, यही मेरी तमन्ना है। मुझ में तिरोभूत रस आत्मगुणस्पर्श से पूर्ण आविर्भूत हो, यही भावना है।

सारांश

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने सर्वोच्च आत्मिक गुणों के पुंज एवं आत्मा के ज्ञानगुण की पूर्णता को प्राप्त श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा के गुणों के माध्यम से आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना कैसे हो सकती है ? परमात्मा (शुद्ध आत्मा) किस गुण से सर्वव्यापक, द्रव्यक्षेत्रकाल-भाव की अपेक्षा से कहा जा सकता है, वह अन्यदर्शनीय मत की तरह सर्वद्रव्यव्यापी क्यों नहीं है, इसकी विशद चर्चा की है। फिर शुद्ध आत्मा (परमात्मा) की सर्वज्ञता अकाट्य युक्ति द्वारा सिद्ध की है। अन्त में, पार्श्वनाथप्रभु की पारसमणि के पूर्णरस से तुलना करके आनन्दघनजी ने अपनी आत्मा में भी प्रतिक्षण आत्मगुणस्पर्श से वैसी शक्ति वाले पारस की कल्पना की है। और पार्श्वनाथ के समान पारस बनने की कामना की है।



२४ : श्री महावीर-जिन-स्तुति—

परमात्मा से पूर्णवीरता की प्रार्थना

(तर्ज—धनाश्री)

वीरजिनेश्वर चरणे लागुं वीरपणुं ते मागुं रे ।
मिथ्यामोह-तिमिर-भय भाग्युं, जीत नगारूं वाग्युं रे ।।वीर० १।।

अर्थ

इस अवसर्पिणी काल के चौवीसवें तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (परमात्मा) के चरण (सामायिक आदि चारित्र) का स्पर्श करके नमस्कार करता हूँ अथवा अपना अन्तःकरण चारित्र में लगाता हूँ और उनके द्वारा बताई हुई या उनके जैसी वीरता मांगता हूँ, जिस वीरत्व के प्रभाव से प्रभु का मिथ्यात्व-मोहनीय एवं अज्ञानरूपी अन्धकार से उत्पन्न होने वाला एवं आत्मा को विह्वल बनाने वाला भय भाग गया था और केवलज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होने से विजय का डंका (नगारा) बज उठा था।

भाष्य

वीरता की प्रार्थना : किससे, क्यों और कैसी ?

पूर्वस्तुति में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परत्व का त्याग करके परमात्मा से आत्मा के सर्वोच्च गुण—शुद्धज्ञान का पारसरत्न प्राप्त करने की उत्कण्ठा प्रकट की थी। परन्तु आत्मा के अनुजीवी स्वगुणों या स्वशक्तियों को प्राप्त करने के लिए जब तक आत्मा में वीरता प्रकट न हो जाय अथवा आत्मा आत्मशक्ति या आत्मवीर्य से परिपूर्ण न हो जाय, तब तक स्वगुण या स्वशक्ति का प्रकटीकरण नहीं हो सकता। अतएव इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा से वीरता की याचना की है।

इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम सवाल यह होता है कि आम आदमी वीरता की मांग किसी बहादुर से या किसी साहसी पुरुष से करता है, अथवा जो शस्त्र-अस्त्र चलाने में निपुण हो अथवा युद्ध करने में फुर्तीला बांका वीर हो,

उससे वीरता सिखाने की प्रार्थना करता है; परन्तु यहाँ जिनसे योगीश्री वीरता की याचना या प्रार्थना कर रहे हैं; वे तो वीतराग हैं, उनके न तो कोई शत्रु है, न उन्हें शस्त्र-अस्त्र से किसी से लड़ना है, न वे किसी प्रकार का युद्धकौशल दिखाते हैं और न ही ये बातें (शस्त्रास्त्र-संचालन आदि) किसी को सिखाते हैं, उनका मार्ग ही इन सबको छोड़नें और छुड़ाने का है, वे तो हथियारों को छुड़ा कर निहत्था बनाते हैं, हिंसाजनक युद्ध, शस्त्रास्त्रसंचालन, शत्रुता, मारकाट करने में बहादुरी आदि सबका स्वयं त्याग कर बैठे हैं और दूसरों से त्याग कराते हैं, तब फिर ऐसे महात्यागियों और जगत् से सर्वथा उदासीन, निरपेक्ष वीतराग से वीरता की मांग करना क्या उचित है, क्या युक्तिसंगत है ? इसके उत्तर के लिए हमें वीरता की यथार्थ परिभाषा और इसके वास्तविक अधिकारी को समझना होगा। क्योंकि वीरता की याचना उसीसे करना न्यायोचित है, जो सच्चे माने में वीर हो, जिसने अपने जीवन में पूर्णवीरता प्राप्त की हो, जो युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर से भी ऊपर उठ कर अध्यात्मवीर बन कर आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष-मोह आदि रिपुओं या कर्मशत्रुओं के साथ वीरतापूर्वक जूझ कर पूर्ण केवलदर्शन एवं अनन्तवीर्य प्राप्त कर चुके हों; जो वीरता के मार्ग से गया है, पूर्णवीरत्व की मंजिल पर पहुँच चुका है, उसीसे ही वीरता की याचना करना उचित है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भ० महावीर स्वयं आदि से ले कर अन्त तक वीरता के आग्नेयपथ से गुजरे हैं. उन्हें वीरता प्राप्त करने के कारण, साधन, वीरता के मार्ग में आने वाली विघ्न-बाधाओं, उपसर्गों और परिषहों का परिपक्व अनुभव है, इसलिए उनसे इस प्रकार की वीरता की प्रार्थना करना कोई अनुचित नहीं है। और वास्तव में देखा जाय तो ऐसे अध्यात्मवीरों से ही वीरता की तालीम ली जा सकती है।

जो व्यक्ति संग्राम में बड़े-बड़े सुभटों से साहसपूर्वक जूझते हैं, जो प्राणों की बाजी लगा कर युद्ध में अपने को झोंक देते हैं, जिनके पास हजारों-लाखों योद्धाओं की की सेना है, प्रचुर शस्त्र-अस्त्र हैं, जिनका शरीरबल बहुत ही चढ़ा-बढ़ा है, जो इन्द्रिय-विषयों के गुलाम हो जाते हैं, काम और कामिनी के कटाक्ष के आगे पराजित हो जाते हैं, कषायों और मोह के सामने भीगी बिल्ली बन जाते हैं, मन की वासना-तरंगों के सामने नतमस्तक हो जाते हैं, इच्छाओं के

समक्ष दास बन जाते हैं, वे युद्धवीर हों, चाहे दानवीर, सच्चे माने में वीर नहीं हैं। वे आध्यात्मिक दृष्टि से कायर हैं, आत्मबलहीन हैं, क्लीव हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से वीरता की ही माँग क्यों की? और कोई चीज माँग लेते? प्रभु तो औढरदानी हैं, उनसे धन-सम्पत्ति, सन्तान, घर, स्त्री, वैभव, हथियार, यश, मुकद्दमे में जीत आदि में से किसी चीज की याचना क्यों नहीं की? इसका उत्तर यह है कि दीर्घदर्शी, संयमी, और आत्मार्थी व्यक्ति इन शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं की माँग नहीं करता; वह यह सोचता है कि पैसा, स्त्रीपुत्र, घर आदि चीजें तो इसी जन्म में काम आती हैं, फिर वीतरागप्रभु से तो वही चीज माँगी जाती है, जो प्रकारान्तर से प्राप्त न हो सकती हो। अथवा जिस महानुभाव से जो चीज माँगना उचित न हो, उसे उनसे माँगना भी व्यर्थ है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में सूचित किया है—'वीरपणुं ते मागुं रे। वीर प्रभो! आप महावीर हैं, आपने जिस तरीके से महावीरत्व प्राप्त किया है, वही महावीरत्व मैं आपसे चाहता हूं। मैं भौतिक वीरता या बाह्य शूरवीरता नहीं चाहता, जो एक जन्म तक ही सीमित हो, या जिससे आत्मिक शत्रुओं के सामने दुम दबा कर भाग जाऊँ; बल्कि ऐसी शूरवीरता चाहता हूँ, जो जन्म-जन्मान्तर से मुझे धोखे में डालने वाले, मेरे दिमाग में भ्रान्ति पैदा करने वाले और मेरी अनन्तशक्ति को राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि दुर्गुणों में लगा कर छिन्न-भिन्न करने वाले हैं, उनसे निपट सकूं, उनसे जूझ सकूं और उन्हें खदेड़ सकूँ। मैं आपसे वैसी वीरता इसलिए चाहता हूं कि अगर मुझमें वह आध्यात्मिक वीरता, विविध आत्मशक्ति-सम्पन्नता, या वीर्याचारपरायणता होगी तो मैं आत्म-विकास के लिए जो कुछ करना चाहता हूँ, स्वरूपरमणता में अखण्ड टिके रहने के लिए जिस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहता हूँ तथा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भरसक साधना करके एक दिन अनन्त-ज्ञान, अनन्तदर्शन अनन्त-अव्याबाधसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कर सकूँगा। इसीलिए मैं आपसे और किसी भी सांसारिक वस्तु की याचना न करके सिर्फ आध्यात्मिकवीरता की याचना करता हूँ, इस वीरता के प्राप्त करने से क्या होगा? इस शंका के समाधानार्थ स्वयं श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—''मिथ्या मोह-मोह-तिमिर-भय भाग्युं, जीत नगारूं वाग्युं रे।' इसका भावार्थ यह है कि प्रभो! महावीर! जिस प्रकार आपके द्वारा महावीरता प्राप्त होते ही

मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार आदि आपकी आत्मा के प्रबल शत्रुओं का भय नष्ट हो गया, अथवा मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार और भय ये चारों प्रबल शत्रु भाग गए, आपने अरिहन्तपद को चरितार्थ कर लिया, और जब ये शत्रु रणक्षेत्र छोड़ कर भाग खड़े हुए तो वीरता के परिणामस्वरूप आपकी जीत का नगाड़ा बज उठा, लोग आपको रागद्वेषविजेता कह उठे, सर्वत्र आपकी विजयदुन्दुभि बज उठी, लोग जय-जयकार करने लगे; उसी प्रकार मैं भी आपके पावन चरणकमलों में नमस्कार करके उसी आत्मिक वीर्य से परिपूर्ण वीरता की याचना करता हूँ। समस्त कर्मों और उनसे उत्पन्न हुए कषायों आदि समस्त विभावों का नाश होता है: तब आत्मा पूर्णरूप से खिल उठता है और आत्मा का वीर्य भी सम्पूर्णत: खिल उठता है। इस प्रकार की सर्वोच्च विजय होने से जीत का नगाड़ा बज उठता है। सचमुच एक वीरता की याचना करने से उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आत्मिक शत्रुओं का भयनिवारण, कर्मशत्रुओं पर विजय का डंका, अरिहन्तपद, साहस, मनोबल, धैर्य, गाम्भीर्य, आदि समस्त अनिवार्य वस्तुएँ आ जाती हैं। जैसे एक अंधे ने देव से वरदान माँगा था कि मेरी पौत्रवधू को मैं सातवीं मंजिल पर सोने के घड़े में छाछ विलोते देखूँ, इस वरदान की याचना में दीर्घ आयुष्य, अंधत्व-निवारण, सात मंजला मकान, सोना, पुत्र, पौत्र, पौत्रवधू, गाय आदि बहुत-सी वस्तुएँ आ गई, वैसे ही योगीश्री ने महावीरप्रभु से वीरता मांग कर उपर्युक्त सब अध्यात्मयोग्य वस्तुएँ माँग ली हैं।

वीरत्व से यहाँ तात्पर्य है—आत्मवीर्य से। नामवीरत्व, स्थापनावीरत्व, द्रव्यवीरत्व, को छोड़ कर यहाँ भगवान् से भाववीरत्व को प्राप्त करने का लक्ष्य है।

अगली गाथाओं में उसी आत्मवीर्य (आध्यात्मिक वीरता के प्राप्त करने का क्रम बताते हैं—

छउमत्थ वीरज (वीर्य) लेश्या-संगे, अभिसंधिज मति अंगेरे।
सूक्ष्मस्थूल-क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे ॥ वीर० ॥२॥

अर्थ

छद्मस्थ (मन्दकषाययुक्त) वीर्य (पण्डितवीर्य) के साथ शुभलेश्या परिणामवाली धर्म-शुक्ललेश्या) के संग (संगति) से अभिसन्धिज (आत्मा

का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने की अभिलाषा) स्वयंबुद्धता=स्वयप्रज्ञारूप मति से स्वयंबोध के अंग=प्रभाव से सूक्ष्म (आत्मा में रमण करने की सूक्ष्म) क्रिया, तथा स्थूल (आत्मा की पूर्ण तथा शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के हेतुरूप चारित्र, अहिंसा पंचमहाव्रतादि या ज्ञानादि पंचाचार-पालन की अवश्य आचरणीय) क्रिया के रंग (अभिलाषा) से परम उत्साह (उमंग) पूर्वक योगी (द्रव्य-भाव से साधु) बना है।

भाष्य

छद्मस्थवीर्य : सूक्ष्मस्थूलक्रिया का उत्साह

इस गाथा में वीर्य के क्रमिक विकास का लक्षण बताया गया है। सर्वप्रथम वीर्य क्या है? उसका क्रमशः विकास कैसे होता है? इस बात को भली-भांति समझ लेना चाहिए। यद्यपि पिछली गाथा में आत्मिक-वीरता की व्याख्या की गई थी। परन्तु आत्मिक वीरता में भी वीर्य मुख्य वस्तु है। उसके बिना वीर और वीरता संभव नहीं होती; क्योंकि वीर्यवान् हो, वही वीर कहलाता है और जो वीर्य से परिपूर्ण हो, वह वीरता कहलाती है।

१. रस, २. रक्त, ३. मांस, ४. मेद (चर्बी) ५. हड्डी, ६. मगज और ७. वीर्य ये सप्त धातु हैं। ओजस् को कोई-कोई धातु कहते हैं, वह भी वीर्य के परिपाक के रूप में है। इन सात धातुओं में से वीर्य अन्तिम धातु है। आहार पचने लगता है, तब उसमें से रसभाग और मलभाग अलग-अलग हो जाते हैं। मलभाग मलद्वार द्वारा बाहर फेंक दिया जाता है, किन्तु रसभाग में रस से सर्वप्रथम रक्त बनता है, फिर उसमें से मांस, चर्बी और हड्डियां बनती हैं, अमुक हड्डियों में मगज (दिमाग) भर जाता है, उसमें से वीर्य बन कर वीर्याशय में चला जाता है। फिर वह शरीर में फैल जाता है, उससे शरीर में एक प्रकार की चमक-तेजस्विता या लावण्य, स्फूर्ति, सौन्दर्य और उत्साह आदि प्रतीत होने लगते हैं, इसे ही 'ओजस्' कहते हैं। निरोगी (स्वस्थ) मानवशरीर में ओजस् चमकता है। सामान्यजनता की समझ ऐसी है कि उपर्युक्त ७ धातुओं में से सातवीं धातु, जो वीर्य है, उसी के कारण वीरता, पराक्रम और शौर्य प्रकट होता है, परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। सचाई यह है कि शरीर का सब प्रकार का संचालक आत्मा शरीर में व्याप्त रहता है, उसका एक गुण वीर्य है। इस वीर्यगुण के कारण ही शरीर में धातुओं का क्रमिक निर्माण ऐसा होता है कि शरीर में वह

सातवें धातु के रूप में प्रतीत होता है। शरीरस्थ वीर्य पुद्गलवर्गणा से बना हुआ होता है। परन्तु उसके निर्माण में आत्मा का वीर्यगुण जितना प्रकट होता है, उतना ही, उतने बल वाला ही पौद्गलिक वीर्य प्रगट हो सकता है। यही कारण है कि शरीर छोटा होते हुए भी हाथी की अपेक्षा सिंह में वीर्य (शक्तिशालिता) अधिक होता है। वीर्य (शक्ति, बल, स्थाम, पराक्रम, शौर्य, उत्साह आदिरूप) मूल में आत्मा की वस्तु है; यह बात जैनदर्शन बहुत ही स्पष्टतापूर्वक समझाता है। जैनदर्शन का कथन है कि छोटे-बड़े कोई भी जन्तु, कीट, पशु, पक्षी, मानव या देव वगैरह मन, वचन और शरीर से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल हलचल, स्पन्दन या प्रवृत्ति करते हैं, उन सबमें आत्मा का वीर्य ही काम आता है। उस वीर्य के बिना जड़ मन-वचन-काय कुछ भी नहीं कर सकते।

आत्मा में वीर्यशक्ति के दो भाग हैं। केवलज्ञानी प्रभु की ज्ञानशक्ति से भी उसके दो भाग न हो सकें, ऐसा एक भाग लें। उसका नाम वीर्य का एक अविभाग कहलाता है। ऐसे अनन्त वीर्य-अविभाग प्रत्येक आत्मा में होते हैं। परन्तु प्रत्येक आत्मा के सारे के सारे वीर्यांश-विभाग खुले नहीं होते। अपितु न्यूनाधिक अंशों में खुले रहते हैं। बाकी के कर्म से ढके हुए (आवृत) रहते हैं। कम से कम खुली वीर्यशक्ति वाले जीवों से ले कर ठेठ सारी की सारी पूर्णवीर्यशक्ति खुली हो, वहाँ तक के भी जीव (आत्मा) मिल सकते हैं। यह न्यूनाधिक वीर्य शक्तियों की एक तालिका दी गई है। किस जीव में कितने हद तक का आत्मिक वीर्य खुला होता है, इसका भी अल्पत्व-बहुत्व बताया गया है। आत्मा में जो स्फुरणा हुआ करती है, वह कर्म के सम्बन्ध के कारण होती है। जब तक आत्मा का वीर्य स्थिर नहीं होता, तब तक प्रकम्पित रहता है। ज्यों-ज्यों कर्म कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों वीर्य में स्थिरता आती जाती है। अन्त में, शैलेशीकरण के समय आत्मा मेरुपर्वत (शैलेश) की तरह स्थिर हो जाता है। मेरु का तो दृष्टान्त है; परन्तु मेरु की अपेक्षा भी आत्मा अधिक दृढ़, स्थिर, निष्कम्प बन जाता है। तथा तुरन्त एक ही समय में मोक्षस्थान में पहुँच जाता है।[1] योगीश्री ने संक्षेप में मुद्दों सहित वीर्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें समझा दी हैं।

---

१. जैनशास्त्रों में तथा कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ वगैरह ग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन है। उसका गहराई से अध्ययन करने से जैनदर्शनसम्मत आत्मिक वीर्य का स्वरूप समझा जा सकता है।

वीर्य के दो प्रकार हैं—छद्मस्थवीर्य और मुक्तवीर्य। जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक जीव छद्मस्थ कहलाता है। छद्मस्थ से यहाँ तात्पर्य है—अज्ञान में फँसा हुआ जीव। उसका वीर्य कर्मों के कारण ढका रहता है, पूरा पूरा खुला नहीं होता। लेश्या का अर्थ है—आत्मिक अध्यवसाय=कृष्णादिद्रव्यों के सहयोग से आत्मा में उत्पन्न हुए अलग-अलग भाव=मनोव्यापार। मंदकषाय हो, तभी शुभलेश्या–धर्मलेश्या आती है और शुभलेश्या के साथ (लेश्या से संग=)सम्बन्ध हो, वहाँ पण्डितवीर्य ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास हो, तब तक अभिसन्धिज योग कहलाता है। लेश्यायुक्त छद्मस्थ जीव की समझबूझ कर इरादतन कायादि योग से होने वाली आत्मा की सूक्ष्म-स्थूल प्रवृत्तियों के आनन्द (रंग) में आ कर उत्साहपूर्वक आत्मा योगी (मन-वचन काया के योगों वाला) हो जाता है, वह [1]अभिसंधिज योग कहलाता है। और खास प्रकार के प्रयत्न=आत्मा में होने वाले सहज स्फुरण-से शरीर में जो प्रवृत्ति सहजरूप से चलती है। रक्त वगैरह धातुओं में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों—(कम्पन, स्फुरण—एक में से दूसरे में होने वाला रूपान्तर चलता रहता है) से आत्मा में होने वाला स्फुरण—'अनभिसन्धिजयोग' कहलाता है।

इन दोनों को सरलता से समझते हैं—हम नींद लेते हैं, उस समय भी शरीर के प्रत्येक धातु में कुछ न कुछ प्रवृत्ति चलती रहती है, उस समय आत्मप्रदेशों में भी कर्मों के कारण-खौलते हुए पानी के बर्तन में जैसे पानी उछलता रहता है, वैसे सतत प्रवृत्ति चालू रहती है, उसे अनभिसंधियोग कहते हैं। तथा जब हम चलते हैं या हाथ से कुछ उठाते हैं, तब कुछ अलग ही किस्म की ताकत लगानी पड़ती है, उस समय शरीर तथा आत्मा में—मन-वचन-काया में—प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति चलती है, उस समय मन-वचन-काया में जो योग उत्पन्न होता है, उसका नाम अभिसंधिज योग है।

---

१. वीरियऽन्तराय-देसक्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी।
अभिसंधिजमियरं वा तत्तावीरियं सलेसस्स ॥३॥ कर्मप्रकृति
वीर्यान्तराय कर्म के देश से या सर्व से क्षय होने से प्राणियों को जो लब्धि उत्पन्न होती है, उसके कारण छद्मस्थ=लेश्यावाले सर्वजीवों को जो वीर्य होता है, वह अभिसंधिज (या अनभिसंधिज) वीर्य कहलाता है, (बाकी के केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का वीर्य क्षायिकवीर्य कहलाता है)

सातवें धातु के रूप में प्रतीत होता है। शरीरस्थ वीर्य पुद्गलवर्गणा से बना हुआ होता है। परन्तु उसके निर्माण में आत्मा का वीर्यगुण जितना प्रकट होता है, उतना ही, उतने बल वाला ही पौद्गलिक वीर्य प्रगट हो सकता है। यही कारण है कि शरीर छोटा होते हुए भी हाथी की अपेक्षा सिंह में वीर्य (शक्तिशालिता) अधिक होता है। वीर्य (शक्ति, बल, स्थाम, पराक्रम, शौर्य, उत्साह आदिरूप) मूल में आत्मा की वस्तु है; यह बात जैनदर्शन बहुत ही स्पष्टतापूर्वक समझाता है। जैनदर्शन का कथन है कि छोटे-बड़े कोई भी जन्तु, कीट, पशु, पक्षी, मानव या देव वगैरह मन, वचन और शरीर से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल हलचल, स्पन्दन या प्रवृत्ति करते हैं, उन सबमें आत्मा का वीर्य ही काम आता है। उस वीर्य के बिना जड़ मन-वचन-काय कुछ भी नहीं कर सकते।

आत्मा में वीर्यशक्ति के दो भाग हैं। केवलज्ञानी प्रभु की ज्ञानशक्ति से भी उसके दो भाग न हो सकें, ऐसा एक भाग लें। उसका नाम वीर्य का एक अविभाग कहलाता है। ऐसे अनन्त वीर्य-अविभाग प्रत्येक आत्मा में होते हैं। परन्तु प्रत्येक आत्मा के सारे के सारे वीर्यांश-विभाग खुले नहीं होते। अपितु न्यूनाधिक अंशों में खुले रहते हैं। बाकी के कर्म से ढके हुए (आवृत) रहते हैं। कम से कम खुली वीर्यशक्ति वाले जीवों से ले कर ठेठ सारी की सारी पूर्णवीर्यशक्ति खुली हो, वहाँ तक के भी जीव (आत्मा) मिल सकते हैं। यह न्यूनाधिक वीर्य शक्तियों की एक तालिका दी गई है। किस जीव में कितने हद तक का आत्मिक वीर्य खुला होता है, इसका भी अल्पत्व-बहुत्व बताया गया है। आत्मा में जो स्फुरणा हुआ करती है, वह कर्म के सम्बन्ध के कारण होती है। जब तक आत्मा का वीर्य स्थिर नहीं होता, तब तक प्रकम्पित रहता है। ज्यों-ज्यों कर्म कम होते जाते हैं, त्यों-त्यों वीर्य में स्थिरता आती जाती है। अन्त में, शैलेशीकरण के समय आत्मा मेरुपर्वत (शैलेश) की तरह स्थिर हो जाता है। मेरु का तो दृष्टान्त है; परन्तु मेरु की अपेक्षा भी आत्मा अधिक दृढ़, स्थिर, निष्कम्प बन जाता है। तथा तुरन्त एक ही समय में मोक्षस्थान में पहुँच जाता है।[1] योगीश्री ने संक्षेप में मुद्दों सहित वीर्य के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें समझा दी हैं।

---

१. जैनशास्त्रों में तथा कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ वगैरह ग्रन्थों में इसका विस्तृत वर्णन है। उसका गहराई से अध्ययन करने से जैनदर्शनसम्मत आत्मिक वीर्य का स्वरूप समझा जा सकता है।

वीर्य के दो प्रकार है—छद्मस्थवीर्य और मुक्तवीर्य। जब तक केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक जीव छद्मस्थ कहलाता है। छद्मस्थ से यहाँ तात्पर्य है—अज्ञान में फँसा हुआ जीव। उसका वीर्य कर्मों के कारण ढका रहता है, पूरा पूरा खुला नहीं होता। लेश्या का अर्थ है—आत्मिक अध्यवसाय=कृष्णादिद्रव्यों के सहयोग से आत्मा में उत्पन्न हुए अलग-अलग भाव=मनोव्यापार। मंदकषाय हो, तभी शुभलेश्या–धर्मलेश्या आती है और शुभलेश्या के साथ (लेश्या से संग=)सम्बन्ध हो, वहाँ पण्डितवीर्य ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास हो, तब तक अभिसन्धिज योग कहलाता है। लेश्यायुक्त छद्मस्थ जीव की समझबूझ कर इरादतन कायादि योग से होने वाली आत्मा की सूक्ष्म-स्थूल प्रवृत्तियों के आनन्द (रंग) में आ कर उत्साहपूर्वक आत्मा योगी (मन-वचन काया के योगों वाला) हो जाता है, वह [1]अभिसंधिज योग कहलाता है। और खास प्रकार के प्रयत्न=आत्मा में होने वाले सहज स्फुरण-से शरीर में जो प्रवृत्ति सहजरूप से चलती है। रक्त वगैरह धातुओं में अनेक प्रकार की प्रवृत्तियों—(कम्पन, स्फुरण—एक में से दूसरे में होने वाला रूपान्तर चलता रहता है) से आत्मा में होने वाला स्फुरण—'अनभिसन्धिजयोग' कहलाता है।

इन दोनों को सरलता से समझते हैं—हम नींद लेते हैं, उस समय भी शरीर के प्रत्येक धातु में कुछ न कुछ प्रवृत्ति चलती रहती है, उस समय आत्मप्रदेशों में भी कर्मों के कारण-खौलते हुए पानी के बर्तन में जैसे पानी उछलता रहता है, वैसे सतत प्रवृत्ति चालू रहती है, उसे अनभिसंधियोग कहते हैं। तथा जब हम चलते हैं या हाथ से कुछ उठाते हैं, तब कुछ अलग ही किस्म की ताकत लगानी पड़ती है, उस समय शरीर तथा आत्मा म—मन-वचन-काया में—प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति चलती है, उस समय मन-वचन-काया में जो योग उत्पन्न होता है, उसका नाम अभिसंधिज योग है।

---

१. वीरियऽन्तराय-देसक्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी।
अभिसंधिजमियरं वा तत्तावीरियं सलेसस्स ॥३॥ कर्मप्रकृति
वीर्यान्तराय कर्म के देश से या सर्व से क्षय होने से प्राणियों को जो लब्धि उत्पन्न होती है, उसके कारण छद्मस्थ=लेश्यावाले सर्वजीवों को जो वीर्य होता है, वह अभिसंधिज (या अनभिसंधिज) वीर्य कहलाता है, (बाकी के केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का वीर्य क्षायिकवीर्य कहलाता है)

निष्कर्ष यह हुआ कि पण्डितवीर्य (ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास) होता है, तभी अभिसंधिज (प्रयत्नपूर्वक कर्म ग्रहण करने योग्य) मति (स्वयंप्रज्ञता या स्वयंबुद्धता—शुद्धमति) प्राप्त होती है और उस शुभमति के संग से संसार के कारण-कार्य का त्याग होता है, और साधु बनने के बाद भी ५ महाव्रतादि की स्थूलक्रिया और निज आत्मा को निज आत्मा में स्थिर करने का—आत्मरमण करने की सूक्ष्मक्रिया का रंग (भाव) उत्पन्न होता है।

यह सब देख कर श्रीवीरप्रभु को स्थूल और सूक्ष्म क्रिया करने का ऐसा मौका मिल गया कि संसार से विरक्ति हो गई और अत्यन्त उत्साह से वे संसार-त्यागी योगी हो गए। यानी छद्मस्थवीर्य और लेश्या के कारण कर्म ग्रहण होता है, यह सब देख कर वीरपरमात्मा अतीव उमंग से योगी हो गए।

असंख्यप्रदेशे वीर्य असंखो योग असंखित कंखे रे।
पुद्गलगण तेणे लेशु[1] विशेषे यथाशक्ति मति लेखेरे ॥ वी० ३॥

अर्थ

आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश में क्षयोपशमिक असंख्य-असंख्य आत्मवीर्य के अविभाग=अंश होते हैं और उनको ले कर आत्मा उनके समूहरूप असंख्य मन-वचन-काया के योगों=योगस्थानों को चाहता है, समर्थ बनता है और उससे पुद्गलों के समूह से (कारण से) उसकी मदद (योग) से ग्रहण अथवा पुद्गलसमूह तथा लेश्या अनेक प्रकार की होने के कारण विशेषरूप से लेश्याओं के परिणामबल से बुद्धि प्राप्त हो जाती है, ऐसा जान लेना चाहिए।

भाष्य

आत्मा में वीर्य का स्थान

प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश होते हैं। उनमें से प्रत्येक प्रदेश में असंख्य वीर्य के अविभाग अंश होते हैं। वह वीर्य प्रायः क्षायोपशमिक वीर्य होता है।

श्रीआनन्दघनजी इस विचार पर एकदम ठिठक गए, उन्होंने आत्मा की वीरता पर मनन-चिन्तन किया तो उन्हें याद आया कि अपनी आत्मा में कितनी

---

१. किसी किसी प्रति में 'लेशु विशेषे' के बदले 'ले सुविशेषे' है, अर्थ होता है—"पुद्गल समूह उसकी मदद से लेता है—ग्रहण करता है।"

वीर्यशक्ति है, वह कहाँ-कहाँ है ? मैंने प्रभु से वीरता माँगी, यह उचित तो नहीं लगता। जब अपने पास असंख्य आत्मप्रदेश हैं और प्रत्येक आत्मप्रदेश में असंख्य अविभाग वीर्यांश (आत्मबल) होते हैं। यह बल (वीर्यांश) जब बहिर्मुखी बन कर कंपन करता है, तब मनोयोग के लायक मनोवर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करता है और उनसे मनोयोग बनता है। इसी प्रकार वचनयोग के लायक भाषावर्गणा के पुद्गलों को ग्रहण करने से वाणीयोग बनता है और इसी तरह कायायोग के लायक कायावर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण करने से कायायोग बनता है। इन योगों के सामर्थ्य से लेश्या का परिणाम बनता है, और लेश्या की परिणाम-शक्ति से बुद्धि प्राप्त होती है। यहाँ आत्मवीर्य की मुख्यता है। आत्मा इन सब शक्तियों तथा मुख्यतः वीर्यशक्ति का पावरहाउस है। अतः जो वीरता मैंने भगवान् से मांगी थी, वह तो मेरे अपने अन्दर है। इसके बाद उन्हें यह खयाल आया कि शरीर मेरा अपना ही पुद्गलसमूह है, जो लेश्याविशेष के द्वारा आत्मिक अध्यवसाय के योग से अपनी बुद्धि के अनुसार उसे ग्रहण करता है। मनुष्यगति में तो आत्मिक अध्यवसायरूप लेश्या का जोर है; योगों का भी जोर है अतः शुभ उत्तम लेश्या के माध्यम से अगर छद्मस्थवीर्य भी अपने में बढ़ाए तो बहुत है। फिर यह दृढ़ आत्मविश्वास भी हो गया कि जिस वीरता की माँग तू भगवान् से कर रहा है, वह तो अपने में भरा है, सिर्फ उसे क्रमशः प्रगट करने की जरूरत है। प्रभु से उस वीरता को माँगने की जरूरत नहीं थी। वह तो चाहे जिस गति में जीव जाए, अपने अन्दर ही पड़ी है। जो वस्तु अपने अन्दर पड़ी है, उसे बाहर से माँगने की जरूरत नहीं है। वीर-प्रभु ने भी किसी दूसरे से नहीं मांगी, स्वयं पर आत्मविश्वास रख कर वे अपने बलबूते पर टिके रहे, मुसीबतों का सामना किया, इसलिए वीरता के मार्ग में आने वाले विघ्नों का जाल तोड़ सके।

अगली गाथा में वीर्य (वीरता) के स्थायित्व की बात श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

उत्कृष्टे वीरज[1] ने वेसे, योगक्रिया नवि पेसे रे।
योगतणी ध्रुवताने लेशे, आतमशक्ति न खेसे रे ॥ वीर० ॥४॥

---

१. कहीं कहीं 'वीरज ने वेसे' की जगह 'वीर्य निवेशे' भी पाठ है।

अर्थ

उत्कृष्ट (सर्वोच्च) वीर्य (आत्मशक्ति) के वश=प्रभाव से या आधार से अथवा आत्म वीर्य के उत्कृष्ट निर्देश (विकास) होने पर, मन-वचन-काया के योगों की क्रिया अथवा पुद्गलों को समय-समय पर ग्रहण करने वाली योगों की चपलतावश शुभाशुभ अध्यवसायजनित क्रिया (आत्मा में) प्रविष्ट नहीं होती। इस प्रकार योगों की निश्चलता (स्थिरता) के कारण (लश्यारूप पुद्गल नष्ट हो जाने से) आत्मशक्ति (आत्मा की अनन्तशक्ति) जरा भी डिग नहीं सकती अथवा डिगा नहीं सकती।

भाष्य

वीर्य की उत्कृष्टता : योगों की स्थिरता

इस गाथा में श्रीआनन्दघनजी ने अपने में आत्मवीर्य (वीरता) प्रगट करने और क्रमशः सर्वोच्चसीमा तक विकसित करने की बात आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त की है। वे कहते हैं—आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में अनन्तवीर्य (आत्म-शक्ति) है। जब आत्मा अपने उत्कृष्ट आत्मवीर्य को सर्वोच्चसीमा तक (प्रयोग करके) विकसित कर लेता है, यानी जब आत्मा में उत्कृष्ट वीर्य (वीरत्व) खिल उठता है, तब मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति उसमें प्रविष्ट नहीं हो सकती, अर्थात् उच्च-गुणस्थानक प्राप्त हो जाता है, तब तीनों योग मन्द पड़ जाते हैं और अन्त में स्थिर हो जाते हैं, आत्मा में वीर्य (वीरता=शक्ति) बहुत बढ़ता जाता है, विकसित होता जाता है, अनावृत हो कर सर्वोच्चसीमा तक पहुँच जाता है। इस प्रकार योगों की स्थिरता हो जाने पर कर्मपुद्गलों को ग्रहण करने के रूप में तमाम क्रिया बंद हो जाती है, लेश्या भी नष्ट हो जाती है। उत्कृष्ट आत्म-वीर्य से आत्मा अयोगी, अक्रिय और अलेशी बन जाती है। आत्मवीर्य स्वतंत्र बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्कृष्ट वीर्य पर योग अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। योगों की स्थिरता के साथ आत्मा भी उत्कृष्ट रूप से स्थिर होता जाता है। ऐसी दशा में त्रियोगों के पुद्गल आत्मा पर कुछ भी असर नहीं कर सकते। पुद्गलों का ग्रहण करना भी बंद हो जाता है और योगत्रय छूट जाते हैं, तब आत्मा भी उनसे कोई प्रवृत्ति करा नहीं सकता। अर्थात् उनकी मदद से नये कर्म या अन्य कर्मवर्गणाएँ ले या लिवा नहीं सकता। पुद्गल और आत्मा दोनों अलग-अलग द्रव्य के रूप में अलग-अलग और स्वतन्त्र हो जाते हैं। दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, दोनों एक दूसरे

का कुछ भी भला या बुरा नहीं कर सकते। योगों की ध्रुवता (स्थिरता या निरोध) का लक्षण यह है कि वह जब पराकाष्ठा पर होता है, तब मन चाहे जो काम करे, वचन चाहे जो बोले, काया भी यथेच्छ काम करे, किसी प्रकार का कर्मबन्धन नहीं कराते, न होता है, सर्वक्रियाएँ रुक जाती हैं। जैसे आठ रूचकप्रदेशों को कर्म लगते नहीं, वैसे ही आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करता है, उस समय उक्त त्रियोग किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं करते। यह उत्कृष्ट वीय का ही परिणाम है कि आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य-स्फोट करता है, तब किसी प्रकार का कर्मबन्धन नहीं होता। आत्मशक्ति जरा भी घटती नहीं। निष्कर्ष यह है कि पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए आत्मा को उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करना चाहिए, ताकि योगों की स्थिरता हो जाय और आत्मा कर्मबन्धन से रहित हो कर अपने में आत्मवीर्य को स्वतन्त्र और स्वाभाविक होने से अनन्त आत्मसुख का उपभोग कर सके। श्रीआनन्दघनजी उपर्युक्त विवरण द्वारा वीतरागप्रभु से अपनी हार्दिक प्रार्थना ध्वनित कर देते हैं कि "प्रभो ! ऐसा उत्कृष्ट वीरत्व (आत्मवीर्य) मुझ में प्रगट हो, मैं अपने उत्कृष्ट वीर्य का उपयोग कर सकूं, ऐसी स्फुरणा या प्रेरणा अथवा अन्तःशक्ति दीजिए।"

कामवीर्य-वशे जेम भोगी, तेम आतम थयो भोगी रे।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे ॥वीर० ५॥

अर्थ

जिस प्रकार इन्द्रिय-विषयासक्त कामभोग करने वाला भोगी कामवीर्य=कामभोग स्पर्शेन्द्रियसुखभोग में उपयोगी शारीरिक वीर्य (शुक्रनाम के धतु से प्राप्त शारीरिक शक्ति) के वश हो जाता है, आत्मा मैथुनसुख भोगने में उत्कटता से तत्पर हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा (अपना आत्मगुण) भी उतनी ही वीरता के साथ (आत्मा की अनन्तशक्तिपूर्वक) आत्मा के ज्ञाता-द्रष्टारूप गुण अथवा उपयोग में जुट कर पूरे आत्मबल के साथ अपने शुद्ध स्वभाव का भोगी बन जाता है; वही आत्मा मन-वचन-काया के योगों से रहित (अयोगी), शुद्ध आत्मस्वरूपी होता है।

भाष्य

कामवीर्य की तरह आत्मवीर्य का जबर्दस्त प्रयोगी ही अयोगी होता है

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से वालवीर्य वाले इन्द्रियासक्त विषय-सुखलोलुप कामी स्त्री-पुरुषों को कामोत्तेजना होती है। जैसे खाने-पीने के शौकीन स्वादलोलुप चटोरे लोग पथ्यकुपथ्य का विचार किये विना चाहे जैसी चटपटी, गरिष्ठ, मसालेदार, तामसी या मिष्टान्न पर हाथ साफ करने को टूट पड़ते हैं, वैसे ही काम (मैथुन) जन्य सुख में लुब्ध लोग किसी प्रकार का आघा-पीछा विचार किये विना कामभोग में उपयोगी शारीरिक वीर्य (बलवीर्य) के कारण कामभोगों (मैथुन) के सेवन में शीघ्र प्रवृत्त हो जाते हैं। वास्तव में कामवीर्य एक प्रकार का शारीरिक वीर्य है और उसका उपयोग बालवीर्य की तरह होता है। वालवीर्य से कामभोगों की उत्तेजना होती है, जबकि पुष्टवीर्य-शक्ति उत्तेजना वाली नहीं होती, अपितु बल, वीर्य और मेधाशक्ति को बढ़ाती है।

कहने का तात्पर्य यह है, कि जैसे वालवीर्य वाला कामभोग की तीव्रता के कारण अपने कामवीर्य के प्रभाव से इन्द्रियविषयासक्तिवश कामभोगों में जोरशोर से प्रवृत्त होता है, वैसे ही पण्डितवीर्य (आत्मवीर्य=आत्मशक्ति) के प्रभाव से आत्मा जब शुद्धात्मभाव या आत्मगुण अथवा आत्मा के उपयोग में शूरवीरता रख कर प्रवृत्त होता है; यानी त्रियोगरूप वीर्य के कारण अथवा उनमें प्रवर्तमान आत्मवीर्य के कारण जो वीरतापूर्वक अतीव तीव्रता से आत्मस्वभाव में—आत्मा के उपयोग में प्रवृत्त हो जाता है, वह आत्मगुण का या आत्मा का भोगी बनता है। और आत्मगुण को भोगने से यानी आत्मा में रमण करने से आत्मा में वीरता आती है, आत्मवीरत्व के गुण से आत्मा के गुणों (ज्ञान-दर्शन या ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्व) का उपयोगी हो जाता है। और आत्म-गुण में सतत वीरतापूर्वक (तीव्रतापूर्वक) उपयोग से आत्मा अयोगी (मन-वचन काया के योग=व्यापार से रहित) हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि आत्मा अगर शूरवीरता रख कर अपने (आत्मा के) मूलगुणों में ही उपयोगवान् बने तो वह अयोगी बन सकता है।

विरोधाभास का स्पष्टीकरण

इस गाथा में कुछ शब्द विरोधाभास पैदा करने वाले हैं, उनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। आत्मा उपयोगी (ज्ञान-दर्शन-चारित्र में उपयोगवान्)

हो, वह योगी तो हो सकता है, मगर अ–योगी कैसे ? इस विरोध का समाधान यह है कि यहाँ अ-योगी का अर्थ अध्यात्मयोग से रहित नहीं, अपितु मन-वचन-काया के योग से रहित है। दूसरा प्रश्न है—अयोगी होने से पहले योगी था, वह भोगी कैसे हो सकता है ? इस विरोधाभास का समाधान यह है कि यहाँ योगी अध्यात्म-योगसम्पन्न के अर्थ में नहीं, अपितु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण है। इस प्रकार का योगी होने से कर्म बांध कर—सांसारिक भाव प्राप्त करने से आत्मा को अपने किये हुए समस्त कर्म भोगने पड़ते हैं। इस कारण उसे भोक्ता=भोगी कहते हैं, अथवा यहाँ आत्मभाव में रमण करने वाला होने से साधक को आत्म-भोगी कहा गया है।

क्या सब वीर्य एक समान नहीं हैं ?

पहले भी हम कह आए हैं कि शरीरज धातुनिष्पन्न वीर्य और आत्म वीर्य दोनों में रात-दिन का अन्तर है। फिर भी कई लोगों की शंका यह है कि मशीनों आदि में या कई वस्तुओं में बहुत शक्ति होती है, उसे क्या कहेंगे ? यह स्पष्ट है कि यह आत्मा का वीर्य तो है नहीं ? पौद्गलिक वीर्य है। अमुक-अमुक वस्तुओं के संयोग से अमुक प्रकार की शक्ति यन्त्र आदि में पैदा हो जाती है, पर यह सब संयोगज है और परप्रेरित है। वे पदार्थ चेतन की तरह स्वतः उस वीर्य को प्रगट नहीं कर सकते। दूसरा कोई चेतन उनको परस्पर जोड़ता है, या संयोग करता है, तब जा कर उनमें विद्युत् आदि की शक्ति पैदा होती है। दूसरी शंका यह है कि शरीरान्त हो जाने के बाद एक गति से दूसरी गति में, एक योनि से दूसरी योनि में जीव को कौन ले जाता है, क्योंकि शरीर और शरीर से सम्बन्धित शक्ति तो शरीर के खत्म होते ही खत्म हो जाती है। आत्मा की शक्ति निखालिस तो है नहीं, तब कौन-सी शक्ति है ? वह आत्मा की ही विकृत शक्ति है।

इसका समाधान करने के लिए हम वीर्य के तीन प्रकार अंकित कर रहे हैं, ताकि इन सब शंकाओं का यथार्थ समाधान हो जाय।

१. शारीरिकवीर्य—मैथुनसुख (वैषयिकसुख) भोगने में जो उपयोगी है, और जो सप्तम-धातु (शुक्र) रूप माना जाता है, जिसके कारण प्राणी काम-वासना से उत्तेजित हो कर मैथुनसुख भोगता है, भोगी बनता है।

२. सांसारिक वीर्य—मन-वचन-काया के योगों के मारफत भोगा जाने वाला आत्मा का बल-जिसके कारण कर्म बंध जाने से आत्मा को सांसारिक अवस्था भोगनी पड़ती है, अनादिकाल से—मोक्षगमन न हो, वहाँ तक देव, नारक, मनुष्य और तिर्यंच, स्त्री, पुरुष और नपुंसक वगैरह का रूप प्राप्त करना पड़ता है और विविधरूप से संसार-परिभ्रमण करना पड़ता है संसार भोगना पड़ता है, इस दृष्टि से आत्मा भोगी बनता है।

३. शैलेशीवीर्य या क्षायिकवीर्य—जो रत्नत्रयी की आराधना से, योगों की चपलता कम होने से, वीर्यान्तरायकर्म के सर्वथा क्षय होने से, मेरुपर्वत या सारे विश्व को हिला देने सरीखे क्षायिकभाव से अक्षय आत्मिक वीर्य प्रगट होता है, जिसके कारण आत्मा शैलेश=मेरुपर्वत जैसा स्थिर और सुदृढ़ हो जाता है, मन-वचन-काया के योगों से रहित अयोगी एवं स्थिर हो कर वीर्यवान बन जाता है।

इन तीनों में से पहला वीर्य कामभोगी बनाता है, दूसरा संसार का भोगी बनाता है, और तीसरा आत्मा को अयोगी बना कर मुक्त और सदा स्थिर अनन्त वीर्यवान बनाता है।

'वीरपणुं ते आतम-ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे।
ध्यान-विन्नाणे, शक्ति-प्रमाणे, निजध्रुवपद पहिचाणे रे॥ वीर०॥८॥

अर्थ

वीरत्व, जिसे मैं आपसे माँगता था, उसका स्थान (निवास) तो मेरी आत्मा में ही है, यह हकीकत मैंने आपकी वाणी से ही जानी है। इसका आधार तो मेरे (आत्मा के) ध्यान, विज्ञान अथवा ध्यान के शास्त्रीय ज्ञान और शक्ति की अभिव्यक्ति (वीर्योल्लास) पर निर्भर है। और इसी प्रकार आत्मा अपने वीर्य की स्थिरता, ध्रुवता, वीर्यबल, आत्मशक्ति अथवा अपने ध्रुवपद (मोक्षस्थान) को पहिचान लेता है।

भाष्य

वीरता का मूल स्थान : अपनी आत्मा ही

पूर्वगाथा में श्रीआनन्दघनजी ने बताया कि 'वीरतापूर्वक आत्मा स्व-स्व-भाव या आत्मगुण में उपयोगी बनी रहे तो एक दिन आयोगी बन

जाता हैं, इस पर से शंका हुई कि वह 'वीरता' है कहाँ ? क्या वह किसी दूसरे के पास है ? अथवा वह इन बाह्य भौतिक पदार्थों में है ? इसी के समाधानार्थ यह गाथा प्रस्तुत की गई है—'वीरपणुं ते आतम-ठाणे' अर्थात् वह वीरता, जिसकी याचना मैं वीरप्रभु से कर रहा था, वह मेरी आत्मा में ही है। वीरत्व के प्रेरक (प्रयोजक) वीर्य का यथार्थ मूल स्थान, मूलभूत अधिष्ठान या आधार (Power house) तो आत्मा ही है।

प्रश्न होता है कि यह बात कैसे और किससे जानी कि आत्मा ही वीरता का उद्गमस्थान है, मूलस्रोत है या अधिष्ठान है ? इसके उत्तर में वे कहते है—'जाण्युं तुमची वाणे रे।' यह बात मैंने आप (वीतराग परमात्मा) के सिवाय अन्य किसी से नहीं जानी। आपकी रागद्वेषरहित निःस्वार्थ, निष्पक्ष वाणी (आगमोक्त वचनों तथा गुरु-उपदेश) से जानी है। भावार्थ यह है कि दूसरे दर्शन या धर्म-सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में से किसी ने कहा—"वीरता की प्राप्ति मेरे देने से ही हो सकती है या ईश्वर की कृपा होगी, तभी वह देगा।' परन्तु आपकी वाणी से यह बात स्पष्ट हो गई कि वीरत्व कोई मांगने की या किसी को देने-लेने की चीज नहीं है, वह तो अपने ही अन्दर है, उसका अधिष्ठान तो आत्मा ही है। इस पर से मुझे यह भी निश्चित हो गया कि वीर्य शरीर की नहीं, आत्मा की वस्तु है। और आत्मा में वीर्य की स्थिरता भी आप ही ने जगत् को नवीन ढंग से समझाई है।

वीरत्व की स्थिरता की पहिचान

इसी सन्दर्भ में एक और प्रश्न उठता है कि वीरत्व की स्थिरता की पहिचान क्या है, किसी आत्मा में वीरत्व कैसे स्थिर हो सकता है ? यह भी कैसे जाना जा सकता है कि किस आत्मा में कितना वीर्य स्थिर हुआ है ? इसी के उत्तर में इस गाथा का उत्तरार्द्ध है— "ध्यान- विन्नाणे, शक्ति-प्रमाणे, निज-ध्रुवपद पहिचाणे रे।" अर्थात् शास्त्रीय धर्म-शुक्लध्यान के विज्ञान का आधार ले कर अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा ज्यों-ज्यों ध्यान में आगे बढ़ता है, त्यों-त्यों अपनी आत्मा में वीर्य की कितनी स्थिरता, कितना सामर्थ्य, कितनी ध्रुवता प्राप्त हुई है, यह अपने ध्यान के ज्ञान से जीव पहिचान सकता है, क्योंकि वीर्य की स्थिरता और ध्यान ये दोनों लगभग एकार्थक

शब्द हैं। वास्तव में ध्यान आत्मवीर्य की स्थिरता- एकाग्रता का नाम ही है। ध्यान केवल शरीर या मन की एकाग्रता ही नहीं, मुख्यतया आत्मा की स्थिरता है। शरीर, मन और पवन (श्वासोच्छ्वास) की स्थिरता को उपचार से ध्यान कहा जाता है, पर वास्तव में ऐसा है नहीं। इसीलिए कहा गया है कि ध्यान (एकाग्रता) और विज्ञान से अपनी आत्मा में निहित वीरत्व या वीर्य की स्थिरता को व्यक्ति पहचान सकता है। ध्यान और विज्ञान की शक्ति पर से ही आत्मस्थिरता=आत्मशक्ति के सामर्थ्य को जाना-परखा जा सकता है।

कई टीकाकार 'ध्रुवपद' का अर्थ 'आत्मा का निश्चल स्थान' करते हैं, ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर संगति इस प्रकार होगी—धर्मध्यान–शुक्लध्यान से, विज्ञान=विशिष्ट श्रुतज्ञानपूर्वक विवेक से एवं शक्तिप्रमाण यानी सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रबल के अनुपात में अपनी आत्मा के ध्रुवपद (स्थिरपद) को व्यक्ति पहचान सकता है।

अन्तिम गाथा में अपनी शक्ति (वीरता) को प्रगट करने का उल्लेख श्री आनन्दघनजी करते हैं—

आलम्बन साधन जे त्यागे, परपरिणति ने भागे रे।
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे ॥वीर०७॥

अर्थ

धर्मध्यानादि आलम्बनों, मन-वचन-काया के त्रियोगरूप साधनों या धर्मोपकरणादि साधनों का पूर्णवीरता प्राप्त करने वाले जो महात्मा त्याग कर देते हैं, आत्मा से भिन्न–अनात्म=पौद्गलिक भावों पर परिणति, अथवा पररूप=वैभाविक भाव में परिणति जब भंग=नष्ट हो जाती है; अथवा साध्य प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक साधक अनेक अवलम्बनों (सामायिक-प्रतिक्रमणादि तपजपादि) तथा अनेक साधनों (साधुवेश, धर्मोपकरण, भिक्षाचर्यादि एवं) परभावों में परिणति को अपनाता है, मगर ये सब आत्मबाह्य, परभाव, परावलम्बन, परसाधन, एवं परपरिणति आदि आखिरकार परवस्तु हैं, त्याज्य हैं, अतः इन्हें जो साधक छोड़ देता है, दूर कर देता है, वह अक्षय(अविनाशी) दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान

(केवलज्ञान), वैराग्य (क्षपक यथाख्यातचारित्र) होने पर वीतराग से आनन्दघन रूप प्रभु (परम समर्थ) बन कर जागृत रहता है, शैलेशी अवस्थारूप चारित्रमय रूप से सदा जागृत रहता है। उसकी ज्ञानज्योति जगमगाती रहती है।

भाष्य

पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए परवस्तु का त्याग अनिवार्य

साधक को जब तक साध्य प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक वह अनेक आलम्बनों और साधनों को अपनाता है, अनेक परभावों और परपरिणतियों को भी अंगीकार करता है, कई सहायकों से सहायता लेता है, परन्तु ये सब चीजें, या आत्मा से अतिरिक्त जो भी साधन, आलम्बन या परिणति आदि हैं, वे सब मनुष्य में परावलम्बिता बढ़ाने वाले हैं, जितना-जितना दूसरों का सहारा, सहयोग, सहायता या साधन मनुष्य लेता है, उतना ही उतना वह अधिकाधिक दुर्बल होता जाता है, ज्ञान के मामले में देखो, चाहे दर्शन के मामले में अथवा चारित्र के मामले में देखो, सर्वत्र पराश्रितता साधक के जीवन को मन-वचन-काया से दुर्बल मन और बल से पराधीन, परमुखापेक्षी और परभाग्योपजीवी बना देता है। वीरता, शौर्य, पराक्रम, साहस, धैर्य और आत्म-शक्ति को बढ़ाने वाले के मार्ग में तो ये सब बहुत ही अधिक बाधक वस्तुएँ हैं। फिर तो मनुष्य ज्यों-ज्यों धन, सम्पत्ति, वस्त्र, उपकरण, भोजन, पेय, अथवा अन्य जो भी मनोज्ञ, इष्ट और मनोहर पदार्थ देखता है, त्यों-त्यों उसके मन में उसके पाने की लालसा जागती है, वह नहीं मिल जाता है, तब तक बेचैनी रहती है, मिल जाने पर कोई छीन लेता है या चुरा लेता है तो कष्ट होता है, वियोग होने पर दुःख होता है, इस प्रकार बहुत ही समय, शक्ति, दिमाग, आदि इसमें (परवस्तुओं के पीछे) खर्च होता है। इसीलिए जिनेन्द्र भगवान् दूसरे की सहायता, सेवा और सहयोग की आकांक्षा या अपेक्षा नहीं रखते, वे अपने ही बलबूते पर साधना के आग्नेयपथ पर चलते हैं, जो भी कठिनाइयाँ आती हैं, उनसे जूझते हुए चलते हैं। संघर्ष से उनमें शक्ति प्रगट होती है। इसीलिए कहा है—[1]

---

१. 'स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परमं पदम् ।"

'जिनेन्द्र अपने आत्मवीर्य (आत्मबल) के आधार पर ही परम (वीतराग) पद को प्राप्त करते हैं। भ. महावीर ने भी बताया है कि "संभोग (साधर्मी साधु के साथ सहयोग व्यवहार) के प्रत्याख्यान से आत्मा आलम्बनों की अपेक्षा खत्म कर देता है, निरावलम्बी साधक के योग आत्मस्थित हो जाते हैं, वह स्वलाभ में सन्तुष्ट रहता है, दूसरे से लाभ को पाने की अपेक्षा नहीं रखता, न ताकता है, न लालसा रखता है, न किसी से याचना करता है, न अभिलाषा रखता है। ऐसा करने पर वह सुखशय्या को प्राप्त करके निश्चिन्तता से विचरण करता है।"[1]

इसी प्रकार भ० महावीर ने कहा है—[2]"उपधि (धर्मोपकरण) के प्रत्याख्यान (त्याग) कर देने से जीव अपरिग्रहभाव प्राप्त करता है. निरुपधिक और निष्कांक्ष हो कर वह उपधि के बिना मन में क्लेश (बेचैनी) नहीं पाता।" "सहायक का[3] त्याग (प्रत्याख्यान) कर देने पर जीव एकीभाव को प्राप्त करता है; एकीभावभूत जीव एकत्व का चिन्तन करता हुआ अल्पभाषी, थोड़ी झंझटों वाला, अल्पकलह, अल्पकषाय, अल्पअहंकारी, संयमबहुल, संवरबहुल एवं समाहित हो जाता है।" इसी तरह आहार, कषाय, योग, शरीर, अशन आदि के प्रत्याख्यान (त्याग) के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर का बहुत ही सुन्दर

---

१. 'संभोगपच्चक्खाणेणं भंते! जीवे किं जणयइ? संभोगपच्चक्खाणेणं जीवे आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवंति। सएणं लाभेणं संतुस्सइ, परलाभं नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नो अभिलसइ। परलाभं अणस्साएमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्चं सुहसेज्जं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९ सू. ३३

२. उवहिपच्चक्खाणेणं जीवे अपलिमंथं जणयइ। निरुवहिएणं जीवे निक्कंखी उवहिमंतरेण य न संकिलिस्सिज्जई।।३७।।

३. सहायपच्चक्खाणेणं जीवे एगीभावं जणयइ। एगीभावभूए य णं जीवे एगत्तं भावेमाणे—अप्पसद्दे अप्पझंझे, अप्पकलहे, अप्पकसाए, अप्पतुमंतुमे, संजमबहुले, संवरबहुले, समाहिए यावि भवइ॥३९॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ० २९, सू० ३७,३९

मार्गदर्शन है। इन सबके प्रकाश में जब हम श्रीआनन्दघनजी द्वारा निर्दिष्ट आलम्बन, साधन, परपरिणति आदि आत्मा से भिन्न परवस्तु के त्याग पर विचार करते हैं तो बात सोलहों आने सही मालूम होती है।

वास्तव में साधक जितने ही अधिक साधनों, आलम्बनों, सहायकों, धर्मोपकरणों या आहारादि परवस्तुओं या परभावों को अधिक अपनाता है, उतनी ही अधिक परिग्रहवृत्ति बढ़ती है, राग-द्वेष, अहंकार, लोभ, इच्छाएँ आदि बढ़ती जाता है और मनुष्य अशान्त, बेचैन, संक्लिष्ट, अस्वस्थ और असंतुष्ट रहता है। उसकी भौतिक और आत्मिक दोनों प्रकार की वीर्य शक्ति का ह्रास हो जाता हैं, जो उसके तन, मन और आत्मा पर परिलक्षित हो जाता है। इसलिए पूर्ण आत्मवीरता के अभिलाषी साधक को परभावों एवं परवस्तुओं से जितना नाता तोड़ सके, तोड़ना चाहिए, तभी उसमें वीरता जागृत और स्थिर होगी।

सारांश

भ० महावीर परमात्मा की इस स्तुति में वीरप्रभु से आध्यात्मिक वीरता की मांग की गई है, परन्तु आगे चल कर श्रीआनन्दघनजी ने वीर्य की आत्म-प्रदेशों में व्यापकता, वीर्य की स्थिरता, वीरतापूर्वक आत्मोपयोग का फल, वीरता का मूल अधिष्ठान, वीरता की अभिव्यक्ति में विघ्नकारक आलम्बनादि का त्याग आदि की सांगोपांग और अभिनव विचारधारा जैनदर्शन के परि-प्रेक्ष्य में प्रस्तुत की है। मतलब यह है कि शारीरिक वीर्य की अपेक्षा आत्मिक वीर्य का महत्व कई गुना अधिक है। संसार के दूसरे दर्शन जहाँ सप्तधातुओं में से अन्तिम धातु वीर्य को ही सर्वस्व मानते हैं, वहाँ वीतरागदर्शन आत्मिक वीर्य को महत्व देता है, शारीरिक बल, उत्साह, साहस आदि सबका आधार आत्मवीर्य है। यद्यपि शरीर, मन, बुद्धि, वीर्य (शुक्र) आदि जरूर मदद करते हैं, लेकिन इन सबका प्रेरणास्रोत केन्द्र तो आत्मा ही है। बहुत-से लोग शरीर से दुर्बल होते हुए भी बड़े-बड़े साहसपूर्ण काम कर बैठते हैं, जबकि शरीर से सशक्त हृष्टपुष्ट लोग साहस के काम करने से डरते हैं, हिम्मत हार जाते हैं, इसमें मूल कारण आत्मवीरता की कमी है, इसी चीज की परमात्मा से श्रीआनन्दघनजी ने याचना की है।

मेरा अभिमत

जिन-शासन में श्वेतांबर संप्रदाय के महात्माओं में योगी श्रीआनन्दघनजी का एक विशिष्ट स्थान है। कवितारूप में उनका चतुर्विंशतिस्तव बहुत प्रसिद्ध और ज्ञान-प्रधान होने से विद्वज्जनों में सम्मान्य है।

अनेक मुनियों ने इस पर व्याख्याएँ भी लिखी हैं। श्रावकों को भी भक्ति-रस उपलब्ध हुआ है। बड़े-बड़े पहुँचे हुए संभ्रांत पंडित भी आपकी स्तुति से बोध प्राप्त करते हैं। तपस्वी मुनिश्रीमगनमुनिजी म. सा. की प्रेरणा से पं.रत्न मुनिश्री नेमिचन्द्रजी म. सा. ने परिश्रमपूर्वक हिन्दी भाषा में साधारण जनता के लिए उपयोगी, उत्तम विस्तृत भाष्य लिखा है। पं. मुनिश्री का यह प्रयत्न स्तुत्य है। इस नवीन भाष्य को पढ़ कर भव्य आत्माएँ सम्यग्दर्शन की ओर बढ़ेंगी तो भाष्यप्रेरक तपस्वी श्रीमगनमुनिजी एवं भाष्यकार प० मुनि श्रीनेमिचन्द्रजी का श्रम सफल होगा।

सूरजचन्द डाँगी (सत्यप्रेमी)
बड़े मंदिर के पास
बड़ीसादड़ी (राज.)

पुस्तक प्राप्ति स्थान (महाराष्ट्र में)
राजेन्द्रकुमार मोहनलाल मुथा
अर्बन कॉ. ऑपरेटिव बेंक
गांधीरोड
अहमदनगर (महाराष्ट्र)